ओ३म्

सामवेद-भाष्यम्

(पूर्वार्चिक)

भाष्यकारः

पं. रामनाथः वेदालङ्कारः
एम.ए., पी-एच.डी.,

समर्पण शोध संस्थानम्, साहिबाबाद
[गाजियाबाद]

ओ३म्

सामवेद

आर्यभाषा-भाष्य

भाष्यकार
आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार विद्यामार्त्तण्ड
एम० ए०, पी०-एच्० डी०

प्रकाशक
समर्पण शोध संस्थान साहिबाबाद
(ग़ाज़ियाबाद) उ० प्र०
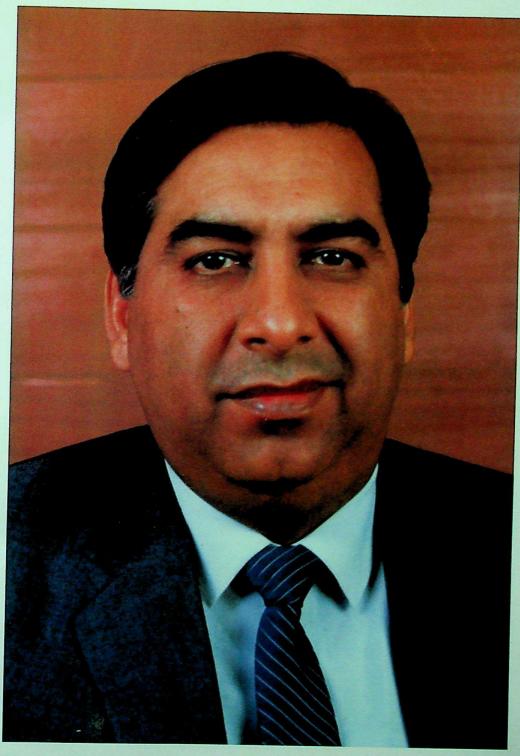
रमन कांत मुंजाल

जन्म
२ जुलाई १९४९

अवसान
१८ जून १९९१
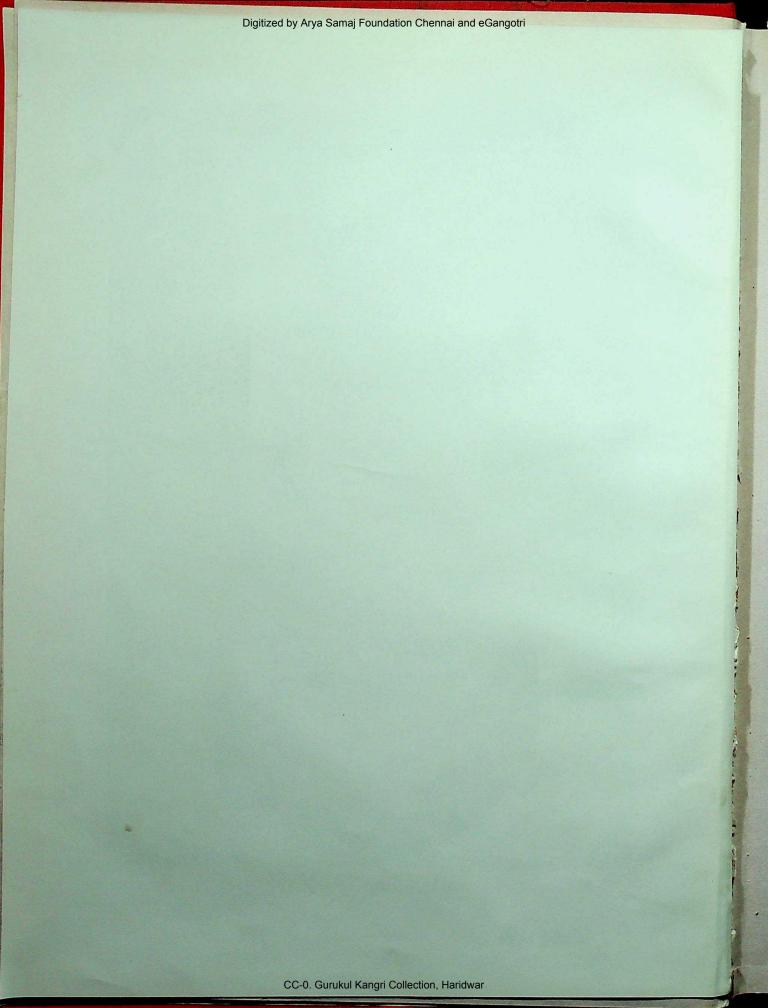
रमनकान्त मुञ्जाल

की

पुण्य स्मृति में

परिचय

प्रस्तुत वेदभाष्य के प्रकाशन में एक दिवंगत आत्मा की भी पावन स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं, जो भारत के औद्योगिक आकाश में अपनी धवल कीर्ति के नये कीर्तिमान स्थापित करके चिर-स्मरणीय हो गया। देश और विदेश में जहाँ-जहाँ 'हीरो होंडा' पर सवार होकर लोग हवाओं से बातें करेंगे, उसके निर्माता को प्यार और प्रशंसा से स्मरण करेंगे।

१९४९ की दो जुलाई को 'मुंजाल'-परिवार में एक शिशु ने आगरा में जन्म लिया, जिसका नाम रक्खा गया रमनकान्त। किशोरावस्था से ही यह बालक बहुमुखी प्रतिभाओं से सम्पन्न था। मेधावी होने के साथ-साथ कठोर परिश्रमी भी था। मणिपाल टैक्नॉलॉजी संस्थान' से मैकेनिकल इंजिनीयरिंग में स्नातक की डिग्री प्राप्त की। चार सुपुत्रों के पिता श्री बृजमोहनलाल मुंजाल का 'हीरो साइकल उद्योग' समूचे देश में पहले से प्रतिष्ठित था। अग्रज सन्तान रमनकान्त ने लुधियाना में 'हाइवे साइकल उद्योग लि०' को १९७१ में सम्भालते ही, ऐसी निष्ठा के साथ अपनी कल्पनाओं को साकार किया कि पिता की लगाई उद्योग-बेल सर्वत्र पल्लवित और पुष्पित होती गई। १९८४ में जापान के सहयोग से 'हीरो होंडा' की रचना द्वारा देश को पवन-गति प्रदान करके, पिता द्वारा स्थापित व्यवसाय को रमनजी ने देश की सीमाओं के पार फैलाकर सिद्ध कर दिया कि वह योग्य पिता की सुयोग्य सन्तान थे। उद्योग की लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि ३१ मई १९९१ के दिन कम्पनी ने 'हीरो होंडा सी० डी० १००' की पाँच लाख मोटर-साइकल्स के उत्पादन का लक्ष्य पूरा करके नया कीर्तिमान स्थापित किया। हमारे शास्त्रों में सत्य ही कहा गया है--**'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी'**। सचमुच रमनजी उद्योग-कानन के सिंहपुरुष निकले।

किन्तु, 'लक्ष्मी' केवल धन-वैभव का नाम ही तो नहीं है। सच्ची दौलत तो 'मनुष्यता' है! रमनजी वस्तुतः मनुष्यता के उपासक थे। जिनके सहयोग से उन्होंने सफलताएँ और उपलब्धियाँ प्राप्त कीं, उन श्रमिकों के पसीने की बूंदों से भी उन्हें प्यार था। उनके हितों का संरक्षण करने में रमनजी सदैव तत्पर रहे। ज़रूरतमन्दों को भरसक सहयोग देने में वह निरन्तर अग्रणी रहे। दरिद्र ग्राम-बन्धुओं को उन्होंने तन-मन-धन से सहयोग दिया। अनेकों विकलांगों को उनकी कार्य-क्षमता के अनुसार उनके पाँवों पर खड़ा किया। देश की युवा पीढ़ी को आधुनिक शिक्षा सुलभ कराने हेतु, कम्प्यूटरीकृत तकनीकी विधियों का संयोजन कराया और देश को आधुनिक शिक्षितों की एक सर्वगुण-सम्पन्न पीढ़ी उपलब्ध कराने में पहल की।

यह सब वही कर सकता है जो सेवाभावी पवित्रात्मा हो, जिसे एक वैभवशाली उद्योगपति होने का दम्भ और दर्प न हो, जो दैवी उदात्त भावनाओं से ओतप्रोत हो, जो दया-ममता का अजस्र निर्भर हो, जिसके मन में दलितों और मज़दूरों के प्रति सच्ची सहानुभूति हो, जिसमें उद्योग की स्पर्धा तो हो किन्तु ईर्ष्या-द्वेष न हो, जो ईश्वर-परायण हो और आस्तिकता में रचा-बसा हो। रमनजी सचमुच सबके सखा थे। उनके मित्रों का दायरा विशाल और विस्तृत था। उनके अधीनस्थ, उनके क्षुद्र कर्मचारी और तुच्छ सेवक भी उन्हें अपना सखा और बन्धु ही मानते थे, तभी तो हर कोई उन्हें प्यार से 'रमनजी' पुकारता था।

समय के एक-एक पल को पूरे उत्साह और कर्मठता से जीना, हर महफ़िल में अपने ठहाकों और चुटकुलों से रंगीनियाँ भर देना, दूसरों की पीड़ाओं को मुस्कानों में बदल देना, सोच-समझकर वचन देना और दिये हुए वचन को हर हाल में निभाना, बेरोज़गारों को रोज़गार के साधन उपलब्ध कराना, हर काम का प्रारम्भ ईश्वर के स्मरण और अग्न्याधान-यज्ञादि से करना, दुःखों और सुखों में सम-भाव से रमण करना—यही तो वे गुण हैं जो रमनजी को कान्त (प्रिय) थे! तभी तो वे रमनकान्त थे! स्वनाम-धन्य लोग सचमुच विरले ही होते हैं, और रमनकान्त विरले ही थे। परन्तु,

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते !

देहधारी चाहे कितना ही पुण्यात्मा हो, भगवान् श्रीराम हों या भगवान् श्रीकृष्ण, देहत्याग तो होगा ही !

धन्य हैं वे लोग, जो देहधारी होते हुए भी अन्तरात्मा के आदेश पर चलते हैं और जीवन के अन्तिम क्षणों में भी कर्मठता के प्रतीक बने रहते हैं। १८ जून १९९१ को रमन जी ने हमेशा की तरह अपने कार्य-कक्ष में बैठकर स्वाभाविक शैली में काम निपटाया। शाम को सहसा स्वयं को असहज पाया। तुरन्त हॉस्पिटल पहुँचाया गया। किन्तु दूसरों के लिए ममता के मारे धड़कनेवाला दिल सारी मोह-ममता के बन्धन तोड़ गया। शरीर तो पञ्चत्व को प्राप्त हो गया, किन्तु अपनी सुखद स्मृतियों से हज़ारों-लाखों को रुला गया।

मुंजाल-परिवार से मेरे निकट के सम्बन्ध रहे हैं। मुंजाल-परिवार को इस शोकाकुल अवस्था में मेरी सहसा याद आ गई। मैं देहली से बाहर था। लौटने पर जैसे ही सूचना मिली मैं उपस्थित हो गया। लगभग १० दिन तक प्रातः-सायं मेरे प्रवचन होते रहे, जिससे परिवार के सदस्यों को सान्त्वना मिली। उन्हीं दिनों श्री जितेन्द्रजी मेहता ने मुझसे पूछा कि 'स्वामीजी ! आजकल आप किस कार्य में विशेष रूप से लगे हुए हैं ?' मैंने उन्हें सामवेदविषयक चर्चा सुनायी। तब श्री जितेन्द्रजी व रमनकान्तजी की अन्य मित्रमण्डली ने कहा कि 'क्यों न ऐसा किया जाए कि सामवेद के प्रकाशन में श्री स्व० रमनकान्तजी का भी सहयोग हो जिससे कि उनकी कीर्ति सदा बनी रहे !' आज उसी का यह उपहार जनता-जनार्दन के करकमलों में सौंप रहा हूँ।

ईश्वर से यही प्रार्थना है कि प्रभो ! मुंजाल-परिवार के सभी सदस्यों को पर्याप्त शक्ति, धैर्य और संयम प्रदान करें।

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

संसार में जन्म लेना उसी का सार्थक माना जाता है जिसके द्वारा वंश की समुन्नति होती हो। इस परिप्रेक्ष्य में रमनकान्तजी की सुखद स्मृतियों को हम श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

—स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

आर्य जगत् को यह भलीभाँति विदित ही है कि मैंने अपने गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्द जी (श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार) की स्मृति में १९७८ में 'समर्पण शोध संस्थान' की स्थापना की थी। इस तेरह वर्ष के अन्तराल में संस्थान ने शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में जो कीर्त्तिमान स्थापित किया है वह अनुपम है। संस्थान अब तक २० ग्रन्थ—पाँच बृहद्ग्रन्थ (२० × ३०/८), सात मध्यम ग्रन्थ (२३ × ३६/१६) और आठ लघु ग्रन्थ (२० × ३०/१६) शोध कर-करवाकर, प्रकाशित कर जनता जनार्दन को समर्पित कर चुका है।

सन् १९९० के वर्ष में संस्थान ने शतपथब्राह्मण-भाष्य (प्रथम काण्ड) सम्पादित व प्रकाशित कर लोकार्पण किया। उसी परम्परा में वर्तमान १९९१ के वर्ष में श्री स्वामी समर्पणानन्दजी के जन्मदिवस (१ अगस्त) पर सामवेद-पूर्वार्चिक का संस्कृत-हिन्दी-भाष्य लेकर उपस्थित हुए हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि वेदज्ञ विद्वान् सामभाष्य का भी पूर्ववत् स्वागत करेंगे।

गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्दजी ने अपनी अन्तिम इच्छा इन शब्दों में अभिव्यक्त की थी—**"इस समय मौद्गल्य की आयु ७० वर्ष की हो गई है; शतपथ का भाष्य करना अभी शेष है। वह पूर्ण हो गया और जीवन शेष रहा तो चारों वेदों का भाष्य लिखेंगे। अन्यथा यह कार्य शिष्य-परम्परा में कोई पूर्ण करेगा।"** ये वाक्य मुझे सदा प्रेरित और आन्दोलित करते रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण के विषय में अभी तो इतने पर ही सन्तोष कर लिया है कि—गुरुवर्य द्वारा लिखित भाष्य का सम्पादन कर प्रकाशित करा दूँ। अब रह जाती है गुरुवर्य के चारों वेदों के भाष्य लिखने की इच्छा, उनमें भी ऋग्वेद (मं० ७, सू० ७५) और यजुर्वेद पर तो महर्षि का भाष्य उपलब्ध ही है तो क्यों न शेष रहे साम और अथर्व के भाष्य-विषय में सोचा जाए! उनमें भी सामवेद को पहले लिया जाए क्योंकि उसमें कुल १८७५ मन्त्र हैं। इसपर ऊहापोह जारी ही थी कि अनायास एक दिन श्री पं० रामनाथजी वेदालङ्कार द्वारा सम्पादित सामवेद पूर्वार्चिक की कुछ दशतियों पर भाष्य देखने को मिला। उसे देखते ही मन में विचार आया कि क्या ही अच्छा हो यदि इस भाष्य का प्रकाशन 'समर्पण शोध संस्थान' द्वारा सम्पन्न हो! इससे गुरुवर्य की अन्तिम इच्छा का एक भाग तो पूर्ण होगा। मैंने तत्काल विद्यामार्तण्ड श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार एम० ए, पी-एच्० डी० को एक पत्र द्वारा सूचित किया कि यदि सामवेद-भाष्य के छपने में कहीं बाधा आये तो 'समर्पण शोध संस्थान' को याद कर लेना; संस्थान को यदि यह गौरव प्राप्त होगा तो मुझे प्रसन्नता होगी। कुछ ही महीनों के पश्चात् मुझे श्री पण्डितजी का पत्र प्राप्त हुआ जिसमें मेरे पत्र का उल्लेख करते हुए पूछा था कि क्या संस्थान सामवेद-भाष्य के प्रकाशन का दायित्व वहन करेगा? मैंने इसे दैवी वरदान समझकर एवं **"न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति"** यह गीतोक्त वाक्य पढ़ा और स्वीकृति दे दी।

वेद आर्य जाति का प्राण हैं, उसका परम चक्षु हैं, उसका परम बल हैं, परम धाम हैं और हैं उसका परब्रह्म। प्रत्येक वेदभक्त भगवान् वेदव्यास के शब्दों में कह सकता है—

वेदा मे परमं चक्षुः, वेदा मे परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम, वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम्॥[1]

उपनिषद् का यह वचन कितना महत्त्वपूर्ण है कि—**"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"**[2]—धर्म सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा है, आधार है, मूल है। फिर प्रश्न होता है कि धर्म की प्रतिष्ठा क्या है? भगवान् मनु ने उसका समाधान इस प्रकार किया है—**"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"**[3]—सम्पूर्ण वेद, उसके मन्त्र, यहाँ तक कि उसका एक-एक पद, धर्म की प्रतिष्ठा है, धर्म

---

१. महाभारत—१२।३३५।२९।
२. महानाम्न्युपनिषद् १७।६।
३. मनु० २।६।

का आधार है, धर्म का मूल है। फिर प्रश्न हुआ कि वेदों का आधार क्या है? उनका मूल क्या है? इस प्रश्न का समाधान वर्तमान समय के वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के प्रथम उद्देश्य में इस प्रकार किया है—**"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।"**

सृष्टि के आरम्भ में जब जड़-जङ्गम जगत् का रचनाक्रम चल रहा था, सबसे अन्त में पुरुष का आविर्भाव हुआ। पुरुष युवा था, उसका पिण्ड पूर्ण था, पूर्ण ब्रह्माण्ड से पूर्ण पिण्ड का निर्माण हुआ था, **"पूर्णमदः पूर्णमिदम्"** का साक्षात् उदाहरण था। वह उभयविध जन्म लेकर धरती पर आया था। पृथिवी की हृदयवेदी से उसका शारीर जन्म हुआ था, तो ब्रह्म की हृदयवेदी से विद्या जन्म। वह उत्पन्न होते ही जहाँ शारीरिक गतिविधि कर रहा था वहाँ वाचिक मन्त्र-ध्वनि भी कर रहा था। सद्योजात तरुण का वर्णन ऋग्वेद में कुछ इस प्रकार है—

"चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे।

अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं१चरन्॥"[1]

उभयविध जन्म को धारण किये हुए सद्योजात तरुण अग्नि ऋषि पर आश्चर्य होता है कि जो माता-पिता के पास दुग्धपान तक के लिए नहीं गया। कारण कि उसे ऊधस्-रहित पृथिवी माता ने जन्म दिया है। वह सद्योजात तरुण प्रभु का सन्देश-वाहक बनकर विचरण करने लगा। सृष्टि के आदि तरुण मानव का वर्णन अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में और भी मनोहारी है—

"स स्नातो बभ्रुः, पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते।"[2] बभ्रु और पिङ्गल वर्ण वाला स्नातक, पृथिवी पर बहुत ही रोचमान हो रहा है। **"कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।"**[3] धरती की धूल का आकर्षक वसन पहने हुए जटाजूटधारी दीर्घश्मश्रु दीक्षित लग रहा है। मण्डूक सूक्त में तो इन स्नातकों को सस्वर मन्त्रगान करते हुए दिखाया है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥[4]

वे आदिमानव संवत्सर-भर पृथिवी माता की कुक्षि में सुप्तप्रबुद्ध-न्यायेन सोकर जब जगे तब वे व्रतचारी ब्राह्मण अपने-अपने हृदयाकाश में उच्छ्वसित हुई परा वाक् का वैखरी वाक् द्वारा मण्डन करने लगे। मन्त्र में आये हुए मण्डूकों के विशेषण **ब्राह्मणाः** से विद्यास्नातक और **व्रतचारिणः** से व्रतस्नातक ग्रहण किये जा सकते हैं। उनके मन्त्रगान को सुनकर वाणी की उत्पत्ति को जाननेवाले इतर मानवों ने उन ऋषियों में वेदवाणी को पा लिया। ऋषियों में इतर मानवों के द्वारा ज्ञान को पा लेने के कारण ही इस ज्ञान-निधि का नाम वेद हो गया, जिसका ऋग्वेद के बृहस्पति सूक्त में निम्न प्रकार चित्रण किया है—**"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।"**[5] जिन ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी के मूल स्रोत को प्राप्त किया, वे ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध हुए और वह वेदज्ञान ऋक्, यजु, साम, अथर्व नाम से प्रसिद्ध हो गया। पुरुषसूक्त में कहा—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥[6]

इस प्रकार वेदों की संख्या चार हुई और उनका क्रम ऋक्, यजुः, साम और अथर्व हुआ। आर्ष-परम्परा में ऋग्वेद को विज्ञान का, यजुर्वेद को कर्म का, सामवेद को उपासना का, और अथर्ववेद को ज्ञान का वेद माना जाता है।

१. ऋ० १०।११५।१।
२. अ० ११।५।२६।
३. अ० ११।५।६।
४. ऋ० ७।१०३।१।
५. ऋ० १०।७१।३।
६. यजु० ३१।७।

मानव यदि जीवन में सफलता पाना चाहे तो उसे कर्म का वृक्ष लगाना होगा, विज्ञानरूपी आलवाल से रक्षा करनी होगी और उपासना के जल से सींचना होगा। तब कहीं व्यक्ति जीवन में "अ-थर्व", निष्कम्प, स्थितधीः, स्थितप्रज्ञ हो सकेगा। विज्ञान जब उपासना का रूप धारण कर लेगा तभी कर्म पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा। मनुष्य को जैसे वाणी, मन, प्राण और चक्षु की आवश्यकता है, वैसे ही ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की आवश्यकता है। वाणी, मन, प्राण और चक्षु में से प्रत्येक अंग का अपना ही महत्त्व है, परन्तु प्राण का महत्त्व सर्वोपरि है। चारों वेदों में ऋग्-यजुः-साम प्रत्येक का अपना ही महत्त्व है; परन्तु साम का महत्त्व सर्वोपरि है। यजुर्वेद के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद वाणी के तुल्य है, यजुर्वेद मन के तुल्य है और साम प्राण के तुल्य है, तद्यथा—**ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये।**[1] ऋग्वेद से शून्य व्यक्ति गूंगा है, यजुर्वेद से शून्य व्यक्ति ठूंठ है, अथर्ववेद से शून्य व्यक्ति अन्धा है परन्तु सामवेद से शून्य व्यक्ति तो प्राणहीन देह सदृश है, शवमात्र है। सामविहीन ऋग्-यजु-अथर्व प्राणविहीन वाणी, मन और चक्षु के तुल्य हैं, इनका कोई उपयोग न हो पाएगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वाणी को गौ और मन को बछड़ा माना गया है। वाणी और मन को एक-साथ बाँधने की डोरी प्राण ही को माना है। पाठकवृन्द इसी से सामवेद का महत्त्व समझ सकते हैं। इसी महत्त्व को समझकर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा, **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'**[2]—जो प्रतिष्ठा वेदों में सामवेद की है वही प्रतिष्ठा मनुष्य-समाज में मेरी है।

पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक

सामवेद में पूर्व और उत्तर दो आर्चिक हैं—ऋचा समूह हैं, प्रायः ऋग्वेद की ऋचाएँ ही सामवेद में गायी गयी हैं। **ऋचि अध्यूढं सामगीयते**[3] ऋचाओं में प्रतिष्ठित होकर साम गाया जाता है। स्तुति में प्रतिष्ठित होकर ही उपासना गायी जाती है। ऋग्वेद स्तुति का वेद है, साम उपासना का। ऋग्वेद में उपासक अपने इलस्पद की स्तुति अग्निमीले[4] से आरम्भ करता है और परिसमाप्ति **इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर**[5] से करता है। स्तुति का अर्थ है गुणकीर्तन और स्तुति का फल है सद्गुणों की वृद्धि। अपने उपास्य देव के गुणों के सदृश अपने गुण बनाते जाना है तब कहीं अपने उपास्य के पास बैठने के योग्य हो पायेगा। उधर उपास्य भी अपने उपासक के लिए सूपायन—सु + उप + अयन हो जाता है—आसानी से पहुँच होने योग्य हो जाता है। उपास्य-उपासक की उपासना सिद्ध हो जाती है। यही अवस्था साम है, साम्य है, समाधि है; उपासक पुलकितगात्र हो गाने लगता है, उसे रोमाञ्च हो आता है, अब उपासक का देह देह न रहकर गात्र बन जाता है, उसका रोम-रोम गाने लगता है, उसका गात्र वृन्दवादन बन जाता है, ऑरकेस्ट्रा बन जाता है। ऋग्वेद को अपनी अभिव्यक्ति के लिए वाणी का आश्रय लेना होता है तो सामवेद को अपनी अभिव्यक्ति के लिए रोम-रोम को वाणी बनाना होता है। इसलिए अथर्ववेद में कहा **'सामानि यस्य लोमानि'**[6] उपासक जब तक पुलकितगात्र नहीं होता तब तक उसकी उपासना सिद्ध नहीं होती। उपास्य भी उपासक के हृदयान्तरिक्ष में परावाक् के माध्यम से उच्छ्वसित हो उठता है। इससे उपासक को रोमाञ्च हो आता है; जिस प्रकार कि बृहदन्तरिक्ष से वर्षा होते ही पृथिवी की त्वचा पर ओषधि-वनस्पतिरूप रोम-रोम नाच उठता है, तद्वत् उपासक का रोम-रोम नाच उठता है।

पूर्वार्चिक के चार पर्व

सामवेद में पूर्वार्चिक के चार पर्व हैं, आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्य; इनकी भाँति मनुष्य-जीवन के भी चार पर्व हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास; चारों पर्वों का, चारों आश्रमों के साथ सीधा सम्बन्ध है। जिस प्रकार आग्नेय

---

१. यजु० ३६।१।
२. गीता—१०।२२।
३. छान्दोग्य—१।६।१।
४. ऋग्वेद—१।१।१।
५. ऋग्वेद—१०।१९१।१।
६. अथर्व० – १०।७।२०।

आदि पर्वों के माध्यम से ब्रह्म के गुणों का क्रमिक वर्णन है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के माध्यम से जीव का क्रमिक विकास है।

ब्रह्मचारी का आग्नेय पर्व के साथ सीधा सम्बन्ध है। उसे आगे बढ़ना है। उसके लिए आदर्श है तो अग्नि। उसका आचार्य है तो अग्नि। उसके व्रत का साक्षी है तो अग्नि। उसके प्रथम समिधार्पण का देव है तो अग्नि। उपनयन-वेला में आचार्य अपने सम्मुख उपस्थित शिष्य से पूछता है—**कस्य ब्रह्मचार्यसि ?** तू किसका ब्रह्मचारी है ? शिष्य इसका सहज उत्तर देता है '**भवतः**' आपका। आचार्य उसके उत्तर को सुन उसे समझाते हुए कहता है—तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, तेरा अग्नि आचार्य है, तदनुकूल होने पर मैं आचार्य हूँ। वेदारम्भ-वेला में वेदी की अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा-सा तपा के हाथ में जल लगा जो प्रार्थना करता है, उसमें प्रमुखता है तो अग्नि की ही है। **तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।**[1] अग्नि से ही प्रार्थना करते हुए वह वेद-निधि का रक्षक बनना चाहता है। उस समय वह भावुक होकर कहता है—**यथा त्वमग्ने यज्ञस्य निधिपा असि एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्।**[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी का पर्व आग्नेय है।

इधर दूसरा पर्व ऐन्द्र है तो उधर दूसरा आश्रम गृहस्थ है। गृहस्थ का देवता इन्द्र है जो ऐश्वर्य का देवता है। तीसरा पर्व पवमान सोम का है। व्यक्ति एक पर्व से दूसरे पर्व में पदार्पण करता हुआ पवमान सोम की हृदयान्तरिक्ष में आराधना करता है। अपनी मनोभूमिका इस प्रकार की तैयार करता है जिससे अगले दो आश्रमों का पालन कर सके—वानप्रस्थ और संन्यास का। वानप्रस्थ का आरण्यपर्व से सम्बन्ध है। वह अरण्य में रहकर पवमान सोम की आराधना करता है। यदि वह चाहता है कि सीधे संन्यास में प्रवेश करे तो परमात्मा के प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा महानाम्नी ऋचाओं में पाता है, इसीलिए पूर्व और उत्तरार्चिकों के मध्य में महानाम्न्यार्चिक रखा गया है। संन्यास आश्रम में प्रवेश का अभिलाषी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार करता है—**पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोंऽशुर्मदाय। सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते। वशी ही शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे॥**[3] इस प्रकार साधक पूर्वार्चिक के पर्वों का उत्क्रमण कर मोक्ष-धाम में प्रवेश करता है। यही जीव की उत्तर अवस्था है। अब वहाँ कोई पर्व नहीं है, कोई वर्ग नहीं। बस अपवर्ग ही अपवर्ग है। महानाम्न्यार्चिक पूर्व और उत्तर आर्चिकद्वय को इसी प्रकार धारण कर रहा है जिस प्रकार धर्म व्यक्ति के अभ्युदय और निःश्रेयस् लोकद्वय को धारण करता है।

प्रस्तुत सामभाष्य

हम ऊपर की पंक्तियों में लिख आए हैं कि प्रस्तुत सामभाष्य विद्यामार्तण्ड श्री पं० रामनाथजी वेदालंकार द्वारा किया गया है। यूं तो सामवेद पर भाष्यों की कमी नहीं है, परन्तु जैसा यह भाष्य है वैसा आज तक देखने में नहीं आया। इस भाष्य की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यह भाष्य महर्षि दयानन्द की शैली, संस्कृत और आर्यभाषा (हिन्दी) में उनकी विचारसरणी पर किया गया है। स्व० पं० सत्यकेतुजी विद्यालङ्कार ने भाष्य को पढ़कर सहसा कहा था कि पं० रामनाथजी में तो ऋषि दयानन्द की आत्मा आ विराजी है। पाठक देखेगा कि मन्त्र-मन्त्र में, पद-पद में किस प्रकार ऋषि दयानन्द के भावों को प्रतिष्ठित किया गया है। साम-मन्त्र पर महर्षि दयानन्दकृत जहाँ भी जो भी अर्थ मिला है उसे बड़ी योग्यता से समर्थित किया है।

(२) विभिन्न भाष्यकारों के द्वारा किये अर्थों का उल्लेख करके उनका विवरण और पाद-टिप्पणियों में निर्देश किया है।

---

१. पार० कां० २ कं० ४-७।
२. पार० कां० कं० ४-२।
३. साम महा०-मं० ८।

(३) यथास्थान पदों की व्याख्या में निघण्टु, निरुक्तादि के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं; यथावश्यक पदों की पाणिनीय व्याकरणानुसार निष्पत्ति भी दर्शायी है।

(४) सामवेद-भाष्य की भूमिका, जो ८० पृष्ठों में है, पठनीय एवं मननीय है। इसमें सामवेदविषयक पुष्कल जानकारी दी गई है। स्वरांकन-पद्धति, विविधपदपाठ, पदपाठ के स्वरूप आदि का विवेचन पढ़ने से सम्बन्ध रखता है।

(५) मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द और स्वर-विषयक जानकारी एक ही जगह उपलब्ध हो सकती है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, मन्त्रकर्त्ता नहीं, इस आर्ष परम्परा को सप्रमाण पुष्ट किया है। प्रसंगोपात्त इस स्थापना की पुष्टि में आचार्य सायण का प्रमाण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। पिछले दिनों जब मैं तैत्तिरीय आरण्यक का अवलोकन कर रहा था तो इस आरण्यक के ४।१ में आए **नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यो मंत्रपतिभ्यः** मन्त्रचरण पर आचार्य सायण की व्याख्या ने विशेष आकृष्ट किया; वह लिखता है—"**मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मंत्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्त्तारो न सन्ति तथापि कल्पादौ ईश्वरानुग्रहणेन मंत्राणां लब्धारो मन्त्रकृत इत्युच्यते तल्लाभश्च स्मर्यते—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा**" इति। यहाँ आचार्य सायण ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'मन्त्रकृत्' पद का अर्थ 'मन्त्रों का लाभ करनेवाले' हैं, क्योंकि अपौरुषेय वेद में मन्त्रकर्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता; सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के अनुग्रह से मन्त्रों का लाभ करनेवालों को ही मन्त्रकर्त्ता कहा गया है।

(६) प्रस्तुत सामभाष्य पदे-पदे अपने लेखक की योग्यता का परिचय देता है। विज्ञजन इसको पढ़कर ही अपनी सम्मति बना सकते हैं। श्री पं० रामनाथजी ने इस भाष्य के लिए कितना श्रम किया है वह वर्णन से बाहर है। उसका मूल्यांकन करना कठिन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का अन्तिम ईक्ष्य-वाचन स्वयं भाष्यकार पं० रामनाथजी वेदालंकार ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक किया है। यदि मान्य पण्डितजी इस गुरुतर और कठिनतर कार्य को न करते तो ग्रन्थ इतने शुद्ध रूप में मुद्रित न हो पाता। इस महती कृपा के लिए पण्डितजी को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ।

श्रम सफल हुआ—

प्रकाशक का अथक परिश्रम, भारी आर्थिक व्यय, चार वर्ष की लम्बी प्रतीक्षा सभी उस समय सफल हो गये, जब भाष्यकार पं० रामनाथ जी की चार पंक्तियाँ सुनने और पढ़ने को मिलीं, जो इस प्रकार थीं—आप अकेले जितना महान् प्रकाशन का कार्य कर रहे हैं, वह बड़े-बड़े व्यावसायिक प्रकाशकों को भी पीछे छोड़ रहा है। मेरी तीन पुस्तकें तथा इतना बड़ा सामवेदभाष्य छापकर आपने आर्य जनता पर तो उपकार किया ही है, मुझ पर भी कम उपकार नहीं किया है।

धन्यवाद

१ अगस्त १९९१ को लोकसभा-अध्यक्ष माननीय शिवराज पाटिल ने साम-भाष्य विमोचन कर अनुगृहीत किया। इसके लिए संस्थान सदैव श्रीमान् पाटिल का आभारी रहेगा।

यद्यपि अनेक अपरिहार्य कारणों से ग्रन्थ के मुद्रण में बहुत विलम्ब हो गया। दुर्गा मुद्रणालय के सञ्चालक पं० रामसेवकजी मिश्र तथा सभी कर्मचारियों को हार्दिक साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ का शुद्ध और कलात्मक मुद्रण किया है। ग्रन्थ के ईक्ष्य-वाचन के लिए श्री सुनीलजी शर्मा को भी धन्यवाद देता हूँ।

—स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

भाष्यकार का परिचय

आपका जन्म उत्तर प्रदेश के बरेली जनपद के फरीदपुर ग्राम में महाशयजी के नाम से विख्यात स्वतन्त्रता-सेनानी लाला गोपालरामजी के यहाँ ७ जुलाई १९१४ को हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा फरीदपुर में आर्यसमाज द्वारा स्थापित पाठशाला में हुई। दो वर्ष काशी में भी अध्ययन किया।

आपके पिताजी 'सादा जीवन उच्च विचार' के मूर्त्त रूप थे। वे मोटा जुलह खद्दर का सादा कुर्ता, वैसी ही चार हाथ की ऊँची धोती, कन्धे पर अंगोछा धारण करते थे। महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी। वे प्रतिवर्ष नियमपूर्वक गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर जाया करते थे। एक बार वहाँ से लौटकर उन्होंने गुरुकुल की विशेषताओं एवं कार्यकलापों का वर्णन करते हुए आपसे पूछा—"गुरुकुल पढ़ने जाओगे?" आपके 'हाँ' कहने पर उन्होंने प्रवेश-फार्म मँगाकर भर दिया और उसे डाक से भेज दिया। चूँकि गुरुकुल में आठ वर्ष से अधिक आयु के बालक प्रविष्ट नहीं होते थे और आपकी आयु नौ वर्ष की हो गई थी, इसलिए गुरुकुल से अस्वीकृति का पत्र आ गया। पर आपके पिताजी ने हिम्मत नहीं हारी। वे बरेली के प्रतिष्ठित आर्यसमाजी नेता डॉ० श्यामास्वरूप जी के पास गये और उनसे परिचय-पत्र लेकर गुरुकुल गये। उस समय गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पं० विश्वम्भरनाथजी थे, जो नियमों का कठोरता से पालन करते थे। जब आपके पिताजी आपको लेकर उनसे मिले तो पं० श्री ने पुनः प्रवेश से मना कर दिया। परिणामतः वे चिन्तित एवं निराश मुद्रा में मुख्य द्वार के निकट खड़े कुछ विचार कर ही रहे थे कि सभा के पूर्वप्रधान श्री रामकृष्णजी प्रबन्ध-समिति की बैठक में भाग लेने के लिए उधर आये। उन्होंने पिता-पुत्र दोनों को उस दशा में देखकर पूछा—'आपको क्या किसी से मिलना है?' इस पर आपके पिताजी ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने गुरुकुल आने का कारण तथा मुख्याधिष्ठाताजी द्वारा प्रवेश से इन्कार करने की जानकारी उन्हें दी। पं० रामकृष्णजी उनकी बातचीत आदि से प्रभावित हुए और प्रवेश-फार्म लेकर प्रबन्ध-समिति की बैठक में चले गए। काफी जद्दोजहद के बाद पंडितजी ने मुख्याधिष्ठाता को मना लिया और आपको प्रवेश की स्वीकृति मिल गई। यह है आपके गुरुकुल प्रवेश की कहानी।

आप प्रारम्भ से ही मेधावी एवं प्रतिभा-सम्पन्न छात्र थे तथा अपनी असाधारण योग्यता के कारण आपने गुरुजनों का मन मोह रखा था। न केवल अध्ययन में, वरन् लेखन एवं भाषणादि में भी आपको विशेष रुचि थी। छात्र-जीवन में आप महाविद्यालय के छात्रों द्वारा निकाली जाने वाली हस्तलिखित संस्कृत-पत्रिका 'देवगोष्ठी' के संपादक, 'संस्कृतोत्साहिनी परिषद्' के मन्त्री और कुलमन्त्री रहे। चौदह वर्ष तक अनुशासित एवं नियमपूर्वक रहते हुए सन् १९३६ में आपने विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेणी में वेदालङ्कार की उपाधि प्राप्त की। स्नातक परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने के कारण आपको अनेक स्वर्णपदक प्राप्त हुए। यह वह समय था, जब गुरुकुल की उपाधियों की कहीं मान्यता नहीं थी; यहाँ के स्नातक किसी भी विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त नहीं कर सकते थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम आगरा विश्वविद्यालय ने गुरुकुल के स्नातकों को अपने यहाँ से एम० ए० करने की स्वीकृति प्रदान की। जिन स्नातकों ने सर्वप्रथम इस सुविधा का लाभ उठाया उनमें आप भी थे। आपने सन् १९५० में आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत-साहित्य में प्रथम श्रेणी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की और विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया।

आपको प्रारम्भ से ही वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा तथा वैदिक विषयों पर शोध करने में रुचि थी। अतः आपने पी०-एच० डी० उपाधि के लिए शोध का विषय—"वेदों की वर्णन-शैलियाँ" चुना और आगरा विश्वविद्यालय में पञ्जीकरण करवाया। १९६६ में आपने डी० ए० वी० कालेज देहरादून में संस्कृत-विभागाध्यक्ष डा० धर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री के निर्देशन में शोधपूर्ण प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पं० धर्मदेव

विद्यामार्तण्ड, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति आदि विद्वानों ने आपके शोध-प्रबन्ध को आद्योपान्त देखा और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

कार्यक्षेत्र—स्नातक बनने के बाद जयपुर रियासत के अन्तर्गत ठिकाना खूंड के ठिकाने पर तथा महाराजा जयपुर के ए० डी० सी० ठाकुर जयसिंह द्वारा शिक्षा-प्रसार हेतु आश्रम खोलने के लिए किसी स्नातक को भेजने का अनुरोध किये जाने पर गुरुकुल की ओर से आपको भेजा गया, जहाँ अपने आश्रम की स्थापना की और उसके प्रधानाध्यापक रहे। आपने लगभग डेढ़ वर्ष तक इस आश्रम का सफलतापूर्वक सञ्चालन किया, परन्तु बाद में अनुकूलता न रहने के कारण आप वापस आ गये। सन् १९३८ में आप गुरुकुल कांगड़ी के विद्यालय-विभाग में शिक्षक पद पर नियुक्त हो गये। तदनन्तर कुछ समय वेदानुसन्धानकर्त्ता के रूप में कार्य किया। १९३९ में आप वेद महाविद्यालय में वैदिक साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए तथा १८ वर्ष तक वेदाध्ययन करते रहे। १९५८ में आप संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष तथा कुलसचिव नियुक्त हुए। १९६२-६३ में आपने कुलसचिव पद से त्याग-पत्र दे दिया तथा पूर्णरूपेण अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त हो गये। आप वेद तथा संस्कृत जैसे नीरस एवं दुर्बोध समझे जानेवाले विषयों को इतने सरस, रोचक एवं सुबोध ढंग से पढ़ाते थे कि छात्रों में उनके प्रति अनायास ही रुचि उत्पन्न हो जाती थी।

अप्रैल १९७४ में आप वेद एवं कला महाविद्यालय के अध्यक्ष, आचार्य एवं उपकुलपति चुने गये। यद्यपि आप प्रशासनिक दायित्वों से दूर रहकर अपना समय केवल अध्ययन-अध्यापन में ही लगाये रहना चाहते थे, परन्तु सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा गुरुकुल की विद्यासभा सीनेट के अधिकारियों एवं सदस्यों के आग्रह को दृष्टिगत रखते हुए इसे स्वीकार करना पड़ा। जुलाई १९७६ तक आप इस पद पर कार्य करते रहे। इस अवधि में अपने प्रशासनिक दायित्वों को आपने इस कुशलता से निभाया कि जनसामान्य की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गई कि एक अच्छा शिक्षक 'कुशल प्रशासक' नहीं हो सकता है।

आपकी विद्वत्ता, योग्यता एवं वैदिक शोध में अभिरुचि को दृष्टिगत रखते हुए १९७६ में आपको पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में नवस्थापित महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ के प्रथम प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में मनोनीत किया गया। आपने इसी वर्ष अगस्त मास में गुरुकुल की सेवा से निवृत्त हो उक्त पद का कार्यभार सँभाल लिया और अक्तूबर १९७९ तक वहाँ कार्य करते रहे। इस अवधि में आपने जहाँ एक ओर महर्षि दयानन्द की वेदार्थ-प्रक्रियाओं, उनके शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचारों आदि पर स्वयं अनुसन्धान करके शोधपूर्ण कृतियाँ तैयार कीं, वहीं दूसरी ओर अनेक छात्रों को वैदिक वाङ्मय से सम्बन्धित विषयों पर शोध-कार्य करने में निर्देशन भी प्रदान किया।

इस समय आप गीताश्रम, ज्वालापुर (हरिद्वार) में रहते हुए स्वाध्याय एवं लेखन में व्यस्त हैं।

साहित्य-साधना—आपको प्रारम्भ से ही अध्यापन के साथ-साथ लेखन में भी विशेष अभिरुचि रही है। आपने, वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन, विस्तृत अनुशीलन, निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर अनेक उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आपकी प्रथम कृति "वैदिक वीर गर्जना" है, जिसमें वीरता की तरंगों से तरंगित करने वाले वेदमन्त्रों का अर्थसहित संकलन किया गया है। इस पुस्तक की रचना एवं प्रकाशन सन् १९४६ में उस समय किया गया था, जब देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन ज़ोरों पर था। इस पुस्तक को पाठकों द्वारा इतना पसन्द किया गया कि इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए। इसके बाद सन् १९४९ में आपकी दूसरी कृति "वैदिक सूक्तियाँ" प्रकाशित हुई, जिसमें अथर्ववेद से विविध विषयों पर चुनी गई एक सहस्र सूक्तियाँ अर्थसहित दी गई हैं।

कालान्तर में आप द्वारा वेदार्थ की विविध शैलियों (प्रहेलिकात्मक, आत्मकथात्मक, संवादात्मक, प्रश्नोत्तरात्मक, प्रेरणात्मक, आश्वासनात्मक, आशीर्वादात्मक, अर्थवादात्मक आदि) एवं प्रक्रियाओं (अधिदैवत, अध्यात्म, आर्ष, अधियज्ञ, अधिभूत, परिव्राजक, वैयाकरण, नैरुक्त आदि) का तुलनात्मक अध्ययन करने के प्रयोजन से लिखी गई "वेदों की वर्णन-शैलियाँ" एवं "वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ" तथा "महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार" शीर्षक शोधपूर्ण कृतियाँ वैदिक साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। इसी शृंखला में अपने संस्कृत भाषा में "वैदिक शब्दार्थ विचारः" नाम से एक अनुपम ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सामान्यतया एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'अज' 'असुर' 'वृषभ' आदि शब्द वेदों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से प्रथम

श्रद्धानन्द शोध-प्रतिष्ठान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से तथा शेष महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ चण्डीगढ़ के तत्त्वाधान में विश्वेश्वरानन्द-विश्वबन्धु संस्कृत-भारती-शोध-संस्थान होशियारपुर से प्रकाशित हुई हैं।

आपकी अन्य रचनाएँ निम्नवत् हैं—

(१) **वैदिक प्रार्थना पुष्पाञ्जलि**—(प्रकाशन वर्ष १९८०) यह लेखक के विविध वैदिक विषयों पर १५ प्रेरक निबन्धों का संग्रह है।

(२) **यज्ञमीमांसा** (अग्निहोत्रदर्पण)—(प्रकाशन वर्ष १९८१) इसमें वैदिक यज्ञ चिकित्सा, अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक वेदमन्त्रों की व्याख्या, आत्मिक अग्निहोत्र एवं अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभ आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश संस्कृत ग्रन्थ अकादमी द्वारा १९८१ में पुरस्कृत हो चुकी है।

(३) **वेद मञ्जरी**—(प्रकाशन वर्ष १९८३) इसमें चारों वेदों से संकलित ३६५ मन्त्रों की भावभीनी प्रवाह-मय, मनोरम व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका में वैदिक भाषा की अर्थ-गरिमा, वेदमन्त्रों के ऋषि, वेदमन्त्रों के देवता, वैदिक छन्द, ऋषि, देवता और छन्द के ज्ञान का महत्त्व तथा वैदिक भाषा के कुछ सामान्य नियम आदि पर प्रकाश डाला गया है।

(४) **वैदिक नारी**—(प्रकाशन वर्ष १९८४) इसमें वैदिक नारी के प्रकाशवती, वीरांगना, वीर प्रसवा, विदुषी, स्नेहमयी, माँ, धर्मपत्नी, सद्गृहिणी आदि विविध रूप वेदमन्त्रोल्लेख वर्णित किये गये हैं। नारी के विषय में स्वामी दयानन्द के विचार भी संकलित हैं। इसमें नारी-विषयक विविध वैदिक मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए, प्रतिपक्षियों के वैदिक नारी पर किये गये आक्षेपों का प्रमाणपूर्वक उत्तर दिया गया है।

(५) **वैदिकमधुवृष्टिः**—(प्रकाशन वर्ष १९९१) यह ३२ निबन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध परमेश्वर के गुण-कर्म के महत्त्व, आचार्य-शिष्य, आश्रम-व्यवस्था, विश्वबन्धुत्व, मानवता, अर्थव्यवस्था आदि कई विषयों से सम्बन्ध रखते हैं।

(६) **आर्षज्योतिः**—(प्रकाशन वर्ष १९९१) इसमें लेखक के "वैदिक योगार्थ प्रक्रिया एवं दयानन्द की तद्विषयक सूक्ष्म-दृष्टि, वेद व्याख्या के प्रयास तथा स्वामी दयानन्द का महान् योगदान, अथर्ववेद के कौशिककृत विनियोगों पर एक-दृष्टि, वेद के अनेक देवों में एक ईश्वर की झाँकी, वेदों में पुनरुक्ति की समस्या, वेदों में व्यत्यय का प्रश्न" 'वृष्टि यज्ञ वैदिक' 'पर्यावरण वेद की दृष्टि में' आदि विषयों पर १७ निबन्ध संकलित हैं।

आप द्वारा महर्षि दयानन्द की भाष्य-शैली को आधार मानते हुए 'सामवेद' का सरल एवं सुबोध भाषा में संस्कृत-हिन्दी-भाष्य किया गया है, जिसका पूर्वार्चिक आपके हाथों में है।

सम्मान—'अर्थ' 'यश' एवं 'सम्मान' की लालसा से नहीं, वरन् 'स्वान्तः सुखाय' तथा वेदों में निहित ज्ञान को वेद-प्रेमियों तक पहुँचाने के उद्देश्य से साहित्य-सृजन में व्यस्त आचार्य-वेदालङ्कार को अनवरत वेद-सेवा के लिए सन् १९८८ में आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा इक्कीस हजार रुपये पुरस्कार से तथा १९८९ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। आपके द्वारा संस्कृत के प्रचार-प्रसार एवं विकास कार्य हेतु की गई दीर्घकालीन विशिष्ट सेवा तथा वैदिक साहित्य के शोधपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के लिए उत्तर प्रदेश संस्कृत ग्रन्थ अकादमी द्वारा १९९० में पच्चीस हजार रुपये के विशिष्ट पुरस्कार से आदृत किया गया। इसके अतिरिक्त भी आप विभिन्न समाजों एवं संस्थाओं द्वारा सम्मानित किये जाते रहे हैं। श्री स्वामी समर्पणानन्द जी के जन्मदिवस पर उनकी स्मृति में स्थापित 'समर्पण शोधसंस्थान' ने श्री पं० जी द्वारा लिखित एवं सम्पादित सामवेद-भाष्य के लोकार्पण-समारोह के अवसर पर १ अगस्त १९९१ को पच्चीस सहस्र की राशि प्रदान कर सम्मानित किया।

आपका विशुद्ध सात्त्विक जीवन, सरल व्यवहार, मितभाषिता, माधुर्य, विशुद्ध ब्राह्मणवृत्ति से वेदों का गम्भीर अनुशीलन एवं विशिष्ट अध्ययन-शैली अनुकरणीय है।

—स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

विषयानुक्रमणिका

विषय ... पृष्ठ

सामभाष्यभूमिका ... १–७४

मंगलाचरण, गुरुस्मरण आदि ... १–३

चार वेद और उनकी शाखाएँ ... ३–५

वेदों के प्रतिपाद्य विषय ... ५

सामवेद का नामकरण ... ६

पूर्वाचिक और उत्तराचिक का सम्बन्ध ... ११

सामवेद की स्वरांकन-पद्धति ... ११–१५

सामवेद का पदपाद ... १५–२४

पदपाठकार गार्ग्य-१५, गार्ग्यकृत पदपाठ में स्वरांकन-१६, गार्ग्यकृत पदपाठ में इति का प्रयोग-१७, गार्ग्यकृत पदपाठ में अवग्रह-१८, संहितापाठ का पदपाठ में रूपान्तर-२३।

ऋषि, देवता, छन्द और गान-स्वर ... २४–३६

ऋषि-२४, देवता-२७, छन्द-२९; गायत्र्यादि सप्तक-३०, अतिजगत्यादि सप्तक-३२, कृत्यादि सप्तक-३३, निचृद्, भुरिक्, विराट्, स्वराट्-३३, शंकुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या, यवमध्या-३३ चतुर्विध पाद-३३, एकपदा तथा द्विपदा ऋचाएँ-३४, ऋचाओं में विराम-चिह्नों का प्रयोग-३४, प्रगाथ-३५, गानस्वर-३५।

सामगान के कुछ मूलभूत विषय ... ३६–४५

सामगान के स्वर-३६, सामगान में प्रयोक्तव्य अष्टभाव-३७, साम की भक्तियाँ-३७, स्तोत्रों का परिचय-३८, दस प्रसिद्ध सामों की योनि ऋचाएँ-३९, सामगान के भेदों का विवरण-४१; ग्रामेगेय या वेय गान-४१, अरण्येगेय गान-४२, ऊहगान और ऊह्यगान-४३।

सामवेद का साहित्य ... ४५–४७

ब्राह्मणग्रन्थ-४५, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांगादि-४७।

व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय नियम ... ४७–५७

भूतवाची लकार वर्तमानादि अर्थों में भी-४८, लेट् लकार का प्रयोग-४८, दीर्घविधान-५०, ए या ओ से अ परे होने पर प्रकृतिभाव-५२, प्रकृतिभाव के अन्य स्थल-५३, न् को स और पूर्व को अनुनासिक-५४, विसर्ग को सकार-५४, सकार को मूर्धन्यादेश-५६, विसर्गलोप अथवा विसर्ग के सकार का लोप-५७।

वेद-व्याख्या के प्रयत्न ... ५७–६१

दयानन्द से पूर्व के संस्कृत-भाष्य-५७, विदेशी विद्वानों का प्रयास-६०।

स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य ... ६१–६६

वैदिक देवों का अर्थानुसन्धान-६१, वेदमन्त्रों की अनेकार्थकता-६२, ऐतिहासिक अर्थों की उपेक्षा-६३, पूर्व-विनियोगों से स्वतन्त्र वेदार्थ-६४, वेदों में विविध विद्याओं का आविष्कार-६५, कतिपय अन्य विशेषताएँ-६५।

प्रस्तुत सामवेद-भाष्य ... ३६–७३

व्याख्याक्रम-६७, व्याख्यादृष्टि-६७, टिप्पणियाँ-६९, पदपाठ-६९, अलंकार-७१, जड़ पदार्थ को सम्बोधन-७३।

अन्तिम निवेदन ... ७४

संक्षेप-सूची ... ७५

आग्नेय पर्व ... ७६–१३५

ऐन्द्र पर्व ... १३६–३२८

पावमान पर्व ... ३२९–३८३

आरण्य पर्व ... ३८४–४१३

महानाम्नी आर्चिक ... ४१४–४२०

ऋष्यनुक्रमणिका ... ४२१–४२६

देवतानुक्रमणिका ... ४२७–४२८

मन्त्रानुक्रमणिका ... ४२९–४३६

साम-शंसनम्

१. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षथः॥ —साम (३६९) १।४।२।३।१०

२. ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये सामः प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। —यजुर्वेद ३६।१

३. अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। —अथ० १७।२।७१

४. वागेवऽर्चश्च सामानि च मन एव यजूंषि। —शत० ४।६।७।५

५. प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि। —शत० १४।८।१४।३

६. ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्तां सैव नाम ऋगासीदमो नाम सा। —ऐ० ३२

७. यद्वै तत्सा चामश्च समभवतां तत्सामाभवत् तत् साम्नः सामत्वम्। —ऐ० ३२

८. समा उ ह वा अस्मिश्छन्दांसि साम्यादिति तत्साम्नः सामत्वम्। —सा० ११

९. चत्वारि (बृहती सहस्राणि—$४००० \times ३६ = १४४०००$ अक्षराणि) साम्नाम्। —श० १०।४।२।२४

१०. तानि वा एतानि त्रीणि साम्न उद्गीतं अनुगीतं आगीतम्। तद्यथेदंवयमागायाद् गायाम एतद् उद्गीतम्। अथ यद्यथागीतं तदनुगीतम्। अथ यत्किंचेति साम्नस्तदागीतम्। —जै० उ० १।५५।१४

११. देवाः सोमं दिवः साम्ना समानयन् तत्साम्नः सामत्वम्। —तै० सं० २।२।८।७

॥ ओ३म् ॥

अथ सामवेदभाष्यभूमिका

नमाम्यादौ परेशं तं जगन्मङ्गलहेतुकम् । विविधज्ञानपूर्णं यश्चक्रे वेदचतुष्टयम् ॥१॥
पदे पदे नवं यस्य पाठे पाठे मनोहरम् । राजते वेदकाव्यं यन्न ममार न जीर्यति ॥२॥
ततो महर्षीन् सकलान् नमामि, व्याख्यासु वेदस्य कृतश्रमा ये ।
शाकल्यगार्ग्यप्रमुखान् सुधीन्द्रान्, यास्कादिकान् वेदरहस्यविज्ञान् ॥३॥
श्रद्धान्वितो वेदधुरीणमाप्तं, देवं दयानन्दमहं प्रणौमि ।
वेदार्थमार्गे निजभाष्यजातां, कीर्त्ति वरेण्यां भुवि यस्ततान ॥४॥
आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी ।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विहिता येन नान्यथा ॥५॥
यस्य भाष्यप्रतापेन कलङ्का वेददूषकाः ।
सर्वेऽप्यपगताः सूर्यात् तमोजालं यथा क्षणात् ॥६॥
ऋग्यजुर्भाष्ययोरेव लेखनी तेन चालिता । तस्मात्तु सामवेदस्य भाष्यं तन्तन्यते मया ॥७॥
नास्मिन् मद्गौरवं किञ्चिन्महर्षेरेव गौरवम् । तेनैव दर्शितान् मार्गाननुधावामि यत्नतः ॥८॥
गुरुकुलमतिरम्यं काँगड़ीनाम यत्र, कृतवसतिरदभ्रं वेदविद्यापिपासुः ।
विविधविमलशास्त्रे दत्तचित्तो यतात्मा, गुरुचरणकृपातो ज्ञानबिन्दूनविन्दम् ॥९॥
श्री विश्वनाथगुरुवर्यसुरेन्द्रशर्म - वागीश्वरप्रभृतिभिः कृपया सुधीन्द्रैः ।
सत्यव्रताच्युतचमूपतिलालचन्द्रैः पूताशिषां वितरणेन कृती कृतोऽस्मि ॥१०॥
अभयदेवगुरुं प्रणमाम्यहं गुणगणं किल तस्य वदाम्यहम् ।
यतिरसौ निजदिव्यशुभाशिषा श्रुतिपथेऽभिरुचिं मम योऽकरोत् ॥११॥
तान् सर्वान् शिरसा वन्दे पीतं ज्ञानामृतं यतः । गुरूणां च गुरुं वन्दे श्रद्धानन्दं तपस्विनम् ॥१२॥
तातं गोपालरामाख्यं वन्दे 'भगवतीं' प्रसूम् । ययोः कृपाकटाक्षाणामानृण्यं कर्तुमक्षमः ॥१३॥
तां प्रकाशवतीं भार्यां सद्धर्मसुखवर्षिणीम् । स्मृत्वा मनः प्रकुर्वेऽहं श्रुतिमर्मप्रकाशने ॥१४॥
सुतो विनोदचन्द्रो मे 'विद्यालङ्कार' भूषितः । तत्पत्नी निर्मला हृद्या स्वस्तिश्च तत्सुतः प्रियः ॥१५॥
भारती मे सुता दक्षा महेन्द्रस्तत्पतिर्गुणी । दीप्त्यादयोऽथ तत्पुत्र्यः सर्वे नन्दन्तु श्रेयसा ॥१६॥
प्रीयन्तां पाठकाः सर्वे वर्धतां च रुचिः श्रुतौ । श्रद्धा मातेव कल्याणी मङ्गलं तनुतात् सदा ॥१७॥

सर्वप्रथम मैं जगन्मङ्गलकारी उस परमेश्वर को प्रणाम करता हूँ, जिसने विविध ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण चारों वेदों की रचना की है और जिसका प्रत्येक पद में नवीन एवं प्रत्येक पाठ में मनोहर प्रतीत होनेवाला वह वेदकाव्य शोभित है, जो न कभी मरता है, न पुराना होता है ॥१, २॥

तदनन्तर मैं शाकल्य, गार्ग्य आदि सुधीन्द्र और यास्काचार्य आदि वेद-रहस्य के ज्ञाता सब महर्षियों को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने वेद की व्याख्याओं में भूरि-भूरि परिश्रम किया है ।।३।।

मैं श्रद्धान्वित होकर वेदधुरीण, आप्त, देव दयानन्द को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने वेदार्थ के मार्ग में अपने वेदभाष्य से उत्पन्न श्रेष्ठ कीर्ति को भूमण्डल में सर्वत्र विस्तीर्ण कर दिया है; जिन्होंने ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-पर्यन्त जो आर्य मुनि और ऋषि हुए हैं उन्हीं की व्याख्यापद्धति का आश्रय लेकर मन्त्रों के अर्थ किये हैं, विपरीत नहीं; और जिनके भाष्य के प्रताप से वेदों पर दोषों का आरोप करनेवाले सब कलंक वैसे ही दूर हो गये हैं जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का जाल क्षणभर में विलीन हो जाता है ।।४—६।।

क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने केवल ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्य में अपनी लेखनी को प्रवृत्त किया था, सामवेद का भाष्य वे नहीं कर सके थे, इसलिए उन्हीं की भाष्य-पद्धति से मैं सामवेद का भाष्य कर रहा हूँ ।।७।।

इसमें मेरा कुछ गौरव नहीं है, प्रत्युत उन महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का ही गौरव है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा दर्शाये गये मार्गों का मैं यत्नपूर्वक अनुसरण कर रहा हूँ ।।८।।

हरिद्वार के निकट महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा स्थापित एक सुरम्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय है, वहीं छात्र रूप में निवास करते हुए, अतिशय वेदादि विद्याओं की पिपासा लिये हुए, विविध निर्मल शास्त्रों में दत्त-चित्त होकर संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मैंने गुरुचरणों की कृपा से कतिपय ज्ञान-बिन्दुओं को प्राप्त किया ।।९।।

गुरुवर पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार (वेदोपाध्याय), पण्डित सुरेन्द्रनाथ शर्मा सप्ततीर्थ (दर्शनशास्त्रोपाध्याय), साहित्याचार्य पण्डित वागीश्वर विद्यालंकार एम० ए० (संस्कृतसाहित्योपाध्याय), पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (आर्यसिद्धान्तोपाध्याय), अर्थशास्त्रवाचस्पति 'अच्युत' पण्डित केशवदेव वेदालंकार (अर्थशास्त्रोपाध्याय), आचार्य चमूपति एम० ए० (आस्तिकवादोपाध्याय), प्रोफेसर लालचन्द, एम० ए० (आंग्लभाषोपाध्याय) आदि विद्वान् गुरुओं ने अपने पवित्र आशीर्वादों से मुझे कृतार्थ किया ।।१०।।

मैं अपने आचार्य स्वामी अभयदेव को प्रणाम करता हूँ और उनके गुण-गण का गान करता हूँ। उस संन्यासी ने अपने दिव्य, शुभ आशीर्वाद से मेरी रुचि को वेदमार्ग पर अग्रसर किया था ।।११।।

उन सभी गुरुओं की मैं नत-मस्तक होकर वन्दना करता हूँ, जिनसे मैंने ज्ञानरूप अमृत का पान किया है। साथ ही मैं अपने गुरुओं के गुरु, गुरुकुलशिक्षापद्धति के पुनरुद्धारक, तपस्वी श्रद्धानन्द संन्यासी को भी प्रणाम करता हूँ ।।१२।।

मैं अपने पिता श्री गोपालराम जी और माता श्रीमती भगवती देवी जी को हाथ जोड़कर वन्दन करता हूँ, जिनकी कृपाओं से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता ।।१३।।

मैं परिवार में सद्धर्म और सुख को बरसानेवाली अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नी श्रीमती प्रकाशवती को स्मरण करके वेद का मर्म प्रकाशित करने के लिए अपने मन को प्रवृत्त करता हूँ ।।१४।।

मेरे पुत्र विनोदचन्द्र विद्यालंकार, पुत्रवधू निर्मला देवी, पौत्र स्वस्ति, पुत्री भारती, जामाता महेन्द्र और दौहित्री दीप्ति, प्रीति तथा उदिता सब वेदमार्ग पर चलते हुए कल्याणभाजन हों, यह मेरी कामना है ।।१५, १६।।

इस सामवेदभाष्य के पाठक तृप्तिलाभ करें, वेद में उनकी रुचि बढ़े और कल्याणकारिणी माता के समान श्रद्धा उनका सदा मंगल करती रहे ।।१७।।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥—ऋ० ५।८२।५

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥
—यजुः० ३४।५

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥—साम० उ० ६।३।१०।१

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥४॥—अथर्व० १०।८।१

हे सच्चिदानन्दस्वरूप, परम दयालु, अनन्तविद्य, सर्वविद्याप्रकाशक, सर्वानन्दप्रदाता, सकल-जगदुत्पादक परमात्मन् ! इस वेदभाष्य में आनेवाले विघ्नरूप दुरितों को आने से पूर्व ही आप दूर कर दीजिए और यदि मेरी असावधानी के कारण वे विघ्न आ भी जाएँ तो मुझे ऐसा बल प्रदान कीजिए कि मैं उन्हें तत्क्षण दूर कर सकूँ, और जो शरीर का आरोग्य, बुद्धिकौशल, सत्यविद्याप्रकाश आदि भद्र है वह कृपा कर मुझे प्राप्त कराइए, जिससे वेद का यथार्थ भाष्य मैं कर सकूँ।

हे भगवन् कृपानिधे ! जिस मन में ऋचाएँ, साम और यजुः रथनाभि में अरों के समान प्रतिष्ठित होते हैं और जिसमें प्रजाओं का स्मृतिरूप चित्त सूत्र में मणिगणों के समान प्रोत रहता है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शिवसंकल्पोंवाला हो, जिससे वेद के सत्यार्थ को ही मैं प्रकाशित करूँ।

सर्वजगदुत्पादक, सन्मार्गप्रेरक, निखिलज्ञानविज्ञानप्रकाशक, सर्वसुखदाता, सर्वान्तर्यामी परब्रह्म का, जो सकल अविद्या का प्रदाहक, तेजस्वी, श्रेष्ठ स्वरूप है, उसे मैं अपने अन्तःकरण में धारण करूँ। वह परब्रह्म मेरी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करता रहे, जिससे उत्कृष्ट वेदार्थों के प्रकाशक, वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-व्याकरण-निघण्टु-निरुक्त आदि के सुप्रमाणों से युक्त और पारमार्थिक तथा व्यावहारिक अर्थों से अलंकृत वेदभाष्य को मैं कर सकूँ।

जो भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालों का तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर आदि सबका अधिष्ठाता है और लेशमात्र भी दुःख से रहित नितान्त सुख जिसे सदा प्राप्त रहता है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को मेरा नमस्कार है ॥

अब वेदभाष्य की भूमिका आरम्भ होती है। वेदभाष्य यद्यपि संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में है, तथापि बहुत विस्तार न हो, अधिक से अधिक विषय का प्रतिपादन हो सके तथा सबके लिए सुबोध हो, इस दृष्टि से भूमिका केवल आर्यभाषा में लिखी जा रही है।

१. चार वेद और उनकी शाखाएँ

ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ईश्वरप्रेरित चार वेद हैं। किसी समय इनकी बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ हो गयीं, जो संख्या में ११२७ तक पहुँच गयी थीं। अनेक वेदप्रेमी जन इन शाखाओं को भी वेद के अन्तर्गत मानकर वेदवत् इनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती मूल

वेद प्रायः उन्हें मानते हैं जो आजकल शाकल ऋग्वेद (वालखिल्य-सूक्तों सहित), वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद, कौथुम एवं राणायनीय सामवेद तथा शौनकीय अथर्ववेद नाम से प्रचलित हैं और शाखाओं को इन मूल वेदों के अनुकूल होने पर ही प्रमाण मानते हैं। उनके मतानुसार शाखाएँ ईश्वरकृत नहीं हैं प्रत्युत ईश्वरकृत वेदों के ऋषिकृत वेदव्याख्यान हैं।[1]

पातंजल महाभाष्य में लिखा है कि ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हो गयी थीं।[2] किन्तु सम्प्रति ऋग्वेद केवल शाकल ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कापिष्ठल संहिताएँ प्राप्त हैं। अथर्ववेद की शौनकीय एवं पैप्पलाद संहिताएँ मिलती हैं। सामवेद केवल तीन प्रकार का उपलब्ध है—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

कौथुम एवं राणायनीय दोनों सामवेदों में मन्त्रसंख्या एकसमान १८७५ है, विशेष अन्तर विभाजन का है। कौथुम के पूर्वार्चिक में 'प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति एवं मन्त्रों' का क्रम है, तो राणायनीय के पूर्वार्चिक में 'अध्याय, खण्ड एवं मन्त्रों' का। इसी प्रकार कौथुम के उत्तरार्चिक में 'प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त एवं मन्त्रों' का विभाजन है, तो राणायनीय के उत्तरार्चिक में 'अध्याय, खण्ड, सूक्त एवं मन्त्रों' का क्रम है। स्वामी दयानन्द प्रपाठकों वाले क्रम को आदर देते हैं, यतः उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थसंकेत-विषय में सामवेद का ग्रन्थसंकेत देने के लिए इसी क्रम को स्वीकार किया है। कौथुम तथा राणायनीय में क्वचित् स्वल्प पाठभेद भी है, यथा कौथुम में ऋग्वेद के समान 'वाजेषु नो' तथा राणायनीय में 'वाजेषु णो' पाठ मिलता है।[3] सामगान में कौथुमशाखाध्येता वेदपाठी 'हाउ' तथा 'राइ' बोलते हैं, किन्तु राणायनीयशाखाध्येता वेदपाठी इनके स्थान पर क्रमशः 'हावु' तथा 'रायि' उच्चारण करते हैं। आजकल जो सामवेद की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनमें प्रायः अध्याय आदि तथा प्रपाठक आदि दोनों ही विभाजन प्रदर्शित किये होते हैं। इस प्रकार उनमें कौथुम संहिता तथा राणायनीय संहिता दोनों मिश्रित रहती हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित सामवेद-संहिता में प्रधानता प्रपाठक के क्रम को दी गयी है, किन्तु शीर्ष पर प्रपाठक और अध्याय दोनों ही क्रमों का निर्देश है। स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित संहिता में शीर्ष पर भी और मध्य में भी दोनों विभाजन प्रदर्शित किये गये हैं।

जैमिनीय संहिता की मन्त्रसंख्या डॉ० डब्ल्यू० कैलेण्ड के अनुसार १६८७ है, इस प्रकार इसमें कौथुम एवं राणायनीय संहिता की अपेक्षा १८८ मन्त्र न्यून हैं। इस संहिता में ऋग्वेद में विद्यमान कई ऐसी ऋचाएँ भी हैं जो कौथुम एवं राणायनीय संहिताओं में नहीं हैं। मन्त्रों का क्रम भी कई स्थानों पर कौथुम एवं राणायनीय के क्रम से भिन्न है।

---

१. तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। ऋ०भा०भू०, ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्यविषयः॥ "ये सब शाखा वेद नहीं हैं, क्योंकि इनमें ईश्वरकृत वेदों की प्रतीक धरके व्याख्या और संसारी जनों के इतिहासादि लिखे हैं।"—स० प्र०, समु० ११।

२. "एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाथर्वणो वेदः।" पातंजल महा०, पस्पशाह्निक। एवं महाभाष्योक्त २१+१०१+१०००+९=११३१ में से चार मूल वेद निकाल देने पर शाखाओं की संख्या ११२७ होती है।

३. 'वाजेषु' और 'नो (या णो)' दोनों शब्द इकट्ठे केवल साम क्रमसंख्या ७९८ तथा १४५५ में आये हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर तथा स्वाध्यायमण्डल औंध (या पारडी) दोनों से प्रकाशित स [illegible] 'वाजेषु नो' पाठ मिलता है।

सामवेद की कौथुम संहिता का संस्करण जर्मन विद्वान् थियोडोर बेन्फे (Theodor Benfey) ने १८४८ ई० में जर्मन भाषा के अनुवाद-सहित प्रकाशित कराया था। राणायनीय संहिता सर्वप्रथम १८४२ ई० में लन्दन से जे० स्टेवेन्सन (J. Stevenson) के अंग्रेजी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हुई थी। जैमिनीय संहिता का भूमिकायुक्त रोमनाक्षर-संस्करण अंग्रेज विद्वान् डॉ० डब्ल्यू० कैलेण्ड (Dr. W. Caland) द्वारा १९०७ ई० में प्रकाशित किया गया था। स्वाध्यायमण्डल से जो सामवेदसंहिता प्रकाशित हुई है उसमें कौथुम एवं राणायनीय तो सम्मिलित रूप से हैं ही, किन्तु अन्त में जैमिनीय संहिता के पाठ-विशेष, क्रमभेद तथा अधिक मन्त्र भी दर्शा दिये गये हैं।

२. वेदों के प्रतिपाद्य विषय

प्रत्येक वेद का अपना-अपना महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि किसी वेद का कम महत्त्व हो, दूसरे वेद का अधिक हो। वेदों के चार वर्ण्य विषय हैं—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। ज्ञान किसी पदार्थ के सामान्य बोध को तथा विज्ञान उसके साक्षात् बोध को कहते हैं। चारों विषयों में विज्ञान सबसे मुख्य है, यतः उसमें परमेश्वर से लेकर तृण-पर्यन्त सब पदार्थों का हस्तामलकवत् साक्षात् बोध होता है। उसमें भी परमेश्वर का अनुभव सर्वमुख्य है, क्योंकि सब वेदों का प्रधानतः उसी में तात्पर्य है।[1]

चारों ही वेदों में विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के विषय वर्णित हैं। तथापि प्रधानतः ऋग्वेद[1] में गुण-गुणियों के ज्ञान-विज्ञान का उपदेश अर्थात् ईश्वर से लेकर भूमिपर्यन्त पदार्थों का गुण-वर्णन-रूप ज्ञानकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड हैं, और यजुर्वेद में ईश्वर-पूजा, विद्वत्सत्कार, शिल्पादि क्रियाओं से संगतिकरण, शुभ विद्या, गुण, धन आदि का दान एवं यज्ञादि कर्तव्य कर्मों का उपदेशरूप कर्मकाण्ड वर्णित है।[2] सामवेद में ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय है अर्थात् यह बतलाया गया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना की कहाँ तक उन्नति कर सकता है तथा उसका क्या फल होता है। अथर्ववेद उक्त विद्या-विषयों का पूरक है।[3]

---

१. अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानमयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति, तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।—ऋ० भा० भू०, वेदविषयविचार

ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः।—दयानन्द, ऋग्भाष्यारम्भ

२. ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ह्यृग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथायथोपकार-ग्रहणाय क्रियाः कथं कर्तव्या इत्युपदिश्यते।···येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति सर्वचेष्टासांगत्यं शिल्पविद्यासंगतिकरणं शुभविद्यागुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद् यजुः॥—दयानन्द, यजुर्वेदभाष्यभूमिका

३. ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकार-ग्रहणाय विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः। एवमथर्व-वेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः॥

—ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तरविषयः

तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायक-त्वात् तृतीयो गण्यत इति॥ —वही

३. सामवेद का नामकरण

वेद शब्द 'विद सत्तायाम्' (दिवादि), 'विद ज्ञाने' (अदादि), 'विद्लृ लाभे' (तुदादि), 'विद विचारणे' (रुधादि) तथा 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' (चुरादि) धातुओं से करण और अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। जिसमें विविध ज्ञान-विज्ञानों की सत्ता है (विद सत्तायाम्), जिससे या जिसमें विविध विद्याएँ जानी जाती हैं (विद ज्ञाने), जिससे या जिसमें विविध विद्याओं को पाते हैं (विद्लृ लाभे), जिससे या जिसमें विविध विद्याओं का विचार किया जाता है (विद विचारणे), जिससे गुरु द्वारा शिष्यों को चेताया जाता है, जिससे या जिसमें विविध विषयों का आख्यान किया जाता है, जिसमें विविध विद्याएँ निवास करती हैं अथवा जिससे शिष्यों के हृदय में अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत आदि विद्याओं का निवास कराया जाता है (विद चेतनाख्याननिवासेषु) उसका नाम वेद है।[1]

'साम' को अथर्ववेद में 'सा' और 'अम' के योग से निष्पन्न किया गया है। वहाँ चतुर्दश काण्ड के विवाह-सूक्त में वर वधू से कहता है कि तू 'सा' है, मैं 'अम' हूँ[2], इस प्रकार हमारा युगल 'साम' है। यहाँ 'सा' से वाणी और 'अम' से प्राणबल अभिप्रेत है।[3] जैसे वाणी और प्राण के मिलन से साम-संगीत की उत्पत्ति होती है, वैसे ही वधू-वर के मिलन से गृहस्थ-संगीत उत्पन्न होता है। शतपथ ब्राह्मण[4], काठक संहिता[5] तथा जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण[6] में भी 'सा' और 'अम' के योग से 'साम' की निष्पत्ति मानी गयी है। सामविधान ब्राह्मण[7] में 'सम' से 'साम' निष्पन्न हुआ बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि ऋग्वेद के छन्द और सामवेद के छन्द समान हैं, सम छन्दवाला होने के कारण ही सामवेद का नाम 'साम' पड़ा है।

यास्कीय निरुक्त में 'साम' शब्द की तीन प्रकार से निष्पत्ति दर्शायी गयी है। प्रथम, सम् उपसर्ग-पूर्वक मानार्थक माङ् धातु से। ऋचा से समान परिमाणवाला होने से 'साम' कहलाता है, अर्थात् ऋचाएँ जैसे छन्दोबद्ध होती हैं वैसे ही 'साम' भी होता है (सम्मा=साम)। द्वितीय प्रकार में 'साम' को 'षो अन्तकर्मणि' धातु से व्युत्पन्न किया गया है। सामयोनिमन्त्र को या सामगान को 'साम' इस कारण कहते हैं क्योंकि यह मानसिक अशान्ति, दुःख आदि का अन्त कर देता है। तृतीय पक्ष नैदानों के नाम से दिया गया है, जिसके अनुसार 'सम'-पूर्वक 'मन ज्ञाने' (दिवादि) या 'मनु अवबोधने' (स्वादि) धातु से 'साम' शब्द बनता है। ऋचा के समान माना जाने के कारण सामयोनिमन्त्र 'साम' कहलाता है।[8]

---

१. विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे एतेभ्यो 'हलश्च' (अ० ३।३।१२१) इति सूत्रेण करणाधिकरण-योर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। विन्दन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।—ऋ० भा० भू०, वेदोत्पत्तिविषयः।

२. अमोऽहमस्मि सा त्वम्।—अथ० १४।२।७१

३. प्राणो वाव अमो वाक् सा, तत् साम (जै० उ० ब्रा० ४।११।२।३), वागेव सा प्राणोऽमः, तत्साम। (छा० उ० प्रपा० १, खण्ड ७)।

४. सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्।—श० १४।४।१।२४

५. सा त्वमसि अमोऽहम्, अमोऽहमस्मि सा त्वम्। ता एहि संरभावहै पुं[illegible]त्राय कर्तवे ॥—काठ० ३५।१८

६. तद्यत् सा च अमश्च तत् सामाऽभवत्, तत्साम्नः सामत्वम्।—जै० उ० ब्रा० १।१७।१।५

७. समा उ ह वा अस्मिश्छन्दा ँ सि साम्यादिति तत् साम्नः सामत्वम्।—सा० वि० ब्रा० १।१।५

८. साम सम्मितम् ऋचा, स्यतेर्वा, ऋचा समं मेने इति नैदानाः।—निरु० ७।१२

उणादि कोष में 'साम' की सिद्धि में निरुक्तवर्णित द्वितीय प्रकार को ही ग्रहण किया है। वहाँ 'षो अन्तकर्मणि' धातु से मनिन्[1] प्रत्यय करके 'सामन्' शब्द निष्पन्न किया गया है, उसीके नपुंसकलिंग, प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'साम' रूप बनता है। पाप-ताप का अन्त इसके अर्थज्ञानपूर्वक पाठ या गान से होता है, अतः इसे 'साम' कहते हैं। एक अन्य धातु 'साम सान्त्वप्रयोगे' (चुरादि) है, इस धातु से अन् प्रत्यय करने पर भी 'सामन्' की सिद्धि हो सकती है। तदनुसार इसे 'सामन्' इस कारण कहते हैं, यतः इससे शान्ति प्राप्त होती है। उणादि सूत्रों के एक वृत्तिकार श्वेतवनवासी 'षो' धातु को गानार्थक मानकर 'साम' का यह अर्थ करते हैं कि जो गाया जाए वह साम है।[2]

४. सामवेद का बहिरंग परिचय

यहाँ सामवेद स कौथुम एवं राणायनीय सामवेद-संहिता ही अभिप्रेत है, जिसे मूल प्रामाणिक सामवेद कहा जा सकता है। सामवेद में तीन आर्चिक हैं—आरम्भ में पूर्वार्चिक, अन्त में उत्तरार्चिक और मध्य में एक छोटा-सा महानाम्नी आर्चिक। पूर्वार्चिक को छन्द-आर्चिक भी कहते हैं, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र छन्द (सामयोनि ऋचाएँ) पठित हैं। पूर्वार्चिक आरण्यकाण्ड के अन्त, साम-मन्त्र-संख्या ६४० तक है। सामवेदसंहिता के पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित सायण-भाष्य में भी आरण्यकाण्ड के अन्त में पूर्वार्चिक (छन्द आर्चिक) को समाप्त किया गया है।[3] महानाम्नी आर्चिक के आरम्भ में पं० सामश्रमी ने टिप्पणी दी है कि महानाम्नियों का पाठ सर्वत्र छन्द आर्चिक की समाप्ति पर ही मिलता है, उन्हें न छन्द आर्चिक में सम्मिलित किया गया है, न उत्तरार्चिक में।[4] कुछ लोग पावमानकाण्ड के अन्त में (साम-मन्त्र-संख्या ५८५ पर) पूर्वार्चिक (छन्दआर्चिक) को समाप्त मानते हैं, उनके मत में आरण्यकाण्ड पूर्वार्चिक से पृथक् है। सामभाष्यकार माधवाचार्य[5] और भरतस्वामी[6] पावमान काण्ड के भाष्य के अनन्तर ही पूर्वार्चिक को समाप्त करते हैं। महामण्डलेश्वर स्वामी गंगेश्वरानन्द उदासीन के सामवेद-संहिता के भाष्य में भी ऐसा ही किया गया है; उन्होंने आरण्यकाण्ड को एक पृथक् आर्चिक 'आरण्यार्चिक' माना है। किन्तु वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित मूल सामवेद-संहिता में पूर्वार्चिक, महानाम्नी आर्चिक और उत्तरार्चिक ये तीन ही आर्चिक हैं तथा आरण्यकाण्ड की समाप्ति तक पूर्वार्चिक है।

पूर्वार्चिक में चार काण्ड हैं जिन्हें पर्व भी कहते हैं—आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्य। आग्नेय काण्ड या पर्व में कुल ऋचाएँ ११४ हैं, जिनमें अधिकांश का देवता अग्नि है। इस काण्ड में अग्नि

---

१. सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४।१५४)। धात्वर्थ इस प्रकार संगत होगा—स्यति समापयति पापम् अशान्तिं दुःखादिकं च यत् तत् साम।

२. षो अन्तकर्मणि अनेकार्थकत्वाद् गाने वर्तते, सीयते गीयते इति साम वेदः। —उ० ४।१५४ की श्वेतवनवासी-वृत्ति।

३. समाप्तम् आरण्यम् पर्व आरण्यङ्काण्डं वा ॥ सामवेद-संहितायां छन्द-आर्च्चिकः समाप्तः।—सायणभाष्य

४. महानाम्नीनां पाठस्तु न तु छन्द-आर्चिके नापि उत्तरार्चिके परं छन्द-आर्चिके समाप्ते तत्पुस्तकान्त्यभाग एव सर्वत्र दृश्यते, एवमारण्यगाने समाप्ते च ततोऽनन्तरं महानाम्नी-सामपाठस्तत्रैव पुस्तके सर्वत्र।—सामश्रमी

५. माधवकृत सामसंहिताभाष्य में क्रमसंख्या ५८५ के भाष्य की समाप्ति पर लिखा है—'इति छन्दसिकाविवरणं माधवाचार्यकृतं परिसमाप्तम्।

६. भरतस्वामी उक्त मन्त्रसंख्या के भाष्य के अनन्तर लिखते हैं—शतानि पञ्चाशीतिश्च पञ्च चाप्यखिला ऋचः ॥ इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः। नारायणार्यतनयो व्याख्यत् साम्नामृचोऽखिलाः ॥ इति षष्ठे नवमी दशतिः। षष्ठः प्रपाठकः ॥

नाम से परमात्मा की उपासना का तथा राजा, सेनापति, आचार्य आदि के गुण-कर्मों का वर्णन है। ऐन्द्र काण्ड या पर्व में कुल ऋचाएँ ३५२ हैं, जिनका प्रायः इन्द्र देवता है।[1] इसमें इन्द्र नाम से परमात्मा की उपासना एवं जीवात्मा को उद्बोधन है, और राजा, सेनापति, आचार्य आदि के गुण-कर्मों का वर्णन है। पावमान काण्ड या पर्व में कुल ११९ ऋचाएँ हैं; सभी ऋचाओं का देवता पवमान सोम है। इसमें पवित्रता-कारक 'सोम' परमात्मा की उत्कृष्ट भक्ति करने की प्रेरणा दी गयी है। 'सोम' शब्द भक्ति-रस, श्रद्धा-रस, कर्म-रस आदि का भी वाचक है, अतः जिन ऋचाओं में परमात्मा के प्रति सोम-रस प्रवाहित करने का वर्णन है उनमें 'सोम' से भक्ति-रस आदि ग्राह्य हैं। इसके अतिरिक्त 'सोम' नाम से जीवात्मा, राजा, सेनानी आदि के गुण-कर्मों का भी वर्णन किया गया है। आरण्य काण्ड या पर्व में कुल ऋचाएँ ५५ हैं। इसमें कोई एक प्रमुख देवता न होकर जैसे अरण्य (जंगल) में विभिन्न प्रकार के वृक्ष उगे होते हैं, वैसे पवमान सोम, वायु, प्रजापति, अग्नि, इन्द्र, पुरुष, द्यावापृथिवी, सूर्य आदि विभिन्न देवता हैं। इन विविध नामों से परमात्मा की उपासना तथा राजा, आचार्य, प्राण आदि की विशेषताओं का वर्णन है। इस काण्ड को आरण्यक इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि इसमें पठित ऋचाओं पर अरण्ये-गेय गान किया जाता है।

पूर्वार्चिक में चारों काण्डों में मिलाकर कुल ६४० ऋचाएँ हैं। महानाम्नी आर्चिक में ऋचाओं की संख्या केवल १० है। पूर्वार्चिक ६ प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम पाँच प्रपाठकों में प्रथमार्ध तथा द्वितीयार्ध दो-दो अर्ध हैं, किन्तु षष्ठ प्रपाठक में तीन अर्ध हैं। प्रत्येक अर्ध में पाँच-पाँच दशतियाँ हैं। प्रत्येक दशति में सामान्यतः दस-दस ऋचाएँ हैं, किन्तु कुछ दशतियों में ऋचाओं की संख्या १० से न्यूनाधिक भी है। एक दशति में ६, एक दशति में ७, सात दशतियों में ८-८, पाँच दशतियों में ९-९, एक दशति में ११, पाँच दशतियों में १२-१२, एक दशति में १३, और तीन दशतियों में १४-१४ ऋचाएँ हैं। यह ऋचाओं की न्यूनता या अधिकता इस कारण है कि ऐसा प्रयास किया गया है कि एक छन्द की ऋचाएँ उसी दशति में आ जाएँ। उदाहरणार्थ प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध की तीसरी दशति में १४ ऋचाएँ हैं, जिनका गायत्री छन्द है, जब कि अगली दशति का छन्द बृहती है। यदि तीसरी दशति की चार ऋचाएँ अगली चौथी दशति में डाली जातीं तो उसमें चार ऋचाओं का छन्द गायत्री और शेष का बृहती होता, जो कि वांछनीय नहीं था।

जिस प्रकार ऋग्वेद में 'मण्डल, सूक्त, ऋचा' का विभाजन-क्रम प्राचीन तथा 'अष्टक, अध्याय, वर्ग, ऋचा' का विभाजन-क्रम अर्वाचीन है, उसी प्रकार सामवेद में 'प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति, ऋचा' का विभाजन प्राचीन तथा 'अध्याय, खण्ड, ऋचा' का विभाजन पश्चाद्वर्ती है। दूसरे विभाजन के अनुसार पूर्वार्चिक में ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में आग्नेय काण्ड या पर्व सम्पूर्ण हुआ है जिसमें १२ खण्ड हैं और जो ऋक्संख्या ११४ तक है। ऐन्द्र काण्ड या पर्व द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक है, जिसमें प्रत्येक अध्याय में १२ खण्ड हैं। द्वितीय अध्याय ऋक्संख्या २३२ तक, तृतीय अध्याय ऋक्संख्या ३५१ तक और चतुर्थ अध्याय ऋक्संख्या ४६६ तक है। पावमान काण्ड या पर्व पंचम अध्याय में है, जिसमें ११ खण्ड हैं तथा जो ऋक्संख्या ५८५ तक है। आरण्य काण्ड या पर्व षष्ठ अध्याय में है, जिसमें ५ खण्ड हैं तथा जो ऋक्संख्या ६४० तक है। महानाम्नी आर्चिक स्वतन्त्र है, वह किसी प्रपाठक या अध्याय के अन्तर्गत नहीं है।

---

१. आग्नेय काण्ड में अग्नि के अतिरिक्त तथा ऐन्द्र काण्ड में इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कौन-कौन-से देवता किस-किस ऋचा के हैं—एतदर्थ भाष्य में प्रत्येक काण्ड के आरम्भ की भूमिका द्रष्टव्य है।

उत्तरार्चिक में प्रथम विभाजन के अनुसार 'प्रपाठक, अर्ध-प्रपाठक, सूक्त और ऋचा' तथा द्वितीय विभाजन के अनुसार 'अध्याय, खण्ड, सूक्त एवं ऋचा' हैं। इनमें प्रथम विभाजन प्राचीन तथा द्वितीय अर्वाचीन है जो अध्ययन-अध्यापन एवं गान की सुविधा के लिए किया गया है। उत्तरार्चिक में कुल ९ प्रपाठक, २२ अर्धप्रपाठक, २१ अध्याय, १२० खण्ड तथा ४०० सूक्त हैं। सूक्त अधिकतर तीन-तीन ऋचाओं के हैं, तो भी कुछ सूक्त कम या अधिक ऋचाओं के भी मिलते हैं। गणना से ज्ञात होता है कि उत्तरार्चिक में १३ एकर्च, ६६ द्व्यृच, २८७ तृच, ९ चतुर्ऋच, ४ पञ्चर्च, १० षड्ऋच, २ सप्तर्च, १ अष्टर्च, ३ दशर्च और २ द्वादशर्च सूक्त हैं। उत्तरार्चिक की कुल ऋक्संख्या १२२५ है। इस प्रकार सामवेद की सम्पूर्ण ऋक्संख्या (पूर्वार्चिक ६४०+महानाम्नी आर्चिक १०+उत्तरार्चिक १२२५) १८७५ होती है।

नीचे प्रपाठक-क्रम तथा अध्याय-क्रम दोनों की तालिकाएँ दी जा रही हैं :

प्रपाठक-क्रम

पूर्वार्चिक तथा महानाम्नी आर्चिक

प्रपाठक	अर्ध प्रपा०	दशतियाँ	ऋचाएँ	क्रम-संख्या
प्रथम	२	१०	९६	१-९६
द्वितीय	२	१०	९७	९७-१९३
तृतीय	२	१०	९९	१९४-२९२
चतुर्थ	२	१०	९८	२९३-३९०
पञ्चम	२	१०	९६	३९१-४८६
षष्ठ	३	१५	१५४	४८७-६४०
महानाम्नी	—	—	१०	६४१-६५०

उत्तरार्चिक

प्रपाठक	अर्ध प्रपा०	सूक्त	ऋचाएँ	क्रम-संख्या
प्रथम	२	४५	१२४	६५१-७७४
द्वितीय	२	३८	१११	७७५-८८५
तृतीय	२	४५	१४५	८८६-१०३०
चतुर्थ	२	३८	१४४	१०३१-११७४
पञ्चम	२	४३	१७२	११७५-१३४६
षष्ठ	३	४९	१४२	१३४७-१४८८
सप्तम	३	५१	१२८	१४८९-१६१६
अष्टम	३	५१	१४८	१६१७-१७६४
नवम	३	५९	१११	१७६५-१८७५
योग	२२	३८९	१२२५	६५१-१८७५

अध्याय-क्रम

पूर्वार्चिक तथा महानाम्नी आर्चिक

काण्ड	अध्याय	खण्ड	ऋचाएँ	क्रम-संख्या
आग्नेय	प्रथम	१२	११४	१-११४
ऐन्द्र	द्वितीय	१२	११८	११५-२३२
,,	तृतीय	१२	११९	२३३-३५१
,,	चतुर्थ	१२	११५	३५२-४६६
पावमान	पञ्चम	११	११९	४६७-५८५
आरण्य	षष्ठ	५	५५	५८६-६४०
महानाम्नी	—	—	१०	६४१-६५०
योग	—	६४	६५०	१-६५०

उत्तरार्चिक

अध्याय	खण्ड	सूक्त	ऋचाएँ	क्रम-संख्या
प्रथम	६	२३	६२	६५१-७१२
द्वितीय	६	२२	६२	७१३-७७४
तृतीय	६	१९	५५	७७५-८२९
चतुर्थ	६	१९	५६	८३०-८८५
पञ्चम	७	२२	६९	८८६-९५४
षष्ठ	७	२३	७६	९५५-१०३०
सप्तम	७	२४	८५	१०३१-१११५
अष्टम	६	१४	५९	१११६-११७४
नवम	९	२०	७८	११७५-१२५२
दशम	१२	२३	९४	१२५३-१३४६
एकादश	३	११	३२	१३४७-१३७८
द्वादश	६	२०	५६	१३७९-१४३४
त्रयोदश	६	१८	५४	१४३५-१४८८
चतुर्दश	४	१६	४६	१४८९-१५३४
पञ्चदश	४	१४	३८	१५३५-१५७२
षोडश	४	२१	४४	१५७३-१६१६
सप्तदश	४	१४	४०	१६१७-१६५६
अष्टादश	४	१९	५४	१६५७-१७१०
एकोनविंश	५	१८	५४	१७११-१७६४
विंश (१)	५	१८	५१	१७६५-१८१५
(२)	२	१३	३३	१८१६-१८४८
एकविंश	१	९	२७	१८४९-१८७५
योग	१२०	४००	१२२५	६५१-१८७५

५. पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक का सम्बन्ध

पूर्वार्चिक में ६४० ऋचाएँ तथा उत्तरार्चिक में १२२५ ऋचाएँ हैं, यह अभी हमने देखा है। पूर्वार्चिक की ऋचाओं में से २६२ ऋचाएँ उत्तरार्चिक में वैसी की वैसी पुनरुक्त हुई हैं। इन पुनरुक्त में से पूर्वार्चिक की १७० ऋचाएँ उत्तरार्चिक के तृचों की आदिम ऋचाओं के रूप में पठित हैं। २० ऋचाएँ ऐसी हैं जो तृचों के आदि में पठित न होकर उनके मध्य या अन्त में अथवा मध्य और अन्त दोनों स्थानों में पठित हैं। ६० ऋचाएँ ऐसी हैं जो उत्तरार्चिक के प्रगाथ सूक्तों के आदि में पठित हैं। १२ ऋचाएँ चार से लेकर द्वादश ऋचा तक की संख्यावाले सूक्तों के आदि, मध्य या अन्त में पठित हैं। उत्तरार्चिक के कुल ४०० सूक्तों में से २०० से अधिक सूक्तों की आदिम ऋचाएँ पूर्वार्चिक की ही हैं। जो उत्तरार्चिक के सूक्तों के आदि में पठित पूर्वार्चिक की ऋचाएँ हैं वे उत्तरार्चिक के ऊह गानों और ऊह्य गानों की योनि ऋचा बनती हैं अर्थात् उनके आधार पर गान होता है। उत्तरार्चिक के ऊह गानों की प्रकृति पूर्वार्चिक के वेय गान तथा उत्तरार्चिक के ऊह्य गानों की प्रकृति पूर्वार्चिक के आरण्य गान हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि पूर्वार्चिक की ऋचा आरम्भ में पठित हुए बिना उत्तरार्चिक के सूक्तों पर गान न होता हो। पूर्वार्चिक से भिन्न स्वतन्त्र ऋचा आदिम होने पर भी किसी सूक्त पर गान हो सकता है। ऐसा भी नहीं है कि यदि पूर्वार्चिक की कोई ऋचा उत्तरार्चिक के किसी सूक्त के आदि में है तो उसपर गान अवश्य बना हो; ऐसे कई सूक्तों पर गान नहीं हैं। सामगानों के विषय में हम आगे प्रकाश डालेंगे, अतः यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक नहीं लिखा जा रहा है।

६. सामवेद की स्वराङ्कन-पद्धति

मूलतः स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन्हीं को महर्षि पतंजलि ने प्रकारान्तर से सात भी बताया है—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितपूर्व उदात्त और एकश्रुति।[1] संहिता में स्वरित से परे अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर हो जाता है, जिसे प्रचय भी कहते हैं और जिसका उच्चारण उदात्तवत् होता है।[2] किन्तु उस अनुदात्त को एकश्रुति नहीं होती जिससे परे उदात्त या स्वरित हो[3], अपितु वह अनुदात्त अनुदात्ततर उच्चारित होता है।[4] स्वरित दो प्रकार का होता है, एक परतन्त्र स्वरित, जिसे उदात्ताश्रित स्वरित भी कहते हैं, और दूसरा स्वतन्त्र स्वरित। परतन्त्र स्वरित वह कहलाता है, जो उदात्त से परे स्थित अनुदात्त को स्वरित बना होता है।[5] स्वतन्त्र

---

१. उदात्त उदात्तगुणः; अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः य, इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति—उदात्तः, उदात्ततरः अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः।—महाभाष्य १।२।३३

२. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा॥—ऋ० प्रा० ३।१९; स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्—अ० १।२।३९

३. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्।—अ० ८।४।६७

४. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः।—अ० १।२।४०

५. नीचमुच्चात्। ऋक्तन्त्र ५५, उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः।—अ० ८।४।६६

स्वरित वह होता है जो स्वयं स्वरित है। इस स्वतन्त्र स्वरित में स्वाभाविक स्वरित और सन्धिज स्वरित दोनों समाविष्ट हैं। स्वाभाविक स्वरित का ही पारिभाषिक नाम 'जात्य' स्वरित है, अर्थात् जो जाति, स्वभाव या मूल से ही स्वरित है, यथा—

क॒न्यां, धा॒न्यम्, क्व॑, स्वः[1] ।

सन्धिज स्वरित में क्षैप्र स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित और अभिनिहित स्वरित आते हैं। जो उदात्त इकार, उकार के स्थान में यण् (य्, व्) होने पर अगला अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है[2], वह क्षैप्र स्वरित कहाता है, यथा—

स्वा॒धी + अ॒स् = स्वा॒ध्यः, च॒मू + ओ॒स् = च॒म्वोः ।

दीर्घ, गुण अथवा वृद्धि एकादेश से होनेवाले स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं, यथा—

हि + इ॒न्द्र – हीन्द्र, क्व॑ + इ॒यथ – क्वेयथ ।[3]

ए अथवा ओ से ह्रस्व अ परे होने पर पूर्वरूप एकदेश से निष्पन्न होनेवाला स्वरित अभिनिहित स्वरित कहाता है, यथा—

ते + अ॒व॒र्ध॒न्त = तेऽवर्धन्त, वे॒दः + अ॒सि = वे॒दो अ॒सि = वे॒दोऽसि ।[4]

स्वर-विषयक इस सामान्य परिचय के अनन्तर अब सामवेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति दर्शाते हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं, किन्तु सामवेद की स्वराङ्कनपद्धति उनसे भिन्न है। उसमें १, २ तथा ३ अंकों द्वारा स्वरों को सूचित किया जाता है। कहीं-कहीं इन अंकों के साथ र, क तथा उ अक्षर भी लिखे जाते हैं। नियम निम्न-लिखित हैं।

१. सामान्यतः उदात्त अक्षर पर १ का, स्वरित पर २ का और अनुदात्त पर ३ का अंक लिखा जाता है, यथा—वी[३]त[१]ये[२], ब[३]र्हि[१]षि[२] (साम १)।

२. यदि उदात्त से परे अनुदात्ततर हो तो उदात्त पर २ का अंक लिखा जाता है। यथा—अ[३]ग्न[२] आ[१] (साम १) और य[३]ज्ञा[२]नां[३] हो[२]ता (साम २) में अनुदात्ततर परे होने के कारण क्रमशः उदात्त अ तथा ज्ञा पर २ का अंक है।

३. यदि अनुदात्ततर जिनके परे है ऐसे दो या अधिक उदात्त इकट्ठे हों तो प्रथम उदात्त पर २ अंक के साथ उ अक्षर भी लिखा जाता है, शेष उदात्त अनंकित रहते हैं। यथा—आ[२उ]दित् प्र[३]त्न[२]स्य[३] (साम २०), यं[२उ] समि द[३]न्य[२] इ[३]न्ध[१]ते[२] (साम ६०)। प्रथम उदाहरण में अनुदात्ततर से पूर्व आ, दि दो उदात्त हैं तथा द्वितीय उदाहरण में यं, स, मि तीन उदात्त हैं।

४. यदि उदात्त से परे विराम-चिह्न हो, तो भी उदात्त पर २ का अंक लिखा जाता है। यथा—हि[३]तः[२]। (साम २), गि[३]रा[२]। (साम ८)।

---

१. **क॒न्यां, धा॒न्य** और **क्व॑** में क्रमशः यत्, ण्यत् और अत् प्रत्यय 'तित् स्वरितम्, (अ० ६।१।१८५) से स्वरित हैं। **'स्वः'** 'यङ्स्वरौ स्वरितौ (फिट्० ७५) से स्वरित है।

२. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य।—अ० ८।२।४

३-४. एकादेश उदात्तेनोदात्तः।—अ० ८।२।५

५. यदि विराम जिनके परे है ऐसे दो या अधिक उदात्त इकट्ठे हों तो प्रथम उदात्त पर ही २ का अंक लिखा जाता है, शेष उदात्त अनंकित रहते हैं । यथा—महाँ हि षः । (साम ३८१) । यहाँ हाँ, हि, षः ये तीन उदात्त विराम से पूर्व इकट्ठे हैं ।

६. यदि दो या अधिक उदात्त इकट्ठे आये हों तथा उनसे परे स्वरित हो तो प्रथम उदात्त पर १र लिखा जाता है, शेष उदात्त अनंकित रहते हैं और स्वरित पर २र लिखते हैं । यथा—नि होता (साम १), युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो (साम २५) ।[1]

७. यदि स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट या अभिनिहित स्वरित) से पूर्व अनुदात्त अक्षर हो तथा परे अनुदात्ततर, एकश्रुति या विराम हो तो स्वरित पर २र तथा पूर्ववर्ती अनुदात्त पर ३क लिखते हैं । यथा, अनुदात्ततर परे होने पर—विश्व स्वर्दृशं (साम ८९१), चम्वोः सुतः (साम ४९०) । एकश्रुति परे होने पर—वीर्याय चोदय (साम १५०७), वाज्यस्थात् (साम ५३१) । विराम परे होने पर—वीर्यम् । (साम ९५), वरूथ्यः । (साम ४४८), गौर्यः (साम ४०९) ।

८. नियम-संख्या ७ की स्थिति में यदि स्वरित से पूर्व अनुदात्त न हो, प्रत्युत स्वरित ऋचा के या अर्धर्च के आदि में आता हो तो भी स्वरित पर २र लिखते हैं । यथा—क्वेयथ क्वेदसि (साम २७१), न्यस्मिन् दध्र (साम ७२७), नीव शीर्षाणि (साम १६५६) ।

९. स्वरित से परे एक या अधिक अनुदात्तों को जो एकश्रुति या प्रचय स्वर होता है उसे सूचित करने के लिए ऋग्वेद के समान सामवेद में भी कोई चिह्न नहीं है । वह अनंकित ही रहता है । यथा—

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर् (साम ४) में अनङ्कित 'जङ्घनद् द्रवि' एकश्रुति या प्रचय है ।

१०. एक से अधिक अनुदात्त इकट्ठे आयें तो प्रथम अनुदात्त पर ही ३ का अंक लिखा जाता है, शेष अनंकित रहते हैं । यथा—और्वभृगुवत् (साम १८) ।

११. उदात्त या स्वरित परे होने पर जो अनुदात्त को अनुदात्ततर होता है, उसके लिए कोई पृथक् चिह्न नहीं है, वह अनुदात्त के समान ३ के अंक से प्रदर्शित किया जाता है ।

स्वरित में कम्प

उदात्त स्वर परे होने पर स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित) कम्पसहित उच्चारण किया जाता है । सामवेद में इसे सूचित करने के लिए स्वरित पर २ का अंक लगाकर प्लुत के सदृश लिखने की पद्धति है । यथा—

जात्य स्वरित—क्वा३स्य (साम १४२) ।

क्षैप्र स्वरित—पाह्यू३त (साम १५४४) ।

---

१. सामसंहिता की कुछ पुस्तकों में उदात्त पर १र न लिखकर केवल १ लिखते हैं, यथा स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित सामवेदसंहिता में । वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित सामवेद में १र है । स्वरित पर २र सभी पुस्तकों में मिलता है ।

अभिनिहित स्वरित—वृधे३ऽस्माँ (साम २३९)।[1]

स्वरित के कम्प का विधान ऋक्प्रातिशाख्य में इन शब्दों में किया गया है—

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥—ऋ० प्रा० ३।३४

अर्थात् उदात्त या स्वरित परे हो तो जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित कम्प के साथ उच्चारित होते हैं।

यह स्वरित दो प्रकार का होता है—ह्रस्व तथा दीर्घ। ऋग्वेद में कम्पयुक्त ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरितों को लिखने की पद्धति यह है—

ह्रस्व— पाह्यु१त—ऋ० ८।६०।९

दीर्घ— वृधे३स्माँ—ऋ० ८।३।१

परन्तु सामवेद में सकम्प ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों स्वरितों को एक ही प्रकार से प्लुत की पद्धति से लिखा जाता है। यथा—

ह्रस्व— पाह्यू३तं—साम० ३६, १५४४

दीर्घ— वृधे३ऽस्माँ—साम० २३९

सामवेद में सकम्प दीर्घ स्वरित केवल मन्या, पथ्या, 'मा न इन्द्राभ्या दिशः', सन्ध्यक्षर ए-ओ और 'शग्ध्यू षु' आदि (जहाँ इ-उ की सन्धि तथा दीर्घ हुआ होता है) में पाया जाता है।[2] यथा—

समन्या३वसानो (साम १४००), पथ्या३अनु (१५७७), मा न इन्द्राभ्या३दिशः (१२८), तन्वे३चारुरेधि (६५), जुह्वो३मम (१५४२), शग्ध्यू३षु शचीपते (२५३)।

इनसे अतिरिक्त स्थलों में सकम्प ह्रस्व स्वरित है। यथा—

न्या३त्रिणम् (साम २२), दूत्या३चरन् (६४), प्रतीव्या३यजस्व (१०३), क्वा३स्य (१४२), त्वा३स्य (१६५), त्वा३द्य (२६५), उक्थ्या३मिन्द्र (३७४), अप्स्वा३न्तरा (४१७, ५१२), उर्वा३न्तरिक्ष (६०४)।

इस प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि यदि स्वतन्त्र स्वरित (पूर्वोक्त जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित स्वरित) से पूर्व और पर दोनों स्थलों में उदात्त रहता है तब उस कम्पित स्वरित पर २ का अंक नहीं लिखा जाता, प्रत्युत उससे पूर्व के उदात्त पर २ का अंक लिखते हैं। यदि पूर्व एकाधिक उदात्त हों तो प्रथम उदात्त पर २ का अंक लिखा जाता है, शेष उदात्त अनंकित रहते हैं। यथा—

---

१. प्रश्लिष्ट स्वरित के कम्प का उदाहरण सामवेद में उपलब्ध नहीं हुआ। ऋग्वेद का उदाहरण है—अभी३दम् (ऋ० १०।४८।७)। यहां 'अभि इदम्' में उदात्त तथा अनुदात्त इ की प्रश्लिष्ट सन्धि होने पर एकादेश ई स्वरित होता है। उदात्त द परे होने पर उसका कम्पसहित उच्चारण होता है।

२. इकारान्ते पदे चैव उकारद्वयपदे परे।
दीर्घं कम्पं विजानीयात् शग्ध्यूष्विति निदर्शनम्॥
त्रयो दीर्घास्तु विज्ञेया ये च सन्ध्यक्षरेषु वै।
मन्या, पथ्या, न इन्द्राभ्याश्शेषा ह्रस्वाः प्रकीर्तिताः॥—नारद शिक्षा

विद्धी त्वा३स्यं (साम १३२), त्वं ह्या३ङ्ग (५८३), स न ऊर्जं व्या३व्ययं (१४३८), दृशे कं स्वा३र्णं (१४४७)।

कम्प का अभिप्राय

कम्प स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त वर्ण आने पर ही होता है यह हम देख चुके हैं। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का मिश्रण होता है।[1] पूर्वोक्त सकम्प स्वतन्त्र स्वरितों (जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित) के विषय में यह नियम है कि उनका पूर्वभाग उदात्ततर तथा शेष भाग अनुदात्त उच्चारित होता है।[2] स्वरित से परे जब उदात्त अक्षर होता है तब "उदात्ततर-अनुदात्त-उदात्त" यह क्रम हो जाने पर उच्चारण में श्रम होना स्वाभाविक है, क्योंकि उदात्ततर उच्चारण करने के तुरन्त बाद अनुदात्त अंश का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को नीचे उतरना पड़ता है और फिर परवर्ती उदात्त का उच्चारण करने के लिए पुनः ध्वनि को तुरन्त ऊपर चढ़ना पड़ता है। इस प्रकार मध्य के अनुदात्त अंश में सकम्प उच्चारण होता है।

७. सामवेद का पदपाठ

पदपाठकार गार्ग्य

सामवेद के पदपाठकार आचार्य गार्ग्य माने जाते हैं। निरुक्तकार ने ऋग्वेद के एक मन्त्र 'यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति' (ऋ० ५।३९।१) आदि की व्याख्या में 'मेहना' की पहले 'मंहनीयम्' व्याख्या दी है, तदनन्तर लिखा है कि—अथवा 'मेहना' में 'म-इह-न' ये तीन पद हैं।[3] निरुक्त के टीकाकार दुर्ग के अनुसार प्रथम व्याख्या शाकल्यकृत ऋग्वेदीय पदपाठ का अनुसरण करती है और दूसरी व्याख्या सामवेद के पदपाठकार गार्ग्य की है, जिन्होंने सामवेद के क्रमांक ३४५ पर पठित इसी मन्त्र के पदपाठ में 'मे इह न अस्ति' पदच्छेद किया है।[4] इस प्रकार दुर्गाचार्य के साक्ष्य के अनुसार सामवेद का उपलब्ध पदपाठ गार्ग्यकृत है।

निरुक्त में गार्ग्य का नामोल्लेख तीन वार हुआ है। प्रथम उपसर्ग-प्रकरण में शाकटायन के विपरीत गार्ग्य का मत दिया है कि उपसर्गों के अनेकविध अर्थ होते हैं।[5] दूसरे, सब नाम आख्यातज हैं या नहीं इस प्रसंग में लिखा है शाकटायक के मत में सब नाम आख्यातज हैं, किन्तु गार्ग्य के मतानुसार जिनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि स्पष्ट हो वे ही नाम आख्यातज हैं, सब नहीं।[6] तीसरे, उपमा का लक्षण देते हुए लिखा है—यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः।[7] ऋक्प्रातिशाख्य में भी विविध प्रसंगों में गार्ग्य के मत

---

१. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः (उदात्तानुदात्तयोः) स्वरितः स्वरः।—ऋ० प्रा० ३।३; समाहारः स्वरितः। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्। अ० १।२।३१, ३२

२. द्रष्टव्य ऋ० प्रा० ३।३-६ तथा उनपर डा० वीरेन्द्रकुमार वर्मा की टिप्पणियाँ।

३. यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि।—निरु० ४।४

४. बह्वृचानां 'मेहना' इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि 'म इह न' इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ, एवञ्जातीयनिर्वचनोपप्रदर्शनार्थम् उभयोश्च प्रामाण्यख्यापनार्थम्।
—निरु० ४।४ की दुर्गवृत्ति

५. द्रष्टव्य : निरु० १।३

६. निरु० १।११ ७. निरु० ३।३।१३

का उल्लेख मिलता है।[1] पाणिनि ने भी गार्ग्य की चर्चा की है।[2] यह गार्ग्य सामपदकार गार्ग्य ही प्रतीत होता है, जिसने पर्याप्त ख्याति अर्जित की हुई थी। गार्ग्य के पदपाठ में शाकल्य आदि के पदपाठों की उपेक्षा पर्याप्त नवीनता है, जिसका परिचय आगे दिये गए पदपाठ तथा अवग्रह के नियमों से मिल जाएगा।

गार्ग्यकृत पदपाठ में स्वराङ्कन

गार्ग्यकृत पदपाठ के स्वराङ्कन में संहितापाठ के स्वराङ्कन की अपेक्षा कुछ अन्तर है। नियम निम्नलिखित हैं—

१. पदपाठ में प्रत्येक पद पर स्वतन्त्र रूप से स्वराङ्कन होता है, पूर्ववर्ती पद के स्वर का उत्तरवर्ती पद के स्वर पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, संहितापाठ में 'आ याहि' (साम १) में उदात्त 'आ' से परे अगले पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त 'या' को स्वरित हो गया है, किन्तु पदपाठ में नहीं होता तथा 'याहि' इस प्रकार 'या' अनुदात्त ही रहता है।

२. एकाक्षर पद के उदात्त पर संहितापाठ में १ का अंक लिखा जाता है, किन्तु पदपाठ में २ का अंक। यथा—'नि होता' (साम १) में 'नि' पर २ का अंक है, जबकि संहितापाठ में 'नि' है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि एक या अधिक पूर्वपदों में यदि उस एकाक्षर उदात्त से तुरन्त पूर्व २ या २र लगा होता है तो एकाक्षर उदात्त को २ से अंकित नहीं करते, प्रत्युत अनंकित ही छोड़ते हैं। यथ—अग्ने त्वाम् (साम् ८), युङ्क्ष्व हि ये (साम २५) में उदात्त त्वाम्, हि और ये अनंकित हैं।

३. एक पद में एक या अधिक अनुदात्तों से परे अन्तिम वर्ण उदात्त हो तो वह भी २ के अंक से निर्दिष्ट होता है। यथा, गृणानः (साम १), हितः (साम २), अग्निम् (साम ३), द्रविणस्युः (साम ४)।

४. एक पद में उदात्त से अनुदात्त या अनुदात्ततर परे होने पर भी उदात्त पर २ का अंक लिखते हैं। सामान्यतः यह स्थिति कम मिलती है, क्योंकि उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इति के साथ समास होने की स्थिति में एकपदत्व होने पर उदाहरण मिलता है। यथा—अवरिति (साम १९२), हरीइति (साम ७१२)। इति से भिन्न उदाहरण—हन्तवै (साम ४३९)।

५. अन्यत्र उदात्त १ अंक से ही लिखा जाता है।

६. स्वरित संहितापाठ के समान पदपाठ में भी २ के अंक से सूचित होता है। पूर्वपद के उदात्त से परे होने के कारण उत्तरवर्ती पद में अनुदात्त को जो स्वरित बना होता है वह पदपाठ में अपने अनुदात्त रूप में ही आ जाता है। पर एक पद में उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित बना होता है वह स्वरित ही रहता है, यथा—'वीतये' (साम १) में।

७. क्षैप्र तथा जात्य स्वरित पदपाठ में स्वरित ही रहते हैं। यथा, क्षैप्र—तन्वा=तन्वा (साम ५२)। जात्य—मनुष्येभिः=मनुष्येभिः (साम ७९)।

---

१. द्रष्टव्य : ऋ० प्रा० १।१५, १३।३१

२. यथा, अङ्गार्ग्यगालवयोः।—अ० ७।३।९९, ओतो गार्ग्यस्य।—अ० ८।३।२०, नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्।—अ० ८।४।६७

८. किसी पद के आरम्भ में उदात्त हो तो उससे परे अनुदात्त को जो स्वरित प्राप्त होता है उसे पदपाठ में अकेले २ के अंक से न लिखकर २र से लिखते हैं। यथा—अग्ने, होता (साम १), विश्वेषाम् (साम २)।

९. एकाक्षर पद में अथवा अनेकाक्षर पद के आरम्भ में यदि जात्य स्वरित हो तो उसे १२ के अंक से लिखते हैं। यथा—क्व (साम १४२), न्यक् नि अक् (२७९), स्वर्वान् (साम २५४)।

१०. उदात्त परे होने पर जात्य स्वरित प्लुतवत् कम्प चिह्न से अंकित होता है। यथा—स्वः=स्वा ३ रिति (साम ५८८)।

११. अनुदात्त संहितापाठ के समान पदपाठ में भी ३ के अंक से निर्दिष्ट होता है और एकसाथ एकाधिक अनुदात्त होने पर प्रथम अनुदात्त को ही चिह्नित किया जाता है। यथा—द्रविणस्युः= द्रविणस्युः (साम ४)। यह नियम अनेक पदों में भी प्रभावी होता है। यथा—'अग्ने आहुत आ हुत'= 'अग्ने। आहुत। आ। हुत' (साम २६), 'सुक्रतो सु क्रतो पृण'=सुक्रतो। सु। क्रतो। पृण' (साम ५३)।

१२. इति परे होने पर अनुदात्त पर ३ र लिखा जाता है, यदि पूर्व स्वरित न हो। यथा—अवरिति (साम १९३), हरीइति (साम २६९), ऊधरिति (साम ३३१)। यदि पूर्व स्वरित होगा तो इति परे होने पर अनुदात्त केवल ३ के अंक से चिह्नित होगा। यथा—रोदसी इति (साम ७१), घृतवती इति (साम ३७८)।

१३. क्षैप्र और जात्य स्वरित परे होने पर पूर्व अनुदात्त पर ३क लिखा जाता है। यथा—तन्वा (साम ५२) में क्षैप्र स्वरित तथा वीर्यम् (साम ९५) में जात्य स्वरित परे है।

१४. यदि क्षैप्र और जात्य स्वरित से पूर्व एकाधिक अनुदात्त हों तो प्रथम अनुदात्त ३ से तथा अन्तिम अनुदात्त ३क से चिह्नित किया जाता है। यथा—मनुष्येभिः (साम ७९), अपीच्यम् (१४७)।

१५. एकश्रुति पर संहितापाठ के समान ही कोई चिह्न नहीं लगाया जाता।

गार्ग्यकृत पदपाठ में 'इति' का प्रयोग

१. ई, ऊ, ए जिनके अन्त में हो ऐसे द्विवचनान्त प्रगृह्यसंज्ञक सुबन्त तथा तिङन्त से परे आद्युदात्त 'इति' शब्द प्रयुक्त किया गया है। यथा—हरीइति (साम २६८) बाहूइति (७४०) इन्द्रवायू इन्द्र वायूइति (४६१), सचेतेइति (९१२), जातेइति (९३६)।

२. जो विसर्गान्त पद रेफान्त पद का रूप होता है उसके परे भी 'इति' का निर्देश है, जिससे उसके सकारान्त पद होने का सन्देह न हो। यथा—अवरिति (साम १९२), वारिति (२२८), पुनरिति (२४४), स्वा३रिति (४६४), करिति (१८००)।

३. 'अमी' पद, शेप्रत्ययान्त युष्मे, अस्मे, त्वे आदि पद तथा सप्तमी के लोप वाले ईकारान्त-ऊकारान्त पदों से परे भी पदपाठ में 'इति' प्रयुक्त है। यथा—अमीइति (साम ३६८), अस्मेइति (७६), त्वेइति (३८, २५४, १०६६), गौरीइति (११९८)।

ऋग्वेद के पदकार अथो, उतो आदि ओकारान्त निपात तथा वायो आदि सम्बुद्धचन्त पदों से परे भी 'इति' का प्रयोग करते हैं, किन्तु सामपदकार गार्ग्य ने अथो, उतो आदि को 'अथ उ', 'उत उ' आदि रूप में विभक्त करके लिखा है, अतः 'इति' नहीं लगाया और सम्बुद्धचन्त ओकार के परे भी इति का प्रयोग नहीं किया है।

गार्ग्यकृत पदपाठ में अवग्रह

संहिताओं का पदपाठ करते हुए कई पदों को अवगृहीत किया जाता है। ऋग्वेद के शाकल्यकृत पदपाठ में अवगृहीत पदों के मध्य में अवग्रह का चिह्न ऽ लगाया जाता है। जिनके मध्य में अवग्रह का चिह्न लगता है उनके उच्चारण में अन्य पदों की अपेक्षा न्यूनकाल का व्यवधान होता है। परन्तु सामवेद-संहिता के गार्ग्यकृत पदपाठ में अवगृहीत पदों के मध्य में अवग्रह का चिह्न ऽ नहीं लगाया जाता। या तो पदपाठ में कहीं भी कुछ चिह्न नहीं लगता अथवा पृथक्ता सूचित करने के लिए पदों के मध्य सर्वत्र पूर्णविराम लगाया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि गार्ग्य के अनुसार अवगृहीत पदों के मध्य तथा अन्य पदों के मध्य काल-व्यवधान समान ही होता है।

गार्ग्य जिस पद में अवग्रह दर्शाते हैं उस पद को प्रथम मूल रूप में लिखकर फिर उसे विभक्त रूप में लिखते हैं, जबकि शाकल्य मूल रूप न लिखकर अवग्रह-चिह्न-सहित केवल विभक्त रूप ही लिखते हैं। यथा—'हव्यदातये (साम १)' का अवग्रह गार्ग्य के अनुसार इस प्रकार है—"हव्यदातये। हव्य। दातये"। बीच का विराम-चिह्न हटा भी सकते हैं। परन्तु शाकल्य के अनुसार '**हव्यदातये** (ऋ० ६।१६।१०) का अवग्रह केवल '**हव्यऽदातये**' इतना ही है।

ऋग्वेद के पदपाठ में अवगृहीत पद को एक मानकर स्वर लगाते हैं[1] तथा पूर्वभाग का स्वर उत्तरभाग के स्वर को प्रभावित करता है, किन्तु सामवेद के पदपाठ में अवगृहीत भागों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद मानकर स्वरसंचार किया जाता है तथा पूर्वभाग का स्वर उत्तरभाग के स्वर को प्रभावित नहीं करता। यथा 'हव्यदातये' के उपर्युक्त उदाहरण में ऋग्वेदीय पदपाठ में उदात्त 'व्य' के आधार से अनुदात्त 'दा' को स्वरित हो गया है, जबकि सामवेदीय पदपाठ में 'दा' अनुदात्त ही रहा है।

सामवेद के गार्ग्यकृत पदपाठ में सामान्यतः तत्पुरुष, बहुब्रीहि आदि समासों वाले पदों को अवग्रहपूर्वक लिखा गया है, यथा विश्ववेदसम् (साम ३), हविष्कृतः (१३), समुद्रवाससम् (१८), जातवेदसम् (३१), अमीवचातनम् (३२), पङ्क्तिराधसम् (५६), सहस्रपोषिणम् (५८), वृत्रहथानाम् (६०), सत्ययजम् (६६), हिरण्यरूपम् (६९), गृहपतिम् (७२), चरिष्णुधूमम् (१०३), अगृभीतशोचिषम् (१०३), तुविग्रीवः (१४२), आदि पदों को। ऋग्वेद के पदकार शाकल्य नञ्समास तथा द्वन्द्व समास वाले पदों को अवगृहीत नहीं करते, पर सामपदकार गार्ग्य ने इनका भी अवग्रह दर्शाया है, यथा—अमित्रम्। अ। मित्रम् (साम ११), अमर्त्यम्। अ। मर्त्यम् (१२), अजरः। अ। जरः (२४), इन्द्रवायू। इन्द्र। वायूइति (४६१), इन्द्राग्नी। इन्द्र अग्नीइति (२८१)। गार्ग्य ने कतिपय समस्त पदों को अवगृहीत नहीं भी किया है, यथा—विश्पतिः (साम ११४), इन्द्रापर्वता (३३८), उभयाहस्ति (३४५)।

गार्ग्य के अनुसार उपसर्ग जिनके आदि में हो ऐसे सुबन्त पद अवगृहीत होते हैं, यतः वे भी समस्त

---

१. द्रष्टव्य : ऋ० प्रा० ३।२४, "यथा सन्धीयमानामामनेकीभवतां स्वरः। उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे।"

हैं। यथा—सुक्रतुम्। सु। क्रतुम् (साम ३), समिद्धः। सम्। इद्धः (४), आहुतः। आ। हुतः (४), विवस्वत्। वि। वस्वत् (१०), सुवीरम्। सु। वीरम् (२६)। सोपसर्ग तिङन्त पद सामान्यतः वे ही अवगृहीत किये गये हैं जो वाक्य में हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, यदि, हि, यावत्, यथा, तु, अह, चन, चित्, यत् आदि के प्रयोग के कारण सर्वानुदात्त नहीं होते, यथा—(यत्) विह्वयामहे। वि। ह्वयामहे (५७), (यः) अन्वेति। अनु। एति (६४), (हि) परिमंसते। परि। मंसते (२४१)। सर्वानुदात्त तिङन्त पद भी यदि दो उपसर्गों से युक्त हों और उनमें से प्रथम उपसर्ग अनुदात्त हो तो समस्त पद माने जाकर अवगृहीत किये गये हैं, यथा—अन्वारभामहे। अनु। आरभामहे (साम ९१), उदारुहन्। उत्। आरुहन् (९२)। शेष सोपसर्ग सर्वानुदात्त पदों को असमस्त मानकर अवग्रह की पद्धति से नहीं लिखा गया, उन्हें केवल सन्धिच्छेदपूर्वक पृथक्-पृथक् दर्शा दिया गया है, यथा—निरमन्थत (साम ९) = निः। अमन्थत। एमसि (१४)=आ। इमसि। आहुवे (१८)=आ। हुवे। विवावृते (५१)=वि। वावृते। परावृणक् (२६०) =परा। वृणक्।

शाकल्य भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सुप् विभक्तियों तथा तरप्, तमप्, वत्, त्व, ता, क्यच् आदि तद्धित प्रत्ययों के परे होने पर प्रकृति-प्रत्यय में अवग्रह दर्शाते हैं, किन्तु गार्ग्य ने इन प्रत्ययों का अवग्रह नहीं दर्शाया है। यथा—मरुद्भिः (साम ६), देवयुम् (२३), द्युम्नितमः (११६), पुष्टावन्तः (१३६), वृषन्तमः (१४८), क्षुमन्तः (१५३), देवत्रा (१५४), अपस्युवः (१७५), वाजिनीवती (१८९), त्वावतः (२०९), मघवा (२४४), आपित्वे (२५२), सुतावान् (२६४), समत्सु (२८६) आदि को विभक्त नहीं किया है।

एक पद की द्विरावृत्ति में शाकल्य तथा गार्ग्य दोनों ही अवग्रह करते हैं। यथा गार्ग्यकृत पदपाठ में "प्रप्र, यज्ञायज्ञा, गिरागिरा (साम ३५)" को "प्रप्र। प्र। प्र, यज्ञायज्ञा। यज्ञा। यज्ञा, गिरागिरा। गिरा। गिरा" इस रूप में लिखा गया है।

गार्ग्य स्थन, कृणोतन, ब्रवीतन आदि में भी अवग्रह दर्शाते हैं। यथा—स्थन। स्थ। न (साम ३६८), कृणोतन। कृणोत। न (३९५), ब्रवीतन। ब्रवीत। न (७१४)। शाकल्य इन्हें अवगृहीत नहीं करते। पाणिनि ने भी ऐसे स्थलों में लोट्-मध्यमपुरुष के त के स्थान पर तनप् या तन आदेश माना है।[1] किन्तु गार्ग्य सम्भवतः अवग्रह करके इस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि इनमें अनर्थक 'न' प्रत्यय का आगम है। यास्क भी यहाँ अनर्थक प्रत्यय (उपजन)[2] ही मानते हैं, जिसमें वे गार्ग्य से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

गार्ग्यकृत पदपाठ की एक नवीनता यह है कि उसमें अनेक ऐसे अवग्रह दर्शाये गये हैं जिनमें एकाकी पदों को तोड़ा गया है। उनसे उन पदों की निरुक्ति एवं निष्पत्ति-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। कई स्थलों पर निरुक्तकार भी उनसे प्रभावित हुए हैं। कतिपय शब्दों का विवरण अग्राङ्कित है—

---

१. तप्तनप्तनथनाश्च।—अ० ७।१।४५

२. कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति, कर्त्तन, हन्तन, यातन इति।—निरु० ४।७

साम-क्रमांक	पद	अवग्रह
१८७४	अक्षभिः	अ । क्षभिः
१४२०	अघ्न्यायाः	अ । घ्न्यायाः[1]
६१३	अजस्रम्	अ । जस्रम्
५६०	अदितिः	अ । दितिः[2]
६६६	अद्‌भुतः	अत् । भुतः[3]
१२६	अद्य	अ । द्य[4]
५२६	अद्रिः	अ । द्रिः[5]
२४७	अन्यः	अन् । यः[6]
७८	असुरस्य	अ । सुरस्य[7]
७५	अहनी	अ । हनी
६१	आदित्यम्	आ । दित्यम्[8]
४३५	आविः	आ । विः
१४०	आशिषम्	आ । शिषम्[9]
२३६	उगणा	उ । गणा
४६७	उच्चा	उत् । चा[10]
५११	उत्सः	उत् । सः[11]
१२४	उदरम्	उ । दरम्
३०४	उस्राः	उ । स्राः
५८५	उस्रियाः	उ । स्रियाः[12]
६७६	ऋभुः	ऋ । भुः[13]
१२१	ओपशम्	ओप । शम्

१. अघ्न्या अहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा।—निरु० ११।४०
२. अदितिः अदीना देवमाता।—निरु० ४।२२।४६
३. अद्‌भुतम् अभूतमिव।—निरु० १।६
४. अद्य अस्मिन् दिवि।—निरु० १।६
५. अद्रिः आदृणात्येतेन, निरु० ४।४; अद्रयः पर्वता आदरणीयाः, निरु० ६।८; गार्ग्य को 'न दीर्यते' यह निर्वचन अभीष्ट प्रतीत होता है।
६. निरुक्त 'अ। न्यः' का अनुसरण करता है। अन्यः नानेयः।—निरु० १।६
७. यास्क को इसके अतिरिक्त 'अस्। उर' तथा 'असु। र' अवग्रह भी अभिप्रेत हैं। द्रष्टव्य : निरु० ३।७
८. आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा।—निरु० ७।२६
९. अथेयमितरा आशीः आशास्तेः।—निरु० ६।८।३५
१०. उच्चैरुच्चितं भवति।—निरु० ४।२३।५१
११. उत्स उत्सरणाद्वा उत्सदनाद्वा उत्स्यन्दनाद्वा उनत्तेर्वा।—निरु० १०।६
१२. उस्रियेति गोनाम, उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रेति च।—निरु० ४।१६।४२
१३. ऋभवः उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा।—निरु० ११।१३।१०

३३१	ओषधीषु	ओष । धीषु[1]
१३१	कद्रुवः	कत् । द्रुवः
४१७	चन्द्रमाः	चन्द्र । माः[2]
३४६	तिरश्च्याः	तिरः । च्याः
८९३	दुराय्यम्	दुः । आय्यम्
१३०४	दुरोणे	दुः । ओने[3]
८८	दुर्यम्	दुः । यम्
२१९	दूरात्	दुः । आत्
४९६	द्युक्षम्	द्यु । क्षम्
३१९	निधया	नि । धया[4]
१८५१	निषङ्गिभिः	निः । सङ्गिभिः
१११८	परीणसम्	परि । नसम्
७०१	पुत्रः	पुत् । त्रः[5]
६०९	प्रक्षस्य	प्र । क्षस्य
५७०	प्राणा	प्र । आना
१८५६	बृहस्पतिः	बृहः । पतिः[6]
२२५	मित्राय	मि । त्राय[7]
३५८	मुखा	मु । खा
११७	रप्सुदा	रप्सु । दा
२२८	वाताप्याय	वात । आप्याय[8]
३२५	विधुम्	वि । धुम्
४२	विप्रासः	वि । प्रासः
४७८	विपश्चितः	विपः । चितः
११२३	विवस्वतः	वि । वस्वतः[9]
३३९	विष्वक्	वि । स्वक्[10]

१. ओषधय ओषद् धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा ।—निरु० ९।२६।२२

२. चन्द्रो माता, चान्द्रं मानमस्येति वा ।—निरु० ११।५।३

३. दुरोणमिति गृहनाम । दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः ।—निरु० ४।५

४. निधा पाश्या भवति यन्निधीयते ।—निरु० ४।२।२

५. पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा ।—निरु० २।११

६. गार्ग्य ने षष्ठ्यन्त 'बृहः' और 'पतिः' को पृथक्-पृथक् शब्द मानकर मध्य में सन्धि स्वीकार की है। यास्क तथा वार्तिककार की दृष्टि में 'बृहस्पति' एक शब्द है। 'बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा ।—निरु० १०।१२।६। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च ।—वार्तिक, अ० ६।१।१५७

७. मित्रः प्रमीतेस्त्रायते ।—निरु० १०।२३।१३

८. वाताप्यमुदकं भवति वात एतदाप्याययति ।—निरु० ६।२८।११३

९. विवस्वान् विवासनवान् ।—निरु० ७।२६।३

१०. शाकल्य ने अवग्रह नहीं किया। अन्यों ने विषु पूर्वक अञ्चू धातु मानी है। "विषु नानावचनः । अञ्चतिर्गत्यर्थः ।"
—उवटभाष्य, य० १३।१०

३६२	शम्बरम्	शम् । बरम्
२८८	श्रद्धा	श्रत् । धा[1]
४२८	सक्षणिः	स । क्षणिः
१३६	सखायः	स । खायः[2]
१०६	सख्यम्	स । ख्यम्
३३६	सगरस्य	स । गरस्य
१४८३	सद्यः	स । द्यः
२८६	समत्सु	स । मत्सु[3]
२६२	समा	स । मा
२०५	समानम्	सम् । आनम्
१६२५	समिथे	सम् । इथे
५१७	समुद्रे	सम् । उद्रे[4]
१३५०	सुखतमे	सु । खतमे[5]
३५८	सुरभि	सु । रभि
१७२५	सूनरी	सु । नरी
४१६	सूनृतावतः	सु । नृतावतः
५३८	सूर्यस्य	सु । ऊर्यस्य[6]
३२२	स्थविराय	स्थ । विराय
८८६	स्थाविरीः	स्था । विरीः
८५१	स्वधाम्	स्व । धाम्

इन शब्दों में से अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें शाकल्य ने अपने ऋग्वेद के पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया है। गार्ग्य ने यद्यपि उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के कई अन्य शब्दों को विभक्त किया है, तथापि कतिपय शब्द उसके पदपाठ में ऐसे भी हैं जिन्हें विभक्त नहीं किया गया है, यथा—अभिष्टि (साम ३३), अरति (४५), अतिथि (११०), ऊर्ध्वधा (२३४), श्मश्रु (२३५), देवताति (२४६), ऋचीषम (२६६), अंसत्र (२७५), द्रप्स (२७५), पृतनाज (३३२), वंश (३४२), कश्यप (३६१), स्वर्युवः (३७५), कलश (४८६), मत्सर (४६२), अध्वर्यु (४६६), अयास्य (५०६), मांश्चत्व (५०६), ऋत्विज् (६०५), रिशादस (८४७), देवयवः (१५८४)। इनमें से अरति, अतिथि, देवताति आदि कुछ शब्द कृत्तद्धित-प्रत्ययान्त होने के कारण तथा श्मश्रु, ऋचीषम, मांश्चत्व आदि कुछ शब्द अनिश्चित अवग्रह वाले होने के कारण विभक्त नहीं किये गये हैं।[7]

१. श्रद्धा श्रद्धानात्।—निरु० ६।३०।२५
२. (सखायः) समानख्यानाः।—निरु० ७।३०।३
३. निरुक्त के अनुसार 'समद्-सम् । अद् अथवा सम् । मद्'। समदः समदो वाऽत्तेः, सम्मदो वा मदतेः।
—निरु० ६।१६।१२
४. समुद्रद्रवन्त्यस्मादापः,...समुदको भवति, समुनत्तीति वा। निरु० २।११, यास्क का एक वैकल्पिक निर्वचन 'सम् । मुद्र' के अनुसार भी है—सम्मोदन्ते ऽस्मिन् भूतानि।
५. सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः।—निरु० ३।१३
६. 'सूर्य' का यह अवग्रह केवल साम क्रमांक ५३८ के पदपाठ में ही है, अन्यत्र सूर्य शब्द अनवगृहीत रखा गया है।
७. स्वर्युवौ देवयवश्चारतिं देवतातये। चिकितिश्चक्रुषं चैव नावगृह्णन्ति पण्डिताः॥—नारद शि०

संहितापाठ का पदपाठ में रूपान्तर

ऊपर संहितापाठ तथा पदपाठ के स्वरांकन का जो परिचय प्रस्तुत किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए सामवेद की ऋचाओं का संहितापाठ से पदपाठ में रूपान्तर किया जा सकता है। सर्वप्रथम ऋचा को सन्धिच्छेदपूर्वक तथा जिन पदों में नियमानुसार अवग्रह एवं इति का प्रयोग प्राप्त है उनका अवग्रह करके और इति पद लगाकर लिख लेना चाहिए। फिर संहिता के प्रत्येक वर्ण का स्वर समझकर ऋचा को ऋग्वेद के स्वर-चिह्नों में लिख लेना सुविधाजनक होगा। तदनन्तर पदपाठ के नियमों के अनुसार यथायोग्य स्वरसंचार करना चाहिए। उदाहरणार्थ हम यहाँ सामवेद की प्रथम ऋचा को लेते हैं—

२ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१र २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥—साम० १।१।१

ऋग्वेद के स्वर-चिह्नों में इसका यह रूप होगा—

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इस ऋचा में केवल दो सन्धिस्थल हैं—'अग्न आ' और 'गृणानो हव्यदातये', जिनका विच्छेद करने पर क्रमशः 'अग्ने आ' और 'गृणानः हव्यदातये' होगा। अ उदात्त, ग्ने अनुदात्त। संहिता में उदात्त आ परे होने के कारण ग्ने को स्वरित नहीं हुआ था, किन्तु पदपाठ में क्योंकि प्रत्येक पद स्वतन्त्र रहता है अतः ग्ने को स्वरित हो जाएगा। **अग्ने**। सामस्वराङ्कन के अनुसार पद के आदि में उदात्त के पश्चात् परतन्त्र स्वरित हो तो उदात्त पर १ का अंक तथा स्वरित पर २र लिखते हैं, अतः 'अग्ने' (१ २र) यह रूप हुआ।

'आ' एकाक्षर पद है, जो संहिता में उदात्त है तथा १ अंक से सूचित किया गया है। वह पदपाठ में भी उदात्त ही रहेगा। किन्तु पदपाठ में पूर्वपदस्थ २ या २र से परे एकाक्षर उदात्त को अनंकित रखते हैं, अतः 'आ' यह रूप रहा।

अतिङन्त से परे तिङन्त 'याहि' मूल में सर्वानुदात्त था[1]। संहिता में उदात्त 'आ' से परे अनुदात्त 'या' को स्वरित तथा उस स्वरित से परे अनुदात्त 'हि' को प्रचय हो गया था। पदपाठ में 'याहि' सर्वानुदात्त ही रहेगा। किन्तु एकसाथ कई अनुदात्त होने पर प्रथम अनुदात्त पर ही ३ का अंक लिखा जाता है, शेष अनुदात्त अनङ्कित रहते हैं, अतः पदपाठ में 'याहि' (३) यह रूप रहा।

'वीतये' पद मूल में मध्योदात्त था। पद में जिस एक वर्ण को उदात्त या स्वरित होता है उससे अतिरिक्त सब वर्ण अनुदात्त हो जाते हैं[2], इस नियम से 'वी' और 'ये' अनुदात्त थे। उदात्त 'त' से परे अनुदात्त 'ये' को स्वरित होकर संहिता में 'वीतये' (३ १ २) यह रूप बना था। वह पदपाठ में भी वैसा ही रहेगा। तथापि पूर्वपद अनुदात्त होने के कारण अनुदात्त 'वी' अचिह्नित रहेगा। 'वीतये' (१ २)।

संहिता में 'गृणानो' का 'गृ' अचिह्नित है। वस्तुतः वह अनुदात्त था, स्वरित 'ये' से परे होने के

---

१. तिङ्ङतिङः।—अ० ८।१।२८

२. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।—अ० ६।१।१५८

कारण उसकी एकश्रुति हो गयी थी। 'णा' भी अनुदात्त है। 'नो' उदात्त है, जो संहिता में अनुदात्ततर 'ह' परे होने के कारण २ के अंक से अंकित किया गया है। पदपाठ में 'गृ' और 'णा' इन दो अनुदात्तों में से प्रथम अनुदात्त पर ही ३ का अंक लिखा जाएगा। अनुदात्तों से परे होने के कारण 'नः' उदात्त पर २ का अंक ही रहेगा। इस प्रकार 'गृणानः' यह रूप होगा।

'हव्यदातये' समस्त पद होने के कारण अवगृहीत होगा। अवग्रह के नियमानुसार पहले संहिता के समान ही 'हव्यदातये' लिखकर पश्चात् 'हव्य। दातये' इस प्रकार पृथक्-पृथक् लिखा जाएगा। 'हव्य' का 'ह' अनुदात्त तथा 'व्य' उदात्त है, अनुदात्त से परे पद के अन्त में उदात्त होने के कारण 'व्य' पर २ का अंक रहेगा। 'दातये' मूल में सर्वानुदात्त था। 'व्य' उदात्त से परे अनुदात्त 'दा' को स्वरित होकर उस स्वरित से परे 'तये' अनुदात्त को एकश्रुति हुई थी। पदपाठ में 'व्य' के स्वर का प्रभाव 'दा' पर न पड़ने के कारण 'दातये' सर्वानुदात्त रहेगा, किन्तु अनुदात्तसूचक ३ का अंक केवल प्रथम अनुदात्त 'दा' पर ही लिखा जाएगा। इस प्रकार 'हव्य। दातये' यह विभक्त रूप होगा। अविभक्त और विभक्त मिलाकर 'हव्यदातये। हव्य। दातये' इस रूप में रहेगा।

आगे 'नि होता' में 'नि' और 'हो' दोनों उदात्त हैं। संहिता में नियमानुसार एकाधिक उदात्त इकट्ठे होने पर प्रथम उदात्त 'नि' पर १र लिखा गया है तथा 'ता' पर २र। पदपाठ में यह नियम लागू नहीं होता। अतः 'नि' पर एकाक्षर उदात्त होने के कारण २ का अंक लिखा जाएगा। उदात्त 'हो' पर १ का अंक तथा पदादि उदात्त से परे होने के कारण स्वरित 'ता' पर २र अंकित होगा। इस प्रकार 'नि होता' यह रूप हुआ।

'सत्सि' तिङन्त होने से सर्वानुदात्त है। संहिता में स्वरित से परे होने के कारण सम्पूर्ण को एकश्रुति हो गयी है। पदपाठ में पूर्वपद का प्रभाव उत्तरपद पर नहीं पड़ेगा, अतः दोनों अनुदात्तों में से प्रथम अनुदात्त 'स' पर अनुदात्तसूचक ३ का अंक लिखा जायेगा तथा द्वितीय अनुदात्त 'त्सि' अनङ्कित रहेगा। इस प्रकार 'सत्सि' यह रूप हुआ।

'बर्हिषि' पर संहिता में क्रमशः 'अनुदात्त-उदात्त-स्वरित' हैं। ये पदपाठ में भी इसी प्रकार रहेंगे। किसी भी एक पद में संहिता में ३, १, २ यह स्वर-क्रम होने पर पदपाठ में भी वैसा ही रहता है। तथापि पूर्वपद अनुदात्त होने के कारण ब अनुदात्त अचिह्नित रहेगा।

एवं उक्त विवेचनानुसार सामवेद की प्रथम ऋचा सम्पूर्ण का पदपाठ इस रूप में होगा—

अग्ने आ याहि वीतये गृणानः हव्यदातये हव्य दातये नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

८. ऋषि, देवता, छन्द और गान-स्वर

अन्य वेद संहिताओं के समान सामवेद-संहिता में भी ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द निर्दिष्ट हैं। वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित साम-संहिता में इनके अतिरिक्त प्रत्येक ऋचा के षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का भी निर्देश मिलता है। यहाँ संक्षेप से इनका विवेचन कर लेना उपयोगी होगा।

१. ऋषि

वेदों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वान् ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता मानते हैं। उनके मतानुसार जिस ऋचा का जो ऋषि निर्दिष्ट है, उसी

ने उस ऋचा को रचा था। परन्तु वेदज्ञ मनीषियों की प्राचीन परम्परा वेदों को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान तथा ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता नहीं, प्रत्युत अर्थद्रष्टा मानती है। यही मान्यता निरुक्त-सम्मत भी है।[1] तपस्या एवं चिन्तन करते हुए जिन मनुष्यों के हृदय में किन्हीं मन्त्रों का अर्थ साक्षात् प्रकाशित हुआ तथा उस अर्थ को जिन्होंने अध्यापन, उपदेश आदि द्वारा अन्यों में प्रचारित किया, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। वे ऋ० भा० भू० के प्रश्नोत्तर-विषय में अपने कथन की पुष्टि में निरुक्त का प्रमाण देते हुए[2] लिखते हैं—

"ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उसका नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।[3]

वेदों में इन ऋषि-नामों के साथ क्योंकि पितृ-पितामह का नाम या गोत्र-नाम भी प्रायः जुड़ा हुआ है, अतः ऋषियों के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इसलिए यह भी स्पष्ट है कि जब सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश हुआ, तब वेद-मन्त्रों के साथ ऋषि नाम जुड़े हुए नहीं थे। ये ऋषियों के उपकार-स्मरणार्थ बाद में जोड़े गए। कई मन्त्रों के एक से अधिक ऋषि भी हैं। यथा, सामवेद में मन्त्र क्रमांक ९० के ऋषि वामदेव, अथवा कश्यप मारीच, अथवा वैवस्वत मनु हैं; क्रमांक ९२-९३ के ऋषि वामदेव काश्यप, अथवा असित देवल हैं; क्रमांक ११० के प्रयोग भार्गव, अथवा सौभरि काण्व हैं; क्रमांक १५४ के शुनःशेप आजीगर्त्ति, अथवा वामदेव हैं; क्रमांक १५७ के मेधातिथि काण्व और प्रियमेध आंगिरस हैं; क्रमांक २२० के विश्वामित्र गाथिन अथवा जमदग्नि हैं। दो या अधिक ऋषियों को दर्शाने के लिए प्रायः 'वा' लिखा जाता है, यथा—वामदेव काश्यपः असितो देवलो वा '(साम० ९२-९३)। इस 'वा' का अभिप्राय संदेह व्यक्त करना नहीं है कि अमुक मन्त्र का या तो वामदेव ऋषि है या देवल, प्रत्युत 'वा' समुच्चय-बोधक है। ऋग्वेद में तो ३० मन्त्रों के एक सूक्त ऋ० ९।६६ के ऋषि '१०० वैखानस' हैं; यद्यपि वहाँ संख्या मात्र लिखी है, उन सौ ऋषियों के नाम नहीं दिये। एकाधिक ऋषि जब किसी मन्त्र का पृथक्-पृथक् रूप में कोई चामत्कारिक अर्थदर्शन करते थे तब विद्वन्मण्डल की ओर से सभी को उस मन्त्र के ऋषि होने का गौरव दिया जाता था।

किस ऋषि ने किस मन्त्र का क्या अर्थदर्शन या अर्थानुसन्धान किया, इसका विवरण आज हमारे पास विद्यमान नहीं है। कितना अच्छा होता यदि हम जान सकते कि वे क्या चामत्कारिक अर्थ थे, जिनके कारण कोई व्यक्ति ऋषि कहलाये। सम्भवतः उन्होंने मौखिक ही अपने वेदार्थ का प्रचार किया होगा। यदि लिखित भी रहा होगा तो आज वह हमारे देखने के लिए उपलब्ध नहीं है। मन्त्रों के ऋषि

---

१. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।—निरु० २।११

२. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।—निरु० १।२०

३. यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य-यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषे-र्नामाभिलेखनं कृतमस्ति। कुतः? तैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकार-स्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यः। —ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तरविषय।

आज भी होते हैं, आज भी विद्वज्जन समाहित होकर विभिन्न कोटि के अर्थदर्शन करते हैं। पर आज उन्हें उन-उन मन्त्रों के ऋषि कहने की परिपाटी नहीं है। कहें भी तो किस-किसको ऋषि कहें ? आज का ऋषि अनुवादक, भाष्यकार या व्याख्याकार कहलाता है।

अनेक ऋषि ऐसे भी हैं जिनके नाम उन वेदमन्त्रों में ही पठित हैं जिनके वे ऋषि हैं। उदाहरणार्थ सामवेद के ऐसे कतिपय ऋषि निम्न तालिका में दिये गये हैं—

ऋषि-नाम	**क्रमांक**	**सामवेद का मन्त्र-खण्ड जिसमें ऋषिनाम आया है**
वत्स	८	आ ते **वत्सो** मनो यमत्
गोपवन	२९	तं त्वा **गोपवनो** गिरा
सुदीति, पुरुमीढ	४९	अग्निं राये **पुरुमीढ** श्रुतं नरोऽग्निः **सुदीतये** छर्दिः
कश्यप, मनु	९०	पिता यत् **कश्यप**स्याग्निः श्रद्धा माता **मनुः** कविः
श्रुतकक्ष	११८	अरमश्वाय गायत **श्रुतकक्षारं** गवे
दध्यङ् आथर्वण	१७७	द्युमद् गामन्**नाथर्वण**
वसिष्ठ	३३०	समर्ये महया **वसिष्ठ**
प्रियमेध	३६२	**प्रियमेधासो** अर्चत
भुवन आप्त्य	४५२	इमा नु कं **भुवना**
एवयामरुत्	४६२	मरुत्वते गिरिजा **एवयामरुत्**
प्रथ	५९९	**प्रथश्च** यस्य सप्रथश्च
विभ्राट् सौर्य	६२८	**विभ्राट्** बृहत् पिबतु

यहाँ प्रश्न उठता है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता न होकर मन्त्रद्रष्टा हैं तो उत्तरवर्त्ती ऋषियों के नाम पूर्ववर्ती वेदमन्त्रों में कैसे पठित हो गए ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उन ऋषियों का वास्तविक नाम कुछ और ही था। जिन मन्त्रों का उन्होंने अर्थदर्शन किया उनमें से किसी मन्त्र में पठित किसी नाम से चमत्कृत होकर उन्होंने वह अपना उपनाम रख लिया तथा वह उपनाम ही उनके असली नाम के रूप में प्रचलित हो गया। इस कारण यह साम्य दृष्टिगत होता है।

सामवेद के कई मन्त्र ऐसे भी हैं जो ऋग्वेद में भी मिलते हैं, किन्तु सामवेद में उनका ऋषि ऋग्वेद से भिन्न है। उदाहरणार्थ निम्न तालिका द्रष्टव्य है[1]—

मन्त्रांश	**साम-क्रमांक**	**ऋग्वेद का पता**	**साम० में ऋषि**	**ऋग्वेद में ऋषि**
नमस्ते अग्न	११	८।७५।१०	आयुङ्क्ष्वाहि	विरूप आङ्गिरसः
प्र मंहिष्ठाय	१०७	८।१०३।८	प्रयोगो भार्गवः	सौभरिः काण्वः
तमिन्द्रं वाज०	११९	८।९३।७	श्रुतकक्षः	सुकक्षः
य आनयत्	१२७	६।४५।१	भारद्वाजः	शंयुर्बार्हस्पत्यः
त्वावतः पुरूवसो	१९३	८।४६।१	वत्सः	वशोऽश्व्यः
त्रातारमिन्द्र	३३३	६।४७।११	भरद्वाजः	गर्गो भारद्वाजः
उभे यदिन्द्र	३७९	१०।१३४।१	मेधातिथिः काण्वः	मान्धाता यौवनाश्वः
त्वं न इन्द्रा भर	४०५	८।९८।१०	नृमेध आङ्गिरसः	सौभरिः काण्वः

१. इस तालिका में दिये गये स्थलों से अतिरिक्त भी अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें ऋषिभेद पाया जाता है।

यह ऋषिभेद इसी कारण है क्योंकि ऋग्वेद में अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने किया और सामवेद में उसी मन्त्र का अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने। दोनों का अर्थदर्शन भिन्न रहा होगा। ऋग्वेद और सामवेद में जिन मन्त्रों के ऋषि समान हैं, उनमें दोनों वेदों में अर्थदर्शन एक ही ऋषि का किया हुआ है। ऋग्वेद में ऋषि जिसका अर्थदर्शन कर चुका था, उसी अर्थ को सामवेद के अध्येताओं ने भी ले लिया होगा।

२. देवता

वेदमन्त्रों के देवता कई प्रकार के होते हैं। 'देवता' को समझने के लिए सामान्य लक्षण यह किया जा सकता है—"मन्त्र में जिस नाम से किसी विषय का वर्णन होता है वह उसका देवता कहलाता है।" यथा—'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋ० १।१।१, आदि मन्त्र में 'अग्नि' नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा, सेनापति, आचार्य आदि विविध विषयों का वर्णन होने से 'अग्नि' इस मन्त्र का देवता है। मन्त्रगत वर्णन कई प्रकार के हो सकते हैं। अग्नि आदि देवता-नामों से क्वचित् स्तुति, क्वचित् प्रार्थना, क्वचित् उपासना, क्वचित् समर्पण, क्वचित् आह्वान, क्वचित् आत्म-परिचय आदि मन्त्रों में निबद्ध रहता है। परन्तु उक्त देवता-लक्षण अपने-आप में पूर्ण नहीं है, यतः सभी देवताओं में यह व्याप्त नहीं होता।

अनेक वैदिक देवता इससे भिन्न प्रकार के हैं। यथा, मन आवर्तन (ऋ० १०।५८), धनान्नदान-प्रशंसा (ऋ० १०।११७), भाववृत्तम् (ऋ० १०।१२६, १६०), सपत्नीबाधनम् (ऋ० १०।१४५), अलक्ष्मीघ्नम् (ऋ० १०।१५५), यक्ष्मनाशनम् (ऋ० १०।१६३), दुःस्वप्ननाशनम् (ऋ० १०।१६४), राज्ञः स्तुतिः (ऋ० १०।१७३)। इन नामों से वेदमन्त्रों में कुछ नहीं कहा गया है, प्रत्युत ये देवता कविता के स्वतन्त्र शीर्षक के तुल्य हैं। इसी प्रकार यम-यमी-संवाद (ऋ० १०।१०), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋ० १०।९५), सरमा-पणि-संवाद (ऋ० १०।१०८) आदि संवाद-सूक्तों में जो वक्ता है वह ऋषि तथा जो श्रोता है वह देवता कहलाता है। यथा, यम-यमी-सूक्त में जो मन्त्र यम की ओर से यमी को कहे गये हैं उनमें यम ऋषि तथा यमी देवता है।

कई मन्त्रों का देवता मन्त्रोल्लिखित नाम न होकर उसका पर्यायवाची अन्य शब्द होता है। यथा, तीन मन्त्रों के सूक्त ऋ० १०।१८६ 'वात आ वातु भेषजम्' आदि में तीनों मन्त्रों में वात शब्द पठित है, किन्तु सर्वानुक्रमणी में 'देवता' 'वायु' लिखा है। तदनुसार सभी मुद्रित ऋग्वेद-संहिताओं में भी वायु देवता ही अंकित है। तीन मन्त्रों के एक अन्य सूक्त ऋ० १०।१८९ में पठित तो हैं 'गौः' और 'पतङ्गः' शब्द, किन्तु सर्वानुक्रमणी में देवता 'आत्मा एवं सूर्य' लिखा है।[1] यजुर्वेद में कर्मकाण्डिक विनियोग के अनुसार शाखा आदि देवता कल्पित किये गये हैं, जो मन्त्रों में पठित नहीं हैं। यजुर्वेद-संहिता के दयानन्द-भाष्य में भी यज्ञ, ईश्वर, सेनापति, राजा, राजपत्नी, योगी, गृहपति, वैद्य आदि देवता लिखे हैं,[2] जो मन्त्रों में कहीं नहीं हैं। अतः वैदिक देवताओं को किसी एक परिभाषा में निबद्ध कर सकना कठिन है।

---

१. आयं गौः सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा—सर्वा०। वैदिकयन्त्रालय-मुद्रित ऋग्वेदसंहिता में देवता 'सार्पराज्ञी सूर्यो वा' तथा स्वाध्यायमण्डल-मुद्रित ऋक्-संहिता में 'आत्मा सूर्यो वा' है।

२. यथा, यज्ञो देवता य० १।२७,२८, ईश्वरो देवता य० ३६।१७–१९,२१-२२, सेनापतिर् देवता य० ६।२१, प्रजासभ्यराजानौ देवते य० ६।३१, सभापती राजा देवता य० ६।३२, आसन्दी राजपत्नी देवता य० १०।२६, योगी देवता य० ७।६, गृहपतयो देवता य० ८।१७-२३, वैद्यो देवता य० १२।७५–७७,७९,८१ आदि।

यास्काचार्य ने मन्त्र के देवता पर विचार करते हुए लिखा है—**"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (नि० ७।१)। यह पंक्ति अपने-आप में बहुत स्पष्ट नहीं है। निरुक्त के विभिन्न भाष्यकारों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है—

(ऋषिः) मन्त्र का रचयिता ज्ञानी परमेश्वर (यत्कामः) जिस अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा वाला होकर (यस्यां देवतायाम्) जिस देवता में (आर्थपत्यम् इच्छन्) उस प्रतिपाद्य अर्थ का पतित्व चाहता हुआ (स्तुतिं प्रयुङ्क्ते) स्तुति को प्रयुक्त करता है (तद्दैवतः) उस देवता वाला (स मन्त्रः भवति) वह मन्त्र होता है।

अभिप्राय यह है कि मन्त्र के रचयिता ने सर्वप्रथम प्रतिपाद्य अर्थ को सोचा, फिर यह विचार किया कि किस नाम को इस प्रतिपाद्य अर्थ का स्वामी (शीर्षक) बनाऊँ। जो शीर्षक उसे प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त जान पड़ा उसे ही उसने मन्त्र का देवता निर्धारित किया।

इस व्याख्या के अनुरूप यदि ऋषि का अर्थ मन्त्र-रचयिता ज्ञानी परमेश्वर किया जाए तो वेद-मन्त्रों के समान 'देवता' भी ईश्वरकृत तथा नित्य सिद्ध होते हैं, किन्तु यदि ऋषि से मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि अभीष्ट समझा जाये तो देवता ऋषिकृत तथा अनित्य ठहरते हैं। फिर उपर्युक्त पंक्ति के अतिरिक्त अनादिष्ट देवताक मन्त्रों में देवता-ज्ञान की विधि यास्क ने पृथक् बतलायी है। इससे यह ज्ञात होता है कि उक्त पंक्ति केवल आदिष्ट देवताक मन्त्रों के लिए है।

अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में देवतोपपरीक्षा की जो विधि निरुक्तकार ने वर्णित की है, उसके अनुसार एक कसौटी कामदेवता[1] की भी है, अर्थात् देवता की इच्छानुसार कल्पना हो सकती है।

वेदों में क्वचित् आदिष्टदेवताक मन्त्रों के भी आदिष्ट से भिन्न देवता कल्पित किये गये हैं। उदाहरणार्थ सामवेद पूर्वार्चिक के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों के देवता ऋग्वेद-पठित उन्हीं मन्त्रों के देवताओं से भिन्न हैं। ऋग्वेद में देवता का उल्लेख मन्त्रादिष्ट के अनुरूप है, किन्तु सामवेद में ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबका इन्द्र देवता माना गया है, यद्यपि ऐन्द्र काण्ड में भी अन्यत्र इन्द्र देवता से भिन्न कई देवता स्वीकृत किये गये हैं।[2]

मन्त्रांश	साम-क्रमांक	ऋग्वेद का पता	मन्त्र में आदिष्ट नाम	ऋग्वेद में देवता
आघा ये	१३३	८।४५।१	अग्निः, इन्द्रः	अग्नीन्द्रौ
सोमानां स्वरणं	१३९	१।१८।१	ब्रह्मणस्पतिः	ब्रह्मणस्पतिः
अद्या नो देव	१४१	५।८२।४	सविता	सविता
यदिन्द्रो अनयद्	१४८	५।५७।४	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
सदसस्पतिमद्भुतं	१७१	१।१८।६	सदसस्पतिः	सदसस्पतिः
अस्ति सोमो	१७४	८।९४।४	सोमः, मरुतः, अश्विनौ	मरुतः
एषो उषा	१७८	१।४६।१	उषाः, अश्विनौ	अश्विनौ
वात आ वातु	१८४	१०।१८६।१	वातः	वायुः

१. तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्।—निरु० ७।४

२. द्रष्टव्य : भाष्य में ऐन्द्रकाण्ड की भूमिका के प्रारम्भ की टिप्पणी।

मन्त्रांश	साम-क्रमांक	ऋग्वेद का पता	मन्त्र में आदिष्ट नाम	ऋग्वेद में देवता
यं रक्षन्ति	१८५	१।४१।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	वरुणमित्रार्यमणः
महि त्रीणामवो	१९२	१०।१८५।१	,, ,, ,,	आदित्याः
इन्द्र इषे	१९९	८।९३।३४	इन्द्रः, ऋभुः	इन्द्र ऋभवश्च
इन्द्रा नु पूषणा	२०२	६।५७।१	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
ऋजुनीती नो	२१८	१।९०।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	विश्वेदेवाः
आ नो मित्रावरुणा	२२०	३।६२।१६	मित्रः, वरुणः	मित्रावरुणौ
इदं विष्णुर्	२२२	१।२२।१७	विष्णुः	विष्णुः
वास्तोष्पते	२७५	८।१७।१४	वास्तोष्पतिः, इन्द्रः	इन्द्रः वास्तोष्पतिर्वा
अयं वां मधुमत्तमः	३०६	१।४७।१	अश्विनौ	अश्विनौ
त्यमूषु वाजिनं	३३२	१०।१७८।१	तार्क्ष्यः	तार्क्ष्यः
इन्द्रापर्वता	३३८	३।५३।१	पर्वतः	पर्वतेन्द्रौ

इसके अतिरिक्त कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिनमें मन्त्र में तो देवता पठित नहीं हैं, किन्तु प्रकरण से देवताबोध हो सकता है। उनके विषय में भी क्वचित् सामवेद तथा ऋग्वेद में प्रकरण-भेद के कारण देवता-भेद पाया जाता है। यथा—साम ११७ 'गाव उपवदावटे' आदि 'उपावतावतं' पाठभेद के साथ ऋ० ८।७२।१२ में भी है। ऋग्वेद में इसका देवता 'अग्निर्हवींषि वा' है, किन्तु सामवेद में इन्द्र। साम १३५ 'इहेव श्रृण्व' आदि ऋ० १।३७।३ में भी है। ऋग्वेद में १५ मन्त्रों के पूरे सूक्त १।३७ का देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में इसका भी देवता इन्द्र है। साम २१९ 'दूरादिहेव यत्सतः' आदि किञ्चित् पाठभेद के साथ ऋ० ८।५।१ में भी पठित है। ऋग्वेद में इसका देवता प्रकरणानुसार 'अश्विनौ' है, किन्तु सामवेद में इसका देवता भी इन्द्र है। साम २२१ 'उदु त्ये सूनवो गिरः' ऋ० १।३७।१० में भी है, जहाँ सम्पूर्ण सूक्त का ही देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में देवता इन्द्र है। ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबमें इन्द्र की ही महिमा का दर्शन पाठकों को करना होता है।

३. छन्द

वैदिक छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष, साम्न, आर्च तथा ब्राह्म आठ प्रकार के होते हैं।

दैव से लेकर ब्राह्म तक के छन्दों के परिचयार्थ नीचे तालिका दी जा रही है—

छन्द नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धि या ह्रास
१. दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
२. आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
३. प्राजापत्य	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
४. याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
५. साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
६. आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
७. ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

परन्तु वेदों में आर्ष छन्दों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। आर्ष छन्दों के तीन सप्तक होते हैं—१. गायत्र्यादि सप्तक, २. अतिजगत्यादि सप्तक, और ३. कृत्यादि सप्तक। इनका परिचय निम्न तालिका में अंकित है—

गायत्र्यादि सप्तक		अतिजगत्यादि सप्तक		कृत्यादि सप्तक	
नाम	अक्षर-संख्या	नाम	अक्षर-संख्या	नाम	अक्षर-संख्या
गायत्री	२४	अतिजगती	५२	कृति	८०
उष्णिक्	२८	शक्वरी	५६	प्रकृति	८४
अनुष्टुप्	३२	अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
बृहती	३६	अष्टि	६४	विकृति	९२
पङ्क्ति	४०	अत्यष्टि	६८	संकृति	९६
त्रिष्टुप्	४४	धृति	७२	अभिकृति	१००
जगती	४८	अतिधृति	७६	उत्कृति	१०४

वैदिक छन्द ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १६-१८), पिंगलच्छन्दः सूत्र (अ० १-४), सामवेद के निदान-सूत्र (प्रपा० १, खण्ड १-७), उपनिदानसूत्र, ऋक्सर्वानुक्रमणी, माधवीय ऋग्वेदानुक्रमणी की छन्दोऽनुक्रमणी, पादविधान आदि में वर्णित हैं। नीचे हम उपर्युक्त आर्ष सप्तकों का विस्तृत विवरण दे रहे हैं—

गायत्र्यादि सप्तक

	गायत्री के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	गायत्री	८+८+८	२४
२.	पादनिचृत्	७+७+७	२१
३.	अतिपादनिचृत्	६+८+७	२१
४.	नागी	९+९+६	२४
५.	वाराही	६+९+९	२४
६.	प्रतिष्ठा	८+७+६	२१
७.	यवमध्या	७+१०+७	२४
८.	वर्धमाना	६+७+८	२१
९.	भुरिग्	८+१०+७	२५
१०.	चतुष्पाद्	६+६+६+६	२४
११.	त्रिपाद् विराड्[1]	११+११+११	३३
१२.	पदपंक्ति	५+५+५+५+५	२५
१३.	द्विपाद् विराड्	१२+८	२०

१. आगे अनुष्टुप् के प्रकरण में इसे अनुष्टुप् का भेद भी बताया गया है। कहाँ गायत्री है और कहाँ अनुष्टुप्, इसका निर्णय प्रकरण, देवता, वृत्त-नियम आदि के आधार पर किया जाता है।

	उष्णिक् के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	ककुब्	८+१२+८	२८
२.	पुर उष्णिक्	१२+८+८	२८
३.	परा उष्णिक्	८+८+१२	२८
४.	ककुब् न्यङ्कुशिराः	११+१२+४	२७
५.	तनुशिराः	११+११+६	२८
६.	पिपीलिकामध्या	११+६+११	२८
७.	चतुष्पाद्	७+७+७+७	२८

	अनुष्टुप् के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	चतुष्पाद्	८+८+८+८	३२
२.	मध्ये ज्योतिः	१२+८+१२	३२
३.	पुरस्ताज्ज्योतिः	८+१२+१२	३२
४.	उपरिष्टाज्ज्योतिः	१२+१२+८	३२
५.	त्रिपदा विराट्	११+११+११	३३

	बृहती के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	पथ्या बृहती	८+८+१२+८	३६
२.	उरोबृहती[1]	८+१२+८+८	३६
३.	उपरिष्टाद् बृहती	८+८+८+१२	३६
४.	पुरस्ताद् बृहती	१२+८+८+८	३६
५.	(युगलपदा) बृहती	१०+१०+८+८	३६
६.	(नवाक्षरा) बृहती	९+९+९+९	३६
७.	महाबृहती या सतोबृहती	१२+१२+१२	३६
८.	विष्टारबृहती	८+१०+१०+८	३६
९.	विषमपदा बृहती	९+८+११+८	३६

	पङ्क्ति के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	पथ्या पङ्क्ति	८+८+८+८+८	४०
२.	सतोबृहती पङ्क्ति	१२+८+१२+८	४०
३.	विपरीता पङ्क्ति	८+१२+८+१२	४०
४.	आस्तारपङ्क्ति	८+८+१२+१२	४०
५.	प्रस्तारपङ्क्ति	१२+१२+८+८	४०
६.	संस्तारपङ्क्ति	१२+८+८+१२	४०
७.	विष्टारपङ्क्ति	८+१२+१२+८	४०
८.	विराट् पङ्क्ति	१०+१०+१०+१०	४०

१. उरोबृहती के स्कन्धोग्रीवी और न्यङ्कुसारिणी बृहती भी नाम हैं।

	त्रिष्टुप् के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	त्रिष्टुप्	११+११+११+११	४४
२.	जागती त्रिष्टुप्	१२+१२+११+११	४६
३.	अभिसारिणी त्रिष्टुप्	१०+१०+१२+१२	४४
४.	विराड्रूपा या परानुष्टुप्	११+११+११+८	४१
५.	पुरस्ताज्ज्योतिः[1]	८+१२+१२+१२	४४
		११+८+८+८+८	४३
६.	मध्ये ज्योतिः[2]	१२+८+१२+१२	४४
		१२+१२+८+१२	४४
		८+८+११+८+८	४३
		१२+१२+१२+८	४४
७.	उपरिष्टाज्ज्योतिः[3]	८+८+८+८+११	४३
८.	महाबृहती	१२+८+८+८+८	४४
९.	महाबृहती यवमध्या	८+८+१२+८+८	४४

	जगती के भेद	पाद-विवरण	अक्षर-संख्या
१.	जगती	१२+१२+१२+१२	४८
२.	उपजगती[4]	१२+१२+११+११	४६
३.	महासतोबृहती	८+८+८+१२+१२	४८
४.	षट्पदा महापङ्क्ति	८+८+८+८+८+८	४८
५.	पुरस्ताज्ज्योतिः	१२+८+८+८+८	४४
६.	मध्ये ज्योतिः	८+८+१२+८+८	४४
७.	उपरिष्टाज्ज्योतिः	८+८+८+८+१२	४४

सामवेद में गायत्र्यादि सप्तक के गायत्री, उष्णिग् आदि सभी छन्दों का प्रयोग हुआ है।

अतिजगत्यादि सप्तक

अतिजगत्यादि सप्तक के अतिजगती छन्द में सामान्यतः पाँच पाद होते हैं, जिनमें (१२+१२+१२+८+८=५२), (१३+१३+१०+८+८=५२), (१३+१२+७+१२+८=५२) आदि

१,२,३. पिङ्गल ने ११ एवं १२ अक्षर के पाद को ज्योति माना है तथा ऋक्प्रातिशाख्यकार एवं ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने ८ अक्षर के पाद को। तदनुसार पुरस्ताज्ज्योति, मध्येज्योति एवं उपरिष्टाज्ज्योति नाम रखे गये हैं।

४. यह क्रम त्रिष्टुप् के भेदों में भी आ चुका है, जहाँ इसे जागती त्रिष्टुप् कहा गया था। कहाँ इसे जागती त्रिष्टुप् कहेंगे और कहाँ उपजगती यह प्रकरण, देवता, वृत्त-नियम आदि पर निर्भर है।

पादक्रम हो सकता है। शक्वरी में प्रायः ८-८ अक्षरों के सात पाद रहते हैं। अतिशक्वरी में प्रायः पाँच या सात पाद होते हैं, जिनमें (१६+१६+१२+८+८=६०), ८+८+८+८+८+१२+८=६०) आदि क्रम होता है। अष्टि में (१६+१६+१६+८+८=६४) आदि क्रम के पाँच पाद, अत्यष्टि में (१२+१२+८+८+८+१२+८=६८) आदि क्रम के सात पाद, धृति में (१२+१२+८+८+८+१६+८=७२) आदि क्रम के सात पाद और अतिधृति में सामान्यतः (१२+१२+८+८+८+१२+८+८=७६) आदि क्रम के आठ पाद होते हैं। इस अतिजगत्यादि सप्तक में उक्त पादों की अपेक्षा पाद-संख्या न्यूनाधिक भी हो सकती है।

सामवेद-संहिता में अतिजगत्यादि सप्तक के अतिजगती (यथा, साम-क्रमांक—४५८, ४६०, ४६२), अतिशक्वरी (यथा, क्रमांक ४६४), अष्टि (यथा, क्रमांक ४५७), अत्यष्टि (यथा, क्रमांक ४५६, ४६१, ४६३–४६५) छन्द प्रयुक्त हैं।

कृत्यादि सप्तक

कृत्यादि सप्तक में पादों की कोई व्यवस्था निर्दिष्ट कर सकना सम्भव नहीं है। ये मन्त्र गद्यवत् होते हैं। पाद-विभाग करना भी हो तो प्रत्येक मन्त्र में भिन्न-भिन्न होगा। इनमें मुख्यतः अक्षर-संख्या देखनी होती है। सामवेद-संहिता में कृत्यादि सप्तक का कोई छन्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

निचृद्, भुरिग्, विराट्, स्वराट्

उपर्युक्त सभी छन्दों के लिए यह सामान्य नियम है कि उनमें यदि निर्दिष्ट अक्षर-संख्या में एक अक्षर की न्यूनता हो तो वह छन्द निचृत् तथा एक अक्षर की अधिकता हो तो भुरिक् कहलाता है। यथा, २३ अक्षर की गायत्री निचृद् गायत्री और २५ अक्षर की गायत्री भुरिग् गायत्री कही जाती है। इसी प्रकार दो अक्षरों की न्यूनता होने पर कोई छन्द विराट् तथा २ अक्षरों की अधिकता होने पर स्वराट् कहलाता है। यथा, २२ अक्षर की गायत्री विराड् गायत्री तथा २६ अक्षरों की गायत्री स्वराड् गायत्री कहाती है। २६ अक्षर का छन्द विराट् उष्णिक् भी हो सकता है, क्योंकि उष्णिक् की निर्दिष्ट अक्षर-विधा २८ से इसमें दो अक्षर न्यून हैं। कहाँ २६ अक्षर के छन्द को स्वराड् गायत्री और कहाँ विराट् उष्णिक् कहें, इसके नियामक प्रकरण, देवता, पाद आदि होते हैं।

शङ्कुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या, यवमध्या

पिंगल (३।५९–६३) के अनुसार छन्दों के शङ्कुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या और यवमध्या नामक भेद भी होते हैं। किसी छन्द में कोई एक पाद ५ अक्षर का होने पर वह छन्द शंकुमती विशेषण से विशिष्ट कहलाता है। किसी छन्द में कोई एक पाद छः अक्षरों का होने पर वह छन्द ककुम्मती विशेषण से विशिष्ट माना जाता है। किसी त्रिपाद् छन्द में मध्य का पाद इतर पादों से छोटा होने पर पिपीलिका (चिउँटी) जैसी आकृति बनने के कारण वह छन्द पिपीलिकामध्या विशेषण से युक्त होता है। किसी त्रिपाद् छन्द का बीच का पाद अधिक अक्षरों का होने पर जो जैसी मोटे मध्य वाली आकृति बनने के कारण वह छन्द यवमध्या कहाता है। यवमध्या को मध्य में बैल की पीठ के समान कुब्ब निकला होने के कारण ककुब् भी कहते हैं। वेदमन्त्रों के छन्द प्रदर्शित करनेवाले कोई आचार्य इन शङ्कुमती आदि विशेषणों को प्रयुक्त करते हैं, कोई नहीं भी करते।

चतुर्विध पाद

८ अक्षर का पाद गायत्र पाद, १० अक्षर का पाद वैराज पाद, ११ अक्षर का पाद त्रैष्टुभ पाद

तथा १२ अक्षर का पाद जागत पाद कहाता है। सभी छन्द इन चार प्रकार के पादों से ही युक्त होते हैं, भिन्नाक्षर पाद इन्हीं चार के अन्तर्गत हो जाते हैं। यह नियम है कि गायत्र और जागत पादों का उपोत्तम (अन्तिम से पहला) अक्षर लघु होता है तथा वैराज और त्रैष्टुभ पादों का उपोत्तम अक्षर गुरु। यह वृत्त-नियम कहलाता है[1]। उपोत्तम अक्षर लघु है या गुरु, इससे पाद के ज्ञान में सहायता मिलती है कि अमुक पाद गायत्र, वैराज, त्रैष्टुभ एवं जागत में से कौन-सा है[2]।

एकपदा तथा द्विपदा ऋचाएँ

उपर्युक्त गायत्री आदि चतुर्विध पादों से एकपदा तथा द्विपदा ऋचाएँ भी बनती हैं[3]। यथा, ८ अक्षर के पाद वाली ऋचा एकपदा गायत्री तथा ८-८ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा गायत्री कहलाती है। १० अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा विराट् तथा १०-१० अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा विराट् होती है। ११ अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा त्रिष्टुप् तथा ११-११ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा त्रिष्टुप् कहलाती है। इसी प्रकार १२ अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा जगती तथा १२-१२ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा जगती कहाती है[4]।

ऋचाओं में विरामचिह्नों का प्रयोग

एकपदा तथा द्विपदा ऋचाओं में अन्त में ही विराम का चिह्न लगता है। त्रिपदा ऋचाओं में प्रथम विराम दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम तृतीय पाद के पश्चात् प्रयुक्त होता है। किसी-किसी त्रिपदा ऋचा में प्रथम विराम पहले पाद के पश्चात् तथा द्वितीय विराम शेष दो पादों के पश्चात् लगता है। चतुष्पदा ऋचाओं में प्रथम विराम मध्य में अर्थात् दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम अन्त में होता है, क्वचित् प्रथम विराम पूर्ववर्ती तीन पादों के बाद और द्वितीय विराम अन्त में होता है, क्वचित् प्रथम विराम प्रथम पाद के बाद और द्वितीय विराम परवर्ती तीन पादों के बाद होता है। पञ्च-पदा ऋचाओं में प्रथम दो विराम दो-दो पादों के पश्चात् तथा तृतीय विराम अन्त में पंचम पाद के पश्चात् लगता है। क्वचित् प्रथम विराम दो पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम अन्त में होता है। क्वचित् प्रथम विराम तीन पादों के बाद और द्वितीय विराम अन्त में प्रयुक्त होता है। षट्पदा ऋचाओं में दो-दो पादों के पाद अथवा तीन-तीन पादों के बाद, अथवा प्रथम विराम पहले दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम परवर्ती चार पादों के पश्चात् लगता है। सप्तपदा ऋचाओं में प्रथम विराम पहले तीन पादों के बाद तथा द्वितीय और तृतीय विराम शेष दो-दो पादों के पश्चात् होते हैं, अथवा प्रथम विराम पहले तीन पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम शेष चार पादों के पश्चात् लगता है, अथवा प्रथम विराम पहले दो पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम शेष पाँच पादों के पश्चात्। अष्टपदा ऋचाओं में प्रथम विराम तीन पादों के पश्चात्, द्वितीय विराम पंचम पाद के पश्चात् और तृतीय विराम अन्त में लगता है। ये विराम-सम्बन्धी सामान्य नियम हैं; कुछ विशिष्ट ऋचाएँ इनका अपवाद भी हैं।[5]

---

१. पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षरदशाक्षरौ। एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ॥
वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्। गुर्वेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं प्राहुश्छन्दसाम्॥—ऋ० प्रा० १७।३७–३९

२. प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः। विशेषसन्निपाते तु पूर्वं-पूर्वं परं परम्॥—ऋ० प्रा० १७।२५, २६

३. एकपदा एवं द्विपदा ऋचाओं के उदाहरणों के लिए, द्रष्टव्य साम-मन्त्रसंख्या ४२७ से ४५६ तक।

४. एक एक पदैतेषां द्वौ पादौ द्विपदोच्यते। ते तु तेनैव प्रोच्येते सरूपे यस्य पादतः॥ ऋ० प्रा० १७।४१, माधवीया छन्दोऽनुक्रमणी श्लोक १५ भी द्रष्टव्य।

५. उक्त नियमों के लिए द्रष्टव्य ऋ० प्रा० १८।४६–५७

उक्त एकपदा आदि के सामवेदस्थ कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। एकपदा 'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (साम ४५६) तथा द्विपदा 'परि प्र धन्वेन्द्राय' (साम ४२७) इनमें अन्त में विराम है। त्रिपदा 'अग्न आ याहि' (साम १), चतुष्पदा 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (३५), पंचपदा 'स्वादोरित्था विषूवतः' (४०९) में प्रथम दो पादों के अनन्तर तथा पुनः अन्त में विराम है। पंचपदा 'अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः' (४३४) में प्रथम चार पादों के पश्चात्, पुनः पञ्चम पाद के पश्चात् विराम है। पंचपदा 'तव त्यन्नर्यं' (४६६) में प्रथम दो पादों के पश्चात्, पुनः तृतीय पाद के पश्चात्, पुनः पञ्चम पाद के पश्चात् विराम है। षट्पदा 'उभे यदिन्द्र रोदसी' (३७९) में दो-दो पादों के पश्चात् विराम है। सप्तपदा 'अग्निं होतारं मन्ये' (४६५) में प्रथम तीन पादों के पश्चात्, पुनः दो-दो पादों के पश्चात् विराम है। सप्तपदा 'प्रोष्वस्मै पुरोरथ' (१८०१) में प्रथम दो-दो पादों के पश्चात्, पुनः तीन पादों के पश्चात् विराम है।

प्रगाथ

जब किसी कारण से दो या तीन छन्दों का समुदाय बनाया जाता है तब उस छन्दःसमुदाय को प्रगाथ कहते हैं। सामवेदीय निदानसूत्र में केवल दो प्रगाथों का, कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा माधवीया छन्दोनुक्रमणी में पाँच-पाँच प्रगाथों का तथा ऋक्प्रातिशाख्य में २३ प्रगाथों का वर्णन उपलब्ध होता है। सामवेद उत्तरार्चिक में गान की दृष्टि से ऐसे प्रगाथ आए हैं, जो दो-दो या तीन-तीन ऋचाओं के समुदाय-रूप हैं। सामगान का यह नियम है कि समछन्दस्क तीन ऋचाओं पर गान होता है। परन्तु जब विषमछन्दस्क दो या तीन ऋचाएँ होती हैं, तब उन दो या तीन ऋचाओं को एक प्रगाथ मानकर गान में ऋचाओं के ही पूर्वोत्तर भागों को जोड़कर तीन समछन्दस्क ऋचा बना ली जाती हैं। सामवेद उत्तरार्चिक में काकुभ, बार्हत और आनुष्टुभ प्रगाथ पठित हैं। काकुभ प्रगाथों में पहली ऋचा ककुप् तथा दूसरी ऋचा सतोबृहती है। बार्हत प्रगाथों में पहली ऋचा बृहती तथा दूसरी ऋचा सतोबृहती है। आनुष्टुभ प्रगाथों में पहली ऋचा अनुष्टुप् तथा दूसरी और तीसरी ऋचाएँ गायत्री हैं। उदाहरणार्थ—

प्रगाथ का नाम	ऋचाएँ	उत्तरार्चिक		
		प्रपाठक	अर्ध	सूक्त
काकुभ	ककुप्+सतोबृहती पङ्क्ति	१	१	१६,२२
बार्हत	बृहती+सतोबृहती पङ्क्ति	१	१	९,११
आनुष्टुभ	अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री	१	१	१८

गान-स्वर

ऋचाओं के षड्ज, ऋषभ आदि गान-स्वर केवल वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित वेद-संहिताओं में ही दर्शाये गये हैं। वहीं से मुद्रित स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य में भी दिये गये हैं। किस छन्द के साथ किस स्वर का सम्बन्ध है, यह केवल पिङ्गलच्छन्दःसूत्र में ही बताया गया है, अन्य किसी ग्रन्थ के छन्दःप्रकरण में नहीं। पिङ्गलच्छन्दःसूत्र में भी केवल गायत्र्यादि वर्ग के छन्दों पर ही स्वर परिगणित किये गये हैं। तदनुसार गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती के क्रमशः षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषाद स्वर होते हैं।[1] अतिजगत्यादि सप्तक

१. स्वराः षड्जादयः। पिङ्गल ३।३४, षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः स्वराः गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः—हलायुधवृत्ति।

तथा कृत्यादि सप्तक के अन्तर्गत जो छन्द हैं, उनके स्वर पिङ्गलच्छन्दःसूत्र में नहीं बताये गये हैं। स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य में तथा वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित संहिताओं में इनके जो स्वर लिखे हैं वे निम्न तालिका में द्रष्टव्य हैं—

गायत्र्यादि छन्द	अतिजगत्यादि छन्द	कृत्यादि छन्द	गान-स्वर
गायत्री	अतिधृति	उत्कृति	षड्ज
उष्णिग्	धृति	अभिकृति	ऋषभ
अनुष्टुप्	अत्यष्टि	संकृति	गान्धार
बृहती	अष्टि	विकृति	मध्यम
पङ्क्ति	अतिशक्वरी	आकृति	पञ्चम
त्रिष्टुप्	शक्वरी	प्रकृति	धैवत
जगती	अतिजगती	कृति	निषाद

अर्थात् गायत्री, अतिधृति और उत्कृति तीनों का षड्ज स्वर होता है; उष्णिक् धृति और अभिकृति तीनों का ऋषभ स्वर होता है। इसी प्रकार आगे समझना चाहिए।

प्रगाथों के स्वर उन ऋचाओं के आधार पर लिखे जाते हैं। यथा, साम० उ० प्रप्रा० १, अर्ध १, सूक्त ९ के बार्हत प्रगाथ में प्रथम ऋचा बृहती तथा द्वितीय ऋचा सतोबृहती पङ्क्ति है। तदनुसार सम्पूर्ण प्रगाथ का कोई एक स्वर न लिखकर प्रथम ऋचा बृहती का 'मध्यम' स्वर तथा द्वितीय ऋचा पङ्क्ति का 'पञ्चम' स्वर निर्दिष्ट किया गया है।

९. सामगान के कुछ मूलभूत विषय

अन्य वेदों के जटापाठ, क्रमपाठ आदि तो प्रचलित हैं, किन्तु गान केवल सामवेद पर ही होते हैं। उन गानों का परिचय प्राप्त करने के लिए कतिपय आधारभूत विषयों को जान लेना आवश्यक है।

सामगान के स्वर

लौकिक संगीतशास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद, ये क्रमशः सात स्वर होते हैं, जिनका संक्षिप्त रूप 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' है। किन्तु सामगान के स्वरों का क्रम नारदीय शिक्षा के अनुसार यह है—मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद, पञ्चम, जिन्हें 'म, ग, रे, सा, ध, नि, प' के रूप में प्रकट किया जा सकता है। साम के ये सात स्वर क्रमशः 'प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थक, मन्द्र, क्रुष्ट, अतिस्वार' नामों से व्यवहृत होते हैं।

लोक में—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद।

साम में—{ मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद, पञ्चम
प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थक, मन्द्र, क्रुष्ट, अतिस्वार।

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः। यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्। षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः॥

—नारदीय शिक्षा ५।१-२

प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः। मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान् कुर्वन्ति सामगाः॥

—नारदीय शिक्षा १।१२

सामगान में प्रयोक्तव्य अष्ट भाव

साम की मूल ऋचा पर जब गान गाया जाता है तब ऋचा को यथालिखित रूप में न पढ़कर उसके शब्दों में कुछ परिवर्तन करने आवश्यक होते हैं। इन परिवर्तनों को 'भाव' कहते हैं। पुष्पसूत्र (फुल्लसूत्र) में निम्नलिखित १८ भाव बताये गये हैं—आयिभाव, प्रकृतिभाव, वृद्धभाव, अवृद्धभाव, स्तोभगतागत, उच्चनीच, सन्धिवद्गान, पदवद्गान, अत्व, आर्भाव, विश्लेष, प्रश्लेष, संक्रुष्ट, विक्रुष्ट, लोप, अतिहार, आभाव और विकार। किन्तु प्रायः व्यवहार में आनेवाले अधोव्याख्यात ८ भाव हैं, जिन्हें विकार नाम से भी अभिहित किया जाता है—

१. **विकार**—किन्हीं वर्णों के स्थान पर दूसरे वर्ण कर देना। यथा, 'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नाइ' उच्चारण करना।

२. **विश्लेष**—पद को खोल देना। यथा, 'वीतये' के स्थान पर 'वोइतोया २ इ' पढ़ना।

३. **विकर्षण**—लम्बा खींचकर बोलना। यथा, 'ये' के स्थान पर 'या ३ यि' बोलना।

४. **अभ्यास**—किसी पद का पुनः-पुनः उच्चारण करना। यथा, 'तोया २ इ। तोया २ इ'।

५. **विराम**—पद के बीच में विराम दे देना। यथा, 'गृणानो हव्यदातये' के गान में 'गृणानोह। व्यदातोया २ इ' पढ़ना।

६. **स्तोभ**—मन्त्र में अविद्यमान 'औ, होवा, हाउ, हावु, वोइ, वोइ' आदि अर्थहीन पदों को पढ़ना।

७. **आगम**—पद में किसी अविद्यमान वर्ण को ले आना। यथा, 'वरेण्यम्' के स्थान पर 'वरेणियोम्', 'दिव्यः' के स्थान पर 'दिवियः' और 'वेद्यम्' के स्थान पर 'वेदिया २३४५ म्' बोलना।

८. **लोप**—मन्त्र में विद्यमान वर्ण को न पढ़ना। यथा, 'यज्ञायज्ञिय' नामक गान में 'गिरा' को 'गायिरा' न बोलकर 'इरा' (आइरा) बोलना।

साम की भक्तियाँ

सामगान के पाँच भक्ति या विभाग होते हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन।[1] ओङ्कार और हिङ्कार को इनमें सम्मिलित कर लेने पर सात[2] भक्ति या विभाग हो जाते हैं। यज्ञों में सम्पूर्ण साम एक ही ऋत्विज् के द्वारा न गाया जाकर कुछ भाग पृथक् एक-एक ऋत्विज् के द्वारा गाये जाते हैं तथा किसी भाग का सबके द्वारा सम्मिलित गान किया जाता है। प्रस्ताव अर्थात् गान का आरम्भ प्रस्तोता हिम् या हुम् पूर्वक करता है। उद्गाता प्रारम्भ में ओङ्कार का प्रयोग करके उद्गीथ गाता है। प्रतिहार प्रतिहर्ता ऋत्विज् द्वारा गाया जाता है। उपद्रव नामक भक्ति उद्गाता द्वारा गायी जाती है। निधन को, जिसमें मन्त्र का अन्तिम भाग रहता है, प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता तीनों मिलकर गाते हैं। यतः हिङ्कार (हिम या हुम्) और ओङ्कार-पूर्वक ही सामगान होता है, अतः हिङ्कार और ओङ्कार को पृथक् भक्ति मानने पर सात भक्तियाँ हो जाती हैं। पृथक् न मानने पर ये दोनों भी उक्त पाँच के ही अन्तर्गत होती हैं। पाँच और सात का समन्वय इस प्रकार भी किया जाता है कि अध्ययन-काल में पाँच भक्तियाँ होती हैं, किन्तु यज्ञों में गान गाते समय सात भक्तियाँ।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम की पाँच भक्तियाँ हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार

१. प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः।—पञ्चविधसूत्र, प्रपाठक १, कण्डिका १

२. ओङ्कारहिङ्काराभ्यां साप्तविध्यम्।—वही

और निधन हैं। वहाँ लोकों में, वृष्टि में, सब जलों में, ऋतुओं में, पशुओं में तथा प्राणों में पंचविध साम की उपासना वर्णित की गयी है।[१] वहीं आगे सप्तविध साम की उपासना का भी विधान है और साम की सात भक्तियाँ हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन कही गयी है।[२]

स्तोमों का परिचय

सामगान में स्तोमों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। स्तोम संख्या में ९ हैं—१. त्रिवृत् स्तोम, २. पञ्चदश स्तोम, ३. सप्तदश स्तोम, ४. एकविंश स्तोम, ५. त्रिणव (सप्तविंश) स्तोम, ६. त्रयस्त्रिंश स्तोम, ७. चतुर्विंश स्तोम,[३] ८. चतुश्चत्वारिंश स्तोम, ९. अष्टचत्वारिंश स्तोम। ये सोमयाग के दशरात्र पर्व में गाये जाते हैं।

प्रत्येक स्तोम में तीन पर्याय होते हैं। तृच सूक्त का गान करते समय ऋचाओं के मूलतः तीन ही होने पर भी पर्यायों में उनकी आवृत्ति द्वारा उक्त स्तोमों में क्रमशः ९, १५, १७, २१, २७, ३३, २४, ४४ और ४८ की संख्या पूर्ण कर ली जाती है। उदाहरणार्थ, उत्तरार्चिक अध्याय १, खण्ड ४ के चतुर्थ सूक्त में निम्नलिखित तीन ऋचाएँ हैं—

६६०. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

६६१. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥

६६२. स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्यम्॥

पञ्चदश स्तोम का गान करते समय इन तीन ऋचाओं की १५ ऋचाएँ इस प्रकार बना ली जाती हैं—

(१) प्रथम पर्याय	१ म ऋचा ३ वार	२ य १ वार	३ य १ वार	योग ५
द्वितीय पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य ३ वार	३ य १ वार	— ५
तृतीय पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य १ वार	३ य ३ वार	— ५
योग	१ म ऋचा ५ वार	२ य ५ वार	३ य ५ वार	—१५

१. द्रष्टव्य : छा० उ०, प्रपा० २, खण्ड १–७ तथा ११–२१। लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु। अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-मुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् आदि।

२. द्रष्टव्य, वही, ८-१०। अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधं सामोपासीत। यत् किञ्च वाचो हुमिति स हिङ्कारो, यत्प्रेति स प्रस्तावो, यदेति स आदिः। यदुदिति स उद्गीथो, यत्प्रतीति स प्रतिहारो, यदुपेति स उपद्रवो, यन्नीति तन्निधनम् आदि।

३. संख्या की दृष्टि से यद्यपि एकविंश के अनन्तर चतुर्विंश होना चाहिए, तथापि प्रथम ६ स्तोम 'पृष्ठषडह' में तथा अन्तिम ३ स्तोम 'छन्दोमों' में आते हैं, इस दृष्टि से यह क्रम है।

पर्यायों में ऋचाओं की आवृत्ति की पद्धति को विष्टुति कहते हैं। ऊपर जो पद्धति बतायी गयी है इसका नाम 'पञ्चपञ्चिनी' विष्टुति है, क्योंकि इसमें प्रत्येक ऋचा की पाँच वार आवृत्ति हुई है। स्तोमों में ऋचाओं की आवृत्ति की पद्धति (विष्टुति) एक ही नहीं होती। किस स्तोम में कितनी विष्टुतियाँ होती हैं यह ताण्ड्य महाब्राह्मण के द्वितीय और तृतीय अध्यायों में बताया गया है। वहाँ त्रिवृत् स्तोम की ३, पञ्चदश स्तोम की ३, सप्तदश स्तोम की ७, एकविंश स्तोम की ४, त्रिणव स्तोम की २, त्रयस्त्रिंश स्तोम की ५, चतुर्विंश स्तोम की १, चतुश्चत्वारिंश स्तोम की ३ और अष्टचत्वारिंश स्तोम की २ विष्टुतियाँ वर्णित की गयी हैं।

पञ्चदश स्तोम की उपर्युक्त पञ्चपञ्चिनी विष्टुति के अतिरिक्त दो अन्य विष्टुतियाँ इस प्रकार हैं—

(२)	प्रथम पर्याय	१ म ऋचा ३ वार	२ य १ वार	३ य १ वार	योग ५
	द्वितीय पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य १ वार	३ य १ वार	३
	तृतीय पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य ३ वार	३ य ३ वार	७
	योग	१ म ऋचा ५ वार	२ य ५ वार	३ य ५ वार	१५

(३)	प्रथम पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य १ वार	३ य १ वार	योग ३
	द्वितीय पर्याय	१ म ऋचा १ वार	२ य ३ वार	३ य १ वार	५
	तृतीय पर्याय	१ म ऋचा ३ वार	२ य १ वार	३ य ३ वार	७
	योग	१ म ऋचा ५ वार	२ य ५ वार	३ य ५ वार	१५

इस तीसरी विष्टुति का नाम उद्यती है, क्योंकि तीनों पर्यायों में आवृत्त ऋचाओं की संख्या (३, ५, ७) उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। द्वितीय विष्टुति को त्रिस्तोमा कह सकते हैं, यतः इसके योग में ५ की संख्या पञ्चदश स्तोम का, ३ की संख्या त्रिवृत् स्तोम का और ७ की संख्या सप्तदश स्तोम का प्रतिनिधित्व करती है।[1] अन्य स्तोमों की विष्टुतियाँ ताण्ड्य महाब्राह्मण में देखी जा सकती हैं।

दस प्रसिद्ध सामों की योनि ऋचाएँ

यद्यपि सामगानों की संख्या ढाई हजार से भी अधिक है, तो भी निम्नलिखित दस साम विशेष प्रसिद्ध हैं—१. गायत्र, २. रथन्तर, ३. बृहत्, ४. वामदेव्य, ५. वैरूप, ६. वैराज, ७. शाक्वर, ८. रैवत, ९. यज्ञायज्ञिय, १०. राजन्। ताण्ड्य महाब्राह्मण के सप्तम-अष्टम अध्यायों में इन सामों की प्रशंसा एवं महत्ता प्रकाशित की गयी है। इन सामों की योनि-ऋचाएँ नीचे प्रदर्शित की जा रही हैं—

१. गायत्र

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥—साम १४६२

---

१. पञ्चदश स्तोम की उक्त तीनों विष्टुतियों के लिए द्रष्टव्य : ताण्ड्य० म० ब्रा० अ० २, खण्ड ४-६।

२. रथन्तर

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥—साम २३३, ६८०

३. बृहत्

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्ववतः ॥—साम० २३४, ८०९

४. वैरूप

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ —साम० २७८, ८६२

५. वैराज

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥—साम० ३९८, ९२७

६. शाक्वर

विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो ॥—साम० ६४१

७. रैवत

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥—साम० १५३, १०८४

८. वामदेव्य

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥—साम० १६९, ६८२

९. यज्ञायज्ञिय

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥—साम० ३५, ७०३

१०. राजन्

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ —साम० १४८३

इन योनि-ऋचाओं पर बने हुए गायत्र, रथन्तर, बृहत् आदि गान ग्रामेगेय, अरण्येगेय, ऊह तथा ऊह्य गानों में आते हैं। इनमें से कुछ गान आगे दर्शाये जाएँगे।

१० सामगान के भेदों का विवरण

सामवेदसंहिता के पूर्वार्चिक पर दो प्रकार के गान बने हैं, ग्रामेगेयगान, जिन्हें वेयगान भी कहते हैं, और दूसरे अरण्येगेयगान या आरण्यगान। ये दोनों गान प्रकृतिगान कहलाते हैं। प्रायः ग्रामेगेय-गान पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच अध्यायों (आग्नेय, ऐन्द्र तथा पावमान काण्ड) पर हैं, और आरण्यगान षष्ठ अध्याय (आरण्य काण्ड) पर तथा महानाम्नी आर्चिक पर हैं। प्रत्येक ऋचा पर ही गान बने हों ऐसा नहीं है। किसी ऋचा पर कोई गान नहीं है और किसी पर एक से अधिक गान हैं। ग्रामेगेय गान ग्रामों में तथा आरण्यगान अरण्यों (वनों) में गाये जाते थे। उत्तरार्चिक पर ऊहगान और ऊह्यगान गाये जाते हैं, जो विकृतिगान कहलाते हैं। ये गान अकेली एक-एक ऋचा पर न होकर सूक्तों पर होते हैं, जिनमें अधिकांश तृच सूक्त हैं। ऊहगान की प्रकृति ग्रामेगेयगान तथा ऊह्यगान की प्रकृति आरण्यगान हैं।

ग्रामेगेय या वेय गान

ग्रामेगेय (वेय) गान के उदाहरणार्थ सामसंहिता पूर्वार्चिक की प्रथम ऋचा पर गोतम ऋषि के पर्क नामक दो गान तथा कश्यप ऋषि का बर्हिष्य नामक एक गान अधोलिखित हैं—

मूल ऋचा

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥—साम० १

गोतम का पर्क

[प्रथम] ओग्ना इ। आयाही ३ वोइतोया २ इ। तोया २ इ। गृणानोह। व्यदातोया २ इ। तोया २ इ। ना इहोतासा २३। त्सा २ इ। बा २३४ औहोवा। ही २३४ षी॥

[द्वितीय] अग्न आयाहि। वा ५ इतयाइ। गृणा नोहव्यदा १ ता ३ ये। निहोता २३४ सा। त्सा २३४ इवा ३। हा २३३४ इषो ६ हाइ॥

कश्यप का बर्हिष्य

अग्नआयाहीवी। तयाइ। गृणानोहव्यदाता। २३ याइ। निहोतासत्सिवर्हा २३ इषि। वर्हा २ इषा २३४ आहोवा। वर्ही ३ षी २३४५॥

ग्रामेगेय (वेय) गानों की कुल संख्या ११९८ है, जिसमें १८० गान आग्नेय काण्ड के, ६३३ गान ऐन्द्र काण्ड के तथा ३८४ गान पावमान काण्ड के हैं, और १ गान उत्तरार्चिक के गायत्री मन्त्र क्रमांक १४६२ पर गाया जाने वाला गान है।

अरण्येगेय गान

अरण्येगेय (आरण्य) गानों की कुल संख्या २९६ है, जिसमें अर्कपर्व (आरण्यकाण्ड की प्रथम दशति पर गाये जाने वाले साम) के ८९ गान, द्वन्द्वपर्व (आरण्यकाण्ड की द्वितीय दशति पर गाये जाने वाले साम) के ७७ गान, व्रतपर्व (आरण्यकाण्ड की तृतीय-चतुर्थ दशति पर गाये जाने वाले साम) के ८४ गान, शुक्रियपर्व (आरण्यकाण्ड की पाँचवीं दशति पर गाये जाने वाले साम) के ४० गान तथा महानाम्नी आर्चिक पर गाये जाने वाले ४ शाक्वर साम हैं, और उद्वयामे गान एवं भारुण्ड गान नामक दो परिशिष्ट के गान भी सम्मिलित हैं।

अरण्येगेय (आरण्य) गान के उदाहरणार्थ आरण्यकाण्ड की प्रथम ऋचा पर नरद्वसु ऋषि का गान इस प्रकार है—

मूल ऋचा

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः।
यद् दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥—साम० ५८६

आरण्य गान (नारद्वसव)

हाउ। ३। औहोइन्द्र ज्यैष्ठन्नआभरा३ए। हाउ। ३। औहो २। ओ २। जिष्ठम्पू-
पारा। औहोवाश्रावाः। हाउ। ३। औहो २। यारत्। दिधृक्षेमाव। ज्र हस्त।
औहोवारोदासी। हाउ। ३। औहो २। ओ २। भेसुशाइप्रा। औहोवापाप्राः।
हाउ। ३। औहो २। ओ २। उहुवा ३ हाउ। वा ३। हस् ॥

महानाम्नी आर्चिक पर प्रथम शाक्वर आरण्य गान इस प्रकार है—

मूल ऋचाएँ

विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो ॥१॥
आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वा३ऽन्नांशुः।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥२॥
एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः। शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस
आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥—साम० ६४१-४३

आरण्य गान (शाक्वर)

ए २। विदामघवन्विदाः। गातुमनुशंसिषः। दाइशा ३१ उवा २३। ई ३४ डा।
ए २। शिक्षाशचीनाम्पताइ। पूर्वीणाम्पूरू २। वसा ३१ उवा २३। ई ३४ डा॥

आभिष्ट्वमभा २ इ । ष्टिभिरा ३१ उवा २३ । ई ३४ डा । स्वर्नांश्शूः २ः । हा ३२ उवा २३ । ई ३४ डा । प्राचे । तनप्रचेतया । इन्द्रा । द्युम्नायना २ इषाइ । इडा । ईन्द्रा । द्युम्नाय नां २ इषाइ । अंथा । इन्द्रा । द्युम्नायना २ इषाइ । इडा ॥

एवाहिशक्रोरायेराजायवा १ ज्री ३ वाः । शविष्ठ वज्रिन्ना ३ । जासाइ । मंश्हिष्ठ-वज्रिन्ना २३ हो । जासा ३२ उवा २३ । इट्इडा २३४५ । आया । हिपिबमा २ त्सुवा । इडा २३४५ ॥

ऊहगान और ऊह्यगान

ये दोनों गान उत्तरार्चिक के सूक्तों पर होते हैं तथा सोमयाग के सात पर्वों में गाये जाते हैं। ऊहगान की प्रकृति ग्रामेगेय (वेय) गान है तथा ऊह्यगान की प्रकृति अरण्येगेय (आरण्य) गान है, अर्थात् प्रायः ग्रामेगेय गान की ऋचा ऊहगान की तथा अरण्येगेय गान की ऋचा ऊह्यगान की योनि-ऋचा बनती है, जिसके आधार पर उक्त गान गाये जाते हैं। ऊह्यगान को रहस्यगान भी कहते हैं।

सोमयाग के सात पर्व, जिनमें ये गान गाये जाते हैं, निम्नलिखित हैं—१. दशरात्र पर्व, २. संवत्सर पर्व, ३. एकाह पर्व, ४. अहीन पर्व, ५. सत्र पर्व, ६. प्रायश्चित्त पर्व, ७. क्षुद्र पर्व। द्वादशाह याग के प्रथम और अन्तिम दो दिनों को छोड़कर मध्य के दस दिन दशरात्र पर्व कहलाते हैं, जिनमें उत्तरार्चिक के प्रथम और द्वितीय अध्याय के सूक्तों का विनियोग है। एकवर्षसाध्य गवामयन-संवत्सरपर्व में गाये जाने वाले गानों को संवत्सर-गान कहते हैं, जिनमें उत्तरार्चिक के १२-१३ अध्यायों के सूक्तों का विनियोग है। जिस याग में एक ही दिन सोम-सवन होता है वह एकाह पर्व कहलाता है, जिसमें गाये जाने वाले गानों को एकाह-गान कहते हैं, जिनमें उत्तरार्चिक के १४-१७ अध्यायों के सूक्त विनियुक्त हैं। कई दिनों में सम्पन्न होने वाले द्विरात्र से एकादशरात्र तक के यागों की अहीन संज्ञा है, जिनमें गाये जाने वाले गान अहीनगान कहलाते हैं। उत्तरार्चिक के १८वें अध्याय के सूक्तों का इस अहीन पर्व में विनियोग है। सत्रयागों में गाये जाने वाले गान सत्र-गान कहे जाते हैं, जिनमें उत्तरार्चिक के १९वें अध्याय के सूक्तों का विनियोग किया गया है। यज्ञ में जाने-अनजाने में हुए दोषों के परिहारार्थ जो गान गाये जाते हैं वे प्रायश्चित्त-पर्व में आते हैं। उत्तरार्चिक के २०वें अध्याय के प्रथम और द्वितीय अर्ध के कतिपय सूक्त इस पर्व में विनियुक्त हैं। शत्रुनाशार्थ किये जाने वाले श्येन, इषु, वज्र आदि यागों में प्रयुक्त गान क्षुद्रपर्व-गान कहलाते हैं। उत्तरार्चिक के २०वें और २१वें अध्याय के कुछ सूक्तों के गान इस पर्व में आते हैं।

ऊहगानों की कुल संख्या ९३६ है, जिसमें २२२ गान दशरात्र-पर्व के, १५२ गान संवत्सर-पर्व के, १५८ गान एकाह-पर्व के, १४६ गान अहीन-पर्व के, १२१ गान सत्र-पर्व के, ५० गान प्रायश्चित्त-पर्व के और ८७ गान क्षुद्र-पर्व के अन्तर्गत हैं।

ऊह्यगानों की कुल संख्या २०९ है, जिसमें दशरात्र-पर्व में २९ गान, संवत्सर-पर्व में ४१ गान, एकाह-पर्व में २३ गान, अहीन-पर्व में ३१ गान, सत्र-पर्व में १४ गान, प्रायश्चित्त-पर्व में १९ गान और क्षुद्र-पर्व में ५२ गान गाये जाते हैं।

ऊहगान के उदाहरणार्थ उत्तरार्चिक प्रथम अध्याय, तृतीय खण्ड, १२वें सूक्त का महावामदेव्य गान यहाँ दिया जा रहा है, जो दशरात्र-पर्व में गाया जाता है—

मूल सूक्त

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥१॥
कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥
अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतये ॥३॥—साम० ६८२-८४

ऊहगान (वामदेव्य)

काऽ५या नश्चाऽ३इत्राऽ३ आभुवात् ॥ ऊ । तीसदावृधस्स खा । औऽ३ होहाइ । कयाऽ२३ शचाइ ॥ ष्ठयौहोऽ३ । हुम्माऽ२ ॥ वाऽ२र्तोऽ३५ हाइ ॥ काऽ५स्त्वा । सत्योऽ३ माऽ३ दानाम् ॥ मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा । औऽ३ होहाइ । दृढाऽ२३ चिदा । रुजौहोऽ३ । हुम्माऽ२ ॥ वाऽ२सोऽ३५ हाइ ॥ आऽ५भी । षुणाऽ३स्सा३ खीनाम् । आ । विताजराइतॄ । णाम् । औऽ२३ होहाइ । शताऽ२३म्भवा ॥ सियौहोऽ३ । हुम्माऽ२ ॥ ताऽ२योऽ३५ हाइ ॥

ऊहगान के उदाहरणस्वरूप उत्तरार्चिक प्रथम अध्याय, चतुर्थ खण्ड, ११वें सूक्त का रथन्तर-गान अधोलिखित है । यह भी दशरात्र पर्व में गाया जाता है—

मूल सूक्त

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥—साम० ६८०-८१

ऊह्यगान (रथन्तर)

आभित्वाशूरनोनुमोवा ॥ आदुग्धाइवधेनवईशानमस्यजगतः । सुवाऽ२३ र्दृशाम् । आइशानमाऽ२३ इन्द्राऽ३ ॥ सूस्थूऽ२३४ पा । औवाऽ६ । हाउवा ॥ ईशोवा ॥ नामिन्द्रसुस्थुषोनत्वावाँअन्योदिवियः । नपाऽ२३ र्थिवाः ॥ नजातोनाऽ२३ जाऽ३ ॥ नाइष्याऽ२४३ ता । औवाऽ६ हाउवा ॥ नजोवा । तोनजनिष्यते अश्वायन्तोम-घवन्नि । द्रवाऽ२४ जिनाः ॥ गव्यन्तस्त्वाऽ२३ हाऽ४ ॥ वामाऽ२३४ हा । औवाऽ६ । हाउवा ॥

सामवेद की कौथुम (या राणायनीय) तथा जैमिनीय संहिताओं में कुल गानों की संख्या इस प्रकार है—

गान	कौथुम या राणायनीय	जैमिनीय	योग
वेयगान	११९८	१२३२	२४३०
आरण्यगान	२९६	२९१	५८७
ऊहगान	९३६	१८०२	२७३८
ऊह्यगान	२०९	३५६	५६५
योग	२६३९	३६८१	६३२०

यह ज्ञातव्य है कि मूल ऋचाओं पर जो अंक या र, क, उ अक्षर लिखे रहते हैं वे उदात्तादि स्वरों के सूचक होते हैं, किन्तु उन ऋचाओं के गानों के ऊपर या वर्णों के आगे जो अंक और र अक्षर लिखे जाते हैं वे मध्यम, गान्धार आदि स्वरों को सूचित करने के लिए तथा अंगुष्ठ एवं हस्ताङ्गुलियों के संचालन की दृष्टि से होते हैं।

१०. सामवेद का साहित्य

अन्य वेदों के समान सामवेद का भी विपुल साहित्य है, जिसमें ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदें, कल्पसूत्र आदि आते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ

सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या अन्य वेदों के ब्राह्मणों की अपेक्षा सबसे अधिक है। आठ ब्राह्मणग्रन्थ कौथुम या राणायनीय सामवेद के तथा तीन जैमिनीय शाखा के हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

१. **ताण्डच महाब्राह्मण**—यह तण्डि ऋषि द्वारा प्रोक्त होने के कारण ताण्डच, २५ अध्यायों में विभक्त होने के कारण पञ्चविंश तथा विशालकाय होने के कारण महाब्राह्मण कहलाता है। इसमें १७७ यागों का विशद वर्णन किया गया है, जिनमें ७५ एकाह याग, ३४ अहीन याग, ६५ सत्र याग

तथा ३ अग्निष्टोम, द्वादशाह एवं गवामयन हैं। इनमें एक दिन से लेकर सहस्र[1] संवत्सर तक चलनेवाले याग हैं। प्रथम अध्याय में उद्गातृगण से सम्बद्ध यजुर्मन्त्रों का उल्लेख है, द्वितीय-तृतीय में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोमों का और उनकी विष्टुतियों का वर्णन है। चतुर्थ-पञ्चम में गवामयन[2] याग, षष्ठ-अष्टम में अग्निष्टोम एवं उक्थ यागसंस्थाएँ तथा नवम में अतिरात्र यागसंस्था एवं प्रायश्चित्त आदि हैं। दशम से पञ्चदश तक द्वादशाह याग का निरूपण है। अध्याय १६ से २० तक समग्र एकाह यागों का विवेचन है। अध्याय २० के अन्तिम खण्डों में तथा अध्याय २१-२२ में सम्पूर्ण अहीन[3] यागों की और अध्याय २३ से २५ तक समस्त सत्र[4] यागों की मीमांसा की गयी है।

२. **षड्विंश ब्राह्मण**—नाम से यह स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण पञ्चविंश (ताण्ड्य) ब्राह्मण का पूरक है। इसमें कुल छह अध्याय या पाँच प्रपाठक हैं। अध्याय या प्रपाठक खण्डों में विभक्त हैं। इसमें प्रधानतः इन पाँच यागों का वर्णन है—श्येनयाग, इषुयाग, संदंशयाग, वज्रयाग और वैश्वदेव त्रयोदश-रात्र सत्रयाग। अन्तिम याग में सन्ध्यानुष्ठान तथा अद्भुतशान्ति-प्रकरण है। अद्भुतशान्ति के प्रकरण को पृथक् 'अद्भुत ब्राह्मण' नाम भी दिया जाता है।

३. **सामविधान ब्राह्मण**—इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि व्रतों का अनुष्ठान, शान्तिकरण, आयुष्यवर्धन, शत्रुविनाश, अभिषेक आदि का वर्णन है। इसमें वर्णित अनेक बातें अवैदिक होने से प्रमाण-कोटि की नहीं हैं।

४. **देवताध्याय ब्राह्मण**—इस लघुकाय ब्राह्मण में तीन खण्ड हैं, जिनमें निधन-भेद से साम-देवताओं का नाम-निर्देश, छन्दों के देवता एवं वर्णों का निर्देश और छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ हैं।

५. **आर्षेय ब्राह्मण**—इसमें तीन अध्याय या प्रपाठक तथा ८२ खण्ड हैं। यह एक प्रकार से सामवेद की आर्षानुक्रमणी है, जिसमें पूर्वार्चिक के छन्द, देवता और ऋषियों का वर्णन है।

६. **मन्त्र ब्राह्मण**—इसे छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं। इसके प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह है। अन्तिम आठ प्रपाठकों में प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् है।

७. **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**—पाँच खण्डों का यह ब्राह्मण सूत्रों में विभक्त है। इसमें विविध गान-संहिताओं का स्वरूप तथा अध्ययन-फल, गान-संहिता की विधि, स्तोभ, स्वर, षट्तीर्थ[5] (विद्यादान के पात्र), विद्या के अनधिकारी, गुरुदक्षिणा एवं पयोव्रत आदि तपश्चरण का विषय वर्णित है। यास्कीय निरुक्त का विद्या के अधिकारी-अनधिकारी का प्रकरण इसी ब्राह्मण के आधार पर लिखा गया है।

८. **वंश ब्राह्मण**—तीन खण्डों का यह ब्राह्मण सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा का वर्णन करता है। अन्तिम भाग में षड् वेदांगों की भी चर्चा है।

---

१. सहस्रसंवत्सर याग के विषय में अनेक पक्ष हैं। सहस्र वर्ष किसी की आयु नहीं हो सकती, अतः उत्तरोत्तर पुत्र-पौत्रादि सन्तति द्वारा यह पूर्ण होता है, यह एक पक्ष है। संवत्सर से दिन ग्राह्य है यह सायण-भाष्य में अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष दिया गया है।

२. यह याग एक वर्ष तक चलता है तथा समस्त सत्रों का प्रकृतिभूत है।

३. अहीन-संज्ञक सोमयाग के अधिकारी तीनों वर्ण होते हैं, यह दक्षिणायुक्त, अतिरात्र संस्था वाला तथा एक, दो, तीन, चार आदि अनेक यजमानों से सम्पाद्य होता है।

४. उस सोमयाग-विशेष का नाम सत्र है जिसे केवल ब्राह्मण करता है, जिसमें दक्षिणा नहीं होती तथा अतिरात्र संस्था होती है।

५. ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियो, विद्यया वा विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्ममेति ॥

—संहि० ब्रा० खण्ड ३, सूत्र १

९. जैमिनीय ब्राह्मण—यह विशालकाय ब्राह्मण तलवकार ब्राह्मण भी कहलाता है। इसका अन्तिम भाग उपनिषद् है। महाब्राह्मण-भाग के अतिरिक्त इसमें द्वादशाह, महाव्रत, एकाह, अहीन एवं सत्र यागों का भी वर्णन है।

१०. जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण—इसे सामवेद की तलवकार शाखा की ऋष्यनुक्रमणी कहा जा सकता है। ऊपर उल्लिखित आर्षेय ब्राह्मण से यह सर्वथा भिन्न है। ऊपर जिस आर्षेय ब्राह्मण की चर्चा की गयी है उसमें कई मन्त्रों के दो या अधिक ऋषि भी वर्णित हैं, किन्तु इस ब्राह्मण में उन्हीं प्रसंगों में एक मन्त्र का एक ही ऋषि प्रोक्त है।

११. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण—इसे तलवकार आरण्यक भी कहा जाता है। प्रसिद्ध केनोपनिषद् इसी से ली गयी है। इसमें अनेक मन्त्रों की हृदयग्राही व्याख्या के अतिरिक्त कई साम भी वर्णित हुए हैं।

आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्गादि

सामवेद का तलवकार आरण्यक और केन तथा छान्दोग्य उपनिषद् उपलब्ध हैं, इसकी चर्चा अभी ब्राह्मणग्रन्थों के प्रसंग में की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त सामवेद से सम्बद्ध अन्य भी बहुत-सा साहित्य प्राप्त होता है। यथा—

१. श्रौतसूत्र— द्राह्यायणसूत्रम्, लाटचायनश्रौतसूत्रम्, अनुपदसूत्रम्, निदानसूत्रम्[1], मशककल्पसूत्रम्, उपग्रन्थसूत्रम्, क्षुद्रकल्पसूत्रम्, पञ्चविधसूत्रम्, कल्पानुपदसूत्रम्, अनुस्तोत्रसूत्रम्, श्रौतप्रयोगः।

२. गृह्यसूत्र— खादिरगृह्यसूत्रम्, गृह्यपरिशिष्टम्, गोभिलगृह्यसूत्रम्।

३. धर्मसूत्र— गौतमधर्मसूत्रम्, गौतमसूत्रपरिशिष्टम्, अपरसूत्रम्।

४. प्रातिशाख्य— पुष्पसूत्रम् (फुल्लसूत्रम्), फुल्लपोतम्, ऋक्तन्त्रम्, सामतन्त्रम्।

५. शिक्षाग्रन्थ— नारदशिक्षा, गौतमशिक्षा, लोमशशिक्षा।

६. छन्दोग्रन्थ— छन्दोविचितिसूत्रम् (निदानसूत्रान्तर्गतम्), उपनिदानसूत्रम्।

७. लक्षणग्रन्थ— गायत्रविधानम्, लघुऋक्तन्त्रम्, ऋक्तन्त्रविवृतिः, अक्षरतन्त्रम्, सामतन्त्रप्रकाशिका, सामतन्त्रपोतम्, आर्षेयदीपिका, सप्तलक्षणम्, अवग्रहसूत्रम्, हितवाक्यम्, स्तोभानुसंहारः, मात्रालक्षणम्, आर्चिकलक्षणम्, छलाक्षरम्, पदछलाक्षरम्, प्रकृतिसामछलाक्षरम्, छलप्रक्रिया, छक्षाक्षरकारिका, सामप्रकाशनम्, गीतिकल्पम्।

११. व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय नियम

अन्य वैदिक संहिताओं के समान सामवेद में भी वैदिक व्याकरण के कुछ नियम प्रयुक्त हुए हैं, जो लौकिक संस्कृत में नहीं पाये जाते। वेदभाष्य में हमने विशिष्ट पदों की व्याकरणप्रक्रिया प्रायः प्रदर्शित कर दी है, जिससे पाठकों को मन्त्रों में आये पदों के वैदिक व्याकरण का बोध हो सकेगा। तथापि यहाँ कतिपय महत्त्वपूर्ण नियमों का उल्लेख कर देना उपयोगी प्रतीत होता है। ऊपर केवल नियम दर्शाकर नीचे टिप्पणी में सूत्र दिये जा रहे हैं। सूत्रार्थ काशिका-वृत्ति के हैं। जहाँ वृत्ति सिद्धान्तकौमुदी

---

१. निदानसूत्र के प्रथम प्रपाठक के पहले सात खण्डों में छन्दों का विषय है, जो 'छन्दोविचिति' नाम से प्रसिद्ध है।

से ली है वहाँ उसका निर्देश कर दिया गया है। नियमों के साथ उदाहरण सामवेद से ही दे रहे हैं। उदाहरणों के सम्मुख कोष्ठक में जो संख्या लिखी है वह साममन्त्रों की क्रमसंख्या है।

भूतवाची लकार वर्तमानादि अर्थों में भी

लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ् और लिट् लकार भूतकाल के अर्थ में आते हैं। परन्तु वेद में इनका प्रयोग वर्तमान आदि अर्थों में भी होता है।[1] इसके अतिरिक्त लिट् लकार जो लोक में परोक्ष भूत अर्थ में प्रयुक्त होता है, वेद में प्रत्यक्ष भूत में भी आता है।[2] पाणिनिमुनि-प्रोक्त इस नियम को ध्यान में न रखने के कारण ही प्रायः भाष्यकारों ने लुङ्, लङ् और लिट् इन भूतवाची लकारों का मन्त्रों में प्रयोग देखकर वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं आदि का इतिहास कल्पित कर लिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित मत्रों में—

य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥—साम० १२७

अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे।
तत्राददिष्ट पौंस्यम् ॥—साम० १३१

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥—साम० १७९

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥—साम० २११

अपने सामभाष्य में हमने इन तथा इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों में तथाकथित इतिहास का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन तथा सत्यार्थ दे दिया है।

लेट् लकार का प्रयोग

लोक में लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ् ये दस लकार ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु वेद में एक अतिरिक्त लकार लेट् भी आता है। इसका प्रयोग प्रायः लिङ् के अर्थ में या उपसंवाद और आशंका अर्थों में होता है।[3] परिचयार्थ यहाँ यज धातु के परस्मैपद और आत्मनेपद में लेट् लकार के रूप दिये जा रहे हैं।

---

१. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३।२।१०५, छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया भवन्ति।

२. परोक्षे लिट्। अ० ३।२।११५, छन्दसि लिट्। अ० ३।२।१०५, 'भूतसामान्ये' इति सि० कौ०। यथा, अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह (साम० १५२)।

३. लिङर्थे लेट्। अ० ३।४।७, विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसि (सि० कौ०)। उपसंवादाशङ्कयोश्च। अ० ३।४।८, पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् स्यात्। 'अहमेव पशूनामीशै', नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' (सि० कौ०)।

परस्मैपद

प्रथम पुरुष

एकवचन	यजति, यजाति,[1] यजिषति,[2] यजिषाति, याजिषति,[3] याजिषाति, यजत्-द्,[4] यजात्-द्, यजिषत्-द्, यजिषात्-द्, याजिषत्-द्, याजिषात्-द् ।
द्विवचन	यजतः, यजातः, यजिषतः, यजिषातः, याजिषतः, याजिषातः ।
बहुवचन	यजन्ति, यजान्ति, यजिषन्ति, यजिषान्ति, याजिषन्ति, याजिषान्ति, यजन्, यजान्, यजिषन्, यजिषान्, याजिषन्, याजिषान् ।

मध्यम पुरुष

एकवचन	यजसि, यजासि, यजिषसि, यजिषासि, याजिषसि, याजिषासि, यजः, यजाः, यजिषः, यजिषाः, याजिषः, याजिषाः ।
द्विवचन	यजथः, यजाथः, यजिषथः, यजिषाथः, याजिषथः, याजिषाथः ।
बहुवचन	यजथ, यजाथ, यजिषथ, यजिषाथ, याजिषथ, याजिषाथ ।

उत्तम पुरुष

एकवचन	यजामि, यजिषामि, याजिषामि ।
द्विवचन	यजावः, यजाव,[5] यजिषावः, यजिषाव, याजिषावः, याजिषाव ।
बहुवचन	यजामः, यजाम, यजिषामः, यजिषाम, याजिषामः, याजिषाम ।

आत्मनेपद

प्रथम पुरुष

एकवचन	यजते, यजाते, यजिषते, यजिषाते, याजिषते, याजिषाते यजतै[6], यजातै, यजिषतै, यजिषातै, याजिषतै, याजिषातै ।
द्विवचन	यजैते[7], यजिषैते, याजिषैते ।
बहुवचन	यजन्ते, यजान्ते, यजिषन्ते, यजिषान्ते, याजिषन्ते, याजिषान्ते, यजन्तै, यजान्तै, यजिषन्तै, यजिषान्तै, याजिषन्तै, याजिषान्तै ।

---

१. लेटोऽडाटौ । अ० ३।४।९४, लेटोऽडाटावागमौ भवतः पर्यायेण । तारिषत्, मन्दिषत्, पताति दिद्युत्, उदधिं च्यावयाति ।

२. सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४, धातोः सिप् प्रत्ययो भवति बहुलं लेटि परतः । जोषिषत्, तारिषत्, मन्दिषत् ।

३. सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः ।—वा०, णित्वाद् वृद्धिः ।

४. इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । अ० ३।४।९७, लेट्सम्बन्धिन इकारस्य परस्मैपदविषयस्य लोपो भवति । वाऽनुवृत्तेः पक्षे श्रवणमपि भवति । वावसाने । अ० ८।४।५६, अवसाने झलां चरो वा स्युः ।

५. स उत्तमस्य । अ० ३।४।९८, लेट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य वा लोपो भवति । करवाव, करवाम । न च भवति—करवावः, करवामः ।

६. वैतोऽन्यत्रं । अ० ३।४।९६, लेट्सम्बन्धिन एकारस्य वा ऐकारादेशो भवति । अन्यत्रेत्यनन्तरो विधिरपेक्ष्यते । 'आत ऐ' इत्येतद्विषयं वर्जयित्वा, एत ऐ भवति । सप्ताहानि शयै। अहमेव पशूनामीशै । मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै । न च भवति, 'यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उप्तमम् । अन्यत्रेति किम् ? मन्त्रयैथे ।

७. आत ऐ । अ० ३।४।९५, लेट्सम्बन्धिन आकारस्य ऐकारादेशो भवति । प्रथमपुरुषमध्यमपुरुषात्मनेपदद्विवचनयोः । मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे । करवैते, करवैथे ।

मध्यम पुरुष

एकवचन यजसे, यजासे, यजिषसे, यजिषासे, याजिषसे, याजिषासे,
यजसै, यजासै, यजिषसै, यजिषासै, याजिषसै, याजिषासै ।

द्विवचन यजैथे, यजिषैथे, याजिषैथे ।

बहुवचन यजध्वे, यजाध्वे, यजिषध्वे, यजिषाध्वे, याजिषध्वे, याजिषाध्वे,
यजध्वै, यजाध्वै, यजिषध्वै, यजिषाध्वै, याजिषध्वै, याजिषाध्वै ।

उत्तम पुरुष

एकवचन यजे, यजै, यजिषे, यजिषै, याजिषे, याजिषै ।

द्विवचन यजावहे, यजावहै, यजिषावहे, यजिषावहै, याजिषावहे, याजिषावहै ।

बहुवचन यजामहे, यजामहै, यजिषामहे, यजिषामहै, याजिषामहे, याजिषामहै ।

सामवेद में प्रयुक्त लेट् लकार के कतिपय रूप निम्नलिखित हैं—स्तुषे (साम० ५, ८७, १७८, ४००), वर्धासि (७), यंसत् (२२), दाशत् (५८), मृडयासि (१७३), याचिषत् (३०८), असः (३१४), जयासि (३२४), जीवात् (३४१), तारिषत् (३५८), भ्यसात् (३७१), पिबाति (३८६), स्तवाम (३८७), अविषत् (४११), तिष्ठाति (४२४), स्पृशद् (४४१), तरत् (५००) ।

दीर्घ-विधान

वेद में क्वचित् लिट् लकार में अभ्यास को दीर्घ हो जाता है, जो लोक में अप्राप्त है । यथा—ववृते, ववृधानम्, ववृधे, दधार, के स्थान पर क्रमशः वावृते (३७२, ४२३) वावृधानम् (३७४), वावृधे (५२९), दाधार (१८४५) ।[1]

ऋचाओं में तु, नु, घ, मक्षु, लोट्-मध्यमपुरुष-बहुवचन के त तथा कु, त्र और उरुष्य को भी वैकल्पिक दीर्घ होता है ।[2] कु तथा उरुष्य के उदाहरण सामवेद में नहीं मिलते । अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—आ तू न इन्द्र (१६७, १८१), नू नो रयिम् (९२९), घा (१३३, २०६, २३०, ४०४), क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे (६८६) पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे (८६६), आपो न मक्षू (१४७३), अत्रा (१८०८), सपर्यता (६३), भरता (९८), सुनोता, पचता (२८५), प्रार्चता (३६२), अर्चता (३८०), सिञ्चता (५१२) । सामवेद में अनेक स्थलों में इन्हें दीर्घ नहीं भी होता । यथा—विदा गाधं तुचे तु नः (४१), प्र तु द्रव (५२३), उपो नु स सपर्यन् (१९६), इन्द्रा नु पूषणा वयम् (२०२), वयं घ त्वा (२६१), अर्चत (३६२), तत्र पूषा भुवत् सचा (१४८) । मक्षु सामवेद में तीन ही बार प्रयुक्त है, जहाँ वह दीर्घान्त है ।

इगन्त को सुञ् (सु) निपात परे होने पर दीर्घ हो जाता है ।[3] यथा, इममू षु (२८), उर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (५७), स्तुष ऊ षु वो (३९०), अभी षु णः सखीनाम् (६८४) ।

---

१. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । अ० ६।१।७ तूतुजानः । मामहानः । अनड्वान् दाधार । स्वधां मीमाय । स तूताव । दीर्घश्चैषां छन्दसि प्रत्ययविशेषे एव दृश्यते, ततोऽन्यत्र न भवति । तुतोज शबलान् ।

२. ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् । अ० ६।३।१३३ ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इत्येषां दीर्घो भवति ।

३. इकः सुञि । अ० ६।३।१३४, सुञ् निपातो गृह्यते । इगन्तस्य सुञि परतो मन्त्रविषये दीर्घो भवति । अभी षु णः सखीनाम् । उद्ध्वं ऊ षु ण ऊतये । सुञ इति षत्वम् । नश्च धातुस्थोरुषुभ्य इति णत्वम् ।

दो अच् वाले अदन्त तिङन्तों के अन्तिम अ को दीर्घ होता है।[1] यथा, रक्षा (२४), युङ्क्ष्वा (२५), वहा (४०), रास्वा (४३), तिष्ठा (५७) अर्चा (८८), यजा (९६), पिबा (१२४, १९१, २२९, २३९), स्तोता (१४४, २४२), द्रवा (१५९), तृम्पा (१६१), मत्स्वा (२३९), विदा (२४०), शिक्षा (२५९), भवा (२६०), भरा (२७२), भजा (३१८), योजा (४१५, १६), अर्षा (५०३), हता (५५३)। द्वयक्षर पद से यदि संयुक्ताक्षर परे हो अथवा वह पादान्त में हो तो दीर्घ नहीं होता। यथा—तेषां मत्स्व प्रभूवसो (२१२), आ जाता सुक्रतो पृण (५२), शश्वत्तमं हवमानाय साध (७३), अग्न ओजिष्ठ मा भर (८१), देवान् देवयते यज (१००)।

निपातों को भी क्वचित् ऋचाओं में दीर्घ हो जाता है[2], जैसे एव, अथ, अध, अच्छ, अद्य, यदि आदि निपातों को। उदाहरणार्थ, एवा (२३२, ६५०), अथा ते अन्तमानाम् (१०८९), अधा हीन्द्र गिर्वणः (४०६), अधा हिन्वान इन्द्रियम् (८३९), अच्छा न इन्द्रं मतयः (३७५), अच्छा कोशं मधुश्चुतम् (६५८), अच्छा समुद्रमिन्दवो (६५९), अद्या नो देव सवितः (१४१), यदी वहन्त्याशवः (३५६), तक्षद् यदी मनसो वेनतो वाग् (५३७)। क्वचिद् दीर्घ नहीं भी होता, यथा—अध ज्मो अध वा दिवो (५२), अध धारया मध्वा (१०२०)।

ऋक्तन्त्र में द्वयच् तिङन्त तथा निपात दोनों को द्वयक्षर पद में सम्मिलित करके यह नियम बनाया है कि द्वयक्षर पद के अन्त का लघु अक्षर दीर्घ होता है।[3]

उक्त नियमों के अतिरिक्त कतिपय अन्य स्थलों में भी वैदिक प्रयोगों में दीर्घ पाया जाता है। उनके लिए पाणिनि ने एक सामान्य सूत्र बना दिया है।[4] सामवेद में अन्यत्र दीर्घ के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं—सं महेमा (६६), रिषामा (६६), ईडिष्वा हि महे वृषन् (९३), तं गूर्धया स्वर्णरम् (१०९), ररिमा (१२४), सुषमा (१९१), यावया दिद्युमेभ्यः (२६६), च्यावया सदसस्परि (२९८), अध्वर्यो द्रावया त्वम् (३०९), त्यं सुमेषं महया स्वर्विदम् (३७७), आ जभारा (५९९), पूरुषः (६२०, ६२१), श्रुधी (२९, २८४, ३४६), जही (१३४), कृणुही (४५५), कृधी (४७९)।

दीर्घ-सम्बन्धी उपर्युक्त नियम प्रायः पाणिनि-व्याकरण के आधार पर लिखे गये हैं। प्रातिशाख्यों में इस विषय में अधिक विचार मिलता है। यथा, ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य के अनुसार 'ईडिष्वा हि' उस नियम के अन्तर्गत आता है जिसके अनुसार ह्रस्व से परे पाद का तृतीय अक्षर दीर्घ हो जाता है, यदि उसके पश्चात् लघ्वक्षर पद हो।[5] यकारान्त 'यावया' एवं 'च्यावया' में दीर्घ इस नियम के अनुसार है कि पाद के तृतीय अक्षर यकार को दीर्घ होता है।[6] 'गूर्धया', 'द्रावया' एवं 'महया' में यह नियम लगता

---

१. द्वयचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५, द्वयचस्तिङन्तस्यात ऋग्विषये दीर्घो भवति।

२. निपातस्य च। अ० ६।३।१३६, निपातस्य च ऋग्विषये दीर्घादेशो भवति।

३. युग्मं घु। ऋक्तन्त्र, सूत्र २३६, युग्मं लघु। द्वयक्षरपदस्य लघ्वक्षरं दीर्घंभवति। एव हि असि=एवा ह्यसि। एव हि एव=एवा ह्येव। अर्च देवाय=अर्चा देवाय। योज नु इन्द्र=योजा न्विन्द्र। पिब सोमम्=पिबा सोमम्। भव नः=भवा नः। अच्छ कोशम्=अच्छा कोशम्। युग्ममिति किम्? वचः देवाय शस्यते। लघ्विति किम्? पञ्च क्षितीनाम्। अत्र क्षि इति संयोगपरत्वात् च शब्दस्य गुरुत्वम्।

४. अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७, अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते, स शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः। यस्य दीर्घत्वं विहितं न, दृश्यते च प्रयोगे, तदनेन कर्त्तव्यम्।

५. द्रष्टव्य, ऋक्तन्त्र, सूत्र २४३।

६. द्रष्टव्य, ऋक्तन्त्र, सूत्र २४४।

है कि जब पद में तृतीय अक्षर यकार हो तथा उसके परे ऊष्मा अक्षर हो तो यकार को दीर्घ होता है ।[1]

दीर्घविधान के विस्तृत विवेचनार्थ ऋक्प्रातिशाख्य (पटल ७,८,९) एवं सामवेदीय प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र (सूत्र २१२-२६५) द्रष्टव्य हैं । ऋक्प्रातिशाख्य में कतिपय परिगणित अपवादों-सहित दीर्घभाव का एक यह नियम प्रोक्त है कि एकादशाक्षर तथा द्वादशाक्षर पाद का अष्टम अक्षर दीर्घ हो जाता है, यदि संहितापाठ में लघु अक्षर परे हो ।[2] 'तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से (ऋ० १।३२।४)' में एकादशाक्षर पाद का अष्टम अक्षर ल दीर्घ हो गया है । 'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (ऋ० १।४९।१)', में द्वादशाक्षर पाद का अष्टम अक्षर म दीर्घ हुआ है । एकादशाक्षर और द्वादशाक्षर पाद के दशम अक्षर को भी दीर्घ होता है लघु परे होने पर ।[3] यथा, 'अहा विश्वा सुमना दीदिही नः (ऋ० ३।५४।२२)', 'अव रुद्रा अशसो हन्तना वधः (ऋ० २।३४।९)' । इसी प्रकार लघु अक्षर परे होने पर अष्टाक्षर पाद में षष्ठ अक्षर को दीर्घ होता है ।[4] यथा, 'ईशानो यवया वधम् (ऋ० १।५।१०)' । सामवेद में इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं—वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम् (८६१), अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (१०६४), वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः (६२५), प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो (३८०), एहीमस्य द्रवा पिब (१५९) ।

ए या ओ से अ परे होने पर प्रकृतिभाव

लोक में पदान्त ए या ओ से ह्रस्व अ परे होने पर पूर्वरूप एकादेश होता है, अर्थात् ए या ओ ही अवशिष्ट रहते हैं, अ लुप्त हो जाता है ।[5] परन्तु वेद में अनेक स्थलों पर यह पूर्वरूप-सन्धि नहीं होती । यथा, सामवेद में—नमस्ते अग्न ओजसे (११), सो अग्ने (१०८), भद्रो अध्वरः (१११), विप्रो अजायत (१४३), दधीचो अस्थभिः (१७९), राधो आद्रिवः (१९४), ज्यायो अस्ति (२०३), गौरो अपा (२५२), नो अभयं (२७४), वो अजरं (२८३), बृहन्तो अद्रयो (२९६), इन्द्रो अङ्ग (३८९), वरुणो अति (४२६), अध्वर्यो अद्रिभिः (४९९), नर्यो अप्सु (५१२), स्वानो अद्रिभिः (५१३), वराहो अभ्येति (५२४), ओजो अजनयत् (५४२), पुनानो अर्षति (५४६), विराजो अधि पूरुषः (६२१), जातो अत्यरिच्यत (६२१), वो अस्तु (६२६) ।

इसका नियम है कि पाद के मध्य में स्थित ए और ओ को ह्रस्व अ परे होने पर प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् पूर्वरूप-सन्धि नहीं होती, यदि उस अ से परे व न हो । यदि ए या ओ पाद के अन्त में होगा तथा अ दूसरे पाद के आदि में तो यह प्रकृतिभाव नहीं होगा, प्रत्युत पूर्वरूप सन्धि हो जायेगी । यथा, वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन् (१३२), आपिर्नो बोधि सधमाद्यें वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः (२३९), मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि (२४६), पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत (२५०), प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः (४७८), अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् (५०३) । इसी प्रकार अ के पश्चात् व होने पर भी प्रकृतिभाव न होकर पूर्वरूप-सन्धि हो जाती है । यथा, नोऽविता (२६३), आ वामह्वेऽवसे (३०५), प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् (१२२०),

१. द्रष्टव्य, ऋक्तन्त्र, सूत्र २४५ ।
२. एकादशिद्वादशिनोर्लघावष्टममक्षरम्, उदये संहिताकाले । नः कारे च गुरावपि ।—ऋ० प्रा० ८।३६, ३७
३. दशमं चैतयोरेवम् ।—ऋ० प्रा० ८।३८
४. षष्ठं चाष्टाक्षरेऽक्षरम् ।—ऋ० प्रा० ८।३९
५. एङः पदान्तादति ।—अ० ६।१।१०९, एङ् यः पदान्तस्तस्मादति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । अग्नेऽत्र । वायोऽत्र ।

अपां यद् गर्भोऽवृणीत देवान् (१२५५), नूनं पुनानोऽविभिः (१३१४), इन्द्रं गायन्तोऽवसे (१५८२), दिवाभिपित्वेऽवसा गमिष्ठाः (१७५३)। पाणिनि ने अ से य परे होने पर भी सन्धि मानी है।[1] किन्तु सामवेद में अ से य परे होने पर सन्धि का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ। य परे होने पर प्रकृतिभाव के उदाहरण तो मिलते हैं। यथा, अयं शुक्रो अयामि ते (६००), अस्ति सोमो[2] अयं सुतः (१७४), वायो शुक्रो अयामि ते (१६२८)। सामवेद-प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र में भी केवल व का नियम है, य का नहीं।[3] य का पाणिनि-प्रोक्त नियम अन्य संहिताओं के लिए समझना चाहिए।

ऋक्तन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि ए या ओ से अ परे होने पर पादमध्य में प्रकृतिभाव तभी होता है यदि सन्धि करने पर पादाक्षर-संख्या न्यून हो जाती हो।[4] यथा—'नमस्ते अग्न ओजसे' (११) में यदि 'नमस्तेऽग्न ओजसे' इस प्रकार पूर्वरूप-सन्धि कर दें तो अक्षर ७ होने से न्यून हो जायेगी, क्योंकि गायत्री छन्द का पाद अष्टाक्षर होता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए। जहाँ सन्धि करने पर पादाक्षर-संख्या न्यून नहीं होती वहाँ प्रकृतिभाव नहीं होगा। यथा, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' में सन्धि करने पर ८ अक्षर ही रहते हैं, अतः सन्धि हो गयी है। प्रकृतिभाव करने पर तो ९ अक्षर हो जाते, जबकि अपेक्षित ८ ही हैं।

प्रकृतिभाव के अन्य स्थल

पूर्वरूप एकादेश सन्धि से अन्यत्र भी वैदिक संहिताओं में प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् अभीष्ट सन्धि नहीं होती। सामवेद में प्रकृतिभाव की कतिपय स्थितियाँ निम्न हैं—

उ पद की किसी के साथ सन्धि नहीं होती। यथा, तस्मा उ अद्य (२७२), प्रत्यु अदर्श्यायती (३०३), इत्थमु आद्वन्यथा (३०५), तमु अभि प्र गायत (३८२)[5]। किन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं—आद् उ अन्यथा (आद्वन्यथा ३०५) में उ पद को सन्धि हो गयी है।[6]

उ पद जब पूर्ववर्ती अक्षर के साथ सन्धि होकर ओ रूप में स्थित हो जाता है, तब भी उसकी किसी के साथ सन्धि नहीं होती। यथा, दोषो आगात् (१७७), एषो उषा (१७८), प्रो अयासीत् (५५७)।[7]

पाद के अन्त में आ पद हो तो उसकी उत्तरवर्ती पादादि अच् के साथ सन्धि नहीं होती। यथा, 'क इमं नाहुषीष्वा, इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् (१९०)', 'कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ, अव श्मशा रुधद् वाः

---

१. प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे। अ० ६।१।११५, ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरेऽति। उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते अश्वसूनृते। अन्तः पादं किम्? एतास एतेऽर्चन्ति। अव्यपरे किम्? तेऽवदन्। तेऽयजन्। —सि० कौ०।

२. अयं परे होने पर पाणिनि ने भी प्रकृतिभाव माना है—अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च।—अ० ६।१।११६

३. अवयावे न्यूने। ऋक्तन्त्र, सूत्र ७६, एकारः ओकारश्च न्यूने पादे नवपरे प्रत्यये न सन्धीयते।

४. द्रष्टव्य वही। 'नमस्ते अग्न ओजसे' अत्र अकारस्य प्रश्लेषत्वे सति न्यूनपादत्वं स्यात्। 'न्यूने' इति किम्? पादोऽस्य सर्वा भूतानि।

५. दमु। ऋक्तन्त्र, सूत्र ६९, उकारं पदं न सन्निकृष्यते। तम् उ अभि (तमु अभि) प्रगायत। उ पदमिति किम्? त्वां वृत्रेषु इन्द्र (त्वां वृत्रेष्विन्द्र)।

६. द्रष्टव्य ऋक्तन्त्र, सूत्र ७२।

७. ओ भूतञ्च। ऋक्तन्त्र, सूत्र ७०, ओ भूतञ्च उ पदं न सन्निकृष्यते। दोषा उ आ अगात्=दोषो आगात्। एषा उ उषाः=एषो उषाः। प्र उ अयासीत्=प्रो अयासीत्।

(२२८)', 'यदिन्द्र नाहुषीष्वा, ओजो नृम्णं च कृष्टिषु (२६२)' ।[१]

पाद के आदि में ऋ हो तो पूर्वपाद के अन्त्य अक्षर के साथ उसकी सन्धि नहीं होती । यथा, 'प्र मंहिष्ठाय गायत, ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे (१०७)' ।[२]

पाद के आदि में ओजस् शब्द हो तो उसकी पूर्वपदान्तस्थ वर्ण के साथ सन्धि नहीं होती । यथा, 'त्वन्न इन्द्राभर, ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे (४०५)' ।[३]

'कि-इन्' और 'वी-उत' की भी सन्धि नहीं होती । यथा, 'न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् (२०३)' । 'अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः (५९०)' ।[४]

न् को रु और पूर्व को अनुनासिक

समानपाद में पादान्त में दीर्घ से परे न् हो तथा उस न् से परे अट् प्रत्याहार का कोई अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र) हो तो न् को रु हो जाता है तथा पूर्व को अनुनासिक । न् से पूर्व यदि दीर्घ आ होता है तो उस रु का य् होकर कुछ शेष नहीं रहता, अन्यत्र रेफ शेष रहता है ।[५] यथा, महाँ असि (२३, ३९, २७६, ३४६), देवाँ उषर्बुधः (४०), रुद्राँ आदित्याँ उत (९६), महाँ इन्द्रः (१६६), महाँ अभिष्टिः (१८०), महाँ इव (२२७), ताँ इहि (२४६), स्वर्वाँ असुरेभ्यः (२५४), सुतावाँ आ विवासति (२६४), वस्याँ इन्द्रासि (२९२), ताँ आ (२९३), बद्बधानाँ अरम्णाः (३१५), महाँ हि षः (३८१), देवाँ अच्छ (४६१), द्युमाँ असि (५०४), देवाँ अयास्यः (५०९), मधुमाँ इन्द्र (५३१), मधुमाँ ऋतावा (५३२), मधुमाँ अचिक्रदत् (५५६), वसूँरिह (९६), ऋतूँरनु (२२९, ३६७), परिधीँरति (५१६) । 'अपो वृणानः पवते कवीयान्, व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म (५३९)'—यहाँ समानपाद न होने के कारण 'कवीयाँ व्रजं' नहीं हुआ ।

विसर्ग को सकार

लोक में सामान्यतः क और प परे होने पर विसर्ग को विसर्ग ही रहते हैं । परन्तु वेद में किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क या प परे होने पर विसर्ग को स हो जाता है । यदि मूर्धन्य का निमित्त विद्यमान हो तो उस स को मूर्धन्य ष होता है । वेद में विसर्ग को सकार होने की परिस्थितियाँ अग्रलिखित हैं—

---

१. आऽणि । ऋक्तन्त्र, सूत्र ७१, पादादेः अण् इति संज्ञा । आकारं पदम् अणि (पादादौ प्रत्यये) न सन्निकृष्यते । कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव । अत्र 'हर्यते आ अव' इति पदपाठः । एवम्, क इमं नाहुषीषु, य इन्द्र नाहुषीषु इत्यादौ । पदमिति किम् ? पुनानः सोम धारया अपः (पुनानः सोम धारयाऽपो) अत्र आकारः सन्निकृष्यते । अणि इति किम् ? दिवः पृष्ठानि आ अरुहन् (पृष्ठान्यारुहन्) ।

२. ऋति । ऋक्तन्त्र, सूत्र ८५ अणि (पादादौ) इत्यनुवर्त्तते । पादादौ ऋति प्रत्यये परे न सन्निकृष्यते । 'प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने' अत्र त इत्यस्य ऋत्परत्वात् न सन्निकर्षः । अणि (पादादौ) इति किम् ? अभि ऋतस्य (अभ्यृतस्य) ।

३. ओजि । ऋक्तन्त्र, सूत्र ८६, अणि (पादादौ) इत्यनुवर्त्तते । पादादौ ओजि प्रत्यये न सन्निकृष्यते । त्वन्न इन्द्रा भर ओजो नृम्णम् । अणि (पादादौ) इति किम् ? अमितौजा अजायत । अत्र 'अमित ओजः' इति पदं, तत्र सन्धिः ।

४. कि-इन् वी उत । ऋक्तन्त्र, सूत्र ८८, एतावपि न सन्निकृष्येते । न कि इन्द्र त्वदुत्तरम् । अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।

५. दीर्घादटि समानपादे । अ० ८।३।९, दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य रुर्भवति अटि परतः, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः । अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा । अ० ८।३।२, इत उत्तरं यस्य स्थाने रुर्विधीयते ततः पूर्वस्य तु वर्णस्य वानुनासिको भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । आतोऽटि नित्यम् । अ० ८।३।३, अटि परतो रोः पूर्वस्य आकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिकादेशो भवति ।।—इस विषय में ऋक्तन्त्र, सूत्र २१२ भी द्रष्टव्य है ।

कः, करत्, करति, कृधि और कृत परे होने पर विसर्ग को सकार होता है, 'अदितिः' की विसर्ग को छोड़कर[1]। यथा, मयस्करत् (१०२), वरिवस्कृधि (८४२), वस्यसस्कृधि (१०४८-५६), तवसस्कृतानि (७८)। सामवेद में कः और करति के उदाहरण नहीं मिलते। ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में इस नियम को इस रूप में कहा गया है कि पाद के मध्य में वर्त्तमान विसर्जनीय को सकार हो जाता है यदि कृ धातु परे हो[2]। 'कदा नः सूनृतावतः, कर इदर्थयास इद् (४१६)' में विसर्ग पादान्त में तथा कृ धातु अगले पाद के आदि में होने के कारण सकार नहीं होता।

पञ्चमी के विसर्ग को सकार हो जाता है 'परि' परे होने पर, यदि वह 'परि' अधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो[3]। यथा, सदसस्परि (२९८), दिवः सदोभ्यस्परि (३१२), दिवो अन्तेभ्यस्परि (३६७)। ऋक्तन्त्र में यह नियम इस रूप में वर्णित हुआ है कि अवर्ण से परे विद्यमान विसर्जनीय को सकार हो जाता है यदि पादोपान्तीय प परे हो, जिसके बाद र आया हो[4]।

पा धातु के परे होने पर पञ्चमी के विसर्ग को सकार आदेश होता है[5]। यथा, सूर्यो नो दिवस्पातु, ऋ० १०।१५८।१। सामवेद में इसका उदाहरण प्राप्त नहीं होता। पा धातु परे होने पर प्रथमा-बहुवचन के विसर्ग को सकार होने का उदाहरण तो सामवेद में है, यथा—मित्रास्पान्ति (२०६)। साम-प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र में पा धातु परे होने पर पञ्चमी-विसर्ग को सकार होने का कोई नियम वर्णित नहीं है। उसके स्थान पर यह नियम है कि पाद का तृतीय अक्षर दीर्घ पकार परे हो तो पूर्व विसर्ग को स होता है[6]। यथा, दिवस्पायुर्दुरोणयुः (३९), मित्रास्पान्त्यद्रुहः (२०६)। 'त्वमग्ने महोभिः, पाहि विश्वस्या अरातेः (६)' में पा परे होने पर भिः के विसर्ग को सकार नहीं होता, यतः पा पाद का तृतीय अक्षर नहीं है।

पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष परे होने पर षष्ठी के विसर्ग को सकार आदेश होता है।[7] यथा, ब्रह्मणस्पतिः (५६, २९९), सदसस्पतिम् (१७१), शवसस्पतिः (२४८), वाचस्पतिः (८७३), सहसस्पुत्रम् (९०८), दिवस्पदे (८७६), दिवस्पदम् (११२७)। सामवेद में पृष्ठ, पार, पयस् और पोष के उदाहरण नहीं मिलते। पृष्ठ परे होने पर सकार न होने के उदाहरण उपलब्ध हैं—दिवः पृष्ठानि (९२), दिवः पृष्ठम् (८७६)।

इसके अतिरिक्त रायस्पूर्द्धि (३४६, ८८३), वरिवस्कृण्वन् (५४०), अधस्पदम् (१०९२) आदि में भी विसर्ग को सकार पाया जाता है। ऋक्तन्त्र के अनुसार 'रायस्पूर्द्धि' में यह नियम प्रवृत्त होता है

---

१. कः करत् करति कृधि कृतेष्वनदितेः।—अ० ८।३।५०
२. अडि। ऋक्तन्त्र, सूत्र, १४३, पादमध्ये वर्त्तमानः विसर्जनीयः सकारमापद्यते कृञ् धातौ परे। अथा नो वस्यसस्कृधि (१०४८)। कृञ् परे इति किम्? ज्योतिः पश्यन्ति (२०)। अडि (पादमध्ये) इति किम्? सूनृतावतः, कर इत् (४१६)।
३. 'पञ्चम्याः परावध्यर्थे।—अ० ८।३।५१
४. पि। ऋक्तन्त्र, सूत्र १४६, रेफे पर इत्यनुवर्त्तते। रेफपरे पादोपान्तीये पकारे प्रत्यये अस्थात् (अवर्णात्) परः विसर्जनीयः सकारमापद्यते। उद् वयं तमसस्परि। पादोपान्तीय इति किम्? भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो। अस्थात् पर इति किम्? 'अहमिद्धि पितुः परि'।
५. पातौ च बहुलम्। अ० ८।३।५२, पातौ च धातौ परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये।
६. घेऽणः। ऋक्तन्त्र, सूत्र १४८, पादतृतीयस्य अण इति संज्ञा। पादतृतीये दीर्घाक्षरे प्रत्यये विसर्जनीयस्य सकारापत्तिः। दिवस्पायुर्दुरोणयुः। मित्रास्पान्ति। घे (दीर्घाक्षरे) पादतृतीये इति किम्? गिर्वणः पाहि।
७. षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु।—अ० ८।३।५३

कि 'यः' के विसर्ग को सकार हो जाता है, यदि पाठ का तृतीय अक्षर रूप दीर्घ पकार या ककार परे हो।[१] 'यः पात्रं हारियोजनम् (४२४)' में पा परे होने पर 'यः' के विसर्ग को सकार नहीं होता, यतः यहाँ 'पा' पाद का तृतीय अक्षर न होकर द्वितीय अक्षर है। 'वरिवस्कृण्वन्' रूप ऋक्तन्त्र के उस नियम का अनुसरण करता है जिसके अनुसार 'वः' के विसर्ग को सकार होता है, यदि कृ या पृ परे हो[२]। 'अधस्पदम्' रूप पाणिनि[३] के विधान के अनुसार है तथा ऋक्तन्त्र[४] में इसे कौतस्कुतादि गण में पठित मानकर सकार किया गया है।

कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिनमें ऋग्वेद में विसर्ग को सकार हो जाता है, किन्तु सामवेद में विसर्ग ही रहते हैं (यथा—अग्ने त्रातर्ऋतस्कविः (ऋ० ८।६०।५), अग्ने त्रातर्ऋतः कविः (साम० ४२)। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः[५] (ऋ० ८।९८।४), गिरिर्न विश्वतः पृथुः (साम ३९३)।

सकार को मूर्धन्यादेश

कतिपय स्थलों में सकार को षत्व होता है। तप धातु परे होने पर अन्यत्र निस् के स् को षत्व होता है[६], किन्तु सामवेद में इसका कोई उदाहरण प्राप्त नहीं है। युष्मद् के आदेश त्वं, त्वा, ते, तव, तत् और ततक्षुः परे होने पर पाद के मध्य में इण् से परे स् को षत्व होता है[७]। यथा, नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते (२७०), नकिष्टदामिनाति ते (२९६), योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि (३१४), विभोष्ट इन्द्र राधसो (३६६), गोभिष्टे वर्णमभिवासयामसि (५७५), आभिष्ट्वमभिष्टिभिः (६४२), नकिष्टं कर्मणा नशत् (११५५), तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः (१२३४), धेनुष्ट इन्द्र सूनृता (१८३६)। पाद के मध्य में न होने पर षत्व नहीं होता। यथा—'त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे (६१)'। यहाँ 'गृहपतिष्ट्वं' नहीं हुआ, क्योंकि 'गृहपतिस्' पर पाद समाप्त है तथा 'त्वं' से नये पाद का आरम्भ है। 'तव' का उदाहरण सामवेद में नहीं मिलता।[८]

यदि पूर्वपद में षत्व का कोई निमित्त (इण् या कवर्ग) वर्त्तमान हो तो उसके परे आने वाले स को ष हो जाता है[९]। यथा—सुष्टुतयः (६८), नृषद्मा (७७), नृषाहम् (१४४), मन्युषाविणम् (२२३), ऋचीषमः (२७०), नृषूतः (२७९), पूर्विणेष्ठाम् (३५३), गह्वरेष्ठाम् (३५३), त्रिष्टुभम् (३६०), पुरुष्टुत (३७३, ३८२), गिरिष्ठाः (४७५), बर्हिषदः (५६३), अभिमातिषाहः (६०५), रथेष्ठाम् (१४२६)। क्वचित् नहीं भी होता। यथा—गोसखा (१२२), पुरुस्पृहम् (२९८), दिविस्पृशः (१४०५)।

---

१. यः। ऋक्तन्त्र, सूत्र १४६, यः शब्दस्य विसर्जनीयः पादतृतीये दीर्घे अक्षरे प्रत्यये सकारमापद्यते। रायस्पूर्द्धि महाँ असि। पादतृतीय इति किम्? यः पात्रं हारियोजनम्। यः शब्दः इति किम्? विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः। सोमः पूषा।

२. द्रष्टव्य, ऋक्तन्त्र सूत्र १४४

३. अधःशिरसी पदे।—अ० ८।३।४७

४. कौतस्कुतादीनाम्।—ऋक्तन्त्र, सूत्र १२८

५. सिद्धान्तकौमुदी में सकार के ये दोनों उदाहरण 'छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः'। अ० ८।३।४९ सूत्र पर प्रदत्त हैं।

६. निसस्तपतावनासेवने। अ० ८।३।१०२, निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः।—य० १।७

७. युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्।—अ० ८।३।१०३

८. ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का उदाहरण—अप्स्वग्ने सधिष्टव।—ऋ० ८।४३।९, य० १२।३६

९. पूर्वपदात्। ८।३।१०६, पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये एकेषामाचार्याणां मतेन।

पूर्वपदस्थ निमित्त से परे सुञ् निपात के स् को ष् होता है।[1] यथा—एह्यू षु ब्रवाणि ते (७), उपो षु जातमार्यस्य वर्धनम् (४७), मो षु त्वा वाघतश्चन (२८४), उपो षु शृणुही गिरः (४१६), उपो षु जातमप्तुरम् (४८७)।

पूर्वपदस्थ निमित्त से परे सन् (षणु दाने) धातु के स् को ष् हो जाता है।[2] यथा, गोषाता (३४), नृषाता (३१८), गोषातिः (८१६), गोषा इन्द्रो नृषा असि (१०४५), उत नो गोषणिं[3] धियमश्वसां वाजसामुत (१५६३)। यहाँ 'अश्वसां वाजसां' में 'सा' षणु धातु का होते हुए भी पूर्वपदस्थ निमित्त न होने से षत्व नहीं होता।

इसके अतिरिक्त सामवेद में षत्व के अनु ष्यात् (८२), पितुष्परि (१५२), अभीषत् (२००) ज्योतिष्कृणोति (३०३), अभी ष्याम (३३६), विष्कभिते (३७८), महाँ हि षः (३८१) निषीद (५२३), धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् (५५१), सुषुतः (५६१), ज्योतिष्कृत् (६३५), आविष्कृणोति (१२५६), पितुष्पिता (१३६७), पृतनाषाट् (१४३३, १४७३, १८५५), शोचिष्केशम् (१८१४) आदि उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।[4]

विसर्गलोप अथवा विसर्ग के सकार का लोप

सकार परे होने पर पूर्वपद के अन्त में विद्यमान विसर्ग का लोप होता है। यथा—'विशः स्तवेत' अथवा 'विशस् स्तवेत'=विश स्तवेत (८५), 'गिरः स्तोमासः' अथवा 'गिरस् स्तोमासः'=गिर स्तोमासः (२५१), 'वीरः स्तवते' अथवा 'वीरस् स्तवते'=वीर स्तवते (३८५), 'वः स्तुषे' अथवा 'वस् स्तुषे'=व स्तुषे (४००), 'ऋषिः स्तोमेभिः' अथवा 'ऋषिस् स्तोमेभिः'=ऋषि स्तोमेभिः (४१८)। इसे ऋक्प्रातिशाख्य में विसर्ग का लोप तथा ऋक्तन्त्र में सकार का लोप कहा गया है।[5] ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार यह लोप उसी अवस्था में होता है जब (ऊष्मा) सकार से परे अघोष वर्ण हो। घोष वर्ण परे होने पर लोप नहीं होता, यथा, 'त्रिः स्म माह्नः (ऋ० १०।९५।५)'—यहाँ सकार से परे घोष वर्ण म है, अतः 'त्रिः' के विसर्ग का लोप नहीं हुआ।

यहाँ केवल व्याकरण के कुछ सामान्य नियमों का ही परिचय दिया गया है। विस्तृत वैदिक व्याकरण के अध्ययनार्थ विभिन्न प्रातिशाख्य, पाणिनिकृत अष्टाध्यायी, काशिकावृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी (वैदिकी प्रक्रिया) आदि ग्रन्थ देखने चाहिएँ।

१२. वेद-व्याख्या के प्रयत्न

प्राचीन युग में वेद का अध्येता वैदिक भाषा से सुपरिचित होने के कारण वेदार्थ को भली-भाँति हृदयंगम कर लेता था। किन्तु शनैः-शनैः वेदार्थ के ह्रास का युग आ गया, यहाँ तक कि कौत्स-सदृश वेदों

१. सुञः। अ० ८।३।१०७, सुञिति निपात इह गृह्यते, तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये।
२. सनोतेरनः। ८।३।१०८, सनोतेरनकारान्तस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति।
३. टि० २ में प्रदत्त सूत्र के अनुसार 'गोषणिम्' में षत्व नहीं होना चाहिए, यतः यहाँ सन् धातु नकारान्त विद्यमान है। किन्तु ऋग्वेद (६।५३।१०, ६।२०।१०) तथा सामवेद में 'गोषणिम्' और वा० मा० यजुर्वेद ८।१२ में 'गोसनिः' एवं अथर्ववेद (३।२०।१०) में 'गोसनिम्' पाठ प्राप्त होता है।
४. षत्व के नियमों के लिए द्रष्टव्य : ऋक्प्रातिशाख्य, पटल ५, ऋक्तन्त्र, सूत्र २७६-८६, पाणिनि ८।३।५५-११९
५. द्रष्टव्य : ऋक्प्रातिशाख्य ४।३६, ऋक्तन्त्र, सूत्र १९८

के श्रद्धालुजन भी यह कहने लगे कि वेदों का अर्थ कुछ नहीं होता, वेदमन्त्र तो पाठमात्र से अदृष्ट उत्पन्न कर यज्ञादि में मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले को स्वर्ग या मोक्ष दिलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि वेदार्थ को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए वेदार्थ-ज्ञापक ग्रन्थों की रचना की जाए। तब वेदज्ञों ने शिक्षा, वैदिक व्याकरण, निरुक्त एवं छन्दः-शास्त्र नामक वेदांगों की रचना की[1]। वैदिक कर्मकाण्ड को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों का तथा श्रौत एवं गृह्य सूत्रों का निर्माण किया गया। वेदों में निहित अध्यात्म-तत्त्व को उजागर करने के लिए आरण्यक एवं उपनिषदें रची गयीं।

ब्राह्मणग्रन्थ केवल कर्मकाण्ड के विवेचन द्वारा ही नहीं, अपितु वेद में अध्यात्म, अधिराष्ट्र एवं अधिदैवत तत्त्वों के अनुसन्धान-सम्बन्धी दिशानिर्देश द्वारा भी हमें उपकृत करते हैं। वे अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवों का भौतिक जगत् में, शरीर में एवं राष्ट्र या समाज में भी स्थान निश्चित करने का प्रयास करते हैं। यथा, उनके अनुसार बाह्य जगत् में सूर्य, वायु या विद्युत् इन्द्र है, शरीर में प्राण या मन इन्द्र है, राष्ट्र में राजा या सेनापति इन्द्र है।[2] ऐसे ही संकेत प्रायः सभी वैदिक देवों के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में आते है। किसी प्रसंग को अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, एवं अधिभूत में घटाने की प्रवृत्ति भी ब्राह्मणग्रन्थों की विशेष देन है।

वेद-व्याख्या के प्रसंग में वैदिक निघण्टुकोष के व्याख्याता यास्कीय निरुक्त को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिसमें वेद के सभी नाम-पदों के धातुज होने के सिद्धान्त का सयुक्ति प्रतिपादन किया गया है, जिसमें लगभग १३०० वैदिक शब्दों के निर्वचन एवं अर्थ किये गये हैं, जिसमें लगभग २५० सम्पूर्ण मन्त्रों तथा ४०० से अधिक मन्त्रांशों की व्याख्या प्रस्तुत कर दी गयी है, और साथ ही जिसमें कई मन्त्रों के व्याख्यान अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ आदि विविध दृष्टियों से किये गये हैं। मन्त्रों के विविध क्षेत्रों में व्याख्यान सबसे पूर्व निरुक्त में ही उपलब्ध होते हैं, यद्यपि इस व्याख्या-शैली के दिग्दर्शक स्वयं वेद ही हैं तथा ब्राह्मणग्रन्थ भी इस शैली का संकेत कर चुके थे।

इसके अनन्तर वेद-व्याख्या में योगदान करनेवालों में वेदभाष्यकार आते हैं, जिन्होंने एकाधिक वेदों का, किसी एक वेद का अथवा वेद के किसी अंश का भाष्य किया है। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम **स्कन्दस्वामी** (संवत् ६८७) का है, जिनका ऋग्वेद के प्रथम अष्टक सम्पूर्ण का तथा अष्टक ४-५ के कतिपय सूक्तों का मुद्रित भाष्य उपलब्ध है। इनकी अपनी ही प्रतिज्ञा के अनुसार इनका भाष्य कर्मकाण्ड का उपकारक है।[3] **उद्गीथ** इन्हीं के सहकारी थे तथा इनका अपना स्वतन्त्र भाष्य ऋग्वेद १०म मण्डल के सूक्त ५, मन्त्र ४ से सूक्त ८६, मन्त्र ६ तक ही मुद्रित उपलब्ध है। यह भी कर्मकाण्ड का ही समर्थक है।

वेंकट माधव (१२वीं विक्रमी शती) ने प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य किया है, जो स्वल्पाक्षर है तथा याज्ञिक पद्धति पर ही आश्रित है। **आनन्दतीर्थ** (संवत् १२५५-१३३५) ने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों पर आध्यात्मिक भाष्य की रचना की है, जिसमें अग्नि, वायु आदि नामों से नारायण को प्रतिपाद्य माना है। **आत्मानन्द** (१३वीं विक्रमी शती) का ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (ऋग् १।१६४) पर

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।—निरु० १।१६

२. अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८।५।३।२, यो वै वायुः स इन्द्रो, य इन्द्रः स वायुः। वही ४।१।३।१६, वाग् वा अग्निः, प्राण इन्द्रः। वही ६।१।२।२८, यन्मनः स इन्द्रः। गो० उ० ४।११, क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः। श० २।५।२।२७, सेना इन्द्रस्य पत्नी। गो० उ० २।९

३. सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गत्वसिद्ध्यर्थं यतो बोद्धव्योऽर्थः, अत ऋग्वेदस्यार्थबोधनार्थमस्माभिर्भाष्यं करिष्यते। स्कन्द, ऋग्भाष्य के आरम्भ में।

अध्यात्मपरक भाष्य है। **सायण** (संवत् १३७२-१४४४) का बालखिल्य सूक्तों को छोड़कर सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य उपलब्ध है। इन्होंने अन्य वेदों पर भी भाष्य किया है। इनकी भाष्यपद्धति यज्ञपरक है, यद्यपि कहीं-कहीं इन्होंने अध्यात्म-अर्थ भी प्रदर्शित किये हैं।[1]

यजुर्वेद वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता पर उवट (संवत् ११००) तथा महीधर (संवत् १६४५) के कर्मकाण्डपरक भाष्य हैं, जो शतपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन श्रौतसूत्र की पृष्ठभूमि पर रचे गये हैं और जिनमें यह साहस नहीं किया गया है कि कर्मकाण्ड में जो अयुक्तियुक्त तथा मन्त्रार्थविरुद्ध विनियोग प्रचलित थे उनपर प्रश्नचिह्न लगाया जाता। सायण का शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य है। ये भाष्य भी कर्मकाण्डानुसारी हैं। तैत्तिरीय संहिता पर भट्ट भास्कर (संवत् ११००) का भाष्य भी कर्मकाण्डपरक है।

सामवेद के तीन भाष्यकार उल्लेखनीय हैं—माधव, भरत स्वामी और सायण। माधव और भरत स्वामी दोनों का एक-साथ प्रो० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित एक भाष्य अड्यार लायब्रेरी से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था, जो केवल पूर्वार्चिक (मन्त्र क्रमांक ५८५ तक) है। शेष भाग अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। माधव का काल अनुमानतः ७वीं शती विक्रमी है। इनके पिता का नाम नारायण है। इनका भाष्य पदों के मन्त्रोक्त क्रम का अनुसरण करता है। अनेक स्थलों पर अध्यात्मपरक अर्थ भी निरूपित किये गये हैं। इनकी प्रवृत्ति वैकल्पिक एकाधिक अर्थ देने की बहुत है। इन्होंने स्थान-स्थान पर अपने भाष्य में व्यत्यय स्वीकार किये हैं। इनके भाष्य का नाम 'विवरण' है। ये अपने पूर्वार्चिक के भाष्य को 'छन्दसिका विवरण' तथा उत्तरार्चिक के भाष्य को 'उत्तर विवरण' कहते हैं।[2] भरत स्वामी कश्यपगोत्री थे, इनके पिता का नाम नारायण आर्य और माता का नाम यज्ञदा था। इन्होंने होसलाधीश्वर रामनाथ के राजत्व-काल में श्री रंगपटम् में निवास करते हुए सामवेद का भाष्य किया था।[3] उक्त होसलाधीश्वर का काल बर्नल के अनुसार सन् १२७२-१३१० है। इस दृष्टि से भरत स्वामी ने सामभाष्य विक्रमी संवत् १३६० के आस-पास किया होगा। इन्होंने भी कई मन्त्रों के अध्यात्मपरक अर्थ प्रदर्शित किये हैं। माधव और भरत स्वामी दोनों कई स्थानों पर अपने मन्त्र-व्याख्यानों के लिए प्रमाणस्वरूप वेदमन्त्र उद्धृत करते हैं, ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरण भी देते हैं।

सायण का काल अनुमानतः संवत् १३७२-१४४४ है। ये महाराज बुक्क प्रथम के राजमन्त्री थे और उन्हीं के आदेशानुसार वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए थे। इन्होंने याजुष तैत्तिरीय संहिता तथा ऋग्वेद का क्रमशः व्याख्यान करके तदनन्तर सामवेद का भाष्य किया था।[4] ऋग्वेदगत साममन्त्रों का भाष्य इन्होंने अपने ऋग्वेदभाष्य से ही ले लिया है। इसी कारण ऋग्वेदीय मन्त्र की अपेक्षा सामवेद में जहाँ भिन्न पाठ है, वहाँ भी ऋग्वेदीय पाठ की ही व्याख्या इनके सामभाष्य में पायी जाती है। यह इनके

---

१. सायण के अध्यात्मपरक अर्थों के लिए द्रष्टव्य : ऋग्भाष्य, मण्डल १, सूक्त ५०, ८६, १६४; मण्डल ६, सूक्त ९, ४७; मण्डल १०, सूक्त ८१, ८२, ११४, १७७; अथर्वभाष्य, काण्ड २, सूक्त १; काण्ड ११, सूक्त ४; काण्ड १९, सूक्त ५८; सामभाष्य, क्रमांक २५९, ६३५।

२. "छन्दसिकोत्तररहस्यात्मकं पञ्चाग्निना माधवेन श्री नारायणसूनुना सवितुः परां भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादाद् भाष्यं कृतम्"—माधवभाष्यभूमिका। "इति छन्दसिकाविवरणं माधवाचार्यकृतं परिसमाप्तम्"—पूर्वार्चिकभाष्य के अन्त में।

३. "नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः। साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचम्॥ होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति। व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया। इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः। नारायणार्य-तनयो व्याख्यत् साम्नामृचोऽखिलाः॥"—भरतस्वामिभाष्यभूमिका

४. "यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः। व्याख्यातं प्रथमं पश्चाद् ऋचां व्याख्यानमीरितम्॥ साम्नामृगाश्रितत्वेन साम-व्याख्याथ वर्ण्यते।"—सायणीयसामभाष्यभूमिका

सामभाष्य की एक विसंगति है। यह दोष माधव और भरतस्वामी के भाष्यों में नहीं है।

हमने अपने पूर्वार्चिक के सामवेदभाष्य में स्थान-स्थान पर टिप्पणी में किन्हीं पदों पर तुलनार्थ माधव, भरतस्वामी एवं सायण के भाष्यों को उद्धृत किया है। उससे पाठकों को इनके भाष्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिल सकेगी। अतः यहाँ इनके भाष्यों के विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है।

अथर्ववेद (शौनकीय) पर सायण का ही भाष्य उपलब्ध है,[1] जो कौशिकसूत्र तथा वैतानसूत्र के विनियोगों का अनुसरण करता है तथा जिसमें टोने-टोटके, मन्त्र-तन्त्र, कृत्या-अभिचार आदि का वर्णन एवं अरूपसमृद्ध विनियोग स्थान-स्थान पर हैं।

उपर्युक्त समस्त भाष्यों पर दृष्टिपात करके हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनमें से अधिकतर केवल कर्मकाण्ड को आधार बनाकर लिखे गये हैं, असम्भव किस्से-कहानी एवं मनघड़न्त इतिहास को पदे-पदे दर्शाते हैं, अग्नि-अग्नायी, इन्द्र-इन्द्राणी आदि वैदिक देव-देवियों का वाच्यार्थ कुछ भी स्पष्ट नहीं करते, अभिमानी देवता की मनमानी कल्पना से ओतप्रोत हैं, मांसभक्षण, पशुवलि, मन्त्र-तन्त्र, मारण-उच्चाटन आदि की पैशाचिकता को प्रश्रय देते हैं, अतः उनसे व्यापक और विशुद्ध वेदार्थ पाठक के सम्मुख नहीं आता। जो अध्यात्मपरक भाष्य हैं वे एक तो वेद के बहुत छोटे-से भाग पर किये गये हैं, दूसरे उनपर प्रायः वेदान्तिक विचारधारा का ही प्रभाव है, अतः वेद के सच्चे स्वरूप को उजागर नहीं कर पाते।

विदेशी विद्वानों का प्रयास

वेद-व्याख्या के प्रसंग में विदेशी विद्वानों के प्रयास की भी चर्चा कर लेना उचित होगा। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर (Max Mueller) ने अपनी 'सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट' नामक शृङ्खला के एक भाग में मरुत् रुद्र, वायु और वात देवताओं के ऋक्सूक्तों का अंग्रेजी भाषान्तर किया था। सन् १८५० में डॉक्टर एच० एच० विल्सन (H. H. Wilson) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया, जिसमें सायणभाष्य को आधार रखा गया है। जर्मन विद्वान् एच० ग्रासमान (Hermann Grassmann) ने १८७६-७७ ई० में ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया, जो सायणभाष्य से सर्वथा स्वतन्त्र है तथा रॉथ की भाषा-वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित है। जर्मनी के ही ए० लुडविग (Alfred Ludwig) ने १८७५–८६ में छह जिल्दों में ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद विस्तृत भूमिका तथा व्याख्या के साथ किया। कार्ल गैल्डनर (Karl Geldner) ने १९२३–५१ ई० में सम्पूर्ण ऋग्वेद का अपना अनुवाद प्रकाशित कराया। आर० टी० एच० ग्रिफिथ (Ralph T. H. Griffith) ने १८८९–९८ ई० में चारों वेदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया। जर्मन विद्वान् डॉक्टर एच० ओल्डनबर्ग (H. Oldenberg) ने १९०९–१२ ई० में जर्मन भाषा में ऋग्वेद की विवेचना-पूर्ण व्याख्या दो जिल्दों में प्रकाशित करायी। लांग्लवा (Langlois) नामक एक विद्वान् ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का चार भागों में फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का एक अंग्रेजी अनुवाद डॉक्टर ए० बी० कीथ (A.B. Keith) ने किया, जो हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज़ में सन् १९१४ में अमेरिका से छपा था। जे० स्टेवेन्सन (J. Stevenson) ने सामवेद की राणायनीय शाखा का संस्करण अंग्रेजी अनुवाद-सहित सम्पादित किया,

---

१. अथर्ववेद के इन अंशों पर सायणभाष्य नहीं मिलता—काण्ड ५, ८ (सूक्त ७ से अन्त तक), ९,१०,१२-१५, २० (सूक्त ३८ से अन्त तक)।

जिसे विल्सन ने १८४३ ई० में प्रकाशित किया। थियोडोर बेन्फे (Theodor Benfey) ने सामवेद की कौथुम शाखा का संस्करण जर्मनभाषानुवाद-सहित १८४८ ई० में प्रकाशित कराया। अथर्ववेद की शौनकीय शाखा का डब्ल्यू० एच० ह्विटने (W. H. Whitney) ने भूमिकायुक्त अपूर्ण सटिप्पण अनुवाद किया था, जिसे सी० आर० लेनमेन (C. R. Lanman) ने पूरा करके १९०९ ई० में प्रकाशित किया। ब्लूमफ़ील्ड (M. Bloomfield) ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का अंग्रेजी अनुवाद १९०१ ई० में प्रकाशित कराया था। इसके अतिरिक्त विविध वैदिक संहिताओं, भाष्यों, ब्राह्मणग्रन्थों आदि के शुद्ध संस्करण, व्याख्या-सहित वेदमन्त्रसंकलन, कोश आदि का प्रकाशन भी वैदेशिक विद्वानों ने किया है।

विदेश के अन्वेषकों द्वारा किये गये वेदभाषान्तर या वेद-व्याख्यान या तो सायणभाष्य पर आधारित हैं, अथवा नूतन हैं तो भारतीय परम्परा की उपेक्षा करके विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्ब लेकर चले हैं, अतः इनका प्रयास किसी अंश में प्रशंसनीय होते हुए भी वेदों के रहस्यार्थ को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ रहा है।

१३. स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदसंहिता का प्रारम्भ से लेकर ७म मण्डल के, ६१वें सूक्त के २य मन्त्र तक और वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता सम्पूर्ण का भाष्य किया है। उनका यह वेदभाष्य पूर्ववर्ती भाष्यों की अपेक्षा अनेक नवीन विशेषताएँ रखता है, जिनमें से कुछ का यहाँ दिग्दर्शन करा देना उपयोगी होगा।

१. वैदिक देवों का अर्थानुसन्धान

वेदों में अग्नि, वायु, इन्द्र, अश्विनौ, मित्र, वरुण, अर्यमा, रुद्र, सविता आदि पुंल्लिङ्गी देवों का तथा अदिति, उषस्, सरस्वती, पृथिवी आदि स्त्रीलिङ्गी देवताओं का पुनः-पुनः वर्णन आता है। उवट, सायण, महीधर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों ने इन्हें पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र देव-देवियाँ स्वीकार किया था तथा यह माना था कि वेदवर्णित प्रत्येक प्राकृतिक देवता उषा, सूर्य, पृथिवी, आपः, नदी, ओषधि आदि का एक-एक स्वतन्त्र चेतन अभिमानी देवता है, उसी चेतन देवता की इन नामों से वेद में स्तुति की गयी है। जिन देवताओं का प्राकृतिक स्वरूप निश्चित नहीं है वे भी स्वतन्त्र चेतन देवता हैं। यज्ञों में आवाहन करने पर ये देवता हवि से प्रसन्न होकर यजमान को पुत्र, पौत्र, पशु, धन आदि प्रदान करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द ने प्रमाणपुरस्सर यह घोषणा की कि वेद अनेकेश्वरवादी नहीं हैं, अपितु वेदों के विभिन्न पुंल्लिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी देवता पिता और माता के रूप में एक परमेश्वर के ही गुणकर्म-बोधक विभिन्न नाम हैं। वेद की वर्णनशैली की यह अद्भुतता है कि साथ ही वे देवता शरीर में आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, अपान, उदान, चक्षु, श्रोत्र आदि के, राष्ट्र में राजा, सेनापति, न्यायाधीश, गृहपति, आचार्य आदि के और भौतिक जगत् में प्रकृति, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल आदि के भी वाचक होते हैं। जहाँ जैसा प्रकरण हो वहाँ वैसे अर्थ करने चाहिएँ।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर दयानन्द-भाष्य में प्रसंग या औचित्य के अनुसार **'अग्नि'** के अग्रणी, विज्ञानस्वरूप, सर्वविद्योपदेष्टा, स्वयंप्रकाशमान, प्रकाशक परमेश्वर, विद्वान् अध्यापक, उपदेशक, नायक राजा, वीर सेनापति, यज्ञाग्नि, शिल्प में प्रयोक्तव्य भौतिक अग्नि आदि अर्थ किये गये हैं। **'इन्द्र'** को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर, शत्रुविदारक राजा, सभाशालासेनान्यायाधीश, विद्यार्थियों की जड़ता का विच्छेदक गुरु, वायु, विद्युत्, सूर्य आदि अर्थों में ग्रहण किया गया है। **'रुद्र'** को दुष्टरोदक परमात्मा,

जीवात्मा, वैद्य, वायु, प्राण, शत्रुसंहारक सेनापति, ब्रह्मचारी आदि अर्थों में व्याख्यात किया गया है। **'अश्विनौ'** के राजा-अमात्य, प्राण-अपान, जल-अग्नि, वायु-विद्युत्, सूर्य-चन्द्र, अध्यापक-उपदेशक, सभेश-सैनेश आदि अर्थ किये गये हैं।

वैदिक देवियों को भी स्वामी दयानन्द ने भौतिक जगत् एवं शरीर में घटाने के साथ-साथ समाज में भी घटाया है। तदनुसार उनके भाष्य में **'उषा'** का अर्थ प्रभातवेला या सन्ध्या के अतिरिक्त 'उषा के समान ज्ञान से समस्त रूपों की प्रकाशिका विदुषी स्त्री' भी किया गया है।[1] इसी प्रकार **'सरस्वती'** का अर्थ वाणी एवं वेगवती नदी के अतिरिक्त विदुषी कन्या, प्रशस्तज्ञानवती विदुषी स्त्री, प्रशस्तविज्ञानयुक्ता पत्नी, शिक्षिता माता एवं वेदादिशास्त्रविज्ञानयुक्ता अध्यापिका भी किया है।[2] प्रचुरता के साथ वैदिक देवताओं को सामाजिक या राष्ट्रिय अर्थों में लेकर सम्पूर्ण मन्त्र को सामाजिक या राष्ट्रपरक अर्थ की रंगत देना स्वामी दयानन्द की ही महत्त्वपूर्ण देन है। इससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे अर्थों के क्वचित् संकेतमात्र दिये गये थे। स्वामी दयानन्द ने वैदिक देवताओं के जो अर्थ किये हैं वे स्वयं वेदों से तथा ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक आदि साहित्य से समर्थित हैं।

२. वेदमन्त्रों की अनेकार्थकता

वेदमन्त्रों के अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ आदि अर्थ करने की परम्परा पहले से ही प्रवृत्त थी। यास्क ने अपने निरुक्त में कई स्थलों पर इस प्रकार की मन्त्र-व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। स्वामी दयानन्द ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने मन्त्रार्थों को दो भागों में विभक्त किया है— पारमार्थिक अर्थ और व्यावहारिक अर्थ।[3] इन्हीं दो में पूर्व-आचार्यों से निर्धारित अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिभूत आदि सकल अर्थ-प्रक्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। परमेश्वर तथा परमेश्वर-प्राप्ति-सम्बन्धी अर्थ पारमार्थिक प्रक्रिया में और शेष सब अर्थ व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हैं।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्रों की अनेकार्थक योजना अनेक स्थलों पर की है। ऋग्वेद के प्रथम पाँच अग्निदेवताक मन्त्रों की व्याख्या उन्होंने परमेश्वरपरक तथा शिल्पाग्निपरक की है। 'धूरसि धूर्वन्तम्' यजु० १।८ में भी अग्नि के अर्थ परमेश्वर तथा शिल्पसाधक अग्नि दोनों लिये हैं। वायुदेवताक ऋग् १।२।१-३ इन तीनों मन्त्रों की व्याख्या परमेश्वर तथा भौतिक वायु दोनों पक्षों में की है। इन्द्र देवता के 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम्' ऋग् १।६।१ मन्त्र को परमेश्वर, आदित्य और प्राण तीन पक्षों में व्याख्यात किया है। 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो' ऋग् १।३५।२ आदि सवितृदेवताक मन्त्र के अर्थ परमेश्वर तथा सूर्य उभय पक्ष में किये हैं। सूर्यपरक अर्थ में सूर्य की आकर्षणशक्ति का वर्णन किया है। 'अदित्यास्त्वगसि' यजु० ४।३० आदि वरुणदेवताक मन्त्र की व्याख्या परमेश्वर, सूर्य तथा वायु तीन पक्षों में की है। 'कद्रुद्राय प्रचेतसे' ऋग् १।४३।१ आदि रुद्र देवता के मन्त्र को परमेश्वर, जीवात्मा तथा भौतिक वायु तीन पक्षों में घटाया है। इन्द्र देवता के 'योगे योगे तवस्तरम्' ऋग् १।३०।७ आदि मन्त्र

---

१. (उषः) उषर्वत् सर्वरूपप्रकाशिके विदुषि स्त्रि। ऋ०भा० ६।४६।७, (उषः) उषर्वद् विद्यमाने विदुषि। वही १।११३।१२ (उषसः) प्रभातवेला इव स्त्रियः।—वही १।११३।२०

२. (सरस्वती) विज्ञानाढ्या (विदुषी कन्या)। ऋ० भा० ६।४६।७, प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्याः सा (विदुषी स्त्री)। य० भा० १९।८३, प्रशस्तज्ञानयुक्ता पत्नी। वही १९।८२, विदुषी शिक्षिता माता। वही २०।६४, (सरस्वतीम्) बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यास्तां विज्ञानयुक्ताम् अध्यापिकां स्त्रियम्। वही ९।२७

३. अथात्र यस्य-यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य-तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।—ऋ० भा० भू०, प्रतिज्ञाविषय

की ईश्वर तथा सेनाध्यक्ष दो पक्षों में व्याख्या की है। प्रसिद्ध मन्त्र 'यां मेधां देवगणाः' यजु० ३२।१४ में अग्नि पद से जगदीश्वर तथा विद्वान् अध्यापक का ग्रहण किया है। 'अयं मित्रो नमस्यः' ऋग् ३।५९।४ आदि मन्त्र में मित्र के अर्थ ईश्वर तथा राजा लेकर व्याख्यान किया गया है। 'पुरां भिन्दुर्' ऋग् १।११।४ आदि इन्द्रविषयक मन्त्र की व्याख्या सूर्य और सेनापति उभय पक्षों में की है। सोम देवता का 'त्वं सोमासि सत्पतिः' ऋग् १।९१।५ आदि मन्त्र श्लेष से परमेश्वर, शालाध्यक्ष तथा सोम ओषधी तीन पक्षों में व्याख्यात किया गया है। 'वृत्रखादो बलंरुजः' ऋग् ३।४५।२ आदि इन्द्रदेवताक मन्त्र की अर्थयोजना विद्युत्, सूर्य, वायु और राजा परक की गयी है। ऐसे मन्त्र दो सौ से भी अधिक हैं जिनमें श्लेषालंकार मानकर स्वामी जी एकाधिक अर्थ करते हैं। मन्त्रों की एकाधिक व्याख्याएँ जितनी स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में की हैं उतनी अन्य किसी वेदभाष्यकार ने नहीं की हैं।[1]

३. ऐतिहासिक अर्थों की उपेक्षा

वेदमन्त्रों में प्रयुक्त नामों को किन्हीं ऐतिहासिक ऋषियों, ऋषिकाओं, राजाओं, रानियों, नदियों, नगरों आदि के नाम मान लेने की प्रवृत्ति वेदभाष्यकारों में पायी जाती है। वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय यास्काचार्य (७०० ई० पू०) से भी पहले विद्यमान था, क्योंकि उन्होंने अपने निरुक्त ग्रन्थ में कई प्रसगों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। पर अपनी सम्मति उन्होंने इसके विरोध में ही दी है।[2] आधुनिक युग के वेदविचारक विदेशी विद्वानों का तो आधारस्तम्भ ही यह है, अतएव वेद में पदे-पदे इतिहास का अन्वेषण करने का पूर्वाग्रह उन्होंने बनाया हुआ है। विदेशों के विद्वान् वेदों में लौकिक इतिहास भले ही मानें, पर आश्चर्य तो तब होता है जब वेदों को सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले स्कन्दस्वामी, उवट, सायण, महीधर आदि भारतीय भाष्यकार भी अनेक स्थलों पर वेदमन्त्रों की इतिहासपरक व्याख्याएँ करते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने सुदीर्घ वेदभाष्य में एक स्थल पर भी इतिहास नहीं माना है। ऋ० भा० भू० में वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वेदमन्त्रों में इतिहास का लेश भी नहीं है, अतः सायणाचार्य आदि ने जहाँ-कहीं इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रममूलक ही है।[3]

अपने वेदभाष्य में भी कई स्थलों पर स्वामी दयानन्द ने सायण के ऐतिहासिक अर्थों का विरोध किया है। यथा, सायण ने ऋ० १।३१।११ में नहुष को राजा-विशेष, ऋ० १।१८।१ में कक्षीवान् औशिज को उशिक् नाम की माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि, ऋ० १।३१।१७ में ययाति को इस नाम का राजा, ऋ० १।३६।१८ में तुर्वश, यदु, उग्रदेव, नववास्तु, बृहद्रथ और तुर्वीति को राजर्षि-विशेष माना है, पर स्वामी दयानन्द इन स्थलों पर नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार व्याख्यान करते हैं और सायण का नाम लेकर उसके इतिहासपरक अर्थों का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि राजा नहुष आदि तो इदानींतन हैं और वेद सनातन हैं, अतः सनातन वेदों में परवर्ती ऐतिहासिक राजा आदियों की गाथा नहीं हो सकती।[4]

---

१. अधिक विस्तार के लिए द्रष्टव्य : लेखक का ग्रन्थ 'वेदभाष्यकारों की वेदार्थप्रक्रियाएँ', अध्याय ४

२. द्रष्टव्य : निरु० २।१७,१२।१,१२।१०

३. नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्रकुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमेवास्तीति मन्तव्यम्—ऋ० मा० भू०, वेदसंज्ञाविचारविषय।

४. नहुषस्येत्यत्र सायणाचार्येण नहुषनामकराजविशेषो गृहीतः, तदसत्। कस्यचिन्नहुषस्येदानींतनत्वाद् वेदानां सनातनत्वात् तस्य गाथाऽत्र न संभवति, निघण्टौ नहुषस्येति मनुष्यनाम्नः प्रसिद्धेश्च।—द० भा०, ऋ० १।३१।११

वेदों में लौकिक इतिहास न होने की स्थापना तो अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में सायण ने भी की थी[1], पर वेदभाष्य में वे उसका निर्वाह नहीं कर पाये। किन्तु महर्षि दयानन्द ने अपनी प्रतिज्ञा का अपने वेदभाष्य में सर्वत्र निर्वाह किया है। वे अगस्त्य, अत्रि, अम्बरीष, कुत्स, कुशिक, त्रसदस्यु, दिवोदास, वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, शुनःशेप प्रभृति समस्त ऐतिहासिक प्रतीत होनेवाले नामों की नैरुक्त पद्धति से व्याख्या करते हैं। सचमुच वेद में लौकिक इतिहास की कल्पना वेद को जर्जर कर देने वाली है। वेदों में इतिहास न मानकर योगार्थ के बल से जो अर्थ करने की पद्धति है उसी से वेद का रहस्यार्थ हृदयंगम किया जा सकता है। अन्यथा ऐतिहासिक कथाएँ जैसी भाष्यकारों ने रचकर वेदों पर थोपी हैं, वैसी प्रत्येक वेदमन्त्र पर बनायी जा सकती हैं। वेद के ऐतिहासिक सम्प्रदाय को व्यापक क्रियात्मक उत्तर देने का श्रेय एकमात्र वेदधुरन्धर दयानन्द को है।

४. पूर्व-विनियोगों से स्वतन्त्र वेदार्थ

पूर्वकाल में दर्श, पौर्णमास, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सोमयाग आदि विविध श्रौत यागों में, ब्रह्मयज्ञादि पञ्च यज्ञों में, जातकर्मादि विभिन्न संस्कारों में तथा अन्य अनेक विधि-विधानों में वेदमन्त्रों का विनियोग किया गया था। उन विनियोगों की परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि उनमें कुछ विनियोग रूपसमृद्ध अर्थात् मन्त्रार्थ से अनुमोदित हैं और कुछ अरूपसमृद्ध हैं अर्थात् या तो मन्त्रार्थ से विरुद्ध हैं या मन्त्रार्थ से असम्बद्ध हैं। ब्राह्मणग्रन्थकारों ने रूपसमृद्ध विनियोगों से ही यज्ञ की परिपूर्णता मानी थी।[2] तथापि अरूपसमृद्ध विनियोग भी चलते रहे और उन्हें प्रामाणिक भी माना जाता रहा। स्वामी दयानन्द ने यह स्पष्ट घोषणा की कि पूर्वकृत विनियोगों में जो युक्तिसिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करनेवाले विनियोग हैं वे ही ग्राह्य हो सकते हैं।[3] साथ ही यह भी माना कि वेदव्याख्या के लिए रूपसमृद्ध विनियोगों का भी अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है, उन विनियोगों से स्वतन्त्र होकर भी वेद के व्याख्यान किये जा सकते हैं। अतएव उन्होंने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का अपना भाष्य पूर्व-विनियोगों का अनुसरण किये बिना ही लिखा है और भूमिका में यह निर्देश कर दिया है कि मैं तो शब्दार्थतः ही मन्त्रों की व्याख्या करूँगा, जिन्हें अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कर्मकाण्ड का परिचय पाना हो वे ऐतरेय, शतपथ, पूर्वमीमांसा, श्रौतसूत्रादि को देख सकते हैं, किन्तु उनमें जो वेदविरुद्ध विनियोग हैं उन्हें न मानें।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य से यह स्पष्ट है कि पूर्व-विनियोगों से स्वतन्त्र होकर की गयी उनकी वेदव्याख्या महोपकारक सिद्ध हुई है और उससे पाठक को वेदों में मानवोपयोगी विविध ज्ञान-विज्ञानों एवं कर्तव्यों का दर्शन हो जाता है तथा उसे यह भ्रान्ति नहीं होती कि वेद में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। महीधर ने पूर्व-विनियोगों से बद्ध होकर तथा उनकी प्रामाणिकता या

---

१. बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (जै० सू० १।१।३१) इति। यत् परं बबरादिकं तत् शब्दसामान्यमेव न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।—सायण, ऋग्भाष्य, उपोद्घात, पूनासंस्करण पृ० १५

२. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋगभिवदति। ऐ० ब्रा० १।१६, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर्वाऽभिवदति। गो० उ० २।६

३. तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। प्रतिज्ञा-विषय।
—ऋ० भा० भू०

अप्रामाणिकता का विचार किये बिना अपना यजुर्वेदभाष्य किया, अतः अनेक स्थलों पर वह भाष्य भ्रान्त है, यथा छठे अध्याय में अग्नीषोमीय पशुप्रयोग के प्रकरण में अज (बकरे) का वध, अश्वमेध-प्रकरण में २३वें अध्याय में राजमहिषी का अश्वमेधीय अश्व के समीप शयन (मन्त्र १९–२१), राजपत्नियों तथा पुरोहितों के मध्य अश्लील हास-परिहास, राजपत्नियों द्वारा अश्व के शरीर को सलाइयों से गोदना (मन्त्र ३३–३७) और अश्व का पेट काटना (मन्त्र ३९–४२), २५वें अध्याय में अश्व के काटे गये अंगों का देवताओं के लिए होम करना, ३५वें अध्याय में पितृमेध-प्रकरण में गाय की चर्बी का होम करना (मन्त्र २०) आदि।[1] इन स्थलों पर पूर्व-विनियोगों का अनुसरण न करते हुए लिखा गया दयानन्द-भाष्य अत्यन्त चामत्कारिक तथा वेद के सत्य स्वरूप का प्रकाशक है।

५. वेदों में विविध विद्याओं का आविष्कार

पूर्व-भाष्यकारों में से अधिकांश ने वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या का आविष्कार नहीं किया था। परन्तु स्वामी दयानन्द 'वेदों में सब विद्याएँ हैं' यह घोषणा करते हैं।[2] उन्होंने अपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमणविद्या, आकर्षणानुकर्षणविद्या, प्रकाश्यप्रकाशकविद्या, गणितविद्या, उपासनाविद्या, मुक्तिविद्या, नौविमानादि-निर्माणचालनविद्या, तारयन्त्रविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्या, यज्ञविद्या, कृषिविद्या, शिल्पविद्या, वर्णाश्रम-विद्या आदि विविध विद्याओं का वैदिक प्रमाणों सहित प्रतिपादन किया है तथा स्वकीय वेदभाष्य में भी इनका प्रकाश किया है।

६. कतिपय अन्य विशेषताएँ

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में कुछ अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती हैं, जो अन्य वेदभाष्य-कारों के भाष्यों में उपलब्ध नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) दयानन्द सरस्वती वेदमन्त्रों के अश्लील, परमात्मा के स्वभाव एवं सृष्टिनियम के विरुद्ध और लोकविद्वेषकारी अर्थ कहीं नहीं करते।

(ख) वे वेदों में मांसभक्षण, पशुबलि, जडपूजा, मृतकश्राद्ध, जादू-टोना, असम्भव चमत्कार आदि नहीं मानते। जिन भाष्यकारों ने इस पक्ष के अर्थ अपने वेदभाष्यों में किये हैं उन्हें वे भ्रान्त ठहराते हैं।

(ग) निर्वचनशास्त्र को भी उनका विशेष योगदान है, यतः अपने वेदभाष्य में तथा उणादि-कोष की व्याख्या में उन्होंने अनेक नवीन निर्वचन प्रस्तुत किये हैं।

(घ) वे वैदिक शब्दों को व्यापक अर्थों में लेते हैं। यथा देव शब्द से परमेश्वर, विद्वान्, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, ज्ञानेन्द्रिय आदि का ग्रहण करते हैं।[3] यज्ञ में केवल अग्निहोत्र को नहीं, प्रत्युत

---

१. विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य : आर्यसमाज पानीपत से प्रकाशित "धर्म और संस्कृति" ग्रन्थ में लेखक का लेख 'स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि'।

२. वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति आहोस्विन्न ? अत्रोच्यते, सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः।—ऋ० भा० भू०, ब्रह्मविद्याविषय का आरम्भ।

३. द्रष्टव्य : ऋ० भा० भू०, वेदविषयविचार।

देवपूजा, संगतिकरण, शिल्प, दान आदि को भी सम्मिलित करते हैं।[1] धनवाचक रै, राधस्, रयि, धन, वसु प्रभृति शब्दों से सुवर्ण आदि धन के साथ-साथ विद्या, धर्म, आरोग्य, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि धन को भी गृहीत करते हैं।[2] रश्मि आदि किरणवाची शब्दों से केवल भौतिक प्रकाश की किरणों को ही नहीं, अपितु विद्या-विज्ञान के तेजों एवं अन्तःप्रकाशक गुणों का भी बोध कराते हैं।[3] रथ शब्द का प्रायः सर्वत्र ही भूयान, जलयान एवं विमान अर्थ लेते हैं।[4] यही स्थिति वृत्र, वृक, नमुचि, नदी, धनुष्, इषु आदि अन्य अनेक शब्दों की भी है।[5]

(ङ) उनका वेदभाष्य मानव को अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिए उद्बोधन देता है। लौकिक उत्कर्ष में वे समग्र भूमण्डल के धर्मपूर्ण चक्रवर्ती राज्य तक पहुँचाते हैं, तो दिव्य उत्कर्ष में मोक्ष के परमानन्द तक ले जाते हैं।

इस प्रकार अनेक नवीनताओं एवं विशेषताओं के कारण स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य अत्यन्त उपादेय है।

१५. प्रस्तुत सामवेद-भाष्य

प्रस्तुत सामवेद-भाष्य संस्कृत तथा आर्यभाषा दोनों में है। प्राचीनकाल में संस्कृत ही बोलचाल की भाषा होने से प्राचीन परिपाटी संस्कृत में ही वेद-व्याख्यान करने की रही है। मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी अपने भाष्यों में संस्कृत को ही अपनाया, क्योंकि संस्कृत किसी अंश तक समग्र भारत में समझी जाती थी। ज्यों-ज्यों संस्कृत का प्रचलन न्यून होता गया, त्यों-त्यों संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी वेदों के भाषान्तर किये जाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत तथा आर्यभाषा दोनों में भाष्य किया है। वे ऋग्वेद-संहिता (अपूर्ण) तथा यजुर्वेद-संहिता (सम्पूर्ण) का तो भाष्य कर गये, किन्तु सामवेद और अथर्ववेद सर्वथा अछूते ही रहे। इस कारण स्वामी दयानन्द की ही शैली से सामवेद और अथर्ववेद का भाष्य किये जाने की आवश्यकता सार्वदेशिक सभा, परोपकारिणी सभा, प्रान्तीय सभाओं, विद्वानों, वेद-प्रेमियों एवं आर्य-

---

१. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसंपादनाय सत्करणं, सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं, नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति।—य० भा० १।२

२. (रायः) विद्याचक्रवर्तिराज्यश्रियादीनि धनानि।—य० भा० २।२४, (राधसः) विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यादिधनस्य।—ऋ० भा० १।२२।७, (धनानि) विद्याधर्मचक्रवर्तिराज्यश्रीप्रसिद्धानि।—ऋ० भा० १।४२।६, (रयिम्) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम्। वेदभाष्य नमूना—ऋ० १।१।३, (वसु) सुखेषु वसन्ति येन तद् धनं विद्यारोग्यादि सुवर्णादि वा।—ऋ० भा० १।१०।६

३. (रश्मिभिः) प्रकाशकैर्गुणैः किरणैर्वा। (रश्मिभिः) अन्तःप्रकाशकैर्गुणैः।—य० भा० १।३१

४. (रथे) भूजलाकाशगमनार्थे याने।—ऋ० भा० १।६।२

५. (वृत्रम्) मेघमिव अविद्याम।—ऋ० भा० ४।१८।११, प्रकाशावरकं मेघमिव धर्मात्मावरकं (दुष्टं शत्रुम्)।—य० भा० ३३।२६, (वृकः) वृकवदुत्कोचकश्चोर।—ऋ० भा० २।२८।१०, (नमुचिम्) योऽधर्मं न मुञ्चति तम् (अधर्मात्मानं जनम्)।—ऋ० भा० २।१४।५, (नमुचेः) न मुञ्चति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य।—य० भा० १०।१४, (नदीनाम्) सरितामिव विद्यमानानां विदुषीणाम्।—ऋ० भा० ३।३३।१२, (नदीभिः) सरिद्भिरिव नाडीभिः।—ऋ० भा० ५।४१।१९, (धनुः) शस्त्रास्त्रम।—य० भा० २९।३९, (इषवः) शस्त्रास्त्राणि।—य० भा० १६।६६

साहित्य-प्रकाशकों की ओर से निरन्तर अनुभव की जा रही थी। अन्य किन्हीं मान्य विद्वानों को इस विषय में आगे आता न देखकर आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासियों एवं जागरूक नेताओं से प्रेरणा तथा आशीर्वाद पाकर मैंने ही इस दिशा में प्रवृत्त होने तथा सामवेद का अभीष्ट संस्कृत-आर्यभाषा-भाष्य करने का कठिन कार्य अपने हाथ में लिया। परोपकारिणी सभा (अजमेर) के मुखपत्र 'परोपकारी' के अप्रैल १९८५ के अंक में सामवेद के प्रथम १० मन्त्रों का नमूना-भाष्य प्रकाशित होने पर उसे समीक्षात्मक दृष्टि से देखकर अनेक विद्वानों ने प्रशस्ति-पत्र भेजकर तथा आवश्यक परामर्श देकर मेरा उत्साहवर्धन किया, जिससे मध्य-मध्य में अनेक प्रतिकूलताएँ उपस्थित होते रहने पर भी भाष्य के कार्य में लगे रहने की प्रेरणा मुझे मिली।

व्याख्या-क्रम

महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेद-भाष्य तथा यजुर्वेद-भाष्य में प्रत्येक मन्त्र पर भाष्य-क्रम[1] इस प्रकार है—१. मन्त्रार्थभूमिका (उत्थानिका), संस्कृत में, २. मन्त्रार्थभूमिका, आर्यभाषा में, ३. मूलमन्त्र सस्वर, ४. पदपाठ सस्वर, ५. पदार्थ (सप्रमाण), संस्कृत में, ६. अन्वय, ७. भावार्थ, संस्कृत में, ८. अन्वयानुसारी पदार्थ, आर्यभाषा में, ९. भावार्थ, आर्यभाषा में।[2]

दयानन्द-भाष्य में आर्यभाषा-पदार्थ तो सान्वय है, किन्तु संस्कृत-पदार्थ सान्वय न होकर उस क्रम से है जिस क्रम से मन्त्र में पद आये हैं तथा अन्वय पृथक् दे दिया गया है। यद्यपि यह दयानन्द-भाष्य में सोद्देश्य ही है, तथापि हमने इसमें कुछ परिवर्तन किया है। हमने अन्य व्याख्या-क्रम तो दयानन्द-भाष्य के समान ही रखा है, केवल इतना अन्तर किया है कि पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर संस्कृत-पदार्थ भी आर्यभाषा-पदार्थ के समान सान्वय दिया है। इसके अतिरिक्त आर्यभाषा की मन्त्रार्थभूमिका को आर्यभाषा-भाष्य के साथ जोड़ दिया है, जिससे संस्कृत-भाष्य तथा आर्यभाषा-भाष्य दोनों सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् हो गये हैं। इस पद्धति का आश्रय लेने से संस्कृत-माध्यम के पाठक केवल संस्कृत-भाष्य से ही वेदार्थ समझ सकेंगे, उन्हें आर्यभाषा-भाष्य देखना आवश्यक नहीं होगा। जिन्हें आर्यभाषा के माध्यम से वेदार्थ-ज्ञान अपेक्षित है वे आर्यभाषा-भाष्य से उपकृत हो सकेंगे, केवल प्रमाणभाग के लिए उन्हें संस्कृत-भाष्य पर निर्भर रहना होगा।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद-भाष्य में प्रत्येक सूक्त के अन्त में तथा यजुर्वेद-भाष्य में प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस-उस सूक्त एवं अध्याय की पूर्व-पूर्व सूक्त एवं अध्याय के साथ संगति भी दर्शायी है। उसी पद्धति पर हमने भी प्रस्तुत सामवेद-भाष्य में पूर्वार्चिक की प्रत्येक दशति के पश्चात् उसकी पूर्व-दशति के साथ संगति दिखाने का प्रयास किया है।

व्याख्या-दृष्टि

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अपने भाष्य में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियाँ सम्मुख रखी हैं। उसी का अनुसरण हमने भी अपने इस सामवेद-भाष्य में किया है। सामवेद का उपासना से विशेष सम्बन्ध होने के कारण पारमार्थिक या अध्यात्म व्याख्या तो हमने प्रत्येक मन्त्र पर

---

१. मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च। पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥—ऋ० भा० भू०, ग्रन्थ-समाप्ति

२. दयानन्द-भाष्य में संख्या ८ तथा ९ को क्रमशः 'पदार्थान्वयभाषा' और 'भावार्थभाषा' लिखा है।

ही की है, उसके साथ अनेक स्थलों पर ब्रह्म-क्षत्र, राजा-प्रजा, आचार्य-शिष्य सेनापति-सैनिक, गृहपति गृहजन, प्राण-इन्द्रिय, भौतिक सूर्य, भौतिक अग्नि, भौतिक वायु, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्प आदि से सम्बद्ध व्यावहारिक अर्थों का दर्शन भी किया गया है। इसी कारण भाष्य में दो अर्थ अनेक मन्त्रों के हो गये हैं। कुछ मन्त्र तीन, चार या पाँच दृष्टियों से भी व्याख्यात हुए हैं। सामवेद की इस व्याख्या में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का प्रतिपादन हुआ है। ऐसा करने में महर्षि दयानन्द की 'चतुर्वेदविषयसूची' से भी प्रेरणा मिली है।

जो मन्त्र यास्कीय निरुक्त में व्याख्यात है उसपर स्वकृत संस्कृत-पदार्थ के पश्चात् निरुक्त की व्याख्या भी सम्पूर्ण या आंशिक रूप में प्रायः उद्धृत कर दी गयी है, चाहे वह व्याख्या हमारी व्याख्या से भिन्न भी क्यों न हो। किन्तु आर्यभाषा-भाष्य में नैरुक्त व्याख्या का अभिप्राय नहीं खोला गया है।

प्रस्तुत भाष्य में महर्षि दयानन्द की वेद-विषयक धारणाओं को यथाशक्ति ध्यान में रखा गया है। वेदमन्त्रों के अर्थ लौकिक इतिहासपरक कहीं नहीं किये गये हैं। जिन मन्त्रों पर अन्य भाष्यकारों ने लौकिक इतिहास वर्णित किया है, वहाँ उनके इतिहास का संकेत करते हुए उसका यथोचित प्रत्याख्यान कर दिया है।

मन्त्रों का भावार्थ लिखते हुए यह ध्यान रखा गया है कि वह मन्त्र-व्याख्या के अनुरूप हो। भाष्य में जिन मन्त्रों के एकाधिक अर्थ दर्शाये गये हैं, उनके भावार्थ सभी अर्थों को सम्मुख रखकर लिखे गये हैं।

आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान एवं आरण्य प्रत्येक काण्ड (या पर्व) के आरम्भ में उस-उस काण्ड (या पर्व) के विषय पर प्रकाश डालने के लिए एक-एक लघु भूमिका लिखी गयी है। ऐसी ही भूमिका महानाम्नी आर्चिक के आरम्भ में भी है। उन्हें पढ़ लेने पर भाष्य को समझने में सहायता मिलेगी। पूर्वार्चिक में प्रत्येक दशति से पूर्व उसमें पठित मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द और गान-स्वरों का निर्देश कर दिया गया है, जिसमें हमने प्रायः वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित सामवेदसंहिता का अनुसरण किया है। उक्त सामवेदसंहिता में ऋषि-नामों के साथ गोत्र-नाम क्वचित् ही दिये गये हैं, अधिकतर ऋषि गोत्रनाम-रहित ही छपे हैं। हमने अपने भाष्य में ऋषि-सूची पृथक् भी दे दी है, उसमें गोत्र-नाम लिख दिये हैं।

व्याख्या में गार्ग्यकृत पदपाठ पर प्रायः सर्वत्र ही ध्यान दिया गया है। जो मन्त्र सामवेद तथा ऋग्वेद में समान हैं उनमें कई स्थलों पर गार्ग्यकृत पदपाठ शाकल्य के पठपाठ से भिन्न है। हमने वहाँ गार्ग्य के पदपाठ का ही अनुसरण किया है। जहाँ गार्ग्य के पदपाठ में स्वर-सम्बन्धी या अन्य किसी प्रकार की असंगति प्रतीत होती है वहाँ हमने टिप्पणी में उसका संकेत कर दिया है। यद्यपि किसी आचार्य के पदपाठ का वेदमन्त्र के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है और स्वरादि से विरुद्ध होने पर वह त्याज्य भी हो सकता है[1], और जहाँ स्वरादि अनुकूल है वहाँ भी उसके स्थान पर वैकल्पिक अन्य भी पदपाठ कल्पित किये जा सकते हैं, तथापि जहाँ तक सम्भव हो प्रचलित पदपाठ का अनुसरण किया

---

१. यास्क ने **'वने न वा यो न्यधायि चाकन्।** ऋ० १०।२६।१' मन्त्र पर शाकल्य के **"वने। न। वा। यः। नि। अधायि। चाकन्।"** इस पदपाठ को स्वरदोष तथा अर्थदोष के कारण अस्वीकार करते हुए स्वयं **'वायः'** को एक पद माना है।—"वन इव वायो वेः पुत्रः चायन्निति वा कामयमान इति वा। वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमाप्तश्चार्थः।"—निरु० ६।२८।११४

जाना उचित है। स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में सायणकृत एक पदार्थ को इस दृष्टि से अशुद्ध ठहराया है कि वह पदपाठ के विरुद्ध है।[1] इससे ज्ञात होता है कि वे युक्तियुक्त पदपाठ का अनुसरण किया जाना आवश्यक समझते थे। सामवेद के कई आधुनिक अनुवादकों द्वारा पदपाठ का उपयोग न किये जाने का परिणाम यह हुआ है कि कई स्थलों पर उन्होंने स्वरविरुद्ध तथा व्याकरणविरुद्ध पदच्छेद कर लिये हैं और क्रियापद को नामपद एवं नामपद को क्रियापद मान लिया है।

टिप्पणियाँ

भाष्य में दी गयी टिप्पणियाँ कई प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की टिप्पणी मन्त्र के सम्बन्ध में हैं। कोई मन्त्र सामवेद के अतिरिक्त यदि ऋग्वेद, यजुर्वेद या अथर्ववेद में भी आया है तो उसका पता टिप्पणी में दे दिया गया है। यदि अन्य वेदों में कुछ पाठ-भेद, ऋषि-भेद या देवता-भेद है तो वह भी उस पते के साथ दर्शा दिया गया है। दूसरे प्रकार की टिप्पणी दयानन्द-भाष्य-सम्बन्धी हैं। यदि कोई मन्त्र सामवेद के अतिरिक्त ऋग्वेद में या यजुर्वेद में अथवा इन दोनों वेदों में भी पठित है, तो वहाँ स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में या यजुर्वेदभाष्य में अथवा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों के भाष्यों में उसका क्या पारमार्थिक या व्यावहारिक अर्थ किया है, इसका संकेत टिप्पणी में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अपने अर्थ की पुष्टि में भी हमने टिप्पणी में किसी पद के दयानन्दकृत अर्थ को उद्धृत किया है।

तीसरे प्रकार की टिप्पणियाँ इतर भाष्यकारों से सम्बन्ध रखती हैं। सामवेद के इतर भाष्यकारों में माधवाचार्य, भरतस्वामी और सायणाचार्य प्रमुख हैं। कहीं अपने अर्थ की पुष्टि में और कहीं अपना अर्थ भिन्न होने पर भी तुलना के लिए हमने टिप्पणी में इनके भाष्यों से सन्दर्भ उद्धृत किये हैं। स्वर, पदपाठ आदि की दृष्टि से इनके अर्थों में यदि कोई विसंगति पायी जाती है तो उसका संकेत भी इस प्रसंग में कर दिया है। इनके द्वारा किये गये अध्यात्मपरक भाष्य विशेष महत्त्व के हैं, उन्हें भी टिप्पणी में उद्धृत कर दिया गया है। इस प्रकार पाठक के लिए स्वभाष्य, दयानन्द-भाष्य एवं अन्य भाष्यों की परस्पर तुलना के लिए भी पर्याप्त सामग्री हमने दे दी है। चौथे प्रकार की टिप्पणियों को विविध में डाला जा सकता है। इनमें कोई टिप्पणी पदार्थ-सम्बन्धी, कोई व्याकरण-सम्बन्धी, कोई पदपाठ-सम्बन्धी तथा कोई आलोचना-सम्बन्धी है।

पदपाठ

हमें सामवेदीय पदपाठ के तीन संस्करण उपलब्ध हो सके हैं। प्रथम पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी का संस्करण है। यह विक्रमी संवत् १९४८ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था तथा अब हरियाणा-साहित्य-संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक से ऑफसेट-पद्धति द्वारा विक्रमी संवत् २०३९ में पुनः प्रकाशित किया गया है। इसमें सम्पूर्ण सामवेद का पदपाठ प्रदत्त है। दूसरा पण्डित एम० एम० रामनाथ

---

१. **रक्षस्विनः सदमिद्यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह।** ऋ० १।३६।२०, पदपाठ—**यातुऽमावतः।** "यातवो यातनाः तान् मिमते निर्मिमते इति राक्षसव्यापारा यातुमाः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः। तदेषामस्तीति मतुप्"—सायण। "(यातुमावतः) यान्ति प्राप्नुवन्ति ते यातवः, मत्सदृशाः इति मावन्तः। यातवश्च ते मावन्तश्च तान्। अत्र सायणाचार्येण यातुरिति पूर्वपदं मावानित्युत्तरपदं चाविदित्वा यातुमापदान्मतुप् कृतस्तदिदं पदपाठविरुद्धत्वादशुद्धम्"—दयानन्दभाष्य।

दीक्षित द्वारा सम्पादित तथा वैदिक अनुसन्धान-समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से संवत् २०२३ में प्रकाशित संस्करण है, जिसमें ऊहगान तथा ऊह्यगान सहित केवल सामवेद उत्तरार्चिक का संहितापाठ एवं पदपाठ संगृहीत है। तीसरा संस्करण है मायूरं ब्रह्मश्री म० रामनाथ दीक्षितार विद्यावाचस्पति द्वारा सम्पादित तथा श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रकाशन-समिति, मद्रास द्वारा पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक रूप में दो खण्डों में क्रमशः सन् १९७८ एवं १९८२ में प्रकाशित। मुद्रण की अशुद्धियाँ तीनों ही संस्करणों में न्यूनाधिक पायी जाती हैं, तथापि प्रथम में अधिक हैं। स्वर की दृष्टि से पूर्णतः प्रामाणिक संस्करण इनमें से कोई नहीं है। मुद्रणजात स्खलतियों के अतिरिक्त कुछ अंशों में स्वर-चिह्नों के प्रयोग में सिद्धान्त-भिन्नता भी मिलती है। उदाहरणार्थ एकाधिक पदों में अनुदात्त इकट्ठे आने पर सामश्रमी प्रत्येक पद पर अनुदात्त पृथक्-पृथक् अंकित करते हैं, किन्तु शेष दोनों संस्करणों में केवल प्रथम पद को ही अनुदात्तसूचक ३ के अंक से चिह्नित किया गया है।

उदाहरणार्थ—

साम-क्रमांक	सामश्रमी-संस्करण	शेष दोनों संस्करण
१,६६०	सत्सि बर्हिषि	सत्सि बर्हिषि
४,१३९६	जङ्घनत् द्रविणस्युः	जङ्घनत् द्रविणस्युः
३६,१५४४	ऊर्जाम् पते पाहि	ऊर्जाम् पते पाहि
९९,१५६१	देहि जातवेदः जात वेदः	देहि जातवेदः जात वेदः

परन्तु स्वर दर्शाने का यह प्रकार-भेद सामश्रमी-संस्करण के केवल पूर्वार्चिक में ही है। उत्तरार्चिक में सामश्रमी भी अधिकतर शेष दोनों संस्करणों के समान ही स्वर-चिह्न लगाते हैं।[1] यथा—

साम ६५१ : अस्मै गायत नरः।

साम ७२७ : ते शृङ्गवृषः शृङ्ग वृषः नपात्।

प्रस्तुत भाष्य में ऐसे स्थलों में हमने प्रथम पद पर ही अनुदात्त का चिह्न दिया है, जैसा काशी और मद्रास के संस्करणों में है।

एक अन्य विषमता उपर्युक्त संस्करणों में यह है कि सामश्रमी एकाक्षर उदात्त को सर्वत्र २ के अंक से चिह्नित करते हैं, किन्तु अन्य संस्करण एकाक्षर उदात्त को पूर्वपद के स्वरित (२ या २र) से परे होने पर अनंकित ही छोड़ते हैं, अन्यत्र २ के अंक से चिह्नित करते हैं। हमने अन्य संस्करणों का अनुसरण करते हुए स्वरित से परे एकाक्षर उदात्त को अनंकित रखा है।

पदपाठ में प्रत्येक पाद के पश्चात् पूर्ण-विराम का चिह्न दिया गया है, प्रत्येक अर्धर्च के पश्चात् दो विराम के चिह्न लगाये गये हैं। पदपाठ यथाशक्ति शुद्ध देने का यत्न किया गया है। किन्तु अन्तिम रूप से शुद्ध पदपाठ क्या है यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। आशा है जो पदपाठ हमने दिया है वह अन्तिम शुद्ध पाठ के निश्चय में सहायक हो सकेगा। विद्वज्जन इसपर और अधिक विचार करें।

---

१. वस्तुतः सामश्रमी-संस्करण के उत्तरार्चिक में स्वर-चिह्न बहुत अव्यवस्थित छपे हैं। कहीं एक मार्ग का और कहीं दूसरे मार्ग का अनुसरण है। यह मुद्रण-दोष भी हो सकता है।

अलंकार

काव्यशास्त्रियों ने अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालंकार कल्पित किये हैं, जिनमें से शब्दालंकार भाषा को तथा अर्थालंकार अर्थ को अलंकृत करते हैं। पर ऐसा नहीं है कि काव्यशास्त्रियों ने अलंकार पहले निश्चित कर लिये हों और उसे देखकर कवियों ने अपने काव्यों में उनका प्रयोग किया हो। वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भवभूति आदि कवियों के काव्यों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके उनमें शब्दार्थों के सौष्ठव को देखकर ही भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने नामोल्लेखपूर्वक अलंकारों की उद्भावना की। आद्य काव्यशास्त्री भरतमुनि ने केवल यमक, उपमा, रूपक और दीपक इन चार अलंकारों का ही निर्देश किया था। शनैः-शनैः इनकी संख्या बढ़ती गयी और १२५ तक जा पहुँची। आज भी लगभग ६५ अलंकार तो माने ही जाते हैं।

अलंकारों का नामकरण तो बाद में हुआ, किन्तु इनका प्रयोग लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेद-संहिताओं में अत्युत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छह वेदांगों के अतिरिक्त सातवाँ वेदांग अलंकार है, क्योंकि उसके स्वरूप-परिज्ञान के विना वेदार्थ का ज्ञान नहीं होता, यह यायावरीय आचार्य का मत है।[1] उदाहरण-रूप में उसने 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' ऋ० १/१६४/२८ आदि ऋचा प्रस्तुत की है कि इसमें अलंकार का ज्ञान न हो तो पाठक शाब्दिक अर्थ तक ही रह जाएगा, आत्मा-परमात्मा आदि परक रहस्यार्थ तक नहीं पहुँच पायेगा।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'अलंकारभेदविषय' में उपमा, रूपक और श्लेष अलंकारों के भेद सोदाहरण प्रतिपादित करके लिखा है कि "इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं, सो जहाँ-जहाँ वेदभाष्य में आवेंगे वहाँ-वहाँ लिखे जायेंगे।"[2] अपने ऋग्वेद-भाष्य तथा यजुर्वेद-भाष्य में उन्होंने श्लेष और उपमा तो स्थान-स्थान पर लिखे हैं, क्वचित् रूपक भी लिखा है।[3] उपमा में पूर्णोपमा के अतिरिक्त वाचकलुप्तोपमा अनेक स्थलों पर प्रदर्शित की है। एक मन्त्र के भाष्य में प्रतीप अलंकार[4] भी दर्शाया है। अन्य अलंकारों को वे नहीं दर्शा पाये, क्योंकि प्रामाणिक अर्थों का दर्शन कराने पर उनका अधिक बल रहा।

प्रस्तुत सामवेद-भाष्य में अलंकार अपेक्षाकृत अधिक दर्शाने का यत्न किया गया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास और श्लेष का उल्लेख किया गया है। शब्दालंकार विशिष्ट स्थलों में ही दर्शाये गये हैं, सर्वत्र नहीं। लौकिक काव्यों के टीकाकार भी शब्दालंकारों का क्वचित् ही उल्लेख करते हैं। अर्थालंकारों में प्रमुखतः उपमा, अनन्वय, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थश्लेष, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, व्यतिरेक, विभावना, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिकर, उल्लेख, अन्योन्य, सम, विषम तथा भाविक अलंकारों का निर्देश किया गया है।

---

१. 'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः।—का० मी०, अध्याय २

२. एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते। —ऋ० भा० भू०, अलङ्कारभेदविषयः।

३. द्रष्टव्य—ऋ० १।१६४।२०,२६,३० का दयानन्द-भाष्य।

४, द्रष्टव्य—ऋ० १।३०।१४ का दयानन्द-भाष्य।

यथास्थान काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण से उस-उस अलंकार का लक्षण भी दे दिया गया है, जिससे उसका स्वरूप समझकर वेदमन्त्र में उसका सौन्दर्य देखा जा सके।

अलंकारों के विषय में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि लक्षण घटने पर भी उस उक्ति में अलंकार नहीं माना जाता, जिसमें चमत्कार न हो। अतः अनेक वेदमन्त्रों में जहाँ किसी अलंकार का अन्वेषण किया जा सकता था, हमने अलंकार नहीं लिखा है। किसी सूक्ति में एकाधिक अलंकार होने पर उन अलंकारों की संसृष्टि या उनके संकर भी होते हैं। इस विस्तार में हम प्रायः नहीं गये हैं।

वेदों में किसी मन्त्र के एकाधिक अर्थ निकलने पर किसी अर्थ को प्रस्तुत और किसी को अप्रस्तुत कहना सामान्यतः सम्भव न होने से अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों की उद्भावना न करके ऐसे स्थलों को श्लेषालंकार में डालना ही संगत होता है। अतएव दयानन्द के वेदभाष्य में श्लेषालंकार बहुत व्यापक रहा है। वही स्थिति प्रस्तुत भाष्य में भी है।

लौकिक काव्यों में अर्थ निश्चित होने के कारण अलंकार-दर्शन सबके द्वारा प्रायः समान ही होता है, यद्यपि क्वचित् वहाँ भी मतभेद की सम्भावना रहती है। पर वेदमन्त्र का तो जो अर्थ कोई व्याख्याता करता है उसके अनुरूप ही वह उसमें अलंकार दर्शाता है। दूसरा व्याख्याकार अपने अर्थ के अनुसार उसमें भिन्न अलंकार दर्शा सकता है। इसी दृष्टि से इस भाष्य में प्रदर्शित अलंकारों को देखना चाहिए।

जड़ पदार्थ को सम्बोधन

निरुक्त में ऋचाएँ तीन प्रकार की कही गयी हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक[1]। परोक्षकृत ऋचाओं में क्रियापद प्रथम पुरुष का होता है तथा प्रतिपाद्य देवता के वाचक पद में कोई भी नाम-विभक्तियाँ प्रयुक्त हो सकती हैं। यथा—'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः' (ऋ० १०।८९।१०) 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' (ऋ० १।७।१) आदि। प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में क्रियापद मध्यम पुरुष का होता है तथा प्रतिपाद्य देवता को सम्बोधन करते हुए उसके लिए त्वम्, युवाम् या यूयम् साक्षात् प्रयुक्त रहता है या अध्याहृत होता है। यथा 'त्वमिन्द्र बलादधि' (ऋ० १०।१५३।२), 'वि न इन्द्र मृधो जहि' (ऋ० १०।१५२।४), 'अग्न आ याहि वीतये' (साम १।१।१)। आध्यात्मिक ऋचाएँ वे होती हैं जिनमें क्रियापद उत्तम पुरुष का रहता है तथा 'अहम्' सर्वनाम के प्रयोग द्वारा देवता स्वयं अपना वर्णन करता है। यथा—'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः' (ऋ० १०।४८) में इन्द्र द्वारा आत्म-परिचय दिया गया है।

जो प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ हैं उनमें जब देवतावाची पद के चेतन परमेश्वर, जीवात्मा, राजा, सेनापति, आचार्य आदि अर्थ किये जाते हैं तब तो संगति लग जाती है। किन्तु जब भौतिक अग्नि, भौतिक सूर्य आदि अर्थ करते हैं तब जड़पूजा की शंका होने लगती है। यथा—'अग्न आ याहि वीतये'

---

१. तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः—ऋ० १०।८९।१०', 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्—ऋ० १।७।१', 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः—ऋ० ७।१८।१५', इन्द्राय साम गायत—ऋ० ८।९८।१', 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन —ऋ० ९।६९।६', 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्—ऋ० १।३२।१', 'इन्द्रे कामा अयंसत' इति॥ अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। 'त्वमिन्द्र बलादधि—ऋ० १०।१५३।२' 'वि न इन्द्र मृधो जहि—ऋ० १०।१५२।४' इति॥ अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो—ऋ० १०।४८, लवसूक्तं—ऋ० १०।११९, वागाम्भृणीयम्—ऋ० १०।१२५ इति।

(साम० १।१।१) में अग्नि का अर्थ यदि यज्ञाग्नि या शिल्पाग्नि करें तो 'हे यज्ञाग्नि, हे शिल्पाग्नि, तू आ' इस अर्थ में जड़ में चेतनवत् व्यवहार होने से जड़-पूजा की भ्रान्ति होती है।

अतएव स्वामी दयानन्द ऋ० भा० भू० के वैदिकप्रयोगविषय में निरुक्त को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि—"व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम (पुरुष) अपनी-अपनी जगह होते हैं, अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम (पुरुष), चेतन में मध्यम वा उत्तम (पुरुष) होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम[1] से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बनाए हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है। और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।"[2]

इस लेख से यह स्पष्ट है कि जड़ पदार्थों में सम्बोधन तब होता है जब स्तोता उन्हें हस्तामलकवत् स्पष्ट देख रहा होता है। इसलिए स्वामी दयानन्द का कथन है कि 'जहाँ-कहीं पदार्थ-विद्या के उपदेश के लिए जड़ में जो चेतनभाव की कल्पना कर ली जाती है, वहाँ उस बात में दोष नहीं आ सकता[3]।'

फिर भी किसी प्रकार की भ्रान्ति इस विषय में किसी को न रहे तथा वेदों में जड़पूजा की मिथ्या कल्पना पाठक न करें, इस विचार से मन्त्र में जहाँ जड़ पदार्थ को सम्बोधन होता है वहाँ स्वामी-जी व्यत्यय मानकर अर्थ करते हैं। किसी मन्त्र के चेतनपरक और अचेतनपरक दो अर्थ करते हैं, तो चेतनपरक में व्यत्यय नहीं करते, किन्तु अचेतनपरक में व्यत्यय करते हैं। यथा—

"**वायवा याहि दर्शत** (ऋ० १।२।१)—(**वायो**) अनन्तबल सर्वप्राणान्तर्यामिन्नीश्वर तथा सर्वमूर्त्तद्रव्याधारो जीवनहेतुः भौतिको वा, (**आयाहि**) आगच्छ, आगच्छति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः।"

हमने सामवेद के प्रस्तुत भाष्य में सम्बोधनान्त पदों के जड़परक व्याख्यान प्रायः नहीं किये हैं। यदि क्वचित् ऐसे स्थलों में जड़वस्तुपरक अर्थ दर्शाया भी गया है तो वह इस रूप में है कि उससे पाठकों को जड़-पूजा का भ्रम नहीं होगा। असल में अचेतनों में चेतनवत् व्यवहार भाषा की एक आलंकारिक शैली है, जो सभी भाषाओं में पायी जाती है। अतः इससे किसी को शंकित होने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि।—निरु० ७।२, दुर्गाचार्य आदि ने इसका व्याख्यान अन्य प्रकार से किया है।

२. व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगास्सन्ति। तत्रेदं बोध्यं, जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति॥ इमं नियमम् अबुद्ध्वा वेद-भाष्यकारैः सायणा-चार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः—ऋ० भा० भू०, वैदिकप्रयोगविषय।

३. विद्योपदेशार्थं यदाख्यानं भवति तत्राचेतने चेतनवद् व्यवहारे न दोषो भवति।—ऋ० १।२।१, स्वामिदयानन्दकृत नमूनाभाष्य, 'परोपकारी', नवम्बर १९८६ में प्रकाशित।

अन्तिम निवेदन

स्वामी दयानन्द द्वारा वेदों का नाद गुंजाया जाने के पश्चात् वेदों के व्याख्यान एवं अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति बढ़ी है। आर्यभाषा और अंग्रेजी भाषा में वेदों के कई अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। सामवेद के आर्यभाषा-भाष्यों में पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पं० वैद्यनाथ शास्त्री, पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार के भाष्य उल्लेखनीय हैं। इन सबसे पूर्व पं० तुलसीराम स्वामी सामवेद का एक उत्कृष्ट भाष्य कर चुके थे, जो संस्कृत तथा आर्यभाषा दोनों में है। संस्कृत तथा आर्यभाषा में सामवेद का एक अच्छा अध्यात्म-भाष्य स्वामी भगवदाचार्य ने भी लिखा है, जो सामसंस्कारभाष्य नाम से है। महामण्डलेश्वर स्वामी गंगेश्वरानन्द उदासीन के नाम से सामवेदसंहिता का एक भूमिकासहित सटिप्पण हिन्दी-भाष्य सद्गुरु-गंगेश्वर-इण्टरनेशनल-वेदमिशन, बम्बई से दो भागों में छपा है, जिसमें प्रत्येक मन्त्र के तीन-तीन अर्थ दिये गये हैं, प्रथम सायणानुसारी अर्थ है, द्वितीय आत्मयाजी अर्थ है और तृतीय अर्वाचीन अर्थ है जो प्रायः जयदेव विद्यालंकार के भाष्य से लिया गया है। अंग्रेजी भाषा में सामवेद का एक उल्लेखनीय अनुवाद पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति विद्यामार्तण्ड कृत है, जिसमें संस्कृत-टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। इन सब भाष्यों के बाद भी स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदभाष्यपद्धति पर किये जानेवाले एक संस्कृत-आर्यभाषा-युक्त सुप्रमाण-भूषित भाष्य की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जिसकी यत्किञ्चित् सम्पूर्ति प्रस्तुत भाष्य द्वारा हो सकेगी ऐसी आशा है।

इस भाष्य के लिखने में वेदों के अनन्य भक्त करनाल-निवासी रायसाहिब चौधरी प्रतापसिंहजी की सद्भावनापूर्ण शुभ प्रेरणाएँ निरन्तर प्राप्त होती रही हैं। वे इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग भी देना चाहते थे, जो उनके दिवंगत हो जाने के कारण सम्भव नहीं हो सका।

पुत्री सुमेधा और सुकामा वैदिक विषय पर पी-एच० डी० के शोध-निमित्त वेदमन्दिर-आश्रम में कुछ काल निवास करती हुई वेद-भाष्य में मुझे यथाशक्ति सहयोग देती रही हैं। अब वे व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० हैं। उन्हें मेरा आशीर्वाद है।

श्री स्वामी दीक्षानन्दजी सरस्वती ने भाष्य के प्रकाशन का दुष्कर भार समर्पण-शोध-संस्थान की ओर से सहर्ष वहन कर मुझे निश्चिन्त कर दिया, तदर्थ उनके प्रति अत्यन्त आभारी हूँ। यह शोध-संस्थान वेदों के उद्भट विद्वान् श्री स्वामी समर्पणानन्दजी सरस्वती (पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार) के प्रख्यात नाम पर चल रहा है, जिनसे समय-समय पर मुझे भी वेद-कार्य के लिए प्रोत्साहन, साधुवाद एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है। उनके प्रति मेरी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

भाष्य कैसा है, इसके निर्णायक नीरक्षीरविवेकी विद्वद्-हंस ही हो सकते हैं। भाष्य में मानव-सुलभ अनेक स्खलतियाँ सम्भव हैं। विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वे मुझे उनसे अवगत करके उपकृत करें, जिससे भविष्य में उनका परिमार्जन हो सके। सहृदय पाठकों के प्रति मेरी भावपूर्ण शुभकामनाएँ हैं।

वेद-मन्दिर **—रामनाथ वेदालंकार**
ज्वालापुर (हरिद्वार)
२३-१२-१९८७

संक्षेप-सूची

अ०	अष्टाध्यायी
अथ०	अथर्ववेदसंहिता
आप० ध० सू०	आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
उ०	उणादिकोष:
ऋ०	ऋग्वेदसंहिता
ऋ० प्रा०	ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्
ऋ० भा०	ऋग्वेदभाष्यम्
ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यकम्
ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मणम्
कठ०	कठोपनिषद्
का०	कात्यायन:
काठ०	काठकसंहिता
का० प्र०	काव्यप्रकाश:
का० मी०	काव्यमीमांसा
केन०	केनोपनिषद्
कौ० ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मणम्
ग०	गणपाठसूत्रम्
गो० उ०	गोपथब्राह्मणम्, उत्तरभाग:
गो० पू०	गोपथब्राह्मणम्, पूर्वभाग:
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणम्
जै० ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मणम्
जै० सू०	जैमिनिसूत्रम्
तां० ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्
तुलसी	तुलसीराम: स्वामी
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
द०	दयानन्द: स्वामी
द० भा०	दयानन्दभाष्यम्
निघं०	निघण्टुकोष:
निरु०	निरुक्तम् (यास्ककृतम्)
पा०	पाणिनि:
पार० गृह्य०	पारस्करगृह्यसूत्रम्
प्रपा०	प्रपाठक:
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्रम्
भ०	भरतस्वामी
म०	महीधर:
म० भा०	महाभाष्यम् (पातञ्जलम्)
मु०	मुण्डकोपनिषद्
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
य०	यजुर्वेदसंहिता
य० भा०	यजुर्वेदभाष्यम्
योग०	योगदर्शनम्
रघु०	रघुवंश:
वा०	वार्तिकम्
वा० मा०	वाजसनेयिमाध्यन्दिनसंहिता
वि०	विवरणकार: माधव:
श०	शतपथब्राह्मणम्
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
ष० ब्रा०	षड्विंशब्राह्मणम्
स० प्र०	सत्यार्थप्रकाश
सा०	सायणाचार्य:
सा० द०	साहित्यदर्पण:
साम०	सामवेदसंहिता
सा० वि० ब्रा०	सामविधानब्राह्मणम्
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
संहि० ब्रा०	संहितोपनिषद्ब्राह्मणम्

—०—

अथ सामवेदभाष्यारम्भः क्रियते

पूर्वार्चिकः (छन्द आर्चिकः)

आग्नेयं काण्डं पर्व वा

आग्नेयकाण्डे तावच्चतुर्दशोत्तरशतं (११४) मन्त्रा वर्तन्ते, येषां प्रायेण[1] अग्निरेव देवता। अग्निदेवताकत्वादेवाग्नेयमिति संज्ञा। ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च चरमोत्कर्षो ज्ञानकर्मणोरुपासनायां परिणतिश्च सामवेदस्य विषयः[2]। द्विविधौ खलु वेदानामर्थौ, पारमार्थिको व्यावहारिकश्च। पारमार्थिकदृष्टयाऽग्निशब्दस्यात्र मुख्योऽर्थः परमात्मैव—यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। ऋ० १।१६४।३९, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १।१६४।४६, तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। य० ३२।१, ब्रह्म ह्यग्निः श० १।४।२।११ इत्यादिप्रामाण्यात्। परमात्मातिरिक्तम् अग्निशब्दस्य परमार्थविषयाणि आत्ममनःप्राणवागादीन्यपि वाच्यानि भवितुमर्हन्ति। उक्तं च—आत्मैवाग्निः श० ६।७।१।२०, मन एवाग्निः। श० १०।१।२।३, प्राणो वा अग्निः। श० ६।५।१।६८, वागेवाग्निः। श० ३।२।२।१३ इति। व्यावहारिकदृष्टया पार्थिवाग्नि-विद्युत्-सूर्य-विद्वद्-नृप-सेनाधीशादयोऽर्था अग्निशब्दस्य वाच्या भवन्ति।

अग्निशब्दं तावद् यास्काचार्य एवं निर्वक्ति—अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इताद् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नी परः। नि० ७।१४। अग्निशब्दवाच्यः परमात्मा हि सर्वेषामुपासकानामग्रणीः अग्रनायकः मार्गप्रदर्शक इति यावत्। स च सर्वेषु यज्ञेषु अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेषु, अध्ययनाध्यापनादिषु, वापीकूपतडागोद्यानचिकित्सालयादिनिर्माणरूपेषु इतरेषु च परोपकारयज्ञेषु अग्रं प्रणीयते, आदर्शरूपेण संमुखं स्थाप्यते। यं कं चोपासकं प्रति संनतो भवति तम् अङ्गं नयति, आश्रयरूपे स्वक्रोडे स्थापयति। यद्वा, न क्नोपयति[3] नार्द्रीकरोति स्वोपासकं दुःखद्रवरसेन पापपङ्केन वा यः सोऽक्निः, अक्निरेव चाग्निः। यद्वा, एति क्रियाशीलो भवति स्वोपासकमुन्नेतुम्, अनक्ति संमार्ष्टि उपासकहृदयम्, दहति हृत्स्थं मालिन्यम्, नयति च लक्ष्यं प्रति[4] यः स परमात्मा अग्निपदेनोच्यते।

---

१. केवलमधस्तनाः षडेव मन्त्रा भिन्नदैवताः सन्ति—५६ ब्रह्मणस्पतिः, ५७ यूपः, ७५ पूषा, ९१ विश्वेदेवाः, १०१ पवमानः सोमः, १०२ अदितिः। एता अपि देवता अग्निसम्बद्धत्वादेवाग्नेये पर्वणि समाविष्टाः।

२. ज्ञानकर्मणोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति दयानन्दः।—ऋ० भा० भू० प्रश्नोत्तरविषयः।

३. क्नूयी शब्दे उन्दे च। णिजन्तः।

४. इण् गतौ धातोर्निष्पन्नाद् 'अयन' शब्दाद् 'अकारः', अञ्चू धातोर्निष्पन्नाद् 'अक्त' शब्दाद्, दह धातोर्निष्पन्नाद् 'दग्ध' शब्दाद् वा 'गकारः', णीञ् प्रापणे धातोः 'निः'। एवं त्रिभ्यो धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यतीति शाकपूणिमतम्।

अगि गतौ धातोरप्यग्निशब्दः सिध्यति[1]। गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च। यः अङ्गति जानाति सर्वं, गच्छति सर्वत्र व्यापको भवति, प्राप्नोति च स्वोपासकान् तस्मात् परमात्मा अग्निरुच्यते। किं च, पार्थिवाग्नि-विद्युदग्नि-सूर्याग्निवत् प्रकाशमानत्वात् प्रकाशकत्वाच्चापि परमात्मा रूपकातिशयोक्तिमाश्रित्य अग्निनाम्ना स्मर्यते।

अग्नेः कर्माणि निरुक्तकार एवमाह—अथास्य कर्म। वहनं च हविषाम् आवाहनं च देवतानाम्, यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकम् अग्निकर्मैव तत्। निरु० ७।८। यज्ञाग्निवत् परमात्माग्निरपि अध्यात्म-याजिभिर्हविष्कृत्वा हुतानि सर्वाणि ज्ञानकर्मादीनि वाक्चक्षुःश्रोत्रप्राणमनोबुद्ध्यादीनि च वहति स्वीकरोति, तेषां हृदयरूपे यज्ञस्थले देवान् दिव्यगुणान् आवाहयति, मानसं तमो निवार्य प्रकाशदृष्टिं च प्रयच्छति। तस्मात् परमात्मनोऽग्निरूपस्य चिन्तनं योगसाधकाय महत् कल्याणकरम्। अत एवाग्नेयपर्वणि परमात्माऽग्निरूपेण ध्यायते।

अब सामवेद का भाष्य आरम्भ करते हैं। उसमें प्रथम पूर्वार्चिक (छन्द आर्चिक) है। उसमें भी सर्वप्रथम आग्नेय काण्ड या पर्व की व्याख्या करनी है। आग्नेय काण्ड में कुल ११४ मन्त्र हैं, जिनका प्रायः अग्नि ही देवता है। अग्नि देवता वाला होने से ही इस काण्ड का आग्नेय नाम पड़ा है। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना के चरम उत्कर्ष का वर्णन तथा ज्ञान और कर्म की उपासना में परिणति ही सामवेद का विषय है। वेदों के दो प्रकार के अर्थ होते हैं, पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि से अग्नि शब्द का यहाँ मुख्य अर्थ परमात्मा ही है। इसमें प्रमाण भी हैं—'जिसने वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य परमात्मा को नहीं जाना, वह वेदमन्त्रों से क्या लाभ उठा सकेगा!' ऋ० १।१६४।३९, 'एक ही परमात्मा को ज्ञानीजन अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। ऋ० १।१६४।४६', 'उसी परमात्मा का नाम अग्नि है, आदित्य है, वायु है, चन्द्रमा है। य० ३२।१', 'ब्रह्म ही अग्नि है। श० १।४।२।११' आदि। परमात्मा के अतिरिक्त परमार्थ विषय में अग्नि शब्द के आत्मा, मन, प्राण, वाणी आदि भी वाच्यार्थ हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी है—'आत्मा ही अग्नि है। श० ६।७।१।२०', 'मन ही अग्नि है। श० १०।१।२।३', 'प्राण ही अग्नि है। श० ६।५।१।६८', 'वाणी ही अग्नि है। श० ३।२।२।१३।' व्यावहारिक दृष्टि से पार्थिव अग्नि, बिजली, सूर्य, विद्वान् पुरुष, राजा, सेनापति आदि अग्नि शब्द के वाच्यार्थ होते हैं।

अग्नि शब्द का यास्काचार्य ने निरुक्त (७।१४) में जो निर्वचन दिखाया है उसके अनुसार अग्नि शब्द 'अग्र-नी' या 'अंग-नी' से निष्पन्न होता है। परमात्मा का नाम अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह उपासकों का अग्र-णी अर्थात् अग्र-नायक या पथप्रदर्शक बनता है और वह अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों में या अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञों में अथवा सार्वजनिक बावड़ी, कुआँ, तालाब, उद्यान, चिकित्सालय आदि के निर्माणरूप यज्ञों में तथा अन्य परोपकार के यज्ञों में आदर्श रूप में सबसे आगे लाया जाता है (अग्र-नी)। वह जिस उपासक के अनुकूल होता है, उसे अपने अंग में अर्थात् अपनी आश्रयरूप गोदी में ले लेता है (अंग-नी)। निरुक्त के अनुसार स्थौलाष्ठीवि आचार्य 'न'-पूर्वक गीला करने अर्थ वाली क्नूयी धातु से अग्नि शब्द की सिद्धि करते हैं। जो दुःख-द्रव से या पाप-पंक से अपने उपासक को गीला नहीं होने देता, वह परमात्मा अग्नि है (न-क्नि=अग्नि)। निरुक्त में उद्धृत शाकपूणि आचार्य के मत में अग्नि शब्द तीन धातुओं से मिलाकर बना है। अग्नि का अ गत्यर्थक इण् धातु के 'अयन' से लिया गया है, क् या ग् माँजने अर्थ वाली अञ्जू धातु के 'अक्त' से या दाहार्थक 'दह' धातु के

---

१. अगि धातोः 'अङ्गेर्नलोपश्च' उ० ४।५१। इत्युणादिसूत्रेण निप्रत्ययः, धातोरिदित्वाज्जातस्य नुमो नकारस्य च लोपः।

'दग्ध' से लिया है और नि नयनार्थक नी (णीञ् प्रापणे) से गृहीत किया गया है। परमात्मा अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह अपने उपासक को उन्नत करने में गतिशील या सक्रिय होता है, उपासक के हृदय को माँजकर स्वच्छ कर देता है, हृदय-स्थित मालिन्य को दग्ध करता है और उसे उसके निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

उणादि-प्रक्रिया के अनुसार अग्नि शब्द की सिद्धि गत्यर्थक 'अगि' धातु से होती है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। जो सर्वज्ञ है, सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है और अपने उपासकों को प्राप्त होने वाला है, उस परमात्मा का नाम अग्नि है। परमात्मा को अग्नि एक अन्य हेतु से भी कह सकते हैं। पार्थिव अग्नि, बिजलीरूप अग्नि और सूर्यरूप अग्नि के समान प्रकाशमान और प्रकाशक होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेकर उसे साक्षात् अग्नि ही कह दिया जाता है।

अग्नि के कर्म बताते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि "अग्नि हवियों का वहन करता है, देवताओं का आवाहन करता है और जो दर्शनविषयक प्रकाश-प्रदान आदि का कर्म है वह भी अग्नि का ही है (निरु० ७।८)।" यज्ञाग्नि के समान परमात्मा-रूप अग्नि भी इन कर्मों को करता है। वह अध्यात्म-याजियों द्वारा हवि-रूप में समर्पित किये हुए सब ज्ञान, कर्म आदियों को तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन, बुद्धि आदियों को वहन अर्थात् स्वीकार करता है, हृदय-रूप यज्ञस्थल में देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आवाहन करता है और मन की तामसिकता का निवारण कर प्रकाशदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण परमात्मा के अग्निरूप का चिन्तन योगसाधक के लिए महान् कल्याण करनेवाला होता है। इसीलिए आग्नेय पर्व में परमात्मा का अग्निरूप से ध्यान किया गया है।

अथ प्रथमः प्रपाठकः प्रथमोऽध्यायश्च

अथ प्रथमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे प्रथमा दशतिः, प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डश्च प्रारभ्यते।

तत्र अग्न आयाहीति प्रथमाया दशतेः ऋषयः—१,२,४,७,९ भरद्वाजः; ३ मेधातिथिः; ५ उशनाः; ६ सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः; ८ वत्सः; १० वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान्, राजा आदि का आह्वान करते हुए कहते हैं।

१. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥[1]

अन्वित पदार्थ—प्रथम, परमात्मा के पक्ष में। हे **अग्ने** सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुख-प्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! आप **गृणानः** कर्तव्यों का उपदेश करते हुए **वीतये**

१. ऋ० ६।१६।१०; साम ६६०।

हमारी प्रगति के लिए, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिए, हमारे हृदयों में सद्‌गुणों को उत्पन्न करने के लिए, हमसे स्नेह करने के लिए, हमारे अन्दर उत्पन्न काम-क्रोध आदि को बाहर फेंकने के लिए, और **हव्य-दातये** देय पदार्थ श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ धन आदि के दान के लिए **आ याहि** आइए। **होता** शक्ति आदि के दाता एवं दुर्बलता आदि के हर्ता होकर **बर्हिषि** हृदयरूप अन्तरिक्ष में **नि सत्सि** बैठिए।

द्वितीय, विद्वान् के पक्ष में। विद्वान् भी अग्नि कहलाता है। इसमें 'विद्वान् अग्नि है, जो ऋत का संग्रहीता और सत्यमय होता है। ऋ० १।१४५।५।', 'विद्वान् अग्नि है, जो बल प्रदान करता है।' ऋ० ३।२५।२ इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। हे **अग्ने** विद्वन्! **गृणानः** यज्ञविधि और यज्ञ के लाभों का उपदेश करते हुए आप **वीतये** यज्ञ को प्रगति देने के लिए, और **हव्य-दातये** हवियों को यज्ञाग्नि में देने के लिए **आ याहि** आइये। **होता** होम के निष्पादक होकर **बर्हिषि** कुशा से बने यज्ञासन पर **नि सत्सि** बैठिए। इस प्रकार हम यजमानों के यज्ञ को निरुपद्रव रूप से संचालित कीजिए।

तृतीय, राजा के पक्ष में। राजा भी अग्नि कहलाता है। इसमें 'हे नायक! तुम प्रजापालक, उत्तम दानी को प्रजाएँ राष्ट्रगृह में राजा रूप में अलंकृत करती हैं। ऋ० २।१।८, 'राजा अग्नि है, जो राष्ट्ररूप गृह का अधिपति और राष्ट्रयज्ञ का ऋत्विज् होता है।' ऋ० ६।१५।१३ इत्यादि प्रमाण है। हे **अग्ने** अग्रनायक राजन्! आप **गृणानः** राजनियमों को घोषित करते हुए **वीतये** राष्ट्र को प्रगति देने के लिए, अपने प्रभाव से प्रजाओं में व्याप्त होने के लिए, प्रजाओं में राष्ट्र-भावना और विद्या, न्याय आदि को उत्पन्न करने के लिए तथा आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को परास्त करने के लिए, और **हव्य-दातये** राष्ट्रहित के लिए देह, मन, राजकोष आदि सर्वस्व को हवि बनाकर उसका उत्सर्ग करने के लिए **आ याहि** आइये। **होता** राष्ट्रयज्ञ के निष्पादक होकर **बर्हिषि** राज-सिंहासन पर या राजसभा में **नि सत्सि** बैठिए ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'तये, तये' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् पुरोहित यज्ञासन पर बैठकर यज्ञ को संचालित करता है, जैसे राजा राजसभा में बैठकर राष्ट्र की उन्नति करता है, वैसे ही परमात्मा रूप अग्नि हमारे हृदयान्तरिक्ष में स्थित होकर हमारा महान् कल्याण कर सकता है, इसलिए सबको उसका आह्वान करना चाहिए। सब लोगों के हृदय में परमात्मा पहले से ही विराजमान है, तो भी लोग क्योंकि उसे भूले रहते हैं, इस कारण वह उनके हृदयों में न होने के बराबर है। इसलिए उसे पुनः बुलाया जा रहा है। आशय यह है कि सब लोग अपने हृदय में उसकी सत्ता का अनुभव करें और उससे सत्कर्म करने की प्रेरणा ग्रहण करें॥ १ ॥

वह परमात्मा ही सब यज्ञों का निष्पादक है, यह कहते हैं।

२. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन्! **त्वम्** आप **विश्वेषाम्** सब **यज्ञानाम्** उपासकों से किये जाने वाले ध्यानरूप यज्ञों के **होता** निष्पादक ऋत्विज् हो, अतः **देवेभिः** विद्वानों के द्वारा **मानुषे** मनुष्यों के **जने** लोक में **हितः** स्थापित अर्थात् प्रचारित किये जाते हो ॥२॥

१. ऋ० ६।१६।१। सा० १४४७। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं जगदीश्वरपक्षे व्याख्यातवान्।

इस मन्त्र की श्लेष द्वारा सूर्य-पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए। तब परमात्मा सूर्य के समान है यह उपमा ध्वनित होगी ॥२॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सौर-लोक में सब अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, दक्षिणायन, उत्तरायण, वर्ष आदि यज्ञों का निष्पादक है, वैसे ही परमात्मा अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन करनेवाले जनों से किये जाते हुए सब आन्तरिक यज्ञों को निष्पन्न करके उन योगी जनों को कृतार्थ करता है। और जैसे सूर्य अपनी प्रकाशक किरणों से मनुष्य-लोक में अर्थात् पृथिवी पर निहित होता है, वैसे ही परमात्मा विद्वानों से मनुष्य-लोक में प्रचारित किया जाता है ॥२॥

वह परमेश्वर हमारे द्वारा दूत रूप में वरण करने योग्य है यह कहते हैं।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥३॥[1]

पदार्थ—हम **होतारम्** दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले, **विश्ववेदसम्** विश्व के ज्ञाता, विश्व-भर में विद्यमान तथा सब आध्यात्मिक एवं भौतिक धन के स्रोत, **अस्य** इस अनुष्ठान किये जा रहे **यज्ञस्य** अध्यात्म-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता, सुसंचालक ऋत्विज्रूप **अग्निम्** परमात्मा को **दूतं वृणीमहे** दिव्य गुणों के अवतरण में दूत रूप से वरते हैं ॥३॥

भावार्थ—जैसे दूत रूप में वरा हुआ कोई जन हमारे सन्देश को प्रियजन के समीप ले जाकर और प्रियजन के सन्देश को हमारे पास पहुँचाकर उसके साथ हमारा मिलन करा देता है, वैसे ही सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, न्याय, विद्या, श्रद्धा, सुमति इत्यादि दिव्य गुणों के और हमारे बीच में दूत बनकर परमात्मा हमारे पास दिव्य गुणों को बुलाकर लाता है, इसलिए सब उपासकों को उसे दूत रूप में वरण करना चाहिए ॥३॥

वरण किया हुआ परमात्मा पापों को सर्वथा नष्ट कर दे, यह प्रार्थना करते हैं।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया।
१ २ ३ १र २र
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥४॥[2]

पदार्थ—**द्रविणस्युः** उपासकों को आध्यात्मिक धन और बल देने का अभिलाषी **अग्निः** तेजोमय परमात्मा **विपन्यया** विशेष स्तुति से **समिद्धः** संदीप्त, **शुक्रः** प्रज्वलित, और **आहुतः** उपासकों की आत्माहुति से परिपूजित होकर **वृत्राणि** अध्यात्म-प्रकाश के आच्छादक पापों को **जङ्घनत्** अतिशय पुनः-पुनः नष्ट कर दे ॥४॥

श्लेष से यज्ञाग्नि-पक्ष में भी इस मन्त्र की अर्थ-योजना करनी चाहिए ॥४॥

भावार्थ—याज्ञिक जनों द्वारा हवियों से आहुत प्रदीप्त यज्ञाग्नि जैसे रोग आदिकों को निःशेष रूप से विनष्ट कर देता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि योगाभ्यासी जनों के द्वारा हार्दिक स्तुति से

---

१. ऋ० १।१२।१। साम० ७९०। अथर्व० २०।१०१।१

२. ऋ० ६।१६।३४। य० ३३।९। साम० १३९६।
दयानन्दर्षिणा 'अग्नि' शब्दाद् ऋग्वेदे विद्युद्रूपोऽग्निः, यजुर्वेदे च सूर्यादिरूपोऽग्निर्गृहीतः।

बार-बार संदीप्त तथा प्राण, इन्द्रिय, आत्मा, मन, बुद्धि आदि की हवियों से आहुत होकर उनके पाप-विचारों को सर्वथा निर्मूल कर देता है ॥४॥

उस परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं।

५. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रणी परमात्मन् ! **प्रेष्ठम्** सबसे अधिक प्रिय **अतिथिम्** अतिथिरूप, **मित्रम् इव** मित्र के समान **प्रियम्** प्रिय, **रथं न** रथ के समान, **वेद्यम्** प्राप्तव्य **वः** आपकी, मैं **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥५॥

यहाँ 'मित्र के समान प्रिय' और 'रथ के समान प्राप्तव्य' में उपमालंकार है। अग्नि में अतिथित्व के आरोप में रूपक है ॥५॥

भावार्थ—मित्र जैसे सबको प्रिय होता है, वैसे परमात्मा उपासकों को प्रिय है। रथ जैसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए प्राप्तव्य होता है, वैसे ही परमात्मा प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग के लक्ष्यभूत ऐहिक और पारलौकिक उत्कर्ष को पाने के लिए सबसे प्राप्त करने योग्य तथा स्तुति करने योग्य है। हृदयप्रदेश में विद्यमान परमात्मा साक्षात् घर में आया हुआ सबसे अधिक प्रिय अतिथि ही है, अतः वह अतिथि के समान सत्कार करने योग्य है ॥५॥

परमात्मा हमारी किससे रक्षा करे, यह कहते हैं।

६. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** सबके नायक तेजःस्वरूप परमात्मन् ! **त्वम्** जगदीश्वर आप **महोभिः** अपने तेजों से **विश्वस्याः** सब **अ-रातेः** अदान-भावना और शत्रुता से, **उत** और **मर्त्यस्य** मनुष्य के **द्विषः** द्वेष से **नः** हमारी **पाहि** रक्षा कीजिए ॥६॥

इस मन्त्र की श्लेष द्वारा राजा तथा विद्वान् के पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए ॥६॥

भावार्थ—अदानवृत्ति से ग्रस्त मनुष्य अपने पेट की ही पूर्ति करनेवाला होकर सदा स्वार्थ ही के लिए यत्न करता है। उससे कभी सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। दान और परोपकार की तथा मैत्री की भावना से ही पारस्परिक सहयोग द्वारा लक्ष्यपूर्ति हो सकती है। अतः हे जगदीश्वर, हे राजन् और हे विद्वन् ! आप अपने तेजों से, अपने क्षत्रियत्व के प्रतापों से और अपने विद्या-प्रतापों से सम्पूर्ण अदान-भावना तथा शत्रुता से हमारी रक्षा कीजिए। और, जो मनुष्य हमसे द्वेष करता है तथा द्वेषबुद्धि से हमारी प्रगति में विघ्न उत्पन्न करता है उसके द्वेष से भी हमारी रक्षा कीजिए, जिससे सूत्र में मणियों के समान परस्पर सांमनस्य में पिरोये रहते हुए हम उन्नत होवें ॥६॥

१. ऋ० ८।८४।१ 'अग्ने' इत्यस्य स्थाने 'अग्निं' इति पाठः। साम १२४४।
२. ऋ० ८।७१।१।

उस परमात्मा की मैं वेदवाणियों से स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं।

७. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन्! आप **आ इहि उ** मेरे हृदय-प्रदेश में आइये। मैं **ते** आपके लिए **इत्था** सत्य भाव से **इतराः** सामान्य-विलक्षण **गिरः** वेदवाणियों को **सु** सम्यक् प्रकार से, पूर्ण मनोयोग से **ब्रवाणि** बोलूँ, अर्थात् वेदवाणियों से आपकी स्तुति करूँ। आप **एभिः** इन मेरे द्वारा समर्पित किये जाते हुए **इन्दुभिः** भावपूर्ण भक्तिरस-रूप सोमरसों से **वर्धासे** वृद्धि को प्राप्त करें। जैसे चन्द्र-किरणों से समुद्र और वनस्पति बढ़ते हैं, यह ध्वनित होता है, क्योंकि इन्दु चन्द्र-किरणों का भी वाचक होता है ॥७॥

भावार्थ—मनुष्यकृत वाणियाँ सामान्य होती हैं, पर वेदवाणियाँ परमेश्वरकृत होने के कारण उनसे विलक्षण हैं। उनमें प्रत्येक पद साभिप्राय तथा विविध अर्थों का प्रकाशक है। उपासक लोग यदि उन वाणियों से परमात्मा को भजें और उसके प्रति अपने भक्तिरस-रूप सोमरसों को प्रवाहित करें, तो वह चन्द्र-किरणों से जैसे समुद्र, वनस्पति आदि बढ़ते हैं, वैसे उन भक्तिरसों से तृप्त होकर उन उपासकों के हृदय में अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करके उन्हें कृतकृत्य कर दे ॥७॥

मैं तुझ परमात्मा में अपना प्रेम बाँधता हूँ, यह कहते हैं।

८. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** जगत्पिता परमात्मन्! **ते** तेरा **वत्सः** प्रिय पुत्र **परमात् चित्** सुदूरस्थ भी **सधस्थात्** प्रदेश से **मनः** अपने मन को **आयमत्** लाकर तुझ में केन्द्रित कर रहा है। अर्थात् मैं तेरा प्रिय पुत्र तुझमें मन को केन्द्रित कर रहा हूँ। मैं **गिरा** स्तुति-वाणी से **त्वाम्** तुझ परमात्मा की **कामये** कामना कर रहा हूँ, अर्थात् तेरे प्रेम में आबद्ध हो रहा हूँ ॥८॥

भावार्थ—जब मनुष्य सांसारिक विषयों की निःसारता को देख लेता है, तब दूर-से-दूर भू-प्रदेशों में भटकते हुए अपने मन को सभी प्रदेशों से लौटा कर परमात्मा में ही संलग्न कर लेता है और वाणी से परमात्मा के ही गुण-धर्मों का बारम्बार स्तवन करता है और उसके प्रेम से परिप्लुत हृदयवाला होकर सम्पूर्ण पृथिवी के भी राज्य को उसके समक्ष तुच्छ गिनता है ॥८॥

अगले मन्त्र में योगीजन परमात्मा को मस्तिष्क-पुण्डरीक में प्रकट करते हैं, यह विषय है।

९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥९॥[3]

---

१. ऋ० ६।१६।१६। य० २६।१३। साम० ७०५। दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

२. ऋ० ८।११।७, 'कामये' इत्यस्य स्थाने 'कामया' इति पाठः। य० १२।११५। साम० ११६६। यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षि-र्मन्त्रमिमं 'मनुष्यैः सदैव मनः स्ववशं विधेयं वाणी च' इति विषये व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ६।१६।१३। य० १५।२२ (ऋषिः परमेष्ठी)।

पदार्थ—हे **अग्ने** तेजःस्वरूप परमात्मन् ! **अथर्वा** चलायमान न होनेवाला स्थितप्रज्ञ योगी **त्वाम्** आपको **विश्वस्य** सकल ज्ञानों के **वाहकात्** वाहक **पुष्करात् मूर्ध्नः अधि** कमलाकार मस्तिष्क में **निरमन्थत** मथकर प्रकट करता है ।

परमात्मा रूप अग्नि को मथकर प्रकट करने की प्रक्रिया बताते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—"अपने आत्मा को निचली अरणी बनाकर और ओंकार को उपरली अरणी बनाकर ध्यान-रूप मन्थन के अभ्यास से छिपे हुए परमात्मा-रूप अग्नि को प्रकट करे (श्वेता० २।१४)" कमल के पत्ते (पुष्करपर्ण) के ऊपर अग्नि उत्पन्न हुआ था, यह कथा इसी मन्त्र के आधार पर रच ली गयी है ।।९।।

भावार्थ—जैसे अरणियों के मन्थन से यज्ञवेदि-रूप कमलपत्र के ऊपर यज्ञाग्नि उत्पन्न की जाती है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ योगियों को ध्यान-रूप मन्थन से कमलाकार मस्तिष्क में परमात्मा-रूप अग्नि को प्रकट करना चाहिए ।।९।।[1]

विवरणकार माधव ने इस मन्त्र के भाष्य में यह इतिहास लिखा है—"सर्वत्र घोर अंधकार छाया हुआ था । तब मातरिश्वा वायु को आकाश में सूक्ष्म अग्नि दिखाई दी । उसने और अथर्वा ऋषि ने उस अग्नि को मथकर प्रकट किया ।" उसका किया हुआ मन्त्रार्थ साररूप में इस प्रकार है—"(अग्ने) हे अग्नि ! (अथर्वा) अथर्वा ऋषि ने (त्वाम्) तुझे (मूर्ध्नः) प्रधानभूत (पुष्करात्) अंतरिक्ष से (विश्वस्य वाघतः) सब ऋत्विज् यजमानों के लिए (निरमन्थत) अतिशय रूप से मथकर निकाला ।" वस्तुतः विवरणकारप्रदत्त कथानक सृष्ट्युत्पत्ति-प्रक्रिया में अग्नि के जन्म का इतिहास समझना चाहिए । आकाश के बाद वायु और वायु के बाद अग्नि, यह उत्पत्ति का क्रम है । उत्पन्न हो जाने के बाद आकाश में सूक्ष्म रूप से अग्नि भी विद्यमान थी । उसे अथर्वा परमेश्वर ने पूर्वोत्पन्न वायु के साहचर्य से मथ कर प्रकट किया, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए ।

भरतस्वामी के भाष्य का यह आशय है—'अथर्वा ने (मूर्ध्नः) धारक, (विश्वस्य वाघतः) सबके निर्वाहक (पुष्करात्) अन्तरिक्ष से या कमलपत्र से, अग्नि को मथकर निकाला ।' सायण का अर्थ है—'(अग्ने) हे अग्नि ! (अथर्वा) अथर्वा नाम के ऋषि ने (मूर्ध्नः) मूर्धा के समान धारक (विश्वस्य) सब जगत् के (वाघतः) वाहक (पुष्करात् अधि) पुष्करपर्ण अर्थात् कमलपत्र के ऊपर (त्वाम्) तुझे (निरमन्थत) अरणियों में से उत्पन्न किया ।' यहाँ भी पुष्करपर्ण सचमुच का कमलपत्र नहीं है, किन्तु यज्ञवेदि का आकाश है, और अथर्वा है । स्थिर चित्त से यज्ञ करनेवाला यजमान, जो यज्ञकुण्ड में अरणियों से अग्नि उत्पन्न करता है, यह तात्पर्य जानना चाहिए ।

उवट ने य० ११।३२ के भाष्य में 'जल ही पुष्कर है, प्राण अथर्वा है' श० ४।२।२।२ यह शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण देकर मन्त्रार्थ किया है—'तुझे हे अग्नि, (पुष्करात्) जल में से (अथर्वा) सतत गतिमान् प्राण ने (निरमन्थत) मथकर पैदा किया ।' यही अर्थ महीधर को भी अभिप्रेत है । यहाँ प्राण से प्राणवान् परमेश्वर या विद्वान् मनुष्य, जल से बादल में स्थित जल और अग्नि से विद्युत् जानने चाहिएँ । अथवा शरीरस्थ प्राण खाये-पिये हुए रसों से जीवनाग्नि को उत्पन्न करता है, यह तात्पर्य समझना चाहिए ।

---

१. ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र की व्याख्या सूर्य आदि से बिजली ग्रहण करने के पक्ष में की है । यथा, ६।१६।१३ के भाष्य में भावार्थ है—"हे विद्वान् जनो ! जैसे पदार्थविद्या के जाननेवाले जन सूर्य आदि के समीप से बिजली को ग्रहण करके कार्यों को सिद्ध करते हैं, वैसे ही आप लोग भी सिद्ध करो ।" य० १५।२२ के भाष्य का भावार्थ है—"मनुष्यों को चाहिए कि विद्वानों के समान आकाश तथा पृथिवी के सकाश से बिजली का ग्रहण कर आश्चर्य-रूप कर्मों को सिद्ध करें ।"

महीधर ने दूसरा वैकल्पिक अर्थ पुष्करपर्ण (कमलपत्र) के ऊपर अग्नि को मथने-परक ही किया है। भाष्यकारों ने तात्पर्य प्रकाशित किये बिना ही कथाएँ लिख दी हैं, जो भ्रम की उत्पत्ति का कारण बनी हैं।

वस्तुतः अथर्वा नामक किसी ऋषि का इतिहास इस मन्त्र में नहीं है, क्योंकि वेदमन्त्र ईश्वर-प्रोक्त हैं तथा सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत हुए थे और पश्चाद्वर्ती ऋषि आदिकों के कार्यकलाप का पूर्ववर्ती वेद में वर्णन नहीं हो सकता ।।९।।

अब परमात्मा के पास से परम ज्योति की प्रार्थना करते हैं।

२ ३ १२ ३१२ ३ १ २३१२ ३२
१०. **अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे ।**
३१र २र ३२
देवो ह्यसि नो दृशे ।।१०।।

पदार्थ—हे **अग्ने** परम पिता परमात्मन्! आप **महे** महान् **ऊतये** रक्षा के लिए **अस्मभ्यम्** हमें **विवस्वत्** अविद्यान्धकार को निवारण करनेवाला अध्यात्म-प्रकाश **आ भर** प्रदान कीजिए। **हि** क्योंकि, आप **नः** हमारे **दृशे** दर्शन के लिए, हमें विवेक-दृष्टि प्रदान करने के लिए **हि** निश्चय ही **देवः** प्रकाश देनेवाले **असि** हैं ।।१०।।

श्लेषालङ्कार से मन्त्र की सूर्यपरक अर्थयोजना भी करनी चाहिए ।।१०।।

भावार्थ—सूर्यरूप अग्नि जैसे जीवों की रक्षा के लिए अन्धकार-निवारक ज्योति प्रदान करता है, वैसे ही परमेश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, मोह आदि रूप अन्धकार के निवारण के लिए हमें आध्यात्मिक तेज प्रदान करे ।।१०।।

प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध में प्रथम दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त।

।।२।। अथ 'नमस्ते अग्न' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ आयुङ्क्ष्वाहिः, २ वामदेवः, ३,८,९ प्रयोगः, ४ मधुच्छन्दाः, ५,७ शुनःशेपः, ६ मेधातिथिः, १० वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः ।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और राजा की स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं।

१२ ३ १ २ ३१ २ ३१२
११. **नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः।**
१२३१२
अमैरमित्रमर्दय ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **देव** ज्योतिर्मय तथा विद्या आदि ज्योतियों के देनेवाले **अग्ने** लोकनायक जगदीश्वर अथवा राजन्! **कृष्टयः** मनुष्य **ते** आपके **ओजसे** बल के लिए **नमः** नमस्कार के वचन **गृणन्ति** उच्चारण करते हैं, अर्थात् बार-बार आपके बल की प्रशंसा करते हैं। आप **अमैः** अपने बलों से **अमित्रम्** शत्रु को **अर्दय** नष्ट कर दीजिए ।।१।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ।।१।।

भावार्थ—हे जगदीश्वर तथा हे राजन्! कैसा आप में महान् बल है, जिससे आप निःसहायों की रक्षा करते हो और जिस बल के कारण आपके आगे बड़े-बड़े दर्प वालों के भी दर्प चूर हो जाते हैं।

१. ऋ० ८।७५।१० विरूप ऋषिः। साम० १६४८।

आप हमारे अध्यात्ममार्ग में विघ्न उत्पन्न करनेवाले काम, क्रोध आदि षड् रिपुओं को और संसार-मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करनेवाले मानव शत्रु-दल को अपने उन बलों से समूल उच्छिन्न कर दीजिए, जिससे शत्रु-रहित होकर हम निष्कण्टक आत्मिक तथा बाह्य स्वराज्य का भोग करें ॥१॥

किन गुणोंवाले परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं।

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥२॥[1]

पदार्थ—हे परमात्मन्! **दूतम्** दूत अर्थात् सद्गुणों को हमारे पास लाने के लिए दूत के समान आचरण करनेवाले, **विश्ववेदसम्** पूर्वजन्म तथा इस जन्म में किये हुए सब कर्मों को जाननेवाले, **हव्यवाहम्** दातव्य कर्मफल प्राप्त करानेवाले, **अमर्त्यम्** अमर, **यजिष्ठम्** सबसे अधिक यज्ञकर्ता—महान् सृष्टिचक्र-प्रवर्तनरूप यज्ञ के संचालक **वः** आपको, मैं **गिरा** वेदवाणी से **ऋञ्जसे** रिझाता हूँ ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, परमेश्वर उसी क्षण उन्हें जान लेता है और समय आने पर उनका फल अवश्य देता है। बुढ़ापे और मृत्यु से रहित, सृष्टि-रूप यज्ञ के परम याज्ञिक परमेश्वर की हमें श्रद्धा के साथ वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक सदा वन्दना करनी चाहिए ॥२॥

मेरी वाणियाँ परमात्मा की महिमा का वर्णन कर रही हैं, यह कहते हैं।

१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥३॥[2]

पदार्थ—हे अग्ने! हे ज्योतिर्मय परमात्मन्! **हविष्कृतः** अपने आत्मा को हवि बनाकर आपको समर्पित करनेवाले मुझ यजमान की **जामयः** बहिनें अर्थात् बहिनों के समान प्रिय और हितकर **गिरः** स्तुति-वाणियाँ **त्वा** आपका **देदिशतीः** पुनः-पुनः अधिकाधिक बोध कराती हुई **वायोः** प्राणप्रद आपके **अनीके** समीप **उप अस्थिरन्** उपस्थित हुई हैं ॥३॥

इस मन्त्र में वाणियों में जामित्व (भगिनीत्व) के आरोप से रूपकालंकार है ॥३॥

भावार्थ—हे परमात्मन्! आन्तरिक यज्ञ का अनुष्ठान करने की इच्छा वाला मैं श्रद्धालु होकर अपने आत्मा, मन, प्राण आदि को हवि-रूप से आपको समर्पित करता हुआ स्तुति-वाणियों से आपके गुणों का कीर्तन कर रहा हूँ। मेरे प्रेमोपहार को स्वीकार कीजिए ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

१४. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥४॥[3]

पदार्थ—हे **दोषावस्तः** मोह-रात्रि को निवारण करनेवाले **अग्ने** प्रकाशमय परमात्मन्! **वयम्**

---

१. ऋ० ४।८।१। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्युदग्निविषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० ८।१०२।१३, साम० १५७०।

३. ऋ० १।१।७।

हम उपासक लोग **दिवे दिवे** प्रत्येक ज्ञानप्रकाश के लिए **धिया** ध्यान, बुद्धि और कर्म के साथ **नमः** नम्रता को **भरन्तः** धारण करते हुए **त्वा** आपकी **उप एमसि** उपासना करते हैं ।।४।।

भावार्थ—जो लोग मोह-रात्रि से ढके हुए हैं उन्हें अपने अन्तःकरण में अध्यात्म-ज्ञान का प्रकाश पाने के लिए नमस्कार की भेंटपूर्वक योगमार्ग का अनुसरण करके ध्यान, बुद्धि और कर्म के साथ परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए ।।४।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रति स्तोत्र का उपहार दिया जा रहा है ।

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ।।५।।[1]

पदार्थ—हम उपासक लोग **विशेविशे** सब मनुष्यों के हितार्थ **यज्ञियाय** पूजायोग्य, **रुद्राय** सत्योपदेश प्रदान करनेवाले, अविद्या, अहंकार, दुःख आदि को दूर करनेवाले तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओं को रुलानेवाले परमात्मा-रूप अग्नि के लिए **दृशीकम्** दर्शनीय **स्तोमम्** स्तोत्र को [उपहार रूप में देते हैं ।] हे **जराबोध** स्तुति को तारतम्यरूप से जाननेवाले अथवा स्तुति के द्वारा हृदय में उद्बुद्ध होनेवाले परमात्मन् ! आप **तत्** उस हमारे स्तोत्र को **विविड्ढि** स्वीकार करो ।

अथवा इस प्रकार अर्थयोजना करनी चाहिए । उपासक स्वयं को कह रहा है—हे **जराबोध** स्तुति करना जाननेवाले मेरे अन्तरात्मन् ! तू **विशे विशे** मन, बुद्धि आदि सब प्रजाओं के हितार्थ **यज्ञियाय** पूजायोग्य **रुद्राय** सत्य उपदेश देनेवाले, दुःख आदि को दूर करनेवाले, शत्रुओं को रुलानेवाले परमात्मा रूप अग्नि के लिए **तत्** उस प्रभावकारी, **दृशीकम्** दर्शनीय **स्तोमम्** स्तोत्र को **विविड्ढि** कर, अर्थात् उक्त गुणोंवाले परमात्मा की स्तुति कर ।।५।।

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! आप सबके पूजायोग्य हैं। आप ही रुद्र होकर हमारे हृदय में सद्गुणों को प्रेरित करते हैं, अविवेक, आलस्य आदिकों को निरस्त करते हैं, अन्तःकरण में जड़ जमाये हुए कामादि शत्रुओं को रुलाते हैं । अतः हम आपको हृदय में जगाने के लिए आपके लिए बहुत-बहुत स्तोत्रों को उपहार रूप में लाते हैं । किसी के स्तोत्र हार्दिक हैं या कृत्रिम हैं यह आप भले प्रकार जानते हैं । इसलिए हमारे द्वारा किये गये स्तोत्रों की हार्दिकता, दर्शनीयता तथा चारुता को जानकर आप उन्हें कृपा कर स्वीकार कीजिए । हे मेरे अन्तरात्मन् ! तू परमात्मा की स्तुति से कभी विमुख मत हो ।।५।।

अब परमात्मा रूप अग्नि का आह्वान करते हुए कहते हैं ।

१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ।।६।।[2]

पदार्थ—**त्यम्** उस हमारे द्वारा किये जाते हुए **चारुम्** श्रेष्ठ **अध्वरम्** हिंसा, अधर्म आदि दोषों से रहित उपासनायज्ञ या जीवनयज्ञ के **प्रति** प्रति **गोपीथाय** विषयों में भटकती हुई इन्द्रिय-रूप गौओं की रक्षा के लिए, अथवा हमारे श्रद्धारस-रूप सोमरस के पान के लिए **प्र हूयसे** आप बुलाये जा रहे हो ।

---

१. ऋ० १।२७।१०, साम० १६६३ ।

२. ऋ० १।१९।१ । ऋग्वेदे दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो विद्युद्रूपभौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातः ।

अग्ने हे ज्योतिर्मय परमात्मन्! आप **मरुद्भिः** प्राणों द्वारा अर्थात् हमसे की जाती हुई प्राणायाम-क्रियाओं द्वारा **आ गहि** हमारे यज्ञ में आओ ॥६॥

भावार्थ—हे परमात्मन्! जैसे पवनों से प्रज्वलित यज्ञाग्नि नाना ज्वालाओं से नृत्य करती हुई-सी यज्ञवेदि में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है, वैसे ही हमारे प्राणायामरूप पवनों से प्रज्वलित किये हुए आप हमारे जीवनयज्ञ या उपासनायज्ञ में आओ, और मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से निरन्तर बचाते हुए हमारे श्रद्धारस का रिझकर पान करो ॥६॥

अब वन्दना करने के लिए परमात्मा का आह्वान करते हैं।

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १र २र
१७. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥७॥[1]

पदार्थ—**वारवन्तम्** डाँस, मच्छर आदि को निवारण करनेवाले बालों से युक्त **अश्वं न** घोड़े के समान **वारवन्तम्** विपत्तिनिवारण के सामर्थ्यों से युक्त, **अध्वराणाम्** हिंसादि दोषों से रहित यज्ञों के **सम्राजन्तम्** सम्राट् के समान **त्वा** आप **अग्निम्** तेजस्वी परमात्मा को **नमोभिः** नमस्कारों से **वन्दध्यै** वन्दना करने के लिए [(आहुवे) पुकारता हूँ] ॥७॥

'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' में श्लिष्टोपमालंकार है। 'सम्राजन्तम् अध्वराणाम्' में लुप्तोपमा है ॥७॥

भावार्थ—घोड़ा जैसे बालों से डाँस, मच्छर आदि का निवारण करता है, वैसे परमेश्वर अपने निवारणसामर्थ्यों से विपत्ति आदि का निवारण करता है। जैसे सम्राट् का अपने राज्य में सब पर प्रभुत्व होता है, वैसे ही परमात्मा विविध यज्ञों का प्रभु है। अतः ध्यान-यज्ञ में श्रद्धा के साथ सबको उसे पुकारना चाहिए ॥७॥

कैसे परमात्मा का मैं आह्वान करता हूँ, यह कहते हैं।

३ १र २र ३ १र २र
१८. और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे।
३ १ २ ३ १ २
अग्निं समुद्रवाससम् ॥८॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं **और्वभृगुवत्** पार्थिव पदार्थों को तपानेवाले सूर्य के समान, और **अप्नवानवत्** क्रियासेवी वायु के समान **शुचिम्** पवित्र व पवित्रताकारक, और **समुद्रवाससम्** हृदयाकाश में व ब्रह्माण्डाकाश में निवास करनेवाले **अग्निम्** ज्योतिष्मान् तथा ज्योतिष्प्रद परमात्मा को **आहुवे** पुकारता हूँ।

द्वितीय विद्युत् के पक्ष में। बिजली के प्रयोग के विषय में कहते हैं। मैं **और्वभृगुवत्** जैसे सूर्य को अर्थात् सूर्य के ताप को यन्त्रों आदि में प्रयुक्त करता हूँ, और **अप्नवानवत्** जैसे पाकादि कर्मों का सेवन करनेवाले पार्थिव अग्नि को यन्त्रों आदि में प्रयुक्त करता हूँ, वैसे ही **शुचिम्** प्रदीप्त, **समुद्रवाससम्** अन्तरिक्षनिवासी **अग्निम्** वैद्युत अग्नि को **आहुवे** प्रकाश के लिए तथा यान आदि में प्रयुक्त करने के लिए अपने समीप लाता हूँ ॥८॥

१. ऋ० १।२७।१, साम० १६३४।
२. ऋ० ८।१०२।४।

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥८॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और वायु पवित्र, पवित्रताकारक और सबके जीवनाधार हैं, वैसे ही परमात्मा भी है। जैसे सूर्य और वायु आकाश में निवास करते हैं, वैसे ही परमात्मा हृदयाकाश में और विश्वब्रह्माण्ड के आकाश में निवास करता है। ऐसे परमात्मा का सबको साक्षात्कार करना चाहिए। साथ ही सूर्याग्नि, पार्थिवाग्नि तथा वैद्युत अग्नि के द्वारा यान आदि चलाने चाहिएँ ॥८॥

'जैसे और्व ऋषि, भृगु ऋषि और अप्नवान ऋषि शुचि अग्नि को बुलाते हैं, वैसे ही मैं बुला रहा हूँ', यह विवरणकार की व्याख्या है। भरतस्वामी का भी यही अभिप्राय है। सायण ने 'और्व' और 'भृगु' अलग-अलग नाम न मानकर एक 'और्वभृगु' नाम माना है। यह सब व्याख्यान असंगत है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदों में पश्चाद्वर्ती ऋषि आदिकों का इतिहास नहीं हो सकता।

ईश्वर की आराधना के साथ कर्म भी करे, यह कहते हैं।

१९. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥९॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **मनसा** मन से **अग्निम्** हृदय में छिपे परमात्मा-रूप अग्नि को **इन्धानः** प्रदीप्त अर्थात् प्रकट करता हुआ **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्य **धियम्** कर्म को **सचेत** सेवे—यह वैदिक प्रेरणा है। उस प्रेरणा से प्रेरित हुआ मैं **विवस्वभिः** अज्ञान को विध्वस्त करनेवाली, आदित्य के समान भासमान मनोवृत्तियों से **अग्निम्** ज्योतिर्मय परमात्माग्नि को तथा कर्म की अग्नि को **इन्धे** प्रदीप्त करता हूँ, हृदय में प्रकट करता हूँ।

द्वितीय यज्ञाग्नि के पक्ष में। यज्ञकर्म के लिए प्रेरणा है। **मनसा** श्रद्धा के साथ **अग्निम्** यज्ञाग्नि को **इन्धानः** प्रदीप्त करता हुआ **मर्त्यः** यजमान मनुष्य **धियम्** यज्ञविधियों को भी **सचेत** करे—यह वेद का आदेश है। तदनुसार मैं भी यज्ञकर्म करने के लिए **विवस्वभिः** प्रातः सूर्यकिरणों के उदय के साथ ही **अग्निम्** यज्ञाग्नि को **इन्धे** प्रदीप्त करता हूँ। इससे यह सूचित होता है कि प्रातः यज्ञ का समय सूर्यकिरणों का उदय-काल है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—यहाँ 'मर्त्य' पद साभिप्राय है। मनुष्य मरणधर्मा है, न जाने कब मृत्यु की पकड़ में आ जाये। इसलिए जैसे यज्ञकर्म करने के लिए अग्नि को प्रज्वलित करता है, वैसे ही इसी जन्म में योगाभ्यास से हृदय में परमात्मा को प्रकाशित करके जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र आदि तथा समाज-सेवा आदि कर्मों को करे। यह न समझे कि यदि परमेश्वर का साक्षात्कार कर लिया, तो फिर कर्मों से क्या प्रयोजन, क्योंकि 'कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे' (य० ४०।२), यही वैदिक मार्ग है ॥९॥

योगी जन कब परमेश्वर की अलौकिक ज्योति का दर्शन करते हैं, इस विषय को कहते हैं।

२०. आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥१०॥[2]

---

१. ऋ० ८।१०२।२२, 'अग्निमिन्धे' इत्यत्र 'अग्निमीधे' इति पाठः।

२. ऋ० ८।६।३०, इन्द्रो देवता। 'ज्योतिष्पश्यन्ति', 'दिवा' इति पाठः।

पदार्थ—**आत् इत्** उसके अनन्तर ही **प्रत्नस्य** सनातन, **रेतसः** वीर्यवान् परमसामर्थ्यशाली परमात्म-सूर्य की **वासरम्** राग, द्वेष, मोह आदि के अन्धकार को दूर करनेवाली, अथवा अणिमा आदि ऐश्वर्यों की निवासक, अथवा दिव्य दिन उत्पन्न कर देनेवाली **ज्योतिः** ज्योति को—योगदर्शनोक्त ज्योतिष्मती वृत्ति को, ज्ञानदीप्ति को या विवेकख्याति को, योगीजन **पश्यन्ति** देख पाते हैं, **यत्** जब, वह परमात्म-सूर्य **परः** परे **दिवि** आत्मारूप द्युलोक में **इध्यते** प्रदीप्त हो जाता है ॥१०॥

श्लेष से सूर्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥१०॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल उदित सूर्य जब मध्याह्न के आकाश में पहुँच जाता है तभी लोग उसके अन्धकार-निवारक, देदीप्यमान, दिन को उत्पन्न करनेवाले सम्पूर्ण प्रभामण्डल को देख पाते हैं, वैसे ही जब योगियों से ध्यान किया गया परमात्मा उनके आत्म-लोक में जगमगाने लगता है तभी वे उसके राग, द्वेष आदि के विनाशक, योगसिद्धियों के निवासक, जीवन्मुक्तिरूप दिन के जनक दिव्य प्रकाश का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करते हुए उसे रिझाने का, उसके प्रति नमस्कार करने का, उसे स्तोत्र अर्पण करने का, मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति के साथ-साथ कर्म में भी प्रेरित करने का और परम ज्योति के दर्शन का वर्णन है, अतः इस दशति के अर्थ की पूर्व दशति के अर्थ के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध में द्वितीय दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त॥

॥३॥ अथ अग्निं वो वृधन्तमित्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रयोगः; २,५ भरद्वाजः; ३,१० वामदेवः; ४,६ वसिष्ठः; ७ विरूपः; ८ शुनःशेपः; ९ गोपवनः; ११ प्रस्कण्वः; १२ मेधातिथिः; १३ सिन्धुद्वीप आम्बरीषः त्रित आप्त्यो वा; १४ उशना।
देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रथम मन्त्र में परमात्माग्नि की उपासना के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

३ १ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २
२१. अ॒ग्निं वो॑ वृ॒धन्त॑मध्व॒राणां॑ पुरू॒तम॑म्।
२ ३ २ ३ १२
अच्छा॒ नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥१॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो, **वः** आप लोग **सहस्वते** प्रशस्त बल से युक्त **नप्त्रे** पतन को प्राप्त न होनेवाली तथा पतित न करनेवाली भौतिक सन्तान तथा सद्गुणादिरूप दिव्य सन्तान की प्राप्ति के लिए, **वृधन्तम्** वृद्धि करनेवाले, **अध्वराणाम्** अग्निहोत्रादि-अश्वमेधपर्यन्त, हिंसा-रहित, कर्मकाण्डमय यज्ञों के अथवा स्तुति, प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय, ब्रह्मयज्ञादि ज्ञानयज्ञों के **पुरूतमम्** अतिशय पूरक **अग्निम्** तेजोमय, अग्रणी परमात्मा के **अच्छ** अभिमुख होवो, अर्थात् उसकी आराधना करो ॥१॥

भावार्थ—परमेश्वर उपासकों की उन्नति करता है, उनसे किये जानेवाले ज्ञानयज्ञ, भक्तियज्ञ और कर्मयज्ञों को पूर्ण करता है, और उन्हें सुप्रशस्त सन्तान तथा सद्गुण प्राप्त कराता है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।१०२।७, साम ९४६।

परमात्मा स्तोता को क्या फल प्रदान करे, यह कहते हैं।

३ २ ३१२ ३ २ ३ २३ २ ३ २ १ २
२२. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद् विश्वं न्या३त्रिणम् ॥
३ १ २ ३ २
अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥२॥[1]

पदार्थ—अग्निः तेजोमय परमात्मा **तिग्मेन** तीक्ष्ण **शोचिषा** तेज से **विश्वम्** समस्त **अत्रिणम्** भक्षक काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुवर्ग को और चोर, लुटेरे आदि सामाजिक शत्रुवर्ग को **नियंसत्** नियन्त्रित करे। **अग्निः** वह अग्निपदवाच्य परमात्मा **नः** हमारे लिए **रयिम्** सोना-चाँदी, प्रजा-पशु आदि लौकिक धन तथा सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक धन **वंसते** बाँटकर देवे ॥२॥

श्लेष से भौतिक अग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे पार्थिव अग्नि या विद्युत् तीक्ष्ण तेज से अपने पास आयी वस्तु को दग्ध करता है और शिल्पादि कर्मों में प्रयुक्त होकर धन प्रदान करता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि उपासकों के आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का निग्रह करता है और उन उपासकों को सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्ति वितीर्ण करता है ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से सुख की प्रार्थना करते हैं।

१ २ ३२ ३२ ३ २३ १ २३१र २र
२३. अग्ने मृड महाँ असि य आ देवयुं जनम्।
३१२ ३ २३ १२
इयेथ बर्हिरासदम् ॥३॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप मुझे **मृड** सुखी कीजिए। आप **महान्** महान् **असि** हो। आप **देवयुम्** दिव्यगुणों की कामना करनेवाले अथवा परमात्माभिलाषी **जनम्** मुझ जन को **अयः** प्राप्त हुए हो। मेरे **बर्हिः** हृदयरूप आसन पर **आसदम्** बैठने के लिए **आ इयेथ** आये हो ॥३॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, हे अन्तर्यामिन्, आप बड़ी कृपा करके मुझ अपने भक्त के हृदयासन पर आसीन होने के लिए आये हैं। निरन्तर दिव्यगुणों का सान्निध्य चाहता हुआ मैं आपके अनुग्रह की याचना करता हूँ। आप महान् हैं, मेरे विषय में भी अपनी महत्ता को चरितार्थ करें। सदा मुझे आनन्दित करते रहें ॥३॥

अब परमात्मा से पाप आदि से रक्षा की प्रार्थना करते हैं।

२ ३ १ २ ३ १२३ १ २ ३ २
२४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः।
१ २ ३ १ २
तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥[3]

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्योतिष्मन् परमात्मन्! आप **नः** हमारा **अंहसः** पापाचरण से **रक्ष** त्राण कीजिए। हे **देव** दिव्यगुणकर्मस्वभाव, सकलैश्वर्यप्रदाता, प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक जगदीश्वर! **अजरः** स्वयं नश्वरता, जर्जरता आदि से रहित आप **रिषतः** हिंसापरायण आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को **तपिष्ठैः** अतिशय संतापक स्वकीय सामर्थ्यों से **प्रति दह स्म** भस्मसात् कर दीजिए।

१. ऋ० ६।१६।२८, य० १७।१६ उभयत्र 'यंसद्', 'वंसते' इत्यत्र क्रमेण 'यासद्', 'वनते' इति पाठः।
२. ऋ० ४।६।१ 'अय आ' इत्यत्र 'य ईमा' इति पाठः। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिः मन्त्रमिमं विद्वत्सत्कारविषये व्याख्यातवान्।
३. ऋ० ७।१५।१३, 'स्म' इत्यत्र 'ष्म' इति पाठः।

इस मन्त्र की श्लेष से भौतिक अग्नि तथा राजा के पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए ॥४॥

भावार्थ—जैसे भौतिक अग्नि शीत से, अन्धकार से और बाघ आदिकों से रक्षा करता है, अथवा राजा पापियों को दण्डित कर, आक्रमणकारियों और शत्रुओं को पराजित कर प्रजा की पाप तथा शत्रुओं से रक्षा करता है, वैसे ही परमात्मा हमें आत्मरक्षा करने का सामर्थ्य प्रदान कर पापाचरण से तथा आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से हमारी रक्षा करे ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

२५. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **देव** कर्मोपदेशप्रदाता **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर! **ये** जो **तव** आपके अर्थात् आप द्वारा रचित **साधवः** कार्यसाधक **आशवः** वेगवान् **अश्वासः** इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि रूप घोड़े **अरम्** पर्याप्त रूप से **वहन्ति** हमें निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, उनको आप **हि** अवश्य **युङ्क्ष्व** कर्म में नियुक्त कीजिए ॥५॥

भावार्थ—हे परमात्मदेव! किये हुए कर्मफल के भोगार्थ तथा नवीन कर्म के सम्पादनार्थ शरीर-रूप रथ तथा इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि रूप घोड़े आपने हमें दिए हैं। आलसी बनकर हम कभी निरुत्साही और अकर्मण्य हो जाते हैं। आप कृपा कर हमारे इन्द्रिय, प्राण आदि रूप घोड़ों को कर्म में तत्पर कीजिए, जिससे वैदिक कर्मयोग के मार्ग का आश्रय लेते हुए हम निरन्तर अग्रगामी होवें ॥५॥

परमात्मा को हम हृदय में धारण करते हैं, यह कहते हैं।

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।
सुवीरमग्न आहुत ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **नक्ष्य** प्राप्तव्य, शरणागतों के हितकर, **विश्पते** प्रजापालक, **आहुत** बहुतों से सत्कृत **अग्ने** सबके अग्रणी, ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! **वयम्** हम उपासक **द्युमन्तम्** दीप्तिमान्, **सुवीरम्** श्रेष्ठ वीरतादि गुणों को प्राप्त करानेवाले **त्वा** आपको **निधीमहे** निधिवत् अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं अथवा आपका ध्यान करते हैं ॥६॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि शरणागतवत्सल, प्रजाओं के पालनकर्त्ता, बहुत जनों से वन्दित, वीरता को देनेवाले, तेज के निधि परमेश्वर को अपने हृदय में धारण करें और उसका ध्यान करें ॥६॥

अब सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं।

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥७॥[3]

---

१. ऋ० ६।१६।४३, य० १३।३६। उभयत्र 'युङ्क्ष्वा, वहन्त्याशवः' इत्यनयोः स्थाने क्रमेण 'युक्ष्वा, वहन्ति मन्यवे' इति पाठः। साम० १३८३।

२. ऋ० ७।१५।७, 'धीमहे वयम्' इत्यत्र 'देव धीमहि' इति पाठः।

३. ऋ० ८।४४।१६, य० ३।१२, १५।२०, साम० १५३२।

पदार्थ—प्रथम, परमात्मा के पक्ष में । **अग्निः** सबका अग्रनेता परमेश्वर **मूर्द्धा** शरीर में मूर्द्धा के समान जगत् का शिरोमणि है, **दिवः** प्रकाशमान द्युलोक का **ककुत्** सर्वोन्नत स्वामी है, और **पृथिव्याः** पृथिवी का **पतिः** पालक है । **अयम्** यह परमेश्वर **अपाम्** अन्तरिक्ष के **रेतांसि** जलों को **जिन्वति** वर्षा द्वारा भूमि पर पहुँचाता है ।

द्वितीय, सूर्य के पक्ष में । **अग्निः** प्रकाशक सूर्यरूप अग्नि **मूर्द्धा** त्रिलोकी का सिर-सदृश, **दिवः** द्युलोकरूपी बैल का **ककुत्** कुब्ब-सदृश और **पृथिव्याः** भूमि का **पतिः** पालनकर्त्ता स्वामी है । यह **अपाम्** अन्तरिक्ष के **रेतांसि** जलों को **जिन्वति** भूमि पर प्रेरित करता है, बरसाता है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । परमेश्वर सूर्य के समान है, यह उपमाध्वनि है । मूर्द्धा के समान ककुत् के समान, इस प्रकार लुप्तोपमा है, अथवा अग्नि में मूर्द्धत्व तथा ककुत्त्व का आरोप होने से रूपकालङ्कार है । अग्नि में ककुत्त्व का आरोप शाब्द तथा द्युलोक में वृषभत्व का आरोप आर्थ है, अतः एकदेशविवर्ती रूपक है ॥७॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सौरलोक का मूर्धातुल्य, द्युलोक का कुब्ब-तुल्य और भूमि का पालनकर्त्ता है, वैसे ही हमारे द्वारा उपासना किया जाता हुआ यह परमेश्वर सकल ब्रह्माण्ड का शिरोमणि है, उज्ज्वल नाना नक्षत्रों से जटित द्युलोक का अधिपति है और विविध पर्वत, नदी, नद, सागर, सरोवर, लता, वृक्ष, पत्र, पुष्प आदि की शोभा से युक्त भूमण्डल का पालक है । वही सूर्य के समान आकाश में स्थित मेघजलों को भूमि पर बरसाता है । अतः वह सबका धन्यवाद-योग्य है ॥७॥

परमात्मा ने ही सृष्टि के आदि में वेदविज्ञान का प्रवचन किया था, यह कहते हैं ।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
२८. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** अनन्तविद्यामय जगदीश्वर ! **त्वम्** सब मङ्गलों को देनेवाले आप **इमम्** इस, **अस्माकम्** हम मनुष्यों के **सनिम्** बहुत बोधप्रद, **नव्यांसम्** नवीनतर **गायत्रम्** गायत्र्यादि छन्दों से युक्त चारों वेदों को **देवेषु** दिव्यगुणयुक्त विद्वान् ऋषियों के प्रति **सुप्रवोचः** सम्यक्तया सृष्टि के आदि में प्रवचन करते हो ॥८॥

भावार्थ—जगत्पिता, परम कारुणिक परमेश्वर मनुष्यों के कर्त्तव्यबोध के लिए सृष्टि के आदि में महर्षियों के हृदयों में चारों वेदों का उपदेश करता है, जिनका अध्ययन करके हम ज्ञानी बनते हैं । उसकी इस महती कृपा का कौन अभिनन्दन नहीं करेगा ? ॥८॥

कौन उस परमात्मा को हृदय में प्रकट करता है, यह कहते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
२९. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
१ २ ३ १ २
स पावक श्रुधी हवम् ॥९॥[2]

पदार्थ—हे **अङ्गिरः** मेरे प्राणभूत **अग्ने** ज्ञान के सूर्य, जगन्नेता परमात्मन् ! **तम्** उस समस्त

---

१. ऋ० १।२७।४, साम० १४६७ ।
२. ऋ० ८।७४।११ 'तन्त्वा', 'जनिष्ठदग्ने' इत्यत्र क्रमेण 'यं त्वा', 'चनिष्ठदग्ने' इति पाठः ।

गुणगणों से युक्त **त्वा** आपको **गो-पवनः** इन्द्रियरूप या वाणीरूप गौओं का शोधक, पवित्रेन्द्रिय, पूतवाक् स्तोता, अथवा **गोप-वनः** आत्मसेवी स्तोता **गिरा** स्तुतिवाणी या वेदवाणी से **जनिष्ठत्** अपने अन्तःकरण में प्रकट करता है। हे **पावक** शुद्धिकर्त्ता देव ! **सः** वह तू **हवम्** मेरे आह्वान को **श्रुधि** सुन ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर अव्यक्त रूप से सबके हृदय में सन्निविष्ट है। उसे पवित्रेन्द्रिय, पवित्र वाणी वाला, आत्मसेवी मनुष्य ही वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ प्रकट करने में समर्थ होता है, और परमेश्वर प्रकट होकर हृदय को पवित्र करता है ॥९॥

परमेश्वर स्तोता का क्या उपकार करता है, यह कहते हैं।

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद् रत्नानि दाशुषे ॥१०॥[1]

पदार्थ—प्रथम, परमेश्वर के पक्ष में। **वाजपतिः** आत्मिक बलों का अधीश्वर, **कविः** मेधावी, दूरदर्शी **अग्निः** प्रकाशस्वरूप परमेश्वर **दाशुषे** अपने आत्मा को हवि बनाकर ईश्वरार्पण करनेवाले आत्मदानी स्तोता के लिए **रत्नानि** रमणीय सद्गुणरूप धन **दधत्** प्रदान करता हुआ, उसकी **हव्यानि** आत्मसमर्पणरूप हवियों को **परि अक्रमीत्** सब ओर से प्राप्त करता है अर्थात् स्वीकार करता है।

द्वितीय, यज्ञाग्नि के पक्ष में। **वाजपतिः** अन्नों और बलों का प्रदाता तथा पालक, **कविः** गतिमान् **अग्निः** यज्ञाग्नि **दाशुशे** हवि देनेवाले यजमान के लिए **रत्नानि** आरोग्य आदि रूप रमणीय फलों को **दधत्** देता हुआ **हव्यानि** सुगन्धित, मधुर, पुष्टिकर तथा रोगनाशक घृत, केसर, कस्तूरी आदि हवियों को **परि अक्रमीत्** सूक्ष्म करके चारों ओर फैला देता है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है और उपमानोपमेयभाव ध्वनित होता है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे अन्नों और बलों की उत्पत्ति का निमित्त यज्ञाग्नि हवि देनेवाले यजमान को दीर्घायुष्य, आरोग्य आदि फल प्रदान करता है, वैसे ही आत्मसमर्पणरूप हवि देनेवाले स्तोता को परमेश्वर सद्गुण आदि रूप फल देता है ॥१०॥

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से परमेश्वर विषय का उपदेश है।

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥११॥[2]

पदार्थ—प्रथम सूर्य के पक्ष में। **केतवः** किरणें **त्यम्** उस प्रसिद्ध, **जातवेदसम्** उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले, **देवम्** प्रकाशमान, प्रकाशक, दिन-रात आदि के प्रदाता तथा द्युलोक में स्थित **सूर्यम्** सूर्य-रूप अग्नि को **विश्वाय दृशे** सब प्राणियों के दर्शन के लिए **उद् वहन्ति** पृथिवी आदि लोकों में पहुँचाती हैं, अर्थात् सूर्य ऊपर स्थित हुआ भी किरणों द्वारा सब लोकों में पहुँच जाता है।

द्वितीय परमेश्वर के पक्ष में। **केतवः** जिन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो गई है वे योगी लोग **त्यम्** स्वयं अनुभव किये गये उस प्रसिद्ध, **जातवेदसम्** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, धनों के उत्पादक और ज्ञानप्रदायक,

---

१. ऋ० ४।१५।३, य० ११।२५। ऋषिः सोमकः।

२. ऋ० १।५०।१, य० ७।४१ अन्ते स्वाहा इत्यधिकम्, ३३।३१, अथ० २०।४७।१३ सर्वत्र देवता सूर्यः। अथ० १३।२।१६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः।

देवम् दिव्यगुणप्रदाता **सूर्यम्** सूर्य के सदृश ज्योतिर्मय परमेश्वर-रूप अग्नि को **विश्वाय दृशे** सबके साक्षात्कार के लिए **उद् वहन्ति** सर्वत्र प्रचारित करते हैं ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। सूर्य और परमेश्वर का उपमानोपमेयभाव व्यंग्य है ॥११॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के प्रकाश को उसकी किरणें भूमि आदि लोकों में पहुँचाती हैं, जिससे सब लोग देख सकें, वैसे ही योगी विद्वान् जन परमेश्वर का स्वयं साक्षात्कार करके अन्यों के दर्शनार्थ उसे सर्वत्र प्रचारित करते हैं ॥११॥

भौतिक अग्नि के समान परमेश्वर के भी गुण सबके जानने योग्य हैं, यह कहते हैं।

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥१२॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। हे मनुष्य, तू **अध्वरे** हिंसादि-रहित जीवनयज्ञ में **कविम्** वेदकाव्य के कवि एवं क्रान्तदर्शी, **सत्यधर्माणम्** सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले, **देवम्** सुख आदि के दाता, **अमीवचातनम्** अज्ञान आदि तथा व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि योगविघ्नकारी मानस रोगों को विनष्ट करनेवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर की **उप स्तुहि** उपासना कर।

द्वितीय भौतिक अग्नि के पक्ष में। हे मनुष्य, तू **अध्वरे** शिल्पयज्ञ में **कविम्** गतिमान्, **सत्यधर्माणम्** सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले, **देवम्** प्रकाशमान, प्रकाशक और व्यवहार-साधक, **अमीवचातनम्** ज्वरादि रोगों को नष्ट करनेवाले, **अग्निम्** आग, बिजली और सूर्य के **उप स्तुहि** गुणों का वर्णन कर ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्यों को शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए जैसे भौतिक आग, बिजली और सूर्य का गुणज्ञानपूर्वक सेवन करना चाहिए, वैसे ही धर्म-प्राप्ति के लिए परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान, वर्णन और अनुकरण करना चाहिए ॥१२॥

अग्नि-ज्वालाओं के तुल्य ईश्वरीय दिव्यशक्तियाँ हमारे लिए क्या करें, यह कहते हैं।

३३. शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१३॥[2]

पदार्थ—देवीः भौतिक अग्नि की दिव्य ज्वालाओं के समान परमात्माग्नि की दिव्य शक्तियाँ **अभिष्टये** अभीष्ट की प्राप्ति के अर्थ **नः** हमारे लिए **शम्** कल्याणकारिणी हों, **पीतये** प्राप्त के रक्षार्थ **नः** हमारे लिए **शम्** कल्याणकारिणी **भवन्तु** हों। **नः** हमारे **शं योः** आगत कष्टों के शमनार्थ तथा अनागत कष्टों को दूर रखने के लिए **अभिस्रवन्तु** चारों ओर प्रवाहित होती रहें ॥१३॥

भावार्थ—'अभिष्टि' और 'पीति' शब्दों से क्रमशः योग और क्षेम का ग्रहण होता है। अप्राप्त की प्राप्ति को 'अभिष्टि' या 'योग' कहते हैं और प्राप्त की रक्षा को 'पीति' या 'क्षेम'। परमेश्वर की दिव्य शक्तियाँ हमें योग-क्षेम प्रदान करें, यह अभिप्राय है। साथ ही जिन आपदाओं से ग्रस्त होकर हम

१. ऋ० १।१२।७। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरविषये भौतिकाग्निविषये च व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १०।९।४, य० ३६।१२ दध्यङ् आथर्वण ऋषि अथ० १।६।१ सिन्धुद्वीपः अथर्वा कृतिर्वा ऋषिः। सर्वत्र 'अभिष्टये शन्नो' इत्यत्र 'अभिष्टय आपो' इति पाठः, आपश्च देवताः।

पीड़ित होते हैं और जिन अनागत आपदाओं के भय से संत्रस्त होते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि वे हमें धर दबोचें, वे सब आपत्तियाँ परमेश्वर की दिव्य शक्तियों के प्रभाव से और हमारे पुरुषार्थ से दूर हो जाएँ ॥१३॥

कौन परमेश्वर की कृपा का पात्र होता है, यह कहते हैं।

३४. कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥१४॥[1]

पदार्थ—हे **सत्पते** सज्जनों के पालक ज्योतिर्मय परमात्मन्! आप **नूनम्** निश्चय ही **कस्य** किस मनुष्य की **धियः** बुद्धियों को **परीणसि** बहुत अधिक **जिन्वसि** सन्मार्ग में प्रेरित करते हो? यह प्रश्न है। इसका उत्तर देते हैं—**यस्य** जिस मनुष्य को **ते** आपकी **गिरः** उपदेशवाणियाँ **गोसाता** श्रेष्ठ गायों, श्रेष्ठ इन्द्रियबलों, श्रेष्ठ पृथिवी-राज्यों और श्रेष्ठ आत्म-किरणों को प्राप्त कराने में सफल होती हैं, उसी की बुद्धियाँ सन्मार्ग में आप द्वारा प्रेरित की गयी हैं, यह मानना चाहिए ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के उपदेश को सुनकर अधिकाधिक भौतिक और आध्यात्मिक सम्पदा को प्राप्त कर लेता है, वही परमात्मा का कृपापात्र है, यह समझना चाहिए ॥१४॥

इस दशति में परमात्मा आदि के महत्त्व का वर्णन करते हुए उनकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है॥

प्रथम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त॥

॥४॥ अथ 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३ शंयुः; २ भर्गः; ४ वसिष्ठः; ५ भारद्वाजः; ६ प्रस्कण्वः; ७ तृणपाणिः; ८ विरूपः; ९ शुनःशेपः; १० सौभरिः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

कोई विद्वान् उपदेशक मनुष्यों को प्रेरणा कर रहा है।

३५. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्यो, **यज्ञायज्ञा** प्रत्येक यज्ञ में **वः** तुम लोगों को **अग्नये** सद्गुणप्रेरक परमात्मा की आराधना करने के लिए, मैं नियुक्त करता हूँ। **गिरागिरा च** और प्रत्येक वाणी से अर्थात् प्रभावजनक वाक्यावली के विन्यास से **दक्षसे** बढ़ने अर्थात् उन्नति करने के लिए, प्रेरित करता हूँ। इस प्रकार **वयम्** तुम-हम सब मिलकर **अमृतम्** अमरणधर्मा, अविनाशी **जातवेदसम्** सर्वज्ञ और सर्वव्यापक परमेश्वर की **प्र प्र** पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं। मैं पृथक् भी **प्रियम्** प्रिय **मित्रं न** मित्र के समान, उस परमेश्वर की **प्र प्र शंसिषम्** पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।८४।७ 'परीणसि, सत्पते' इत्यनयोः स्थाने क्रमेण 'परीणसो, दंपते' इति पाठः।

२. ऋ० ६।४८।१, य० २७।४२, साम० ७०३।

भावार्थ—मनुष्यों द्वारा जो भी नित्य या नैमित्तिक यज्ञ आयोजित किये जाते हैं उनमें परमेश्वर का अवश्य स्मरण और आराधन करना चाहिए। महापुरुष मनुष्यों को यह प्रेरणा दें कि तुम निरन्तर वृद्धि और समुन्नति के लिए प्रयत्न करो। इस प्रकार उपदेश देने वाले और उपदेश सुनने वाले सब मिलकर एकमति से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति करें तथा ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्त करें ॥१॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और विद्वान् मनुष्य से प्रार्थना करते हैं।

३६. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **ऊर्जां पते** अन्नों, रसों, बलों और प्राणों के अधिपति, **वसो** सर्वत्र बसने वाले सर्वान्तिर्यामी तथा निवासप्रदायक **अग्ने** परमात्मन्! आप **नः** हमारी **एकया** एक ऋग्-रूप वाणी से **रक्ष** रक्षा कीजिए; **उत** और **द्वितीयया** दूसरी यजुःरूप वाणी से **पाहि** रक्षा कीजिए; **तिसृभिः** तीन ऋग्, यजुः और सामरूप सम्मिलित **गीर्भिः** वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए; **चतसृभिः** चार ऋग्, यजुः, साम और अथर्व रूप सम्मिलित वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए। यहाँ चार बार 'पाहि' के प्रयोग से परमेश्वर द्वारा करणीय रक्षा की निरन्तरता सूचित होती है॥

द्वितीय—विद्वान् के पक्ष में। हे **ऊर्जां पते** बलों के पालक, **वसो** उत्तम निवास देनेवाले, **अग्ने** अग्नि के तुल्य विद्या-प्रकाश से युक्त विद्वन्! आप **एकया** एक उत्तम शिक्षा से **नः** हमारी **पाहि** रक्षा कीजिए; **उत** और **द्वितीयया** दूसरी अध्यापन-क्रिया से **पाहि** रक्षा कीजिए; **तिसृभिः** कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड को जतानेवाली तीन **गीर्भिः** वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए; **चतसृभिः** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनका विज्ञान करानेवाली चार प्रकार की वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए ॥२॥[2]

भावार्थ—चार वेदवाणियाँ परमेश्वर ने हमारे हित के लिए प्रदान की हैं। यदि हम वेद-वर्णित ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान विषयों को पढ़कर कर्तव्य कर्मों का आचरण करें, तो निस्सन्देह हमारी रक्षा होगी। विद्वानों को चाहिए कि वेद पढ़ाकर वेदविहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देकर हमारी रक्षा करें ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

३७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि ॥३॥[3]

पदार्थ—हे **यविष्ठ्य** अतिशय युवा, **पावक** पवित्रकर्ता, **देव** दाता **अग्ने** तेजस्वी परमेश्वर! **बृहद्भिः** महान् **अर्चिभिः** तेजों से, और **शुक्रेण** शुद्ध **शोचिषा** ज्ञान-प्रकाश से **भरद्वाजे** अपने आत्मा में बल भरनेवाले पुरुषार्थप्रिय मुझ स्तोता के अन्दर अथवा बल एवं उत्साह से सम्पन्न मेरे मन के अन्दर **समिधानः** प्रकाशित होते हुए आप **रेवत्** समृद्धिपूर्वक **दीदिहि** देदीप्यमान हों ॥३॥

---

१. ऋ० ८।६०।९, य० २७।४३, साम० १५४४।

२. यह विद्वत्परक अर्थ य० २७।४३ के दयानन्द-भाष्य के अनुसार है।

३. ऋ० ६।४८।७ 'रेवन्नः शुक्र दीदिहि' इति पाठः। तदनन्तरं 'द्युमत् पावक दीदिहि' इत्यधिकम्।

भावार्थ—मनुष्यों को पुरुषार्थी होकर ही परमेश्वर का आह्वान करना चाहिए। अकर्मण्य की प्रार्थना वह नहीं सुनता ॥३॥

कौन लोग परमात्मा के प्रिय हों, यह कहते हैं।

३८. त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **स्वाहुत** श्रद्धारसों की हवियों से सम्यक् आहुतिप्राप्त **अग्ने** तेजोमय परमात्मन्! आपके **सूरयः** स्तोता विद्वान् जन **त्वे** आपकी दृष्टि में **प्रियासः** प्रिय **सन्तु** होवें, **मघवानः** लौकिक एवं आध्यात्मिक धनों से सम्पन्न **ये** जो **जनानाम्** मनुष्यों के **यन्तारः** शुभ एवं अशुभ कर्मों में नियन्त्रणकर्ता होते हुए **गोनाम्** चक्षु आदि इन्द्रियों के **ऊर्वम्** हिंसक दोष को **दयन्त** नष्ट करते हैं; अथवा **गोनाम्** वेद-वाणियों के **ऊर्वम्** समूह को **दयन्त** अन्यों को प्रदान करते हैं; अथवा **गोनाम्** गायों की **ऊर्वम्** गोशाला की **दयन्त** रक्षा करते हैं ॥४॥

भावार्थ—जो विद्वान् श्रद्धालु लौकिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के धन को उपार्जित कर, योग्य होकर, लोगों का नियन्त्रण करते हैं, अपने और दूसरों के इन्द्रिय-दोषों को दूर करते हैं, वेद-वाणियों का प्रसार करते हैं और अमृत प्रदान करनेवाली गायों की रक्षा करते हैं, वे ही परमात्मा के प्रिय होते हैं ॥४॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का महत्त्व वर्णित किया गया है।

३९. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। हे **जरितः** सज्जनों के गुणों के प्रशंसक **अग्ने** परमात्मन्! आप **विश्पतिः** प्रजापालक हो। हे **देव** ज्योतिर्मय! आप **रक्षसः** राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्यों के **तपानः** सन्तापक हो। हे **गृहपते** ब्रह्माण्डरूप गृह के स्वामिन्! **अप्रोषिवान्** ब्रह्माण्डरूप गृह से कभी प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** प्रकाशमान द्युलोक के अथवा प्रकाशमान जीवात्मा के रक्षक, **दुरोणयुः** सबको निवास गृह दिलाना चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **जरितः** परमेश्वर के स्तोता **अग्ने** राष्ट्रनायक राजन्! आप **विश्पतिः** प्रजाओं के पालक हो। हे **देव** दानादि गुणों से देदीप्यमान राजन्! आप **रक्षसः** दुष्ट शत्रुओं के **तपानः** सन्तापक हो। हे **गृहपते** राष्ट्र-गृह के स्वामिन्! **अप्रोषिवान्** राष्ट्र से प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** विद्या आदि के प्रकाश के रक्षक, **दुरोणयुः** राष्ट्र-रूप घर की उन्नति चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सज्जनों की रक्षा करता हुआ, दुर्जनों को दण्ड देता हुआ सबकी

---

१. ऋ० ७।१६।७, य० ३३।१४ उभयत्र 'जनानामूर्वं' इत्यत्र 'जनानामूर्वान्' इति पाठः।
२. ऋ० ८।६०।१९ 'तपानो, गृहपते' इत्यत्र क्रमेण 'तेपानो, गृहपतिर्' इति पाठः।

समुन्नति चाहता है, वैसे ही राजा भी प्रजाओं का पालन करता हुआ, दुष्टों का उन्मूलन करता हुआ राष्ट्र को उत्कर्ष की ओर ले जाए ॥५॥

परमेश्वर हमें क्या प्रदान करे, यह कहते हैं।

४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥[1]

पदार्थ—हे **अमर्त्य** स्वरूप से मरणधर्मरहित, **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, ज्ञाननिधि, **अग्ने** प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! **त्वम्** आप **अद्य** आज **दाशुषे** धन-धान्य, विद्या आदि का दान करनेवाले मुझे **उषसः** उषा के **चित्रम्** अद्भुत, **विवस्वत्** अज्ञान, दरिद्रता आदि के अन्धकार को दूर करनेवाले **राधः** सत्य-रूप अथवा ज्योति-रूप धन को और **उषर्बुधः** उषःकाल में स्वयं जागने तथा अन्यों को जगानेवाले **देवान्** उत्तम विद्वानों तथा दिव्यगुणों को **आ वह** प्राप्त कराओ ॥६॥

भावार्थ—सब मनुष्य उषःकाल में प्रबुद्ध होनेवाले दिव्यगुणों को हृदय में धारण करते हुए उषा के समान तेज की किरणों से युक्त, प्राणवान्, यज्ञवान्, प्रबोधवान् और सत्यवान् होकर विद्वानों के संग से सदा जागरूक, सदाचारी और धर्मात्मा होवें ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से धन की प्रार्थना की गयी है।

४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥७॥[2]

पदार्थ—हे **वसो** निवासक **अग्ने** परमात्मन्! **चित्रः** अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाले, पूज्य और दर्शनीय **त्वम्** आप **ऊत्या** रक्षा के साथ **नः** हमारे लिए **राधांसि** विद्या, सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि धनों को **चोदय** प्रेरित कीजिए। **त्वम्** आप **अस्य** इस दृश्यमान **रायः** लौकिक तथा पारमार्थिक धन के **रथीः** स्वामी **असि** हो। अतः **नः** हमें तथा **तुचे** हमारे पुत्र-पौत्र आदि सन्तान को **तु** शीघ्र व अवश्य **गाधम्** पूर्वोक्त धन की थाह को, अर्थात् अपरिमित उपलब्धि को, **विदाः** प्राप्त कराओ ॥७॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर! सब प्राणियों के तथा नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदिकों के निवासक होने से आप 'वसु' कहलाते हो। वह आप जगत् में दिखायी देनेवाले चाँदी-सोना-मोती-मणि-हीरे आदि, कन्द-मूल-फल आदि, दूध-दही-मक्खन आदि, अहिंसा-सत्य-अस्तेय आदि, शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय आदि और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि धनों के परम अधिपति हो। आप कृपा कर हमारे अन्दर पुरुषार्थ उत्पन्न करो, जिससे हम भी उन भौतिक और आध्यात्मिक धनों के अधिपति हो सकें ॥७॥

अब परमात्मा किन गुणों से युक्त है और कौन उसकी पूजा करते हैं, यह बताते हैं।

४२. त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः ।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥[3]

१. ऋ० १।४४।१, साम १७८०।
२. ऋ० ६।४८।९, साम १६२३। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणायं मन्त्रो 'विद्वांसोऽपत्यानि कथं शिक्षेरन्' इति विषये व्याख्यातः।
३. ऋ० ८।६०।५, 'ऋतस्कविः' इति पाठः। ऋषिः भर्गः प्रागाथः।

पदार्थ—हे **त्रातः** रक्षक **अग्ने** अग्रणी परमेश्वर ! **त्वम् इत्** आप निश्चय ही **सप्रथाः** परमयशस्वी एवं सर्वत्र विस्तीर्ण, **ऋतः** सत्यस्वरूप, और **कविः** वेदकाव्य के रचयिता एवं मेधावियों में अतिशय मेधावी **असि** हो। हे **समिधान** सम्यक् प्रकाशमान, **दीदिवः** प्रकाशक परमेश्वर ! **वेधसः** कर्मयोगी **विप्रासः** ज्ञानीजन **त्वाम्** आपकी **आ विवासन्ति** सर्वत्र पूजा करते हैं ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर सज्जनों का रक्षक, सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाला, अतिशय मेधावी, वेद-काव्य का कवि, परम कीर्तिमान्, सर्वत्र व्यापक, ज्योतिष्मान् और प्रकाशकों का भी प्रकाशक है। उसके इन गुणों से युक्त होने के कारण कर्म-कुशल विद्वान् जन सदा ही उसकी पूजा करते हैं ॥८॥

परमेश्वर हमें कैसा धन दे, यह कहते हैं।

४३. आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **पावक** चित्तशोधक, पतितपावन **अग्ने** सन्मार्गदर्शक परमात्मन् ! आप **वयोवृधम्** आयु को बढ़ानेवाले, **शंस्यम्** प्रशंसायोग्य **रयिम्** धन को **नः** हमारे लिए **आ** लाइए, और लाकर, हे **उपमाते** उपमानभूत, सर्वोपमायोग्य परमात्मन् ! **पुरुस्पृहम्** बहुत अधिक चाहने योग्य अथवा बहुतों से चाहने योग्य, **सुयशस्तरम्** अतिशय कीर्तिजनक उस धन को **सुनीती** सन्मार्ग पर चलाकर **नः** हमें **रास्व च** प्रदान भी कीजिए ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए हम चाँदी, सोना, पृथिवी का राज्य आदि भौतिक तथा विद्या, विनय, योगसिद्धि, मोक्ष आदि आध्यात्मिक धन का संचय करें, जो भरपूर धन हमारी आयु को बढ़ानेवाला तथा उजली कीर्ति को उत्पन्न करनेवाला हो ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को स्तोत्र अर्पित करने के लिए कहा गया है।

४४. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥[2]

पदार्थ—**होता** विविध वस्तुओं और शुभ गुणों का प्रदाता, **जनानाम्** मनुष्यों का **मन्द्रः** आनन्द-जनक **यः** जो परमेश्वर **विश्वा** समस्त **वसु** धनों को **दयते** प्रदान करता है, **अस्मै** ऐसे इस **अग्नये** नायक परमेश्वर के लिए **मधोः** शहद के **प्रथमा** श्रेष्ठ **पात्रा न** पात्रों के समान **स्तोमाः** मेरे स्तोत्र **प्रयन्तु** भलीभाँति पहुँचें ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे घर में आये हुए विद्वान् अतिथि को मधु, दही, दूध आदि से भरे हुए पात्र सत्कारपूर्वक समर्पित किये जाते हैं, वैसे ही परम दयालु, परोपकारी परमात्मा के लिए भक्तिभाव से भरे हुए स्तोत्र समर्पित करने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के गुणवर्णनपूर्वक उससे समृद्धि-आदि की याचना की गयी है, अतः इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में पूर्व अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० ८।६०।११, ऋषिः भर्गः प्रागाथः।

२. ऋ० ८।१०३।६, यन्त्यग्नये इति पाठः। साम० १५८३।

॥५॥ अथ 'एना वो अग्निम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ वसिष्ठः; २ भर्गः; ३, ७ सौभरिः; ४ मनुः; ५ सुदीतिपुरुमीढौ; ६ प्रस्कण्वः; ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ९ विश्वामित्रः; १० कण्वः ॥ देवता—१-७, ९,१० अग्निः; ८ इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती । स्वरः मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है।

४५. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥[1]

पदार्थ—मैं **एना** इस **नमसा** नमस्कार द्वारा **ऊर्जः नपातम्** बल एवं प्राणशक्ति के पुत्र अर्थात् अतिशय बलवान् और प्राणवान् **प्रियम्** प्रिय, **चेतिष्ठम्** सबसे अधिक ज्ञानी और ज्ञानप्रदाता, **अरतिम्** सर्वव्यापक वा सुखप्रापक, **स्वध्वरम्** उत्कृष्ट, अहिंसामय सृष्टिसंचालन-रूप यज्ञ के कर्ता, **विश्वस्य** सबके **दूतम्** दुःख, दोष आदि को दूर करनेवाले, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करानेवाले तथा काम क्रोधादि शत्रुओं को उपतप्त करनेवाले, **अमृतम्** स्वरूप से नाश-रहित **वः** आप **अग्निम्** परमात्मा को **आहुवे** पुकारता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा बल और प्राण का खजाना, भक्तवत्सल, पूर्णज्ञानी, सर्वव्यापक, सुख-ज्ञान आदि का प्रदाता, दुःख-दारिद्र्य आदि का विनाशक, विविध यज्ञ करने में कुशल, दोषों को दग्ध करनेवाला, गुणों को प्राप्त करानेवाला और मरणधर्म से रहित है, उसकी सबको प्रेम से श्रद्धापूर्वक स्तुति करनी चाहिए ॥१॥

अब भौतिक अग्नि के सादृश्य से परमात्मा के कर्म का वर्णन करते हैं।

४६. शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद् देवेषु राजसि ॥२॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** यज्ञाग्नि के पक्ष में। हे यज्ञाग्नि! तू **वनेषु** वनों में, वन के काष्ठों में, और **मातृषु** अपनी माता-रूप अरणियों के गर्भ में **शेषे** सोता है, छिपे रूप से विद्यमान रहता है। **त्वा** तुझे **मर्तासः** याज्ञिक मनुष्य **समिन्धते** अरणियों को मथकर प्रज्वलित करते हैं। प्रज्वलित हुआ तू **अतन्द्रः** तन्द्रारहित होकर, निरन्तर **हविष्कृतः** हवि देनेवाले यजमान की **हव्यम्** आहुत हवि को **वहसि** स्थानान्तर में पहुँचाता है। **आत् इत्** उसके अनन्तर ही, तू **देवेषु** विद्वान् जनों में **राजसि** राजा के समान प्रशंसित होता है।

यहाँ अचेतन यज्ञाग्नि में चेतन के समान व्यवहार आलंकारिक है। अचेतन में शयन और तन्द्रा का सम्बन्ध सम्भव न होने से शयन की प्रच्छन्न रूप से विद्यमानता होने में लक्षणा है, इसी प्रकार अतन्द्रत्व की नैरन्तर्य में लक्षणा है। 'वनों में शयन करता है,' इससे 'अग्नि एक वनवासी मुनि के समान है', यह व्यंजना निकलती है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। हे परमात्मन्! आप **वनेषु** वनों में और **मातृषु** वनों की मातृभूत नदियों में **शेषे** शयन कर रहे हो, अदृश्य रूप से विद्यमान हो। **त्वा** उन आपको **मर्तासः** मनुष्य,

१. ऋ० ७।१६।१, य० १५।३२, साम० ७४९।
२. ऋ० ८।६०।१५। 'मातृषु, हव्यं' इत्यत्र क्रमेण 'मात्रोः, हव्या' इति पाठः।

योगाभ्यासी जन **समिन्धते** संदीप्त करते हैं, जगाते हैं, योगसाधना द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं। अन्यत्र कहा भी है—पर्वतों के एकान्त में और नदियों के संगम पर ध्यान द्वारा वह परमेश्वर प्रकट होता है। साम० १४३। **अतन्द्रः** निद्रा, प्रमाद, आलस्य आदि से रहित आप, उनकी **हव्यम्** आत्मसमर्पण-रूप हवि को **वहसि** स्वीकार करते हो। **आत् इत्** तदनन्तर ही, आप **देवेषु** उन विद्वान् योगी जनों में, अर्थात् उनके जीवनों में **विराजसि** विशेषरूप से शोभित होते हो।

यहाँ भी परमात्मा के निराकार होने से उसमें शयन और संदीपन रूप धर्म संगत नहीं हैं, इस कारण शयन की गूढ रूप से विद्यमानता होने में और संदीपन की योग द्वारा साक्षात्कार करने में लक्षणा है॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, और भौतिक अग्नि एवं परमेश्वर का उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है॥२॥

भावार्थ—जैसे भौतिक अग्नि वन के काष्ठों में अथवा अरणियों में अदृश्य हुआ मानो सो रहा होता है और अरणियों के मन्थन से यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त हो जाता है, वैसे ही परमेश्वर भी वनों के तरु, लता, पत्र, पुष्प, नदी, सरोवर आदि के सौन्दर्य में प्रच्छन्न रूप से स्थित रहता है और वहाँ ध्यानस्थ योगियों द्वारा हृदय में प्रदीप्त किया जाता है। जैसे यज्ञवेदि में प्रदीप्त किया हुआ भौतिक अग्नि सुगन्धित, मधुर, पुष्टिदायक और आरोग्यवर्धक घी, कस्तूरी, केसर, कन्द, किशमिश, अखरोट, खजूर, सोमलता, गिलोय आदि की आहुति को वायु के माध्यम से स्थानान्तर में पहुँचाकर वहाँ आरोग्य की वृद्धि करता है, वैसे ही परमेश्वर उपासकों की आत्मसमर्पण-रूप हवि को स्वीकार करके उनमें सद्गुणों को बढ़ाता है॥२॥

परमेश्वर की हमें स्तुति-वाणियों से पूजा करनी चाहिए, यह कहते हैं।

४७. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः॥३॥[1]

पदार्थ—**गातुवित्तमः** सबसे बढ़कर कर्तव्य-मार्ग का प्रदर्शक वह अग्रणी परमेश्वर **अदर्शि** हमारे द्वारा साक्षात् कर लिया गया है, **यस्मिन्** जिस परमेश्वर में, मुमुक्षुजन **व्रतानि** अपने-अपने कर्मों को **आदधुः** समर्पित करते हैं अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करते हैं। **उ** और **सुजातम्** भलीभाँति हृदय में प्रकट हुए, **आर्यस्य** धार्मिक गुण-कर्म-स्वभाव वाले, ईश्वर-पुत्र आर्यजन के **वर्द्धनम्** बढ़ानेवाले **अग्निम्** ज्योतिर्मय, नायक परमेश्वर को **नः** हमारी **गिरः** स्तुति-वाणियाँ **उप नक्षन्तु** समीपता से प्राप्त करें॥३॥

भावार्थ—मोक्षार्थी मनुष्य फल की इच्छा का परित्याग करके परमेश्वर में अपने समस्त कर्म समर्पित कर देते हैं और परमेश्वर सदैव प्रज्वलित दीपक के समान उनके मन में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक पैदा करता है। सब आर्य गुण-कर्म-स्वभाववालों के उन्नायक उसकी स्तुति से हमें अपने हृदय को पवित्र करना चाहिए॥३॥

---

१. ऋ० ८।१०३।१ 'नक्षन्तु' इत्यत्र 'नक्षन्त' इति पाठः। साम० १५१५।

अब उपासना-यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्ते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥[1]

पदार्थ—**उक्थे** स्तुतिमय **अध्वरे** हिंसादि के दोष से रहित उपासना-यज्ञ में **अग्निः** ज्योतिर्मय परमात्मा **पुरोहितः** संमुख निहित है; **ग्रावाणः** स्तुति-शब्द-रूप यज्ञिय सिल-बट्टे भी **पुरोहिताः** संमुख निहित हैं; **बर्हिः** हृदय-रूप पवित्र कुशा-निर्मित आसन भी **पुरोहितम्** संमुखस्थ है। हे **मरुतः** प्राणो! हे **ब्रह्मणः पते** ज्ञानगुणविशिष्ट जीवात्मन्! हे **देवाः** इन्द्रिय-मन-बुद्धि-रूप ऋत्विजो! मैं **ऋचा** ईश-स्तुति-रूप वाणी के साथ, आपकी **वरेण्यम्** वरणीय **अवः** रक्षा को **यामि** माँग रहा हूँ ॥४॥

भावार्थ—जैसे बाह्य यज्ञ में यज्ञ-वेदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है, वहाँ सोम-आदि ओषधियों को पीसने के साधनभूत सिल-बट्टे तथा ऋत्विजों के बैठने के लिए कुशानिर्मित आसन भी तैयार रहते हैं; वैसे ही उपासना-यज्ञ में परमात्मा-रूप अग्नि समिद्ध की जाती है; स्तुतिशब्द ही सिल-बट्टे होते हैं; हृदय ही कुशानिर्मित आसन होता है, ब्रह्मणस्पति नामक जीवात्मा ही यजमान बनता है; प्राण-इन्द्रिय-मन-बुद्धि ऋत्विज् बनकर हृदयासन पर बैठकर उस यज्ञ को फैलाते हैं, जिनकी सहायता और जिनकी रक्षा यज्ञ की सफलता के लिए अनिवार्य है। इसलिए सब उपासकों को आभ्यन्तर यज्ञ में उनकी रक्षा की याचना करनी चाहिए ॥४॥

किसलिए मनुष्यों को परमात्मा की स्तुति करनी चाहिए, यह कहते हैं।

४९. अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥[2]

पदार्थ—हे **पुरुमीढ** अनेक गुणों से सिक्त स्तोता! तू **अवसे** रक्षा, प्रगति, सर्वजनप्रीति और तृप्तिलाभ के लिए **शीरशोचिषम्** सर्वत्र व्यापक ज्योतिवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमात्मा की **गाथाभिः** मन्त्र-वाणियों से **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। **श्रुतम्** महिमा वर्णन करनेवाले वेदादि शास्त्रों से सुने हुए **अग्निम्** उस परमात्मा की, तू **राये** भौतिक एवं आध्यात्मिक सब प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिए **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। हे **नरः** पौरुषवान् मनुष्यो! **अग्नि** जगत् का नायक परमात्मा **सुदीतये** उत्तम कर्मवाले पुरुषार्थी जन के लिए **छर्दिः** शरण होता है ॥५॥

भावार्थ—धन आदि समस्त कल्याणों के अभिलाषी मनुष्यों को चाहिए कि वे पुरुषार्थी होकर सर्वत्र व्याप्त तेजोंवाले परमगुरु परमात्मा का भजन करें ॥५॥

अब परमात्मा और राजा से प्रार्थना करते हैं।

५०. श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥[3]

---

१. ऋ० ८।२७।१ 'देवाँ अवो' इति पाठः।

२. ऋ० ८।७१।१४, अ० २०।१०३।१। उभयत्र 'नरोऽग्निं' इति पाठः।

३. ऋ० १।४४।१३, य० ३३।१५। उभयत्र 'आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्' इति पाठः।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **श्रुत्कर्ण** सुनने वाले कानों से युक्त अर्थात् अपरिमित श्रवणशक्ति वाले **अग्ने** परमात्मन्! आप **वह्निभिः** घोड़ों के समान वहनशील अर्थात् जैसे घोड़े अपनी पीठ पर बैठाकर लोगों को लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं, वैसे ही जो स्तोता को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देते हैं। ऐसे **सयावभिः** आपके साथ ही आगमन करने वाले **देवैः** दिव्य गुणों के साथ, आप **श्रुधि** मेरी प्रार्थना को सुनिए। **अध्वरे** हिंसा आदि मलिनता से रहित, प्रातः किये जाने वाले मेरे उपासना-यज्ञ में **प्रातर्यावभिः** प्रातःकाल यज्ञ में आने वाले दिव्य गुणों के साथ **मित्रः** मित्र के समान स्नेहशील, **अर्यमा** न्यायशाली आप **बर्हिषि** हृदयासन पर **आसीदतु** बैठें॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **श्रुत्कर्ण** बहुश्रुत कानों वाले राजनीतिशास्त्रवेत्ता **अग्ने** विद्या-प्रकाशयुक्त राजन्! आप **वह्निभिः** राज्यभार को वहन करने में समर्थ **सयावभिः** आपके साथ आगमन करने वाले **देवैः** विद्वान् मन्त्री आदि राजपुरुषों के साथ **श्रुधि** हमारे निवेदन को सुनिए। **अध्वरे** राष्ट्रयज्ञ में **प्रातर्यावभिः** जो प्रजा का सुख-दुःख सुनने के लिए प्रातःकाल सभा में उपस्थित होते हैं ऐसे राज्याधिकारियों सहित **मित्रः** मित्रवत् व्यवहार करने वाले राजसचिव और **अर्यमा** श्रेष्ठों को सम्मानित तथा अन्य अश्रेष्ठों को दण्डित करने वाले न्यायाधीश **बर्हिषि** राज्यासन पर **आसीदतु** बैठें॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है॥६॥

भावार्थ—उपासक लोग पवित्र भावों के प्रेरक प्रभातकाल में जो उपासना-यज्ञ करते हैं, उसमें परमात्मा के साथ शम, दम, तप, स्वाध्याय, दान, दया, न्याय आदि विविध गुण भी हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं। उस काल में अनुभव किये गये परमात्मा को और सद्गुणों को स्थिर रूप से हृदय में धारण कर लेना चाहिए। और प्रजापालक राजा को यह उचित है कि वह राज्य-संचालन में समर्थ, योग्य मन्त्री, न्यायाधीश आदि राजपुरुषों को नियुक्त करके उनके साथ प्रजा के सब कष्टों को सुनकर उनका निवारण करे॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

५१. प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि॥७॥[1]

पदार्थ—**दैवोदासः** धार्मिक जनों का प्रिय, **देवः** प्रकाशक **अग्निः** जगन्नायक परमेश्वर **इन्द्रः न** बलवान् राजा के समान **मज्मना** बल से **प्र** प्रभावशाली और समर्थ बना हुआ है। आगे उसके सामर्थ्य का ही वर्णन है—वह **मातरम्** माता **पृथिवीम्** भूमि को **अनु वि वावृते** अनुकूलता से सूर्य के चारों ओर घुमा रहा है। वही परमेश्वर **नाकस्य** सूर्य के **शर्मणि** घर, सूर्यमण्डल में **तस्थौ** स्थित है अर्थात् सूर्य का संचालक भी वही है॥७॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है॥७॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव राजा अपने बल से राष्ट्रभूमि को नियमों में चलाता है वैसे ही परमात्मा भूमि को सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कराता है और आदित्य में भी निवास करता हुआ उसके द्वारा पृथिवी आदि ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है॥७॥

---

१. ऋ० ८।१०३।२, 'देव इन्द्रो, शर्मणि।' इत्यत्र क्रमेण 'देवाँ अच्छा, सानवि' इति पाठः। साम० १५१७।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है।

२३ १र २र ३ १ २३१ २ ३१र २र
८२. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
३ १ २ ३क२र ३२उ ३ १ २
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥[1]

पदार्थ—**अध** और, हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **ज्मः** पृथिवी लोक से, **अध वा** तथा **दिवः** द्युलोक से, और **बृहतः** महान् **रोचनात् अधि** प्रदीप्त चन्द्रलोक अथवा अन्तरिक्षलोक से उन-उन लोकों की वस्तुएँ लाकर हमें **आ पृण** परिपूर्ण कीजिए। अभिप्राय यह है कि पृथिवी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष में जो अग्नि, वायु, प्रकाश, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल, सोना, चाँदी, मणि, मोती आदि वस्तुएँ हैं, उन्हें आप मुक्त हस्त से हमें प्रदान कीजिए। आप **मम** मेरी **अया** इस **तन्वा** विस्तीर्ण **गिरा** स्तुति-वाणी से **वर्धस्व** मेरे अन्तःकरण में वृद्धि को प्राप्त होइए। हे **सुक्रतो** उत्कृष्ट प्रज्ञा वाले और उत्कृष्ट कर्मोंवाले ! आप **जाता** उत्पन्न सन्तानों को **आ पृण** प्रज्ञाओं, कर्मों और सम्पदाओं से तृप्त कीजिए ॥८॥

भावार्थ—भूलोक के पर्वत, नदी, नद, सागर, वृक्ष, वनस्पति, लता, पत्र, पुष्प आदि में, द्युलोक के नक्षत्र, आकाशगंगा, सूर्य, सूर्यकिरण आदि में और अन्तरिक्ष-लोक के चन्द्रमा, वायु, बादल आदि में जो ऐश्वर्य है, उस सबको परमेश्वर हमें निःशुल्क प्रदान करता है। इसलिए हमें वाणी से उसकी महिमा का प्रकाश करने वाले गीत गाने चाहिए ॥८॥

परमात्मा रूप अग्नि को अपने हृदय में प्रदीप्त करना चाहता हुआ मनुष्य कह रहा है।

१ २ ३२उ ३१र२र ३२
८३. कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
१र २र ३१२ ३ १२३ २ ३२उ ३१ २
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः ॥९॥[2]

पदार्थ— **अग्ने** प्रकाशक परमात्मारूप अग्नि ! **त्वम्** आप **वना** अपनी तेज की किरणों को **कायमानः** प्रकट करना चाहते हुए अर्थात् स्वयं हमारे आत्मा, मन, बुद्धि आदि में प्रज्वलित होना चाहते हुए भी **यत्** जो **मातः अपः** मातृभूत जलों में **अजगन्** प्रविष्ट हो अर्थात् जलों से अग्नि के समान शान्त हुए पड़े हो, **तत्** वह **ते** आपकी **निवर्तनम्** निवृत्ति अर्थात् मेरे प्रति उदासीनता को, मैं **न** नहीं **प्रमृष्ये** सह सकता हूँ, **यत्** क्योंकि **दूरे सन्** इस समय दूर होते हुए भी आप, पहले **इह** यहाँ मेरे समीप **अभुवः** रह चुके हो। पहले के समान अब भी आपकी तेजोरश्मियाँ मेरे अन्दर क्यों नहीं प्रकाशित होतीं ? ॥९॥

इस मन्त्र में 'प्रदीप्त होना चाहते हुए भी प्रदीप्त नहीं हो रहे हो, प्रत्युत शान्त हो गये हो' यहाँ कारण विद्यमान होने पर भी कार्य का उत्पन्न न होना रूप विशेषोक्ति अलंकार है। 'दूर होते हुए यहाँ विद्यमान हो' में विरोधालङ्कार व्यङ्ग्य है, व्याख्यात प्रकार से विरोध का परिहार हो जाता है ॥९॥

भावार्थ—जो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका है ऐसा मनुष्य असावधानी के कारण उसे भूल जाने पर अपने उद्गार प्रकट कर रहा है—हे देव ! पहले आप सदा ही मेरे आत्मा, मन, बुद्धि आदि में प्रदीप्त रहते थे। पर अब दुःख है कि जलों से बुझे भौतिक अग्नि के समान शान्त हो गये हो। आपकी मेरे प्रति इस उदासीनता को मैं नहीं सह सकता हूँ। कृपा करके प्रसुप्तावस्था को छोड़कर पहले के समान मेरे अन्दर प्रदीप्त होवो ॥९॥

---

१. ऋ० ८।१।१८।

२. ऋ० ३।९।२, 'भुवः' इत्यत्र 'भवः' इति पाठः।

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है।

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप प्रकाशक परमात्मन्! **मनुः** मननशील जन **त्वाम्** अत्युच्च महिमा वाले आपको **निदधे** निधि के समान अपने अन्तःकरण में धारण करता है। आप **शश्वते** शाश्वत, सनातन **जनाय** जीवात्मा के लिए **ज्योतिः** दिव्य ज्योति प्रदान करते हो। **ऋतजातः** सत्य में प्रसिद्ध, **उक्षितः** हृदय में सिक्त आप **कण्वे** मुझ मेधावी के अन्दर **दीदेथ** प्रकाशित होवो, **यम्** जिस आपको **कृष्टयः** उपासक जन **नमस्यन्ति** नमस्कार करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—सब मेधावी जनों को चाहिए कि मननशीलों के सबसे बड़े खजाने, जीवात्माओं को दिव्य ज्योति प्रदान करने वाले परमेश्वर को अपने हृदय में प्रदीप्त करें और उसकी उपासना करें ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के कर्तृत्व और महत्त्व के वर्णनपूर्वक मनुष्यों को उसकी स्तुति के लिए प्रेरित किया गया है और हृदय में उसकी समीपता एवं वृद्धि की याचना की गयी है, इसलिए इसके विषय की पूर्व दशति में वर्णित विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

प्रथम प्रपाठक में, प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

अथ द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ तत्र 'देवो वो द्रविणोदाः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १, ७ वसिष्ठः; २, ३, ५ कण्वः; ४ सौभरिः; ६ उत्कीलः; ८ विश्वामित्रः ॥ देवता १, ४-८ अग्निः; २ बृहस्पतिः; ३ यूपः ॥ छन्दः बृहती ॥ स्वरः मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा दी जा रही है।

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद् वो देव ओहते ॥१॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्यो! **द्रविणोदाः** धन और बल का दाता **देवः** दिव्यगुणमय परमेश्वर **वः** तुम्हारी **पूर्णाम्** भक्तिरस रूप सोम से परिपूर्ण **आसिचम्** मन रूप स्रुवा की **विवष्टु** कामना करे। तुम **उत् सिञ्चध्वं वा** श्रद्धारस से उस परमेश्वर को स्नान कराओ, **उप पृणध्वं वा** और तृप्त करो। **आत् इत्** तदनन्तर ही **देवः** परमेश्वर **वः** तुम्हें **ओहते** वहन करेगा अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचाएगा ॥१॥

भावार्थ—सब उपासक जनों को चाहिए कि प्रेमरस से भरी हुई अपनी मनरूप स्रुवाओं से परमेश्वर को श्रद्धारस से सींचें और तृप्त करें। इस प्रकार सींचा हुआ और तृप्त किया हुआ वह उपासकों को उनके निर्धारित लक्ष्य की ओर ले जाता है ॥१॥

---

१. ऋ० १।३६।१९।

२. ऋ० ७।१६।११, 'विवष्ट्यासिचम्' इति पाठः।

अगले मन्त्र का देवता ब्रह्मणस्पति है। हमें क्या-क्या प्राप्त हो, यह कहते हैं।

२३ १२३ २३ २३क२र ३१२
५६. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
१ २ ३१र २र ३ १२ ३२ ३१२
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥२॥[1]

पदार्थ—**ब्रह्मणस्पतिः** वेद, ब्रह्माण्ड तथा सकल ऐश्वर्य का स्वामी जगदीश्वर **प्र एतु** हमें प्राप्त हो। **देवी** दिव्यगुणयुक्त **सूनृता** प्यारी सच्ची वाणी **प्र एतु** हमें प्राप्त हो। **देवाः** विद्वान् और विदुषियाँ **नः** हमारे **यज्ञम्** राष्ट्ररूप यज्ञ के **अच्छ** प्रति **नर्यम्** नरहितकारी, **पङ्क्तिराधसम्** धर्मात्मा वीर मनुष्यों की पंक्तियों के सेवक और पंक्तियों के हितार्थ अपने धन को लगानेवाले, **वीरम्** शरीर और आत्मा के पूर्ण बल से युक्त सन्तान को **नयन्तु** प्राप्त करायें॥२॥

भावार्थ—वेद, ब्रह्माण्ड और सकल ऐश्वर्य का स्वामी जगदीश्वर, मधुर-प्रिय-सत्य वाणी और नरहितकर्ता, धर्मात्माओं का सेवक, सत्कार्यों में धन का दान करनेवाला पुत्र यदि प्राप्त हो जाता है तो निश्चय ही सभी सिद्धियाँ हाथ में आ जाती हैं॥२॥

अगले मन्त्र में यूप देवता है। यूप के समान उन्नत परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

३२ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३१र २र३ २
५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥३॥[2]

पदार्थ—हे यज्ञस्तम्भ के समान उन्नत परमात्मन्! आप **नः** हमारी **ऊतये** रक्षा के लिए **देवः** प्रकाशक **सविता न** सूर्य के समान **उ** निश्चय ही **सु** भली भाँति **ऊर्ध्वः** हमारे हृदय में समुन्नत होते हुए **वाजस्य** आत्मिक बल के **सनिता** प्रदाता होवो, **यत्** क्योंकि **अञ्जिभिः** स्वच्छ किये हुए **वाघद्भिः** स्तुति का वहन करनेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रिय रूप ऋत्विजों के द्वारा, हम आपको **विह्वयामहे** विशेष रूप से पुकार रहे हैं, आपकी स्तुति कर रहे हैं॥३॥

इस मन्त्र में उपमेय के निगरणपूर्वक उपमेय परमात्मा में यूपत्व का आरोप होने से अतिशयोक्ति अलंकार है। 'देव सविता के समान उन्नत' में पूर्णोपमालंकार है॥३॥

भावार्थ—परमात्मा को यज्ञस्तम्भ के समान और सूर्य के समान जब अपने हृदय में हम समुन्नत करते हैं, तब वह हमें महान् फल प्रदान करता है॥३॥

अब पुरुषार्थी परमेश्वरोपासक क्या प्राप्त करता है, यह कहते हैं।

२उ ३१र २र ३ २३ १२ ३ १२
५८. प्र यो राये निनीषति मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
२ ३१ २ ३२३ १२ ३१२
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्॥४॥[3]

पदार्थ—हे **वसो** सर्वान्तिर्यामिन्, सबके निवासक **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन्! **यः** जो कोई **मर्तः** मनुष्य **राये** विद्या-विवेक-विनय आदि धन के लिए, श्रेष्ठ सन्तान रूप धन के लिए और सुवर्ण आदि धन के लिए **प्र निनीषति** अपने-आपको प्रगति के मार्ग पर ले जाना चाहता है, पुरुषार्थ में नियुक्त करना

---

१. ऋ० १।४०।३ देवता बृहस्पतिः। य० ३३।८९ देवता विश्वेदेवाः।
२. ऋ० १।३६।१३, य० ११।४२। उभयत्र देवता अग्निः।
३. ऋ० ८।१०३।४, 'प्र यं राये निनीषसि' इति पाठः।

चाहता है, और **यः** जो **ते** आपके लिए **दाशत्** आत्मसमर्पण करता है, **सः** वह मनुष्य **त्मना** अपने आप **सहस्रपोषिणम्** सहस्रों निर्धनों को धनदान से और सहस्रों अविद्याग्रस्तों को विद्यादान से परिपुष्ट करने वाले **वीरम्** वीर सन्तान को **धत्ते** प्राप्त करता है ॥४॥

भावार्थ—पुरुषार्थी परमेश्वरोपासक मनुष्य सुयोग्य सन्तान, विद्या, धन, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि बहुत प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का विषय वर्णित है।

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यं समिदन्य इन्धते ॥५॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। **देवयतीनाम्** अपने लिए दिव्य भोग, दिव्य गुण और दिव्य आनन्दों को चाहने वाली, **पुरूणाम्** बहुत-सी **विशां वः** तुम प्रजाओं के हितार्थ **यह्वम्** गुणों से महान् **अग्निम्** परमेश्वर को, हम **सूक्तेभिः** उत्तम प्रकार से गाये गये **वचोभिः** साम-मन्त्रों तथा अन्य स्तोत्रों से **प्र वृणीमहे** प्रकृष्ट रूप से भजते हैं, **यम्** जिस परमेश्वर को **अन्ये इत्** अन्य भी भक्तजन **सम् इन्धते** भली-भाँति अपने अन्तःकरणों में प्रदीप्त करते हैं ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। **देवयतीनाम्** अपने लिए विजयाभिलाषी राजा को चाहनेवाली **पुरूणाम्** बहुत-सी **विशां वः** तुम प्रजाओं के मध्य से **यह्वम्** महान् **अग्निम्** अग्नि के समान तेजस्वी वीर पुरुष को, हम **सूक्तैः** भली-भाँति उच्चारित **वचोभिः** उद्‌बोधक वचनों के साथ **प्र वृणीमहे** प्रकृष्टतया राजपद पर निर्वाचित करते हैं, **यम्** जिस गुणी पुरुष को **अन्ये** अन्य भी राष्ट्रवासी जन **सम् इन्धते** इस पद के लिए समुत्साहित या समर्थित करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए राजोचित सकल गुणगणों से विभूषित कोई महान् पुरुष राजपद के लिए चुना जाता है, वैसे ही सुमहान् परमेश्वर को हमें भली-भाँति उच्चारण किये गये स्तुतिवचनों द्वारा मार्गप्रदर्शक रूप में वरण करना चाहिए ॥५॥

अब परमात्मा और राजा किस-किस वस्तु के अधीश्वर हैं, यह कहते हैं।

६०. अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥६॥[2]

पदार्थ—अयम् यह संमुख विद्यमान **अग्निः** जगत् का अग्रनायक परमेश्वर और प्रजाओं से चुना गया राष्ट्रनायक राजा **सुवीर्यस्य** शारीरिक और आध्यात्मिक बल का तथा **सौभगस्य** धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि सौभाग्यों का **हि** निश्चय ही **ईशे** अधीश्वर है, **स्वपत्यस्य** उत्कृष्ट सन्तान से युक्त तथा **गोमतः** गाय, पृथिवी, सूर्यकिरण, वेदवाणी आदि से युक्त **रायः** ऐश्वर्य का **ईशे** अधीश्वर है। **वृत्रहथानाम्** पाप-संहारों का व शत्रु-संहारों का **ईशे** अधीश्वर है ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। 'ईशे' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥६॥

---

१. ऋ० १।३६।१ 'अग्निं सूक्तैर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते' इति पाठः।
२. ऋ० ३।१६।१ 'हि' इत्यत्र 'महः' इति पाठः।

भावार्थ—जैसे राजा अपनी राष्ट्रभूमि का तथा राष्ट्रभूमि में विद्यमान धन, धान्य, वीर पुरुष आदिकों का और गाय आदि पशुओं का अधीश्वर होता है, वैसे ही परमेश्वर सब भौतिक और आध्यात्मिक धनों का अधीश्वर है। वही शारीरिक बल, आत्मिक बल, धृति, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान, वैराग्य, श्रेष्ठ सन्तान, गाय, भूमि, सूर्य और वेदवाणी हमें प्रदान करता है। वही जीवन के विनाशकारी पापों से हमारी रक्षा करता है। इसलिए उसे भूरि-भूरि धन्यवाद हमें देने चाहिएँ ॥६॥

परमेश्वर किस गुण-कर्म-स्वभाव वाला है, यह कहते हैं।

६१. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्नि के समान प्रकाशमान, सबके अग्रनेता परमात्मन्! **त्वम्** जगदीश्वर आप **गृहपतिः** ब्रह्माण्ड रूप गृह के स्वामी और पालक हो। **त्वम्** आप **नः** हमारे **अध्वरे** हिंसादिदोषरहित जीवनयज्ञ में **होता** सुख आदि के दाता हो। हे **विश्ववार** सबसे वरणीय! **प्रचेताः** प्रकृष्ट चित्त वाले **त्वम्** आप **पोता** सांसारिक पदार्थों के अथवा भक्तों के चित्तों के शोधक हो। आप **वार्यम्** वरणीय सब वस्तुएँ **यक्षि** प्रदान करते हो, **यासि च** और उनमें व्याप्त होते हो ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥७॥

भावार्थ—जैसे यज्ञाग्नि यजमान के घर का रक्षक होता है, वैसे परमेश्वर ब्रह्माण्ड रूप घर का रक्षक है। जैसे यज्ञाग्नि अग्निहोत्र में स्वास्थ्य का प्रदाता होता है, वैसे परमेश्वर जीवन-यज्ञ में सुख-सम्पत्ति आदि का प्रदाता होता है। जैसे यज्ञाग्नि वायुमण्डल का शोधक होता है, वैसे परमेश्वर सूर्य आदि के द्वारा सांसारिक पदार्थों का और दिव्यगुणों के प्रदान द्वारा भक्तों के चित्तों का शोधक होता है ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को बरण करने के लिए कहा गया है।

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥८॥[2]

पदार्थः—**मर्तासः** मरणधर्मा, **सखायः** समान ख्याति वाले हम साथी लोग **देवम्** ज्योतिर्मय और ज्योति देने वाले, **अपां नपातम्** व्याप्त प्रकृति का और जीवात्माओं का विनाश न करने वाले, **सुभगम्** उत्तम ऐश्वर्य वाले, **सुदंससम्** शुभ कर्मों वाले, **सुप्रतूर्तिम्** अत्यन्त शीघ्रता से कार्यों को करने वाले, **अनेहसम्** हिंसा न किये जा सकने योग्य, निष्पाप, सज्जनों के प्रति क्रोध न करनेवाले **त्वा** तुझ परमेश्वर रूप अग्नि को **ऊतये** आत्मरक्षा और प्रगति के लिए **ववृमहे** वरण करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकरालंकार है ॥८॥

भावार्थ—कल्याण की इच्छा करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे मिलकर परम तेजस्वी, तेजः-प्रदाता, प्रलयकाल में नश्वर पदार्थों के विनाशक, नित्य पदार्थों के अविनाशक, सर्वैश्वर्यवान्, शुभकर्मकर्ता, विचारे हुए कार्यों को शीघ्र पूर्ण करनेवाले, किसी से हिंसित या पराजित न होनेवाले, निष्पाप, सज्जनों

---

१. ऋ० ७।१६।५, 'यासि' इत्यत्र 'वेषि' इति पाठः।
२. ऋ० ३।९।१, 'सुदंससं' इत्यत्र 'सुदीदितिं' इति पाठः।

पर क्रोध न करने वाले, दुष्टों पर कुपित होने वाले, जगद्व्यवस्थापक, सबके मंगलकारी परमेश्वर की श्रद्धा से उपासना करें ।।८।।

इस दशति में अग्नि, यूप, द्रविणोदस् और बृहस्पति नामों से परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन होने से और उसके प्रति आत्म-समर्पण करने का फल वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ।।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।

प्रथम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।।

।।७।। अथ 'आजुहोता हविषा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्यावाश्ववामदेवौ; २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः; ३ बृहदुक्थः; ४ कुत्सः; ५, ६ भरद्वाजः; ७ वामदेवः; ८, १० वसिष्ठः; ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ।। देवता—अग्निः । छन्दः—१, ३, ५-९ त्रिष्टुप्; २, ४ जगती; १० त्रिपात् विराड् गायत्री ।। स्वरः—१, ३, ५-९ धैवतः; २, ४ निषादः; १० षड्जः ।।

६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में यह कहते हैं कि परमात्मा का सबको ध्यान और पूजन करना चाहिए ।

पदार्थ—हे स्तोताओ ! तुम **हविषा** आत्मसमर्पण रूप हवि से **आजुहोत** परमात्माग्नि में अग्नि-होत्र करो, **मर्जयध्वम्** अपने आत्मा को शुद्ध और अलंकृत करो । **होतारम्** यज्ञ का फल देने वाले **गृहपतिम्** शरीररूप घर के रक्षक उस परमात्माग्नि को **निदधिध्वम्** हृदय में धारण करो—अर्थात्, उसका निरन्तर ध्यान करो । **रातहव्यम्** दातव्य सांसारिक वस्तुओं की और सद्गुणों को देने वाले, **पस्त्यानाम्** प्रजाओं के **यजतम्** पूजनीय उस परमात्माग्नि को **इडः पदे** हृदयरूप यज्ञवेदि-स्थल में **नमसा** नमस्कार द्वारा **सपर्यत** पूजो ।।१।।

इस मन्त्र में 'आजुहोत, मर्जयध्वम्, निदधिध्वम्, सपर्यत' इन अनेक क्रियाओं का एक कर्ता कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है ।।१।।

भावार्थ—आत्म-कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को अपने आत्मा को परमात्मारूप अग्नि में समर्पित करके आत्मशुद्धि करनी चाहिए ।।१।।

अगले मन्त्र में अग्नि की समानता से परमेश्वर की महिमा का वर्णन है ।

६४. चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे ।
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यां३ चरन् ।।२।।[1]

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में । **शिशोः** नवजात शिशु होते हुए भी **तरुणस्य** जो युवक है, युवक के समान कार्य करने वाला है, उस यज्ञाग्नि का **वक्षथः** हवि वहन करने का गुण **चित्रः इत्** अद्भुत ही है; **यः** जो यज्ञाग्नि **धातवे** दूध पीने के लिए **मातरौ** माता-पिता बनी हुई अरणियों का **न अन्वेति**

१. ऋ० १०।११५।१ 'मातरावप्येति धातवे । अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष' इति पाठः ।

अनुसरण नहीं करता। **अनूधाः** बिना ऊधस् वाली माता अरणी **यत्** जब, यज्ञाग्नि को **अजीजनत्** उत्पन्न करती है **अध चित्** उसके बाद ही **सद्यः** तुरन्त **महि** महान् **दूत्यम्** दूत-कर्म को **चरन्** करता हुआ, वह **आववक्षत्** होम की हुई हवि को वहन करने लगता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **शिशोः** शिशु के समान प्रिय, और **तरुणस्य** युवक के समान महान् कर्मों को करनेवाले परमात्मा का **वक्षथः** जगत् के भार को वहन करने का गुण **चित्रः** आश्चर्यकारी है, **यः** जो परमात्मा, अन्य प्राणियों के समान **धातवे** दूध पीने के लिए अर्थात् पुष्टि पाने के लिए **मातरौ** माता-पिता को **न अन्वेति** प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत स्वयं परिपुष्ट है। **अनूधाः** ऊधस्-रहित प्रकृति **यत्** जब **अजीजनत्** इस जगत् को उत्पन्न करती है **अध चित्** उसके बाद ही **सद्यः** तुरन्त **महि** महान् **दूत्यम्** दूत-कर्म को **चरन्** करता हुआ, वह परमात्मा **आ ववक्षत्** जगत् के भार को वहन करना आरम्भ कर देता है ॥२॥

यहाँ 'वह कौन है जो शिशु होते हुए भी तरुण है, शिशु होते हुए भी पोषण पाने या दूध पीने के लिए माता-पिता के पास नहीं जाता और पैदा होते ही महान् दूत-कर्म करने लगता है'—इस प्रकार प्रहेलिकालंकार है। अथवा विरोधालंकार व्यङ्ग्य है ॥२॥

भावार्थ—शिशु होते हुए कोई भी शक्तिसाध्य कार्य नहीं करता है, किन्तु माता का दूध पीने से और पिता के संरक्षण से पुष्ट होकर ही भारी काम करने में समर्थ होता है। परन्तु यह आश्चर्य है कि अरणी-रूप माता-पिताओं से उत्पन्न यज्ञाग्नि शिशु होता हुआ भी उत्पन्न होते ही हवि-वहन रूप दुष्कर दूत-कर्म को करने लगता है। वैसे ही परमेश्वर भी शिशु होते हुए भी युवक है, क्योंकि वह भक्तों को शिशु के समान प्रिय है और युवक के समान जगत् के भार को उठाने रूप महान् कार्य को करने में समर्थ है। सब लोग माता-पिता से रसपान करके ही अपने शरीर में बल संचित करते हैं, किन्तु परमेश्वर उनसे रसपान किये बिना ही स्वभाव से परम बलवान् है और प्रकृति से उत्पन्न विशाल ब्रह्माण्ड के भार को उठाने वाला है। परमेश्वर का यह सामर्थ्य और कर्म बड़ा ही अद्भुत है ॥२॥

अगला मन्त्र परमात्मा और जीवात्मा को लक्ष्य करके कहा गया है।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६८. इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे परमात्मन्! **इदम्** यह, मेरे समीप विद्यमान पार्थिव अग्नि रूप **ते** तेरी **एकम्** एक ज्योति है, **उ** और **परः** परे द्युलोक में विद्यमान, सूर्यरूप **ते** तेरी **एकम्** एक दूसरी ज्योति है। तू—उससे भिन्न **तृतीयेन ज्योतिषा** तीसरी ज्योति से, निज ज्योतिर्मय स्वरूप से **संविशस्व** मेरे आत्मा में भली भाँति प्रविष्ट हो। **परमे** श्रेष्ठ **जनित्रे** आविर्भाव-स्थान मेरे आत्मा में **संवेशनः** प्रवेशकर्ता तू **तन्वे** अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों सहित शरीर के लिए **चारुः** हितकारी, तथा **देवानाम्** इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों का **प्रियः** प्रियकारी **एधि** हो ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे जीवात्मन्! **इदम्** यह चक्षु आदि इन्द्रिय रूप **ते** तेरी **एकम्** एक ज्योति है, **उ** और **परः** उससे परे मन रूप **ते** तेरी **एकम्** एक दूसरी ज्योति है। तू **तृतीयेन** तीसरी परमात्मा रूप **ज्योतिषा** ज्योति से **संविशस्व** संगत हो। **परमे** सर्वोत्कृष्ट **जनित्रे** उत्पादक परमात्मा में

---

१. ऋ० १०।५६।१ देवता विश्वेदेवाः, 'संवेशने तन्वश्चारु' इति पाठः। अथ० १८।३।७ ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे' इति पाठः।

संवेशनः संगत हुआ तू **तन्वे** अपने आश्रयभूत देह-संघात के लिए **चारुः** कल्याणकारी, और **देवानाम्** दिव्य गुणों का **प्रियः** स्नेहपात्र **एधि** हो ॥३॥

भावार्थ—पार्थिव अग्नि तथा सूर्यरूप अग्नि में परमात्मा की ही ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जैसा कि कहा भी है—'अग्नि में परमेश्वर रूप अग्नि प्रविष्ट होकर विचर रहा है, ऋ० ४।३९।९'; 'जो आदित्य में पुरुष बैठा है, वह मैं परमेश्वर ही हूँ, य० ४०।१७'; 'उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक रहा है, कठ० ५।१५'। इसलिए पार्थिव अग्नि और सूर्याग्नि दोनों परमात्मा की ही ज्योतियाँ हैं। परन्तु परमात्मा की वास्तविक तीसरी ज्योति उसका अपना स्वाभाविक तेज ही है। उसी तेज से भक्तों के आत्मा में प्रवेश करके वह उनका कल्याण करता है और शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि का हित-सम्पादन करता है। अतः उसकी तीसरी ज्योति को प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की विधि से सबको प्रयत्न करना चाहिए। मन्त्र के द्वितीय अर्थ में जीवात्मा को सम्बोधित किया गया है। हे जीवात्मन्! तेरी एक ज्योति चक्षु, श्रोत्र आदि हैं, दूसरी ज्योति मन है, जैसाकि वेद में अन्यत्र कहा है—प्राणियों के अन्दर सबसे अधिक वेगवान् एक मनरूप ध्रुव ज्योति दर्शन करने के लिए निहित है, ऋ० ६।९।५। पर ये दोनों ज्योतियाँ साधन रूप हैं, साध्य रूप ज्योति तो तीसरी परमात्म-ज्योति ही है। अतः उसे ही प्राप्त करने के लिए प्राणपण से यत्न कर ॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर की स्तुति और उसकी संगति से हम क्या प्राप्त करें।

६६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४॥[1]

पदार्थ—**अर्हते** पूजायोग्य **जातवेदसे** सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता, सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, सकल धन के उत्पादक और वेदज्ञान को प्रकट करनेवाले परमेश्वर के लिए **मनीषया** मनोयोग के साथ **स्तोमम्** स्तोत्र को **संमहेम** सत्कारपूर्वक भेजें, **रथम् इव** जैसे किसी पूज्य जन को बुलाने के लिए उसके पास रथ भेजा जाता है। **अस्य** इस परमेश्वर की **संसदि** संगति में **नः** हमारी **प्रमतिः** प्रखर बुद्धि **भद्रा हि** भद्र ही होती है। हे **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन्! **वयम्** हम प्रजाजन **तव** आपकी **सख्ये** मित्रता में **मा** मत **रिषाम** हिंसित होवें ॥४॥

'स्तोत्र को रथ के समान सत्कारपूर्वक भेजें'—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। जैसे किसी सुयोग्य विद्वान् को अपने उत्सवों में लाने के लिए उसके निमित्त रथ भेजा जाता है, वैसे ही पूज्य परमेश्वर को अपने हृदय-गृह में लाने के लिए उसके निमित्त स्तोत्र भेजा जाए। यह भाषा आलंकारिक समझनी चाहिए क्योंकि परमेश्वर तो पहले से ही हमारे हृदयों में विद्यमान है ॥४॥

भावार्थ—अव्यक्त रूप से हृदय में स्थित परमेश्वर हमारे स्तोत्र से जाग जाता है और हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चलनेवाली भद्र बनाकर विनाश से हमारी रक्षा करता है ॥४॥

---

१. ऋ० १।९४।१, अथ० २०।१३।३, साम० १०६४।

कैसे परमेश्वर का विद्वान् लोग दर्शन करते हैं, इस विषय में कहते हैं ।

६७. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥५॥[1]

पदार्थ—**दिवः** द्युलोक के **मूर्धानम्** शिरोमणि, **पृथिव्याः** भूमि के **अरतिम्** सूर्य के चारों ओर तथा अपनी धुरी पर घुमानेवाले, **वैश्वानरम्** सब नरों के हितकारी, सबके नेता, **ऋते** सत्य में **आ जातम्** सर्वत्र प्रसिद्ध, **कविम्** मेधावी, **सम्राजम्** ब्रह्माण्ड रूप साम्राज्य के सम्राट्, **जनानाम्** प्रजाओं के **अतिथिम्** अतिथि-तुल्य सत्कार करने योग्य **नः** हमारे **पात्रम्** रक्षक **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर को **देवाः** विद्वान् उपासकजन **आसन्** मुख में जप द्वारा और हृदय-गुहा में ध्यान द्वारा **जनयन्त** प्रकट करते हैं, अर्थात् जप द्वारा और ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमात्मा द्यावापृथिवी का सञ्चालक, सबका हित करनेवाला, उत्कृष्ट सत्य नियमोंवाला, महाकवि, विश्व का सम्राट् और सबका विपदाओं से त्राण करनेवाला है, उसका ध्यान करके मनुष्यों को सब सुख प्राप्त करने चाहिए ॥५॥

स्तोता विद्वान् लोग परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, यह कहते हैं ।

६८. वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** सबके नायक परमात्मन् ! **पर्वतस्य** बादल अथवा पहाड़ के **पृष्ठात्** पृष्ठ से **देवाः** सूर्यकिरणें और पवन **आपः न** जैसे वर्षाजल और नदियों को उत्पन्न करते हैं, बहाते हैं, वैसे ही **देवाः** विद्वान् स्तोता लोग **उक्थेभिः** वेदमन्त्रों द्वारा **त्वत्** आपके पास से **आपः** आनन्द-धाराओं को **विजनयन्त** विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं, अपने आत्मा में प्रवाहित करते हैं । **तम्** उस परोपकारी **त्वा** आपको **सुष्टुतयः** उनकी उत्तम स्तुति रूप **गिरः** वाणियाँ **वाजयन्ति** पूजती हैं । **अश्वाः** घोड़े **आजिं न** जैसे युद्ध को जीत लेते हैं, **वैसे ही गिर्व-वाहः** स्तोत्रों को आपके प्रति पहुँचानेवाले स्तोता जन आपको **जिग्युः** जीत लेते हैं, पा लेते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में 'आपो न पर्वतस्य पृष्ठात्' और 'आजिं न जिग्युरश्वाः' इन दोनों स्थलों में उपमालंकार है । 'देवाः' और 'आपः' पद श्लिष्ट हैं ॥६॥

भावार्थ—जैसे सूर्यकिरणें और पवन मेघों से वृष्टि-जलों को और पर्वतों से नदियों को प्रवाहित करते हैं, वैसे ही परमेश्वर के उपासक विद्वान् लोग परमेश्वर के पास से शुद्ध परमानन्द की धाराओं को अपने अन्तःकरण में प्रवाहित करते हैं । और जैसे शिक्षित घोड़े संग्राम-भूमि को जीत लेते हैं, वैसे ही परमेश्वरोपासक लोग परमेश्वर को जीत लेते हैं ॥६॥

---

१. ऋ० ६।७।१, य० ७।२४, ३३।८ । सर्वत्र 'मासन्नः' इत्यत्र 'मासन्ना' इति पाठः । साम० ११४० ।

२. ऋ० ६।२४।६, वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः । तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः ॥ इति पाठः । इन्द्रो देवता ।

अगले मन्त्र में यह उपदेश किया गया है कि आत्मरक्षा के लिए परमात्मा का सेवन करो।

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग **वः** अपने **अध्वरस्य** जीवन-यज्ञ के **राजानम्** सम्राट्, **रुद्रम्** पापियों को रुलाने वाले और पुण्यात्माओं के दुःख को दूर करने वाले, सत्योपदेशकर्ता, **होतारम्** सृष्टि के प्रदाता और संहर्ता, **रोदस्योः** द्यावापृथिवी में **सत्ययजम्** सच्चा सामंजस्य स्थापित करने वाले, **हिरण्यरूपम्** ज्योतिर्मय **अग्निम्** नायक परमात्मा को **अवसे** आत्मरक्षा के लिए **तनयित्नोः** विजली के समान अचानक आक्रमण कर देने वाले, **अचित्तात्** मोहावस्था के प्रापक मृत्यु के आने से **पुरा** पहले ही **आकृणुध्वम्** सेवन कर लो ॥७॥

भावार्थ—मृत्यु विजली की चकाचौंध के समान न जाने कब अचानक आकर हमारा गला पकड़ ले, इस कारण उसके आने से पहले ही विविध गुणों से समृद्ध परमात्मा का सेवन करके हमें आत्मोद्धार कर लेना चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में यज्ञाग्नि के सादृश्य से परमात्माग्नि का विषय वर्णित है।

७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि ॥८॥[2]

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। **अर्यः** हवि-वहन के कर्म का स्वामी **राजा** वेदि में विराजमान यज्ञाग्नि **नमोभिः** सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक और आरोग्यवर्द्धक हवि के अन्नों से **सम् इन्धे** भली भाँति प्रदीप्त किया जाता है, **यस्य** जिस यज्ञाग्नि का **प्रतीकम्** ज्वाला-रूप मुख **घृतेन** घृत से **आहुतम्** आहुत होता है। **सबाधः** ऋत्विज **नरः** मनुष्य, उस यज्ञाग्नि का **हव्येभिः** हवियों से **ईडते** सत्कार करते हैं। **अग्निः** वह यज्ञाग्नि **उषसाम्** उषाओं के **अग्रम्** सामने **आ अशोचि** चारों ओर यज्ञवेदि में प्रदीप्त किया जाता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **अर्यः** सबका स्वामी **राजा** सम्राट् परमात्मा **नमोभिः** नमस्कारों द्वारा **सम् इन्धे** हृदय में भली भाँति प्रकाशित होता है, **यस्य** जिस परमात्मा का **प्रतीकम्** स्वरूप **घृतेन** तेज से **आहुतम्** व्याप्त है। **सबाधः** बाधाओं से आक्रान्त **नरः** मनुष्य **हव्येभिः** आत्म-समर्पण रूप हवियों से, उस परमात्मा की **ईडते** पूजा करते हैं। **अग्निः** वह परमात्मा **उषसाम्** उषाओं के **अग्रम्** आगे **आ अशोचि** उपासकों के हृदय में प्रदीप्त होता है। अभिप्राय यह है कि प्रभात काल में धारणा, ध्यान एवं समाधि के सुगम होने से हृदय में परमेश्वर के तेज का अनुभव सुलभ होता है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। यज्ञाग्नि और परमेश्वराग्नि में उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है ॥८॥

भावार्थ—जैसे यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को हवियों से प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि हृदय में परमात्मा को नमस्कारों द्वारा प्रदीप्त करें ॥८॥

---

१. ऋ० ४।३।१।
२. ऋ० ७।८।१ 'अग्निरग्र उषसामशोचि' इति पाठः। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजा कीदृशः स्यादिति पक्षे व्याख्यातवान्।

अब सर्वत्र परमेश्वर की महिमा का दर्शन करते हैं।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २१ २१ ३ १ २
७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥९॥[1]

पदार्थ—अग्निः ज्योतिर्मय जगन्नायक परमेश्वर **बृहता** विशाल **केतुना** ज्ञानराशि के साथ **प्रयाति** उपासक को प्राप्त होता है, **रोदसी** आकाश और भूमि में **आ** व्याप्त होता है। **वृषभः** सुख आदि को बरसाने वाला वह **रोरवीति** सबको बार-बार उपदेश करता है। वह **दिवः** द्युलोक के **चित्** भी **अन्तात्** प्रान्त से **उपमाम्** सूर्य के समान प्रकाशक, नक्षत्रों के समान कान्तिमान्, ध्रुव तारे के समान अचल इत्यादि रूप से उपमा को **उदानट्** प्राप्त करता है। **महिषः** महान् वह **अपाम्** जलों के **उपस्थे** स्थिति-स्थान अन्तरिक्ष में भी **ववर्ध** महिमा को प्राप्त किये हुए है ॥९॥

इस मन्त्र में 'याति, रोरवीति, उदानट्, ववर्ध' इन अनेक क्रियाओं का एक कर्ता-कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—एक ही अग्नि जैसे द्युलोक में सूर्य-रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत्-रूप में और पृथिवी पर अग्नि के रूप में भासित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सूर्य, तारा-मण्डल, बिजली, बादल, अग्नि आदि सब स्थानों में प्रकाशित होता है ॥९॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा रूप अग्नि को सब मनुष्य हृदयों में प्रदीप्त करें।

३ २उ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २
७२. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१०॥[2]

पदार्थ—नरः आप उपासक लोग **हस्तच्युतम्** हाथ, पैर, आँख, कान आदि से रहित, **प्रशस्तम्** प्रशस्तियुक्त, **दूरेदृशम्** दूरदर्शी, **गृहपतिम्** ब्रह्माण्ड-रूप अथवा शरीर-रूप घर के पालनकर्ता, **अथव्युम्** अचल, स्थिरमति **अग्निम्** परमात्मा-रूप अग्नि को **दीधितिभिः** ध्यानक्रिया रूप अंगुलियों से **अरण्योः** मन और आत्मा रूप अरणियों के मध्य में **जनयत** प्रकट करो ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥१०॥

भावार्थ—अरणियों को रगड़कर जैसे यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही ध्यान-रूप रगड़ से परमात्मा को हृदय में प्रकाशित करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में परमेश्वर का माहात्म्य वर्णित होने से, और उसकी पूजा के लिए, उसकी ज्योति का साक्षात्कार करने के लिए तथा ध्यान-रूप मन्थन-क्रियाओं से उसे प्रकाशित करने के लिए मनुष्यों को प्रेरित किये जाने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० १०।८।१ 'दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे' इति पाठः। अ० १८।३।६५, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'यात्यग्नि' इत्यत्र 'भात्यग्नि' इति पाठः।

२. ऋ० ७।१।१ 'हस्तच्युती जनयन्त', 'अमथर्युम्' इति पाठः।

।।८।। अथ 'अबोध्यग्निः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ बुधगविष्ठिरौ; २,५ वत्सप्रिः; ३ भरद्वाजः; ४,७ विश्वामित्रः; ६ वसिष्ठः; ८ पायुः ।। देवता—१,२,४-८ अग्निः; ३ पूषा ।। छन्दः—त्रिष्टुप् ।। स्वरः—धैवतः ।।

प्रथम मन्त्र में उषाकाल में यज्ञाग्नि और परमात्माग्नि को समिद्ध करने का विषय है।

७३. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ।।१।।[1]

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। **धेनुम् इव** दुधारू गाय के समान **आयतीम्** आती हुई **उषासं प्रति** उषा के काल में **जनानाम्** यजमान-जनों के **समिधा** समिदाधान द्वारा **अग्निः** यज्ञाग्नि **अबोधि** यज्ञवेदि में प्रबुद्ध हुआ है। **वयाम्** शाखा को **उज्जिहानाः** ऊपर ले जाते हुए **यह्वाः इव** विशाल वृक्षों के समान **भानवः** यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ **नाकम् अच्छ** सूर्य की ओर **प्र सस्रते** प्रसरण कर रही हैं।

द्वितीय परमात्माग्नि के पक्ष में। **धेनुम् इव** दुधारू गाय के समान **आयतीम्** आती हुई **उषासं प्रति** उषा के काल में **जनानाम्** उपासक जनों के **समिधा** आत्मसमर्पण रूप समिधाधान द्वारा **अग्निः** परमात्माग्नि **अबोधि** हृदय-वेदि में प्रबुद्ध हुआ है। **वयाम्** शाखा को **उज्जिहानाः** ऊपर ले जाते हुए **यह्वाः इव** विशाल वृक्षों के समान **भानवः** परमात्माग्नि के तेज **नाकम् अच्छ** जीवात्मा की ओर **प्र सस्रते** प्रसरण कर रहे हैं।।१।।

इस मन्त्र में यज्ञाग्नि और परमात्माग्नि रूप दो अर्थों के प्रकाशित होने के कारण श्लेषालंकार है और 'धेनुम् इव', 'यह्वाः इव' में उपमालंकार है।।१।।

भावार्थ—दूध से परिपूर्ण गायों के समान प्रकाश से परिपूर्ण उषाएँ आकाश और भूमि में बिखर गयी हैं। इस शान्तिदायक प्रभात में जैसे अग्निहोत्री लोग यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही अध्यात्मयाजी लोग हृदय में परमात्मा को प्रबुद्ध करते हैं। जैसे विशाल वृक्षों की चोटी की शाखाएँ आकाश की ओर जाती हैं, वैसे ही यज्ञवेदि में प्रज्वलित यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ सूर्य की ओर और हृदय में जागे हुए परमात्मा के तेज जीवात्मा की ओर जाते हैं।।१।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे परमात्मा की पूजा करनी चाहिए और कैसे पुरुष को राजा के पद पर बैठाना चाहिए।

७४. प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ।।२।।[2]

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **प्र भूः** समर्थ बन, प्रकृष्ट गुणों वाला हो। और, **जयन्तम्** विजेता, **महाम्** महान्, **विपोधाम्** बुद्धिमानों के सहायक, **मूरैः** मारने वालों से **अमूरम्** न मारे जा सकने वाले, **पुराम्** शत्रु-नगरियों के, **दर्माणम्** विदारक, **गीर्भिः** स्तुति-वाणियों से **वना** भजने-योग्य, **धियम्** प्रज्ञा व कर्म को **नयन्तम्** प्राप्त कराने वाले, **हरिश्मश्रुं न** स्वर्णिम किरणों वाले सूर्य के समान **वर्मणा** रक्षा के हेतु से **धनर्चिम्** ज्योतिरूप धन वाले **अग्निम्** परमात्मा को **धाः** अपने हृदय में धारण कर, और उक्त गुणों वाले

१. ऋ० ५।१।१, य० १५।२४ ऋषिः परमेष्ठी, साम १७४६, अ० १३।२।४६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः।
२. ऋ० १०।४६।५ पूर्वार्धे 'मूरा अमूरं' इति, उत्तरार्धे च 'नयन्तो गर्भं वना धियं धुर्हरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्' इति पाठः।

अग्निम् वीर पुरुष को **धाः** राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर ॥२॥

इस मन्त्र में उपमा और अर्थश्लेष अलंकार हैं।

भावार्थ—सब प्रजाजनों को चाहिए कि वे समर्थ और गुणवान् होकर सब शत्रुओं के विजेता, महामहिमाशाली, बुधजनों के मित्र, हिंसकों से भी हिंसा न किये जा सकने योग्य, शत्रु की किलेबन्दियों को तोड़ने वाले, स्तुतियों से सम्भजनीय, ज्ञानप्रदाता, सत्कर्मों में प्रेरित करने वाले, सूर्य के सदृश ज्योतिष्मान् परमात्मा को पूजें और उक्त गुणों वाले वीर पुरुष को राजा के पद पर प्रतिष्ठित करें ॥२॥

अगले मन्त्र का पूषा देवता है। पूषा नाम से परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
७५. शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
२ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३॥[1]

पदार्थ—हे **पूषन्** सब दृष्टियों से परिपुष्ट तथा पुष्टि देने वाले परमात्मन्! **ते** आपका, आप द्वारा रचा हुआ **अन्यत्** एक अर्थात् दिन **शुक्रम्** सफेद है, **ते** आपकी रची हुई **अन्यत्** दूसरी अर्थात् रात्रि **यजतम्** यज्ञ-धूम के समान कृष्णवर्ण भी है। इस प्रकार आपके रचे हुए **अहनी** दिन-रात **विषुरूपे** विषम रूप वाले हैं। किन्तु स्वयं आप **द्यौः इव** सूर्य के समान प्रकाशमान **असि** हैं। हे **स्वधावन्** सब भोग्य पदार्थों के स्वामिन्! आप **विश्वाः हि** सभी **मायाः** बुद्धिकौशलपूर्ण जगत्प्रपंचों की **अवसि** रक्षा करते हो। **ते** आपका **भद्रा** कल्याणकारी **रातिः** दान **इह** हमारे जीवन में **अस्तु** हमें प्राप्त हो ॥३॥

इस मन्त्र में स्वयं सूर्य के समान भास्वर भी परमेश्वर सफेद और काली दोनों रूपों वाली सृष्टि करता है, इस प्रकार कारण और कार्य के गुणों में आंशिक विरोध वर्णित होने से विषम अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने दिन-रात आदि विलक्षण वस्तुएँ बनायी हैं और जो सारे जगत्प्रपंच का रक्षक है, उसके उपकार हमें सदा स्मरण करने चाहिएँ ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
७६. इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** सबके अग्रनायक परमात्मन्! आप **हवमानाय** अग्निहोत्र करनेवाले तथा आत्मसमर्पण-रूप हवि देनेवाले मेरे लिए **इडाम्** भूमि, अन्न और प्रशस्त वाणी तथा **गोः** गाय की **पुरुदंसम्** अनेकों यज्ञकर्मों को सिद्ध करने वाली **सनिम्** दूध, दही, मक्खन आदि देनों को **शश्वत्तमम्** निरन्तर **साध** प्रदान करते रहिए। **नः** हमारा **सूनुः** पुत्र **तनयः** वंश, धन, सुख, कीर्ति आदि का विस्तार करने वाला, **विजावा** विजयशील और विविध ऐश्वर्यों का उत्पादक **स्यात्** होवे। हे **अग्ने** ज्योतिष्प्रदाता परमात्मन्! **सा** वह प्रसिद्ध **ते** आपकी **सुमतिः** अनुग्रहात्मक बुद्धि **अस्मे** हमें **भूतु** प्राप्त होवे ॥

भावार्थ—हे परमपिता परमात्मन्! अग्निहोत्र रूप देवयज्ञ को तथा स्तुति, प्रार्थना, उपासना,

१. ऋ० ६।५८।१
२. ऋ० ३।१।२३, ५।११, ६।११, ७।११, १५।७, २२।५, २३।५, य० १२।५१।

समर्पण रूप ब्रह्मयज्ञ को करने वाले मुझे कृपा कर कृषि एवं साम्राज्य के लिए भूमि, भोजन के लिए भोज्य अन्न आदि, ज्ञान-प्रसार के लिए प्रशस्त वाणी और शरीर की पुष्टि तथा दान के लिए गाय का दूध-दही-घी आदि प्रदान कीजिए। हमारी सन्तान को कुल, धन, धर्म, सुख, सामर्थ्य, न्याय, कीर्ति, चक्रवर्ती राज्य आदि का विस्तार करनेवाला और सब रिपुओं को जीतने वाला बनाइए ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा कैसा है, यह वर्णित है।

१९ २९ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

७७. **प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते ।**

२ ३ २ ३ २ १९ २९ ३ १९ २९ ३ १ २ ३ २

दधद्यो धायी सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥५॥[1]

पदार्थ—**महान्** महान्, **नभोवित्** द्युलोक, सूर्य तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान परमात्मा-रूप अग्नि **होता** हमारे लिए सब सुखों का दाता **प्र जातः** हुआ है। **नृषद्मा** मनुष्यों के अन्दर निवास करने वाला वह **अपाम्** नदियों के **विवर्ते** भँवर में भी **सीदत्** स्थित है। **धायी** जगत् को धारण करने वाला **यः** जो परमात्मा-रूप अग्नि **सुते** उत्पन्न जगत् में **वयांसि** भोग्य पदार्थों को स्थापित करता है, **वसूनि** नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि लोकलोकान्तरों को **यन्ता** नियम में रखनेवाला वही **विधते** पूजा करने वाले मनुष्य के लिए **तनूपाः** स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का रक्षक होता है ॥५॥

इस मन्त्र में 'नभ में विद्यमान होता हुआ भी मनुष्यों में विद्यमान है, मनुष्यों में विद्यमान होता हुआ भी नदियों के भँवर में विद्यमान है'—इस प्रकार विरोधालंकार ध्वनित हो रहा है। परमेश्वराग्नि के सर्वव्यापी होने से विरोध का परिहार हो जाता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर गगन में भी, पृथिवी में भी; मनुष्यों में भी, पशु-पक्षी आदिकों में भी; बादलों में भी, सूर्यकिरणों में भी; पर्वतों में भी, नदियों के प्रवाहों में भी; नक्षत्रों में भी, ग्रहोपग्रहों में भी—सभी जगह विद्यमान होता हुआ विश्व का संचालन कर रहा है ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के कर्म वन्दनीय हैं, यह वर्णन है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

७८. **प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।**

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥[2]

पदार्थ—हे मित्रो ! तुम **असुरस्य** दोषनाशक, प्राणप्रदाता, **पुंसः** पौरुषवान्, **कृष्टीनाम्** मनुष्यों के **अनुमाद्यस्य** प्रसादनीय अग्निनामक प्रकाशप्रदाता नेता परमात्मा के **प्रशस्तम्** कीर्तियुक्त **सम्राजम्** साम्राज्य की **प्र** प्रकृष्ट रूप से स्तुति करो। **वन्दमाना** वन्दनाशील नारी भी **इन्द्रस्य इव** सूर्य के समान **तवसः** महान् उस परमात्मा के **कृतानि** यशोमय कर्मों को **वन्दद्वारा** वन्दना द्वारा **प्र विवष्टु** भली भाँति गाने की इच्छा करे ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ—सब नर-नारियों को दोषापहारक, प्राणप्रद, बलवान् परमेश्वर की वन्दना सदा करनी चाहिए और उसके गुणों को ग्रहण करना चाहिए ॥६॥

---

१. ऋ० १०।४६।१ 'नृषद्मा' इत्यत्र 'नृषद्वा' इति, तृतीये पादे च 'दधिर्यो धायि स ते वयांसि' इति पाठः।

१. ऋ० ७।६।१, देवता वैश्वानरः। 'प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्ति', 'वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि'—इति प्रथमतुरीयपादयोः पाठः।

सर्वत्र अव्यक्तरूप में स्थित परमात्माग्नि को प्रकाशित करना चाहिए, यह अगले मन्त्र में वर्णन है।

७९. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइवेत् सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥[3]

पदार्थ—जातवेदाः प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को जानने वाला परमात्मा **अरण्योः** अरणियों के तुल्य विद्यमान जीवात्मा-प्रकृति, जीवात्मा-शरीर, द्युलोक-पृथिवीलोक और बुद्धि-मन में **निहितः** स्थित है। **गर्भिणीभिः** गर्भिणी स्त्रियों द्वारा **गर्भ इव** जैसे गर्भ धारण किया जाता है, **इत्** वैसे ही, वह **सुभृतः** उनके द्वारा सम्यक् प्रकार से धारण किया हुआ है। **अग्निः** वह परमात्मा **जागृवद्भिः** जागरूक **हविष्मद्भिः** आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि को हवि बनाकर समर्पित करने वाले **मनुष्येभिः** अध्यात्मयाजी मनुष्यों द्वारा **ईड्यः** पूजा करने योग्य है ॥७॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। गर्भ-गर्भि, दिवे-दिवे में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—जैसे गर्भिणियों में प्रच्छन्न-रूप से गर्भ स्थित होता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि सब पदार्थों में प्रच्छन्नरूप से विद्यमान है। जैसे गर्भ के बाहर आने पर सम्बन्धी जन पुत्र-पुत्री के जन्म का उत्सव रचाते हैं, और पुत्र-पुत्री का लालन-पालन करते हैं, वैसे ही गुह्यरूप से सर्वत्र स्थित परमात्मा-रूप अग्नि को अपने सम्मुख प्रकट करके आध्यात्मिक जनों को महोत्सव मनाना चाहिए और परमात्माग्नि की आत्मसमर्पण-रूप हवि देकर पूजा करनी चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से राक्षस-संहार की प्रार्थना की गयी है।

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रणी परमात्मन्! अथवा शत्रुसंहारक राजन्! आप **सनात्** चिरकाल से **यातुधानान्** पीड़ादायक, घात-पात, हिंसा, उपद्रव आदि दोषों को और दुष्टजनों को **मृणसि** विनष्ट करते आये हो। **रक्षांसि** काम-क्रोध-लोभ आदि और ठग-लुटेरे-चोर आदि राक्षस **त्वा** आपको **पृतनासु** आन्तरिक और बाह्य देवासुर-संग्रामों में **न जिग्युः** नहीं जीत पाते। आप **कयादः** सुख-नाशक दुर्विचारों तथा दुष्टजनों को **सहमूरान्** समूल **अनुदह** एक-एक करके भस्म कर दीजिए। **ते** वे दुष्टभाव और दुष्टजन **ते** आपके **दैव्यायाः** विद्वज्जनों का हित करने वाले **हेत्याः** दण्डशक्तिरूप वज्र से एवं शस्त्रास्त्रों से **मा मुक्षत** न छूट सकें ॥८॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है, वीर रस है ॥८॥

भावार्थ—हे धर्मपालक, विधर्मविध्वंसक, सद्गुणप्रसारक जगदीश्वर वा राजन्! आपके प्रशंसक हम जब-जब मानसिक या बाह्य देवासुर-संग्राम में काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिकों से और ठग-लुटेरे-हिंसक-चोर-शराबी-व्यभिचारी-भ्रष्टाचारी आदि दुष्टजनों से पीड़ित हों, तब-तब आप हमारे सहायक

---

३. ऋ० ३।२९।२ 'गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु' इति पाठः।

१. ऋ० १०।८७।१९, देवता अग्नी रक्षोहा, 'कयादो' इत्यत्र 'क्रव्यादो'—इति पाठः। अथ० ५।२९।११,८।३।१८, उभयत्र 'सहमूराननु दह क्रव्यादो' इति तृतीयः पादः।

होकर उन्हें जड़-समेत नष्ट करके हमारी रक्षा कीजिए। दुर्जनों का यदि हृदय-परिवर्तन सम्भव हो तो उनका राक्षसत्व नष्ट करके उन्हें शुद्ध अन्तःकरण वाला कर दीजिए, जिससे संसार में सज्जनों की वृद्धि से सर्वत्र सुख और सौहार्द की धारा प्रवाहित हो ॥८॥

इस दशति में परमात्माग्नि को जाग्रत् करने का, अग्नि, पूषन् और जातवेदस् नामों से परमात्मा के गुणों का और उसके द्वारा किये जाने वाले राक्षस-विनाश का वर्णन होने से तथा मनुष्यों को परमात्मा की पूजा की प्रेरणा किये जाने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त॥

॥९॥ अथ 'अग्न ओजिष्ठ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ गय आत्रेयः, २ वामदेवः, ३,४ भरद्वाजः, ५ मृक्तवाहा द्वितः, ६ वसूयवोऽत्रयः, ७, ९ गोपवनः, ८ पूरुरात्रेयः, १० वामदेवः, कश्यपो वा मारीचः, मनुर्वा वैवस्वतः, उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमेश्वर, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **अध्रिगो** बेरोक गतिवाले और अप्रतिरुद्ध तेज वाले **अग्ने** अग्रनेता परमात्मन् राजन् और आचार्य! आप **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **ओजिष्ठम्** अतिशय ओजयुक्त, अतिप्रबल **द्युम्नम्** यश, तेज और अन्न **आ भर** प्रदान कीजिए। **नः** हमारे लिए **पनीयसे** अतिशय प्रशंसा के योग्य **राये** ऐहिक एवं पारमार्थिक धन की प्राप्ति के लिए और **वाजाय** शारीरिक एवं आध्यात्मिक बल की प्राप्ति के लिए **पन्थाम्** मार्ग को **प्र रत्सि** तैयार कीजिए ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है।

भावार्थ—परमात्मा, राजा और विद्वान् आचार्य हमें उस सन्मार्ग का उपदेश करें, जिस पर चलते हुए हम प्रबल जगद्व्यापिनी कीर्ति को, अनतिक्रमणीय श्लाघ्य दीप्ति को, सकल भोज्य पदार्थों को, सोना-चाँदी-हीरे-मोती-मणि-गाय-पुत्र-पौत्र-रथ-महल - शस्त्रास्त्र-विद्या-धर्म-आरोग्य - चक्रवर्तीराज्य-मोक्ष आदि रूप वाले अनेक प्रकार के धन को और शारीरिक तथा आत्मिक बल को अपने पुरुषार्थ से व उनके अनुग्रह से प्राप्त कर लें ॥१॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि हमारी सन्तान कैसी हो।

८२. यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

पदार्थ—**यदि** यदि **वीरः** पुत्र **अनु** वेदानुकूल व्रतों वाला **स्यात्** हो, **मर्त्यः** मरणधर्मा वह **अग्निम्**

१. ऋ० ५।१०।१ 'प्र नो राया परीणसा' इति तृतीयः पादः।

यज्ञाग्नि को, राष्ट्रीयता की अग्नि को और परमात्माग्नि को **इन्धीत** अपने अन्दर प्रदीप्त किया करे, और **आनुषक्** निरन्तर नैतिक कर्त्तव्य के रूप में **हव्यम्** यज्ञाग्नि के प्रति सुगन्धित-मधुर-पुष्टिवर्धक और आरोग्य-वर्धक हवि को, राजा के प्रति राजदेय कर रूप हवि को तथा परमात्मा के प्रति मन-बुद्धि-प्राण आदि की हवि को **आजुह्वत्** समर्पित करता रहे तो वह **दैव्यम्** प्रकाशक यज्ञाग्नि, राजा वा परमात्मा से प्रदत्त **शर्म** सुख को **भक्षीत** सेवन कर सकता है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—हमारे पुत्र और पुत्रियाँ अपनी मरणधर्मता को विचारकर यदि वेदानुकूल आचरण रखकर नित्य यज्ञाग्नि में घी-कस्तूरी-केसर आदि हवि, राजाग्नि में राजदेय कर रूप हवि, और पर-मात्माग्नि में अपने आत्मा-अग्नि-बुद्धि-प्राण-इन्द्रिय आदि की हवि होमें, तो वे समस्त अभ्युदय और निःश्रेयस-रूप सुख को भोग सकते हैं ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रताप और प्रभाव का वर्णन किया गया है।

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सञ्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥३॥[1]

पदार्थ—हे परमात्मारूप अग्नि ! **ते** आपका **त्वेषः** दीप्त **धूमः** धुएँ के समान प्रसरणशील शत्रु-प्रकम्पक प्रभाव **ऋण्वति** सर्वत्र पहुँचता है, जो **दिवि** आत्माकाश **में आततः** विस्तीर्ण **सन्** होता हुआ **शुक्रः** शुद्धिकारी होता है। हे **पावक** शुद्धिकर्ता परमात्मन् ! **द्युता** दीप्ति से **सूरः न** जैसे सूर्य चमकता है वैसे **हि** निश्चय ही **त्वम्** आप **कृपा** अपने प्रभाव के सामर्थ्य से **रोचसे** रोचमान हो ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥३॥

भावार्थ—जैसे यज्ञाग्नि का ज्वालाओं से जटिल, प्रदीप्त, सुगन्धित धुआँ आकाश में फैलकर शुद्धिकर्ता और रोगहर्ता होता है, वैसे ही परमात्मा का प्रभाव मनुष्य के आत्मा और हृदय में फैलकर अज्ञान आदि दोषों को कँपाने वाला और शोधक होता है। साथ ही जैसे सूर्य अपने तेज से चमकता है, वैसे परमात्माग्नि अपने प्रभाव-सामर्थ्य से चमकता है ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन किया गया है।

८४. त्वं हि क्षैतवद् यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** आप **हि** निश्चय ही **क्षैतवत्** राजा के समान, और **मित्रः न** सूर्य के समान **यशः** यश के **पत्यसे** स्वामी हो। हे **विचर्षणे** सर्वद्रष्टा, **वसो** निवासक सर्वव्यापी परब्रह्म ! **त्वम्** आप **पुष्टिं न** जैसे शारीरिक और आत्मिक पुष्टि को देते हो, वैसे ही हमें **श्रवः** कीर्ति को भी **पुष्यसि** देते हो ॥४॥

---

१. ऋ० ६।२।६, 'संञ्छुक्र' इत्यत्र 'षञ्छुक्र' इति पाठः। अथ० १८।४।५९, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंच्छुक्र आततः' इति पूर्वार्द्धपाठः।

२. ऋ० ६।२।१

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। "क्षैतवत्, मित्रः न, पुष्टिं न' ये तीन उपमाएँ हैं ॥४॥

भावार्थ—जैसे राजा राष्ट्र का संचालक होने से और सूर्य पृथिवी आदि ग्रहोपग्रहों का संचालक होने से यश से प्रख्यात होता है, वैसे ही परमेश्वर जड़-चेतन ब्रह्माण्ड का संचालक होने से जगद्व्यापिनी परम कीर्ति को प्राप्त किये हुए है और वह प्रार्थी मनुष्यों को भी कीर्ति प्रदान करता है ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का अतिथि के समान उपकारक होना वर्णित है।

८५. प्रातरग्निः पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथिः।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥५॥[1]

पदार्थ—**प्रातः** प्रभातकाल में **पुरुप्रियः** बहुत प्यारा **अतिथिः** अतिथि के समान पूज्य तथा सन्मार्गप्रदर्शक **अग्निः** अग्रणी परमेश्वर **विशः** अध्यात्म-यज्ञ में संलग्न प्रजाओं को **स्तवेत** यथायोग्य साधुवाद दे तथा उपदेश देता रहे, **यस्मिन्** जिस **अमर्त्ये** अमर परमात्माग्नि में **विश्वे** सब **मर्तासः** मरण-धर्मा उपासक मनुष्य **हव्यम्** अपनी आत्मारूप हवि को **इन्धते** समर्पित करके प्रदीप्त करते हैं ॥५॥

भावार्थ—जैसे घर में आये विद्वान् अतिथि का जो लोग प्रदान करने योग्य वस्तुओं से सत्कार करते हैं, उन्हें वह वेदादि शास्त्रों का उपदेश करता है, वैसे ही अतिथि के तुल्य परमात्मा को जो लोग श्रद्धा से आत्मसमर्पण करते हैं उन्हें वह साधुवाद और आशीर्वाद देता हुआ सन्मार्ग का उपदेश करता है ॥५॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा को हृदय से निकला हुआ स्तोत्र ही अर्पित करना चाहिए।

८६. यद् वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो।
महिषीव त्वद् रयिस्त्वद् वाजा उदीरते ॥६॥[2]

पदार्थ—**यत्** जो स्तोत्र **वाहिष्ठम्** हृदयगत भक्तिभाव का अतिशय वाहक हो **तत्** वही **अग्नये** तेजःस्वरूप परमात्मा के लिए, देय होता है। तदनुसार, हे **विभावसो** तेजोधन जीवात्मन्! तू उस परमात्मा की **बृहत्** बहुत **अर्च** पूजा कर। हे परमात्मन्! **त्वत्** आपके पास से **महिषी इव** महती भूमि के समान **रयिः** समस्त धन तथा **त्वत्** आपके पास से **वाजाः** अन्न और बल **उदीरते** उत्पन्न होते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे विशाल पृथिवी तुझसे उत्पन्न होती है, वैसे ही तुझसे 'रयि' और 'वाज' भी उत्पन्न होते हैं, यह भाव है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने हमारे उपकार के लिए भूमि रची है, वैसे ही सब धन-धान्य आदि और बल-पराक्रम, सद्गुण आदि भी हमें दिए हैं। इसलिए हार्दिक भक्तिभाव से उसकी वन्दना करनी चाहिए ॥६॥

---

१. ऋ० ५।१८।१, 'विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति' इत्युत्तरार्द्धपाठः।
२. ऋ० ५।२५।७ य० २६।१२, ऋषिः नोधा गोतमः।

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप अतिथि की अर्चना का वर्णन है ।

८७. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **वः** तुम **विशः विशः** प्रत्येक मनुष्य के **अतिथिम्** अतिथि के समान पूज्य, **पुरुप्रियम्** बहुत प्रिय परमेश्वर रूप अग्नि की **वाजयन्तः** अर्चना करो । **दुर्यम्** घर के समान शरणभूत **अग्निम्** उस अग्रनायक जगदीश्वर को **वः** तुम्हारा **वचः** स्तुति-वचन, प्राप्त हो । मैं भी उस जगदीश्वर की **शूषस्य मन्मभिः** बल और सुख के स्तोत्रों से—अर्थात् सबल और सुखजनक स्तोत्रों से **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥७॥

भावार्थ—सबके हृदय में अतिथि-रूप से विराजमान भक्तवत्सल परमेश्वर का सब मनुष्यों को स्तुतिवचनों से अभिनन्दन करना चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को परमात्माग्नि की अर्चना के लिए प्रेरित किया गया है ।

८८. बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥८॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **भानवे** आदित्य के समान भास्वर, **देवाय** दिव्य गुण-कर्मों से युक्त **अग्नये** परमात्मा के लिए **बृहत्** बड़ी **वयः** आयु को **अर्च** समर्पित कर, **यम्** जिस परमात्मा को **मित्रं न** मित्र के समान **प्रशस्तये** प्रशस्त जीवन के लिए **मर्तासः** उपासक मनुष्य **पुरः** सम्मुख **दधिरे** स्थापित करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में 'मित्रं न' में उपमालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—जो जगत् के नेता, उत्कृष्ट ज्ञानी, सदाचार-प्रेमी महान् लोग होते हैं वे सदा ही परमात्मा को संमुख रखकर और उससे शुभ प्रेरणा प्राप्त करके सब कार्य करते हैं, जिससे उनकी प्रशस्ति और ख्याति सब जगह फैल जाती है । वैसे ही हे नर-नारियो ! तुम्हें भी चाहिए कि अपनी सम्पूर्ण आयु दिव्य गुण-कर्मों वाले, ज्योतिष्मान् परमात्मा को समर्पित करके उसकी प्रेरणा से कर्त्तव्य कर्मों में बुद्धि लगाकर संसार में प्रशस्ति प्राप्त करो ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है ।

८९. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते ॥९॥[3]

पदार्थ—हम **वृत्रहन्तमम्** पापों के अतिशय विनाशक, **ज्येष्ठम्** सर्वाधिक प्रशंसनीय और महान् **आनवम्** मनुष्यों के हितकारी **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर को **अगन्म** प्राप्त हुए हैं । **यः स्म** जो **श्रुतर्वन्** प्रसिद्ध किरणरूप अश्वों वाले ज्योतिर्मय सूर्य में तथा **आर्क्षे** तारापुंज में **बृहदनीकः** विशाल तेज वाला होकर **इध्यते** भासमान होता है ॥९॥

---

१. ऋ० ८।७४।१, साम० १५६४।

२. ऋ० ५।१६।१, 'प्रशस्तये' इत्यत्र 'प्रशस्तिभिर्' इति पाठः।

३. ऋ० ८।७४।४, 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते' इत्युत्तरार्द्धपाठः।

अगले मन्त्र में मनुष्य-जन्म ग्रहण किये हुए जीवात्मा को सम्बोधन करके कहा गया है।

९०. जातः परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥१०॥

पदार्थ—हे जीवात्मन् ! तू **परेण** उत्कृष्ट **धर्मणा** धर्मनामक संस्कार के कारण **जातः** मानव-योनि में जन्मा है, **यत्** क्योंकि तू **सवृद्भिः सह** साथ रहनेवाले सूक्ष्मशरीरस्थ पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्त्वों के साथ **अभुवः** विद्यमान था। **यत्** क्योंकि **कश्यपस्य** तुझ द्रष्टा का **पिता** पिता अर्थात् मनुष्यशरीरदाता **अग्निः** अग्रणी तेजोमय परमात्मा है, अतः **श्रद्धा** श्रद्धा **माता** तेरी माता के तुल्य हो और तू स्वयम् **मनुः** मननशील, तथा **कविः** मेधावी बन ॥१०॥

भावार्थ—जब जीवात्मा मृत्यु के समय शरीर से निकलता है, तब सूक्ष्म शरीर उसके साथ विद्यमान होता है, और सूक्ष्मशरीरस्थ चित्त में धर्माधर्म नामक शुभाशुभ कर्म-संस्कार आत्मा के साथ जाते हैं। धर्म से वह मनुष्य-जन्म और अधर्म से पशु-पक्षी आदि का जन्म पाता है। जीवात्मा ज्ञानग्रहण के सामर्थ्य वाला होने से कश्यप अर्थात् द्रष्टा है। इसलिए उसे सकल ज्ञान-विज्ञान का संचय करना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर उसका शरीर में जन्म-दाता होता है, अतः पिता की महत्ता का विचार करके उसे जीवन में श्रद्धा को माता के समान स्वीकार करना चाहिए और स्वयं मननशील तथा मेधावी बनना चाहिए ॥१०॥

जो लोग यह कहते हैं कि कश्यप ऋषि का नाम है, श्रद्धा देवी का नाम है और मनु से वैवस्वत मनु का ग्रहण है, उनका मत वेदों में लौकिक इतिहास न होने से संगत नहीं है॥

इस दशति में परमात्मा से यश, तेज, धन, बल आदि की प्रार्थना, परमात्मा के प्रभाव का वर्णन, अतिथि परमात्मा के प्रति हव्य-समर्पण और उसके पूजन की प्रेरणा होने से तथा परमात्मा को पिता और श्रद्धा को माता के रूप में वर्णित करने से इसके विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है, ऐसा जानो।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त॥

॥१०॥ अथ 'सोमं राजान'मित्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ अग्निस्तापसः; २ वामदेवः; ३ वामदेवः काश्यपोऽसितो देवलो वा; ४ सोमाहुतिर्भार्गवः; ५ पायुः; ६ प्रस्कण्वः॥
देवता—१ विश्वेदेवाः; २ अङ्गिराः; ३-६ अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः॥

प्रथम मन्त्र में सोम, वरुण आदि का आह्वान किया गया है।

९१. सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥१॥[1]

---

१. ऋ० १०।१४१।३, 'सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यान्०' इति पाठः। य० ९।२६, देवताः सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पतयः, 'सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे। आदित्यान्०' इति पाठः। अथ० ३।२०।४, ऋषिः वसिष्ठः, देवता यजुर्वत्, पाठः पूर्वार्द्धः ऋग्वेदवत्, उत्तरार्द्धः सामवत्।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हम **राजानम्** सबके राजा, **सोमम्** चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाले, चराचर जगत् के उत्पादक सोम नामक परमात्मा का, **वरुणम्** सब शिष्ट, मुमुक्षु, धर्मात्मा जनों को वरने वाले और उन सबके द्वारा वरे जाने वाले वरुण नामक परमात्मा का, **अग्निम्** सबके अग्रनायक, प्रकाशस्वरूप अग्निनामक परमात्मा का, **आदित्यम्** प्रलयकाल में सब जगत् को प्रकृति के गर्भ में ग्रहण कर लेने वाले, अविनाशीस्वरूप, सूर्य के समान सत्य, न्याय और धर्म के प्रकाशक आदित्य नामक परमात्मा का, **विष्णुम्** चराचर में व्यापक विष्णु नामक परमात्मा का, **ब्रह्माणम्** सबसे महान् ब्रह्मा नामक परमात्मा का, **बृहस्पतिं च** और विशाल आकाशादिकों के स्वामी, वृद्धि के अधिपति बृहस्पति नामक परमात्मा का **अनु आ रभामहे** आश्रय लेते हैं।।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। मन्त्रोक्त सब देव विभिन्न राज्यमन्त्री अथवा राज्याधिकारी हैं, यह समझना चाहिए। जैसाकि मनु ने कहा है—राजा को चाहिए कि अपने देश के मूल निवासी, वेदादि-शास्त्रों के ज्ञाता, शूरवीर, लक्ष्य को पा लेने वाले, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री बनाये (मनु० ७।५४)। हम प्रजाजन **सोमम्** चन्द्रमा के समान प्रजाओं को आह्लाद देने वाले **राजानम्** राजा का, **वरुणम्** दण्डाधिकारी का, **अग्निम्** सेना के अग्रनायक सेनाध्यक्ष का, **आदित्यम्** कर-अधिकारी का, **विष्णुम्** व्यापक रूप से प्रजाओं का कार्य सिद्ध करने वाले प्रधानमन्त्री का, **सूर्यम्** सूर्य के समान रोग-निवारक स्वास्थ्य-मन्त्री का, **ब्रह्माणम्** यज्ञाधिकारी का, **बृहस्पतिं च** और शिक्षा-मन्त्री का, **अनु आर भामहे** राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए आश्रय लेते हैं ।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।।१।।

भावार्थ—अग्नि, सोम, वरुण, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, बृहस्पति आदि अनेक नामों से वेदों में जिसकी कीर्ति गायी गयी है उस एक परमेश्वर का सबको आश्रय लेना चाहिए। उसी प्रकार राष्ट्र में अनेक मन्त्रियों और राज्याधिकारियों के साथ मिलकर राष्ट्र का संचालन करने वाले राजा का भी सब प्रजाजनों को आश्रय ग्रहण करना चाहिए तथा अपना सहयोग देकर उसका सत्कार करना चाहिए ।।१।।

अगले मन्त्र में योगी लोग क्या करते हैं, इसका वर्णन है।

३२ ३२३ १२ ३२ ३१र २र
९२. इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्या रुहन् ।
२ ३२ ३ १ २ ३१र २र
प्र भूर्जयो यथा पथोद् द्यामङ्गिरसो ययुः ।।२।।

पदार्थ—एते ये **अङ्गिरसः** अग्निस्वरूप, अंगारे के समान तेजस्वी, अंगों के रसभूत, प्राणप्रिय परमेश्वर का ध्यान करने वाले तपस्वी योगीजन **इतः** इस अन्नमय कोश से या मूलाधार चक्र से **उत् आरुहन्** ऊर्ध्वारोहण करते हैं, क्रमशः **दिवः पृष्ठानि** अन्तरिक्ष के सोपानों पर, अर्थात् मध्यवर्ती कोशों या मध्यवर्ती चक्रों पर **आरुहन्** चढ़ जाते हैं, और फिर **द्याम्** द्युलोक पर अर्थात् आनन्दमय रूप सर्वोच्च कोश पर या सहस्रार-रूप सर्वोच्च चक्र पर **उद् ययुः** पहुँच जाते हैं। हे सखे ! तू भी वैसे ही **प्र भूः** उत्कृष्ट बन अथवा समर्थ बन, **यथा** जिससे **पथा** सन्मार्ग पर चलकर, तुझे **जयः** विजय प्राप्त हो ।।२।।

भावार्थ—मानव-शरीर में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ये पाँच कोश और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार ये आठ चक्र हैं। योगाभ्यासी लोग स्थूल कोश से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कोशों के प्रति आरोहण करते हुए सूक्ष्मतम आनन्दमय कोश को प्राप्त कर परम ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार निचले चक्र मूलाधार से प्राणों का

ऊर्ध्व चङ्क्रमण करते-करते अन्त में सहस्रार चक्र में प्राणों को केन्द्रित कर मस्तिष्क और हृदय में परमात्म-ज्योति की अविच्छिन्न धारा को प्रवाहित कर लेते हैं। हे मित्र ! तुम भी वैसा ही सामर्थ्य संग्रह करो, जिससे उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए तुम्हें विजय हस्तगत हो सके ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम से जीवात्मा को सम्बोधित किया गया है।

९३. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥३॥

पदार्थ—हे **अग्ने** शरीरस्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि देवों में अग्रणी हमारे जीवात्मन् ! हम **महे राये** प्रचुर धन के लिए अर्थात् प्रचुर सोना, चाँदी, विद्या, विवेक आदि धन को कमाने के लिए और **दानाय** उसके दान के लिए **त्वा** तुझे **समिधीमहि** प्रदीप्त-प्रबुद्ध करते रहें। हे **वृषन्** बली जीवात्मन् ! तू **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूलोक की **महे होत्राय** महान् होम के लिए **ईडिष्व** स्तुति कर, प्रशंसा कर। ये द्यावापृथिवी जगत् के हितार्थ सृष्टि-संचालन-यज्ञ में सर्वस्व-होम कर रहे हैं, इस रूप में उनके गुणों का वर्णन कर और उनसे प्रेरणा लेकर स्वयं भी परोपकारार्थ होम कर, यह भाव है ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि अपने आत्मा को प्रबोधन देकर दानशील आकाश-भूमि से शिक्षा लेकर धनों के कमाने तथा दान देने में प्रवृत्त हों ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन परमेश्वर को जानता है।

९४. दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥४॥[1]

पदार्थ—**यत्** जब, उपासक **ईम्** इस परमात्मा-रूप अग्नि को **अनु दधन्वे** अनुकूलतापूर्वक अपने हृदय में धारण कर लेता है, **वा** और **ब्रह्म इति** यह साक्षात् ब्रह्म है, ऐसा **वोचत्** कह सकता है, **तत् उ** तभी, वह उसे **वेः** जानता है, जो परमात्मा रूप अग्नि **विश्वानि** सब **काव्या** वेद-काव्यों अथवा सृष्टि-काव्यों को **परि अभुवत्** चारों ओर व्याप्त किये हुए है, **नेमिः** रथ के पहिए की परिधि **चक्रम् इव** जैसे रथ के पहिए को चारों ओर व्याप्त किये होती है ॥४॥

इस मन्त्र में 'नेमिश्चक्रमिव' में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जब परमात्मा के ध्यान में संलग्न योगी परमात्मा को धारणा, ध्यान, समाधि के मार्ग से अपने हृदय के अन्दर भली-भाँति धारण कर लेता है और हस्तामलकवत् उसकी अनुभूति करता हुआ 'यह ब्रह्म है, जिसका मैं साक्षात् कर रहा हूँ', इस प्रकार कहने में समर्थ होता है, तभी वस्तुतः उसने ब्रह्म जान लिया है, यह मानना चाहिए ॥४॥

---

१. ऋ० २।५।३, 'ब्रह्मेति, भुवत्' इत्यत्र क्रमेण 'ब्रह्माणि, भवत्' इति पाठः।

अगले मन्त्र में राक्षसों के विनाश के लिए परमेश्वर, जीवात्मा, राजा, सेनापति और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २र ३क २र
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्योतिर्मय परमेश्वर, मेरे अन्तरात्मा, राजा, सेनापति और आचार्यप्रवर! आप **यातुधानस्य** यातना देने वाले **रक्षसः** पापरूप राक्षस के तथा पापी दुष्ट शत्रु के **बलम्** सैन्य को, और **वीर्यम्** पराक्रम को **न्युब्ज** निर्मूल कर दीजिए। **विश्वतः परि** सब ओर से **तस्य** उसके **हरः** हरणसामर्थ्य, क्रोध और तेज को **हरसा** अपने हरणसामर्थ्य, मन्यु और तेज से **प्रतिशृणाहि** विनष्ट कर दीजिए ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे परमेश्वर की उपासना से, अपने अन्तरात्मा को जगाने से, राजा और सेनापति की सहायता से तथा गुरुओं के सदुपदेश-श्रवण से, अपने हृदय और समाज में से सब पापों को तथा राष्ट्र के सब शत्रुओं को निर्मूल करें ॥५॥

अगले मन्त्र में राष्ट्रवासी जन परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन्! **त्वम्** जगदीश्वर आप **इह** हमारे इस राष्ट्र में **वसून्** धन-धान्य आदि सम्पत्ति से अन्य वर्णों को बसाने वाले उत्कृष्ट वैश्यों को, **रुद्रान्** शत्रुओं को रुलाने वाले वीर क्षत्रियों को, **आदित्यान्** प्रकाशित सूर्यकिरणों के समान विद्याप्रकाश से युक्त ब्राह्मणों को, **उत** और **स्वध्वरम्** शुभ यज्ञ करने वाले, **मनुजातम्** मनुष्य-समाज के कल्याणार्थ जन्म लेने वाले, **घृतप्रुषम्** यज्ञाग्नि में अथवा सत्पात्रों में घृत आदि को सींचने वाले **जनम्** पुत्र को **यज** प्रदान कीजिए ॥६॥

अब वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के उपर्युक्त अर्थ करने में प्रमाण लिखते हैं। 'वसवः' से वैश्यजन गृहीत होते हैं, क्योंकि यजुर्वेद ८।१८ में वसुओं से धन की याचना की गयी है। रुद्रों से क्षत्रिय अभिप्रेत हैं, क्योंकि रुद्रों का वर्णन वेदों में इस रूप में मिलता है—'हे रुद्र, तेरी सेनाएँ हमसे भिन्न हमारे शत्रु को विनष्ट करें' (ऋ० २।३३।११); 'उस रुद्र के सम्मुख अपनी वाणियों को प्रेरित करो, जिसके पास स्थिर धनुष है, वेगगामी बाण हैं, जो स्वयं आत्म-रक्षा करने में समर्थ है, किसी से पराजित नहीं होता, शत्रुओं का पराजेता है और तीव्र शस्त्रास्त्रों से युक्त है (ऋ० ७।४६।१)। आदित्यों से ब्राह्मण ग्राह्य हैं, क्योंकि तै० संहिता में कहा है कि 'ब्राह्मण ही आदित्य हैं' (तै० सं० १।१।९।८) ॥६॥

भावार्थ—हे जगत्-साम्राज्य के संचालक, देवाधिदेव, परमपिता परमेश्वर! ऐसी कृपा करो कि हमारे राष्ट्र में धन-दान से सब वर्णाश्रमों का पालन करने वाले उत्तम कोटि के वैश्य, युद्धों में शत्रुओं को जीतने वाले वीर क्षत्रिय और आदित्य के समान ज्ञान-प्रकाश से पूर्ण विद्वद्वर ब्राह्मण उत्पन्न हों और

---

१. ऋ० १०।८७।२५, देवता अग्नी रक्षोहा। 'शृणीहि विश्वतः प्रति', 'बलं विरुज वीर्यम्' इति द्वितीय-तृतीय-पादयोः पाठः।

२. ऋ० १।४५।१, देवता अग्निर्देवाश्च।

सब लोग तरह-तरह के परोपकार-रूप यज्ञों का अनुष्ठान करने वाली, मानव-समाज का कल्याण करने वाली, अग्निहोत्र-परायण, अतिथियों का घृतादि से सत्कार करने वाली सुयोग्य सन्तान को प्राप्त करें ।।६।।

इस दशति में सोम, अग्नि, वरुण, विष्णु आदि विविध नामों से परमेश्वर का स्मरण होने से, परमेश्वर के आश्रय से अंगिरस योगियों की उत्कर्ष-प्राप्ति का वर्णन होने से, परमेश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए उससे राक्षसों के संहार तथा राष्ट्रोत्थान के लिए प्रार्थना करने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।

यह प्रथम प्रपाठक समाप्त हुआ ।।

प्रथम अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ।।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

।।१।। तत्र 'पुरु त्वा दाशिवाँ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ दीर्घतमाः; २, ४ विश्वामित्रः; ३ गोतमः; ५ त्रितः; ६ इरिम्बिठिः; ७, ८, १० विश्वमना वैयश्वः; ९ ऋजिष्वा भारद्वाजः ।। देवता—१-४, ७-१० अग्निः; ५ पवमानः; ६ अदितिः ।। छन्दः—उष्णिक् ।। स्वरः—ऋषभः ।।

प्रथम मन्त्र में मनुष्य परमात्मा को आत्म-समर्पण करता हुआ उसकी स्तुति कर रहा है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १२ ३ २
९७. पुरु त्वा दाशिवाँ वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
३ १ २ ३ २उ ३ १ २
तोदस्येव शरण आ महस्य ।।१।।[1]

पदार्थ—दाशिवान् आत्म-समर्पण किये हुए मैं **त्वा** आप परमात्मा की **पुरु** बहुत **वोचे** स्तुति करता हूँ । **अग्ने** हे तेजस्वी जगदीश्वर ! आप **अरिः** समर्थ हैं । मैं **तव स्वित्** आपका ही हूँ, अतः मेरे समीप **आ** आइए । **तोदस्य इव** अमृत-जल से परिपूर्ण कुएँ के समान **महस्य** महिमाशाली आपकी **शरणे** शरण में, मैं **आ** आया हूँ ।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ—हे जगत्पति ! हे परमपिता ! मैं आपका ही हूँ । आपको छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ ! आपके ही गुण गाता हूँ, आपको ही स्वयं को समर्पित करता हूँ । स्वच्छ जल से भरे हुए कुएँ के सदृश आप अमृतमय आनन्द-रस से परिपूर्ण हैं । उस आनन्द-रस से कुछ रस की बूंदें मेरे भी हृदय में छिड़क-कर मुझे रस-सिक्त कर दीजिए । मैं आपकी शरण में आया हूँ ।।१।।

---

१. ऋ० १।१५०।१, 'दाशिवाँ' इत्यत्र 'दाश्वान्' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर की आराधना करने की प्रेरणा दी गयी है।

९८. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥२॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो! तुम **विपाम्** मेधावी छात्रों के **ज्योतींषि** विद्या-तेजों को **बिभ्रते** परिपुष्ट करने वाले, **वेधसे न** द्विज बनाने के लिए द्वितीय जन्म देने वाले आचार्य के लिए जैसे स्तुति-वचन उच्चारण किये जाते हैं, वैसे ही **विपाम्** व्याप्त सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि के **ज्योतींषि** तेजों को **बिभ्रते** परि-पुष्ट करने वाले **वेधसे** जगद्-विधाता, **होत्रे** सुख-समृद्धि-प्रदाता **अग्नये** तेजस्वी परमेश्वर के लिए **बृहत्** महान् **पूर्व्यम्** श्रेष्ठ **वचः** वेद के स्तोत्र को **प्र भरत** प्रकृष्ट रूप से उच्चारण करो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार ॥२॥

भावार्थ—जैसे कोई विद्वान् शिक्षक अपने उपदेश और शिक्षा से बुद्धिमान् विद्यार्थियों को विद्या-तेज प्रदान करता है, वैसे ही जो परमेश्वर सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, बिजली आदिकों को ज्योति देता है, उस परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर में सबको श्रद्धा करनी चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा विद्वान् और राजा से प्रार्थना की गयी है।

९९. अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥३॥[2]

पदार्थ—हे **सहसः यहो** बल के पुतले, बलियों में बली, **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सब धन और ज्ञान के उत्पादक **अग्ने** ज्योतिर्मय परमात्मन्! अथवा, हे **सहसः यहो** शत्रुपराजयशील, बलवान् पिता के पुत्र, **जातवेदः** शास्त्रों के ज्ञाता **अग्ने** विद्वन् वा राजन्! **गोमतः** प्रशस्त गाय, पृथिवी, वेदवाणी आदि से युक्त **वाजस्य** ऐश्वर्य के **ईशानः** अधीश्वर आप **अस्मे** हमें **महि** महान् **श्रवः** कीर्ति, प्रशंसा और धन-धान्य आदि **देहि** प्रदान कीजिए ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि जगदीश्वर की उपासना से पुरुषार्थी होकर अपने पुरुषार्थ से और सब शास्त्र पढ़े हुए विद्वानों तथा राजनीतिज्ञ राजा की सहायता से समस्त धन, धान्य, विद्या, साम्राज्य आदि ऐश्वर्य और अत्यन्त विस्तीर्ण यश को प्राप्त करें ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥४॥[3]

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानप्रकाशयुक्त परमेश्वर अथवा आचार्य! **यजिष्ठः** अतिशय रूप से जीवन-

---

१. ऋ० ३।१०।५

२. ऋ० १।७९।४, य० १५।३५ ऋषिः परमेष्ठी। उभयत्र 'देहि' इत्यस्य स्थाने 'धेहि' इति पाठः। साम० १५६१।

३. ऋ० ३।१०।७

यज्ञ वा अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ के साधक आप **अध्वरे** हिंसादिदोष से रहित जीवन-यज्ञ वा अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ में **देवयते** दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों के अभिलाषी मुझे **देवान्** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव **यज** प्राप्त कराइए । **होता** विद्या, सदाचार आदि के दाता, **मन्द्रः** आह्लादकारी आप **विराजसि** विशेष रूप से शोभित हो । आप **स्रिधः** हिंसकों को अर्थात् विद्या के विघातक आलस्य, मद, मोह आदि को तथा ब्रह्मचर्य के विघातक काम-क्रोध आदि को **अति** हमसे दूर कर दीजिए ।।४।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, 'यजि, यज', 'देवा, देव' में छेकानुप्रास है ।।४।।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर उपासकों को दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव प्रदान करता है और पापों से उन्हें बचाता है, वैसे ही आचार्य शिष्यों को विद्या, सच्चरित्रता और दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों की शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य-विघातक तथा विद्या-विघातक दुर्व्यसनों से दूर रखे ।।४।।

अगले मन्त्र का पवमान देवता है । उसकी कल्याणकारिता का वर्णन करते हैं ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१०१. जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ।।५।।[1]

पदार्थ—पवमान सोम अर्थात् चित्तशोधक परमात्मा **सप्त** सात **मातृभिः** माता के तुल्य गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदवाणियों द्वारा **जज्ञानः** उपासक के हृदय में प्रादुर्भूत होकर **श्रिये** सम्पदा की प्राप्ति के लिए **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **आ अशासत** प्रदान करता है, जिससे **ध्रुवः** स्थितप्रज्ञ हुआ **अयम्** यह उपासक **रयीणाम्** श्रेष्ठ अध्यात्म-सम्पत्तियों को **आ चिकेतत्** प्राप्त कर लेता है ।।५।।

भावार्थ—गायत्री आदि सात छन्दों में बद्ध वेदवाणियों के गान से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त किये हुए योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने से सब अध्यात्मसम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं ।।५।।

अगले मन्त्र में अदिति देवता है, इसमें परमेश्वर का जगन्माता के रूप में वर्णन है ।

३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत् ।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सा शन्ताता मयस्करदप स्रिधः ।।६।।[2]

पदार्थ—**उत** और **स्या** वह **मतिः** सब कुछ जानने वाली **अदितिः** अखण्डनीय जगन्माता **ऊत्या** रक्षा के साथ **नः** हमारे समीप **आ गमत्** आये । **सा** वह **शन्ताता** शान्तिकर्म में **मयः** सुख **करत्** करे, और **स्रिधः** हिंसा-वृत्तियों तथा हिंसकों को **अप** दूर करे ।।६।।

भावार्थ—'हे शतकर्मन् ! तू ही हमारा पिता है, तू ही हमारी माता है' (साम ११७)—यहाँ परमात्मा को माता कहा गया है । उसके माता होने का ही यहाँ 'अदिति' नाम से वर्णन है । जगन्माता अदिति है क्योंकि वह कभी खण्डित नहीं होती तथा अदीन, अजर, अमर और नित्य रहती है । विलाप, लूटपाट, हाहाकार से पीड़ित इस जगत् में वह कृपा करके शान्तिप्रिय सज्जनों से किये जाते हुए शान्ति के प्रयत्नों को सफल करके सारे भूमण्डल में सुख की वर्षा करे और हिंसकों को भी अपनी शुभ प्रेरणा से धर्मात्मा बना दे ।।६।।

---

१. ऋ० ६।१०२।४, जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये । अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ।।—इति पाठः ।

२. ऋ० ८।१८।७, 'शन्ताता' इत्यत्र 'शन्ताति' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि के सादृश्य से परमात्मा का विषय वर्णित है।

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम्।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्य! तू **प्रतीव्यम्** प्रत्येक वस्तु में व्यापक, **चरिष्णुधूमम्** जिसका धुएँ के तुल्य शत्रु-प्रकम्पक प्रभाव संचरणशील है ऐसे, **अगृभीतशोचिषम्** अप्रतिरुद्ध तेज वाले **जातवेदसम्** सद्गुणरूप दिव्य धन को उत्पन्न करने वाले परमात्माग्नि की, **ईडिष्व हि** अवश्य ही स्तुति कर और **यजस्व** उसकी पूजा कर ॥७॥

श्लेष से भौतिक अग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥७॥

भावार्थ—जैसे धूमशिखाओं को उठाने वाले, चमकीली ज्वालाओं वाले भौतिक अग्नि का शिल्पीजन शिल्पयज्ञों में प्रयोग करते हैं, वैसे ही प्रतापरूप धूम से शोभित, दीप्त तेजों वाले, सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि दिव्य धनों के जनक परमात्माग्नि की, उत्कर्ष चाहने वाले मनुष्यों को स्तुति और पूजा करनी चाहिए ॥७॥

परमात्माग्नि में हवि देने से क्या फल होता है, इसका अगले मन्त्र में वर्णन है।

१०४. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥[2]

पदार्थ—**मायया च न** छल से भी **तस्य** उस परमात्मोपासक को **मर्त्यः** मानव **रिपुः** शत्रु **न ईशीत** वश में नहीं कर सकता, **यः** जो उपासक **हव्यदातये** देय पराक्रम, विजय आदि को देने वाले **अग्नये** परमेश्वर के लिए **ददाश** आत्मसमर्पण रूप हवि को देता है ॥८॥

भावार्थ—तरह-तरह के विघ्न-बाधा और संकटों से घिरे हुए इस जगत् में अनेक मानव शत्रु विद्वेषरूप विष से लिप्त होकर सज्जनों को ठगने, लूटने, जलाने व मारने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो लोग परमात्मा को आत्मसमर्पण करके उससे शत्रु-पराजय के लिए बल की याचना करते हैं, उन्हें वह पुरुषार्थ में नियुक्त करके विजय पाने में ऐसा समर्थ कर देता है कि बलवान् और बड़ी संख्या वाले भी शत्रु माया से भी उन्हें वश में नहीं कर पाते ॥८॥

अगले मन्त्र में रिपुओं को दूर करने की प्रार्थना की गयी है।

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥[3]

पदार्थ—हे **सत्पते** सज्जनों के पालनकर्ता **अग्ने** पराक्रमशाली परमात्मन्, विद्वान् जन अथवा राजन्! आप **त्यम्** उस **वृजिनम्** छोड़ने योग्य पाप को, **रिपुम्** कामक्रोधादि षड्रिपुवर्ग को, अथवा बाह्य

---

१. ऋ० ८।२३।१, 'प्रतीव्यां ३' इत्यत्र 'प्रतीव्यं' इति पाठः।
२. ऋ० ८।२३।१५, 'चन' इति समस्तः, 'हव्यदातिभिः' इति च पाठः।
३. ऋ० ६।५१।१३

शत्रु को, **स्तेनम्** चोर को, और **दुर्-आध्यम्** बुरा चिन्तन करने वाले द्वेषी को **दविष्ठम्** दूर से दूर **अप अस्य** फेंक दीजिए ॥९॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—पाप विचार या पापी जन, काम-क्रोध आदि आन्तरिक रिपु या बाह्य शत्रु, चोरी के विचार या चोर लोग, दुश्चिन्ताएँ या दुश्चिन्तनकारी मनुष्य, जो भी हम पर आक्रमण करते हैं, उन्हें हम परमात्मा, विद्वान् लोगों और राजा की सहायता से दूर कर दें। सद्विचार और सद्विचारशील लोग सहयोगी बनकर हमारे साथ विचरें ॥९॥

अगले मन्त्र में राक्षसों के विनाश की प्रार्थना की गयी है।

१०६. श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥[1]

पदार्थ—**श्रुष्टी** शीघ्र ही, हे **वीर** पराक्रमशाली, **विश्पते** प्रजापालक **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन् वा राजन्! आप **मे** मेरे **नवस्य** प्रशंसायोग्य **स्तोमस्य** आन्तरिक सद्गुणों की सेना के तथा बाह्य योद्धाओं की सेना के **तपसा** तेज से **मायिनः** मायावी, छल-कपटपूर्ण **रक्षसः** राक्षसी भावों और राक्षसजनों को **नि दह** पूर्णतः भस्म कर दीजिए ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—जो कोई पाप-रूप अथवा पापी-रूप मायावी राक्षस हमें सताते हैं, उन्हें हम अपनी शुभ मनोवृत्तियों से और बलवान् योद्धाओं से तथा परमात्मा और राजा की सहायता से पराजित करके आन्तरिक और बाह्य सुराज्य का उपभोग करें ॥१०॥

इस दशति में अग्नि, पवमान और अदिति नामों से परमात्मा का स्मरण होने से, परमात्मा से धन-कीर्ति आदि की याचना होने से तथा उससे शत्रुविनाश, राक्षसदाह आदि की प्रार्थना होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

प्रथम अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'प्र मंहिष्ठाय' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रयोगो भार्गवः; २,३,५-७ सौभरिः; ४ प्रयोगो भार्गवः सौभरिः काण्वो वा; ८ विश्वमनाः ॥
देवता—अग्निः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर का गुणगान करने की प्रेरणा दी गयी है।

१०७. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे।
उपस्तुतासो अग्नये ॥१॥[2]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

२. ऋ० ८।१०३।८, ऋषिः सोभरिः काण्वः। साम ८७८।

पदार्थ—हे **उपस्तुतासः** प्रशंसा-प्राप्त मनुष्यो ! तुम **मंहिष्ठाय** सबसे बढ़कर दानी, **ऋतावने** सत्य नियमों वाले, **बृहते** महान्, **शुक्रशोचिषे** उज्ज्वल और पवित्र तेज वाले **अग्नये** परमेश्वर के लिए **प्र गायत** भली भाँति स्तुति-गीत गाओ ॥१॥

भावार्थ—प्रशंसित जनों को चाहिए कि वे परमेश्वर की उपासना कर, उसके समान दान, सत्य, तेजस्विता, पवित्रता आदि गुणों को धारण कर यशस्वी हों ॥१॥

अगले मन्त्र में इसका वर्णन है कि परमात्मा की मैत्री से क्या लाभ होता है।

१०८. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशमय, प्रकाशदाता परमात्मन् ! **सः** वह मनुष्य **सुवीराभिः** उत्कृष्ट वीर भावों वा वीर पुत्रों को प्राप्त कराने वाली, **वाजकर्मभिः** बल एवं उत्साह को उत्पन्न करने वाली **तव** आपकी **ऊतिभिः** रक्षाओं के द्वारा **प्र तरति** भलीभाँति विघ्नों को या भव-सागर को पार कर जाता है, **यस्य** जिस मनुष्य की **त्वम्** आप **सख्यम्** मैत्री को **आविथ** प्राप्त हो जाते हो ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा जिसका सखा हो जाता है उस पुरुषार्थी को काम, क्रोध आदि वा ठग, लुटेरा, चोर आदि कोई भी शत्रु पीड़ित नहीं कर सकता ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की अर्चना के लिए प्रेरणा की गयी है।

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **तम्** उस प्रसिद्ध, **स्वर्णरम्** मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कराने वाले परमात्मा-रूप अग्नि की **गूर्धय** आराधना कर, जिस **देवम्** तेज से देदीप्यमान तथा तेज से प्रदीप्त करने वाले, **अरतिम्** सर्वान्तर्यामी, पुरुषार्थ में प्रेरित करने वाले, पाप आदि के संहारक परमात्मा-रूप अग्नि को **देवासः** विद्वान् लोग **दधन्विरे** अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं। अब परमात्माग्नि को सम्बोधन करते हैं—हे परमात्माग्ने ! आप **देवत्रा** विद्वानों में **हव्यम्** दातव्य बल को **ऊहिषे** प्राप्त कराते हो ॥३॥

भावार्थ—मनीषी लोग जिस देवाधिदेव, जगत् की रचना करने हारे जगदीश्वर की आराधना करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के सुख को प्राप्त करते हैं, उसकी सभी जन उपासना क्यों न करें ? ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की पूजा और अतिथि के सत्कार का विषय है।

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥[3]

---

१. ऋ० ८।१९।३० 'तरति, वाजकर्मभिः, सख्यमाविथ' इत्यत्र क्रमेण 'तिरते, वाजभर्मभिः, सख्यमावरः' इति पाठः। ऋषिः सोभरिः काण्वः।

२. ऋ० ८।१९।१, 'हव्यमूहिषे' इत्यत्र 'हव्यमोहिरे' इति पाठः। साम० १६८७।

३. ऋ० ८।१०३।१२, ऋषिः सोभरिः काण्वः। प्रथमे पादे 'मा नो हृणीतामतिथिर्' इति पाठः।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे भाई ! तू **नः** हम सबके **अतिथिम्** अतिथिरूप, अतिथि के समान पूज्य अग्नि नामक परमात्मा को **मा हृणीथाः** उपेक्षा या वेदविरुद्ध आचरण से क्रुद्ध मत कर। **एषः** यह **वसुः** निवासक, **अग्निः** तेजस्वी, अग्रनायक परमात्मा **पुरुप्रशस्तः** बहुतों से स्तुति किया गया है, **यः** जो **सुहोता** उत्तम दाता, और **स्वध्वरः** शुभ रूप से हमारे जीवन-यज्ञ का संचालक है।

द्वितीय अतिथि के पक्ष में। हे गृहिणी ! तू **नः** हमारे **अतिथिम्** अतिथिरूप आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि को **मा हृणीथाः** यथायोग्य सत्कार न करके रुष्ट मत कर। **एषः** यह **अग्निः** धर्म, विद्या आदि के प्रकाश से प्रकाशित अतिथि **वसुः** गृहस्थों का निवास-दाता, और **पुरुप्रशस्तः** अतिथि-सत्कार को यज्ञ घोषित करने वाले बहुत से वेदादि शास्त्रों से प्रशंसित है, **यः** जो विद्वान् अतिथि **सुहोता** सदुपदेष्टा, और **स्वध्वरः** श्रेष्ठ विद्याप्रचार रूप यज्ञ वाला है ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे उत्तम प्रकार पूजा किया गया परमेश्वर पूजा करने वाले को सद्गुण आदि की सम्पत्ति देकर उसका कल्याण करता है, वैसे ही भली भाँति सत्कार किया गया अतिथि आशीर्वाद, सदुपदेश आदि देकर गृहस्थ का उपकार करता है। इसलिए परमेश्वर की उपासना में और अतिथि के सत्कार में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में भद्र की आकांक्षा की गयी है।

१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥[1]

पदार्थ—आहुतः अग्निः जिसमें सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक तथा आरोग्यवर्धक हवियों की आहुति दी गयी है ऐसा यज्ञाग्नि, सत्कार किया गया अतिथि और जिसमें उपासक द्वारा आत्मसमर्पण की आहुति दी गयी है ऐसा परमात्मा **नः** हमारे लिए **भद्रः** भद्र को देनेवाला हो। **रातिः** हमारे द्वारा दिया गया दान **भद्रा** भद्र अथवा भद्र को देने वाला हो। हे **सुभग** सौभाग्यशाली मेरे अन्तरात्मन् ! तुझसे किया गया **अध्वरः** यज्ञ **भद्रः** भद्र अथवा भद्रजनक हो। **उत** और **प्रशस्तयः** तुझसे अर्जित प्रशस्तियाँ वा कीर्तियाँ भी **भद्राः** भद्र अथवा भद्रजनक हों ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को अग्निहोत्रादिरूप, अतिथिसत्काररूप और परमात्मा की पूजारूप यज्ञ नित्य करना चाहिए, जिससे उन्हें भद्र प्राप्त हो और उनकी उज्ज्वल कीर्तियाँ सर्वत्र फैलें ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा को वरने का विषय है।

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥६॥[2]

---

१. ऋ० ८।१९।१९, य० १५।३८ ऋषिः परमेष्ठी। साम० १५३८।
२. ऋ० ८।१९।३। साम० १४१३।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे अग्रणी परब्रह्म परमात्मन्! **यजिष्ठम्** अतिशयरूप से सृष्टियज्ञ के विधाता, सुख-ऐश्वर्य आदि के दाता, सूर्य-पृथिवी आदि का परस्पर संगम करानेवाले, **देवत्रा देवम्** प्रकाशक सूर्य, बिजली, चन्द्रमा आदि तथा चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक **होतारम्** मोक्षसुख के प्रदाता, **अमर्त्यम्** अमरणशील, **अस्य यज्ञस्य** इस मेरे ध्यान-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुसंचालक, सफलताप्रदायक **त्वा** आपको, हम **ववृमहे** उपास्य रूप से वरण करते हैं॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे अग्रगन्ता वीर पुरुष! **यजिष्ठम्** अतिशय परोपकार-यज्ञ करने वाले, **देवत्रा देवम्** दिव्यगुणयुक्त मनुष्यों में विशेषरूप से दिव्य गुणों वाले, **होतारम्** प्रजाओं को सुख देने वाले, **अमर्त्यम्** अमर कीर्ति वाले, **अस्य यज्ञस्य** इस राष्ट्रयज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता **त्वा** तुझे, हम प्रजाजन **ववृमहे** राजा के पद के लिए चुनते हैं॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। 'देवं, देव' में छेकानुप्रास है॥६॥

भावार्थ—जैसे प्रजाजनों को दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले परमेश्वर का उपास्य रूप में वरण करना चाहिए, वैसे ही वीर, परोपकारी, श्लाघ्य गुणों वाले, सुखप्रदाता, कीर्तिमान्, सुशासक, शत्रु-विजेता पुरुष को राजा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए चुनना चाहिए॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से तेज की प्रार्थना की गयी है।

११३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत् सासाह सदने कं चिदत्रिणम्।
मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥७॥[1]

पदार्थ—हे **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन्! आप **तत्** वह **द्युम्नम्** तेज **आभर** हमें प्रदान कीजिए, **यत्** जो **सदने** हृदय-सदन और राष्ट्र-सदन में **कंचित्** जिस किसी भी **अत्रिणम्** भक्षक पाप-रूप अथवा पापी-रूप राक्षस को और **जनस्य** मनुष्य के **दूढ्यम्** दुर्बुद्धिकारी **मन्युम्** क्रोध को **सासाह** नष्ट कर दे॥७॥

भावार्थ—मनुष्य के हृदय-सदन को बहुत से पाप-रूप राक्षस और राष्ट्र-सदन को भ्रष्टाचार में संलग्न पापी-रूप राक्षस आक्रान्त करके बिगाड़ना चाहते हैं। क्रोध भी मनुष्य का और राष्ट्र का महान् शत्रु है, जिससे ग्रस्त हुए प्रजाजन और राज्य के अधिकारी सहृदयता को छोड़कर नरपिशाच हो जाते हैं। परमेश्वर की प्रेरणा से मनुष्यों को ऐसा तेज धारण करना चाहिए, जिससे वे सभी पाप-विचारों को, पापी लोगों को और क्रोध के नग्न ताण्डव को खण्डित करके अपने हृदय को, जन-हृदय को और राष्ट्र-हृदय को पवित्र करें।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा और परमात्मा मनुष्यों का क्या उपकार करते हैं।

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥८॥[2]

---

१. ऋ० ८।१९।१५, 'सासाह, दूढ्यम्', इत्यत्र क्रमेण 'सासहत्, दूढ्यः' इति पाठः।
२. ऋ० ८।२३।१३, 'विशे' इत्यत्र 'विशि' इति पाठः।

पदार्थ—यत् वै उ जब **विश्पतिः** प्रजापालक **अग्निः** यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा वा परमात्मा **शितः** हवि देने से तीक्ष्ण, भलीभाँति उद्बोधित वा उत्साहित होकर **मनुषः** सत्कार करने वाले मनुष्य के **विशे** यज्ञगृह, स्व-गृह, गुरुकुल-रूप गृह, राष्ट्र-गृह वा हृदय-गृह में **सुप्रीतः** भलीभाँति तृप्त हो जाता है, तब **विश्वा इत्** सभी **रक्षांसि** अविद्या, रोग, दुराचार, दुर्गुण आदि राक्षसों तथा शत्रुओं को **प्रतिसेधति** दूर कर देता है ॥८॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे घृत आदि की आहुति देने से तीक्ष्ण तथा सुतृप्त हुई यज्ञाग्नि रोगरूप राक्षसों को विनष्ट करती है, अथवा जैसे घर में सत्कार से प्रसन्न किया गया विद्वान् अतिथि गृहस्थ के सब अविद्या आदि राक्षसों का विनाश करता है, अथवा जैसे शिष्यों की शुश्रूषा तथा उनके व्रतपालन से वश में किया गया आचार्य उनके सब दोषों को दूर करता है, अथवा जैसे प्रजाजनों से उत्साहित तथा कर आदि के प्रदान से सन्तुष्ट किया गया राजा उनके संकटों को हटाता है, वैसे ही समर्पणरूप हवि देकर उपासना किया गया तथा सुप्रसन्न किया गया परमात्मा उपासकों के सब विघ्नों को और काम, क्रोध आदि राक्षसों को समूल नष्ट कर देता है ॥८॥

इस दशति में परमात्मा की मित्रता का फल प्रतिपादन करते हुए उसकी स्तुति की प्रेरणा होने से, उससे तेज आदि की प्रार्थना होने से, उसके द्वारा राक्षसों के निवारण आदि का वर्णन होने से और अग्नि नाम से यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा आदि के चरित का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
प्रथम अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त ।
यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामि-कृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये आग्नेयं काण्डं पर्व वा समाप्तिमगात् ॥

अथैन्द्रं काण्डं पर्व वा

आग्नेयं काण्डं पर्व वा व्याख्याय साम्प्रतम् ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा प्रारभ्यते। तस्मिन् साकल्येन द्विपञ्चाशदुत्तरत्रिशतं (३५२) मन्त्राः सन्ति। तत्र प्रायेण[1] इन्द्रो देवता, इन्द्रदेवताकत्वादेव 'ऐन्द्रम्' इति नाम। अग्निर्देवता यथा प्रमुखत्वेन तेजसः प्रकाशस्य च प्रतीकं, तथा 'इन्द्रो' देवता मुख्यत्वेन ऐश्वर्यस्य वीरतायाश्च प्रतीकम्।

'इन्द्र' शब्दस्य निरुक्तिं यास्काचार्य एवं प्रदर्शयति—"इन्द्रः इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् (छां० उ० ५।१।१३) इति विज्ञायते। इदंकरणादित्याग्रायणः, इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः। इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्। निरु० १०।८।" एतां निरुक्तिमाश्रित्य महर्षिणा दयानन्देन स्वकीये ऋग्वेदभाष्ये यजुर्वेदभाष्ये च बहवोऽर्था इन्द्रशब्दस्य प्रतिपादिताः, तद्यथा—परमेश्वरः, जीवात्मा, सूर्यः, विद्युत्, अग्निः, वायुः, राजा, शत्रूणां विदारयिता सेनापतिः, शत्रुविजेता शूरवीरो योद्धा, दारिद्र्य-विदारकः शिल्पी, भूमेर्दारयिता कृषीवलः, विद्यादिपरमैश्वर्ययुक्तो विद्वान्, आयुर्वेदविद्यायुक्तो वैद्यः इत्यादि।

ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे सूर्यपक्षे च यास्कनिर्वचनानि व्याचक्षाणः ऋ० १।३।४ मन्त्रस्य भाष्ये स आह—"इराशब्देन पृथिव्यादिकम् उच्यते। तद्दारणात्, तद्दानात् तद्धारणात्, चन्द्रलोकस्य प्रकाशाय द्रवणात्, तत्र रमणाद् इत्यर्थेन इन्द्रशब्दात् सूर्यलोको गृह्यते। तथा सर्वेषां भूतानां प्रकाशनात्, प्राणैर्जीवस्य उपकरणात्, अस्य सर्वस्य जगत उत्पादनाद्, दर्शनहेतोश्च, सर्वैश्वर्ययोगाद्, दुष्टानां शत्रूणां विनाशनाद्, दूरे गमकत्वात् यज्वनां रक्षकत्वाच्च इत्यर्थात् इन्द्रशब्देन ईश्वरस्य ग्रहणम्" इति।

ऐन्द्रकाण्डेऽस्मिन् 'इन्द्र'शब्दस्य मुख्योऽर्थः परमात्मैव। तत्र यास्कीयनिर्वचनान्येवं घटन्ते—इरा इति अन्ननाम। निघं० २।७ परमेश्वरो हि इरां भूमावुप्तम् अन्नम् अङ्कुररूपेण स्वयं दृणाति सूर्यद्वारेण दारयते वा। भूमिरपि इरा इडा वा उच्यते। 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः (३।३।१७६) इडा इति पृथिवीनाम। निघं० १।१, डरयोरभेदः। परमेश्वरः इरां भूमिं विदार्य स्रोतांसि प्रवाहयति। स इराम् अन्नं पृथिवीं च ददाति। अपि च इराम् अन्नं पृथिवीं च दधाति सूर्यद्वारा धारयते वा। स इन्दवे

---

१. एते अपवादाः सन्ति—१४६, २४१, ३५६, ४०१, ४०४, ४३३, ४६२ मरुतः। २५५ मित्रावरुणादित्याः। २९९ बहवः (त्वष्टा, पर्जन्यः, ब्रह्मणस्पतिः, अदितिः)। ३०३, ३६७, ४२१, ४४३, ४५० उषाः। ३०४-५, ४१८ अश्विनौ। ३२० वेनः। ३५८ इन्द्रो दधिक्रावा। ३६८, ४१७, ४२६, ४४२, ४५५, ४६१ विश्वेदेवाः। ३७८ द्यावापृथिवी। ३९५, ३९७ आदित्याः। ४१९, ४२०, ४२५, ४३४, ४४७-४५०, ४६५ अग्निः। ४२२ सोमः। ४२७-४३२, ४६३ पवमानः सोमः। ४३५ वाजिनः। ४५९ सूर्यः। ४६४ सविता। एतेऽपि इन्द्रेण सम्बद्धा एव।

जलाय जलवर्षणार्थं यज्ञाय वा द्रवति गच्छति सक्रियो भवति। इन्दुरिति जलनाम यज्ञनाम च। निघं० १।१२,३।१७, द्रु गतौ। स इन्दौ स्तोतॄणां श्रद्धारूपे सोमरसे रमते। सोमो वा इन्दुः। श० २।२।३।२३, यद्वा इन्दौ सृष्टियज्ञसंचालने रमते। किंच इन्धे प्रकाशयति भूतानि सूर्यचन्द्रविद्युदादीनि ज्योतिर्मयानि वस्तूनि, यद्वा उपासकैः इध्यते प्राणायामद्वारा प्रदीप्यतेऽन्तःकरणे। स एव इदं सर्वं जगत् करोति रचयति, इदं सर्वं जगत् पश्यति वा, इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति वा। इदि परमैश्वर्ये, रन् प्रत्ययः। इन्दन् परमैश्वर्यवान् भवन् योगिनां कामादिशत्रून् दारयति द्रावयति वा, आदरयति सम्मानयति यज्वनः यज्ञकर्त्तॄनिति वा।

परमेश्वरातिरिक्तम् इन्द्रशब्दोऽध्यात्मप्रक्रियायाम् आत्ममनःप्राणवागादीनामपि वाचको भवति, मन एवेन्द्रः। श० १२।९।१।१३, यन्मनः स इन्द्रः। गो० उ० ४।११, प्राण एवेन्द्रः। श० १२।९।१।१४, वाग् वा इन्द्रः। कौ० ब्रा० २।७ इत्यादिप्रामाण्यात्। व्यावहारिकप्रक्रियायामपि आधिदैविकाधिभौतिकाधियज्ञादिदृष्टिभिर्विभिन्नार्था वेदेषु ब्राह्मणादिषु च संकेतिताः। प्र सम्राजं चर्षणीनाम्। ऋ० ८।१६।१, इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै। अथ० ६।९८।१, विश्वासां तरुता पृतनानाम्। ऋ० ८।७०।१ इत्यादिभिर्वेदवचनैरिन्द्रस्य सम्राट्त्वं सेनापतित्वं वा सूचितं भवति। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८।५।३।२, यो वै वायुः स इन्द्रः। श० ४।१।३।१९, स्तनयित्नुरेव इन्द्रः। श० ११।६।३।९, यजमानो वै स्वे यज्ञ इन्द्रः। श० ८।५।३।८ इत्यादिभिश्च प्रमाणैः सूर्य-वायु-विद्युद्-यजमानादीनाम् इन्द्रत्वं बोध्यते। परमेश्वरातिरिक्ता एतेऽप्यर्था यत्र तत्र वाच्या व्यङ्ग्या वा भवन्तो मुख्यार्थं च संपुष्णन्तः सामवेदे ज्ञानकर्मोपासनानां समन्वयं सूचयन्ति।

इन्द्रस्य कर्माणि यास्काचार्य इत्थं वर्णयति—अथास्य कर्म, रसानुप्रदानं, वृत्रवधः या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। निरु० ७।१०। इन्द्रस्य प्रथमं कर्म रसानुप्रदानम्। यथा इन्द्रपदवाच्यः सूर्यो विद्युदग्निर्वा वृष्टिरसं प्रयच्छति, राजा च प्रजाभ्यः सुखसमृद्धिरसं प्रयच्छति, तथैव परमेश्वरोऽध्यात्मसाधकेभ्य आनन्दरसं वर्षति। द्वितीयं कर्म वृत्रवधः। यथा सूर्यो विद्युद् वा मेघरूपं वृत्रं विदारयति, राजा राष्ट्रोन्नतिबाधकान् शत्रून् हिनस्ति, तथैव परमेश्वरोऽध्यात्मप्रगतिप्रतिबन्धकान् विघ्नान् विनाशयति। तृतीयं कर्म सर्वा बलकृतिः। यथा सूर्यः पृथिवीचन्द्रादीन् ग्रहोपग्रहान् स्वाकर्षणबलेन धारयति, राजा सेनापतिर्वा स्वबलेन शत्रून् विजयते, तथैव परमेश्वरो नास्तिकान् अधार्मिकान् जनान्, स्वोपासकस्य कामक्रोधादीन् रिपूंश्च पराजयते, निरतिशयबलापेक्षं जगद्धारणादिकं कर्म च करोति। तस्यैव परमेश्वररूपस्य इन्द्रस्य रसानुप्रदान-वृत्रवध-बलकर्मादीनि अद्भुतानि कार्याणि पर्वण्यस्मिन् वर्ण्यन्ते।

आग्नेय काण्ड या पर्व की व्याख्या करके अब ऐन्द्र काण्ड या पर्व प्रारम्भ करते हैं। इस काण्ड में कुल ३५२ मन्त्र हैं। ऊपर संस्कृत वक्तव्य की टिप्पणी में निर्दिष्ट अपवादों को छोड़कर सब मन्त्रों का इन्द्र ही देवता है। इन्द्र देवता होने से ही इस काण्ड या पर्व का नाम ऐन्द्र रखा गया है। अग्नि देवता जैसे प्रमुख रूप से तेज और प्रकाश का प्रतीक है, वैसे ही इन्द्र देवता मुख्यतः ऐश्वर्य तथा वीरता का प्रतीक है।

इन्द्र शब्द की निरुक्ति जो यास्काचार्य ने प्रदर्शित की है, संस्कृत-भाग में दी जा चुकी है। इस निरुक्ति का आश्रय लेकर महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में इन्द्र शब्द के बहुत से अर्थ प्रतिपादित किये हैं—जैसे, परमेश्वर, जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, अग्नि, वायु, राजा, शत्रुविदारक

सेनापति, शत्रुविजेता शूरवीर योद्धा, दरिद्रता का विदारक शिल्पी, भूमि का विदारक किसान, विद्यादि परमैश्वर्य से युक्त विद्वान्, आयुर्वेदविद्यायुक्त वैद्य इत्यादि।

अपने ऋग्वेदभाष्य में यास्क के निर्वचनों की सूर्य के पक्ष में व्याख्या करते हुए ऋ० १।३।४ मन्त्र के भाष्य में महर्षि लिखते हैं—यास्काचार्य का जो यह कथन है कि इरा के विदीर्ण करने, इरा के दान करने, इरा को धारण करने, चन्द्रमा के लिए गति करने तथा चन्द्रमा में रमने के कारण इन्द्र को इन्द्र कहते हैं, सो सूर्य में घटित हो जाता है। इरा के पृथिवी आदि वाच्यार्थ होते हैं। सूर्य क्योंकि पृथिवी आदि को विदीर्ण करता है, उनका हमें दान करता है, उनका धारण करता है, चन्द्रलोक को प्रकाशित करने के लिए गति करता है, चन्द्रलोक में अपने प्रकाश से रमता है, इस कारण इन्द्र शब्द से सूर्य का ग्रहण होता है।

आगे अपने उक्त मन्त्र के भाष्य में ही यास्ककृत कुछ निर्वचनों की परमेश्वर के पक्ष में व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—यास्काचार्य ने जो यह कहा है कि भूतों को प्रकाशित करने, इस सबको देखने-दिखाने, ऐश्वर्यशाली होने, ऐश्वर्यवान् होते हुए शत्रुओं को विदीर्ण करने या दूर भगाने और यज्ञशीलों का आदर करने के कारण 'इन्द्र' नाम पड़ा है, सो ईश्वर-पक्ष में घटित हो जाता है। ईश्वर सब भूतों को प्रकाशित करता है, प्राणों से जीव को समिद्ध अर्थात् उपकृत करता है, इस सब जगत् को उत्पन्न करता है, दर्शन में हेतु बनता है, सब ऐश्वर्यों से युक्त है, दुष्ट शत्रुओं का विनाश करता है, उन्हें दूर भगाता है, यज्ञकर्त्ताओं का रक्षणरूप आदर करता है। इन अर्थों के कारण इन्द्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है।

इस ऐन्द्र काण्ड में इन्द्र शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा ही है। इस पक्ष में यास्कीय समस्त निर्वचन इस प्रकार घटित हो सकते हैं—

इरां दृणाति दारयते वा—इरा अन्न का नाम है (निघं० २।७)। परमेश्वर भूमि में बोये हुए अन्न को विदीर्ण करके या सूर्य द्वारा विदीर्ण करवाके अंकुरित करता है। भूमि भी इरा कहलाती है। पृथिवीवाची शब्दों में इडा शब्द पठित है (निघं० १।१)। ड, र का अभेद होने से इरा भी भूमि का नाम हो जाता है। अमरकोष (३।३।१७६) में प्रत्यक्षतः ही 'इरा' शब्द भूमिवाची पठित है। परमेश्वर भूमि को विदीर्ण करके स्रोतों को प्रवाहित करता है।

इरां ददाति दधाति धारयते वा—परमेश्वर अन्न और पृथिवी का हमारे लिए दान करता है, इन्हें धारण करता है अथवा इन्हें सूर्य द्वारा धारण करवाता है।

इन्दवे द्रवति—इन्दु जल और यज्ञ का नाम है, (निघं० १।१२,३।१७)। परमेश्वर जल की वृष्टि के लिए अथवा सृष्टि-यज्ञ के संचालन के लिए सक्रिय होता है (द्रु गतौ)।

इन्दौ रमते—इन्दु सोम को भी कहते हैं (सोमो वा इन्दुः। श० २।२।३।२३)। वह स्तोताओं के श्रद्धारूप सोमरस में रमता है, अथवा सृष्टि-संचालन में रमता है।

इन्धे भूतानि—वह सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि भूतों को प्रदीप्त एवं प्रकाशित करता है।

एनं प्राणैः समैन्धन्—इसे उपासकजन प्राणों द्वारा अन्तःकरण में प्रदीप्त करते हैं।

इदं करोति—वह इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है।

इदं पश्यति—वह इस सम्पूर्ण जगत् को देखता है।

इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति—वह परम ऐश्वर्य से युक्त है।

इन्दन् शत्रून् दारयति द्रावयति वा—परमैश्वर्यवान् होता हुआ वह योगिजनों के कामादि शत्रुओं को विदीर्ण करता या दूर भगाता है।

इन्दन् आदरयति यज्वनः—परमैश्वर्यवान् होता हुआ वह याज्ञिक जनों का आदर करता-करवाता है।

इन्द्र शब्द अध्यात्म-प्रक्रिया में परमेश्वर के अतिरिक्त आत्मा, मन, प्राण, वाणी आदि का भी वाचक होता है। इसमें "मन ही इन्द्र है। श० १२।९।१।१३, "जो मन है वह इन्द्र है। गो० उ० ४।११" "प्राण ही इन्द्र है। श० १२।९।१।१४", "वाणी ही इन्द्र है। कौ० ब्रा० २।७" आदि वचन प्रमाण हैं। व्यावहारिक प्रक्रिया में भी आधिदैविक, आधिभौतिक, अधियज्ञ आदि दृष्टियों से विभिन्न अर्थों का वेदों में और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में संकेत किया गया है। जैसे, "मनुष्यों का सम्राट् इन्द्र" ऋ० ८।१६।१, 'इन्द्र विजयी हो, पराजित न हो, राजाओं पर राज्य करने के लिए अधिराज बने' अ० ६।९८।१, 'इन्द्र सब सेनाओं को पराजित करे' ऋ० ८।७०।१ इत्यादि वेदवचनों से इन्द्र का सम्राट् या सेनापति होना सूचित होता है। "वह आदित्य ही इन्द्र है" श० ८।५।३।२, "जो वायु है वह इन्द्र है" श० ४।१।३।१९, "विद्युत् ही इन्द्र है" श० ११।६।३।९, "यजमान अपने यज्ञ में इन्द्र है" श० ८।५।३।८ इत्यादि प्रमाणों से सूर्य-वायु-विद्युत्-यजमान आदि का इन्द्रत्व बोधित होता है। परमेश्वर से अतिरिक्त ये अर्थ भी जहाँ-तहाँ वाच्य या व्यङ्ग्य होते हुए और मुख्यार्थ की संपुष्टि करते हुए सामवेद में ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय को सूचित करते हैं।

इन्द्र के कर्म यास्काचार्य ने इस प्रकार वर्णित किये हैं—"अब इन्द्र के कर्म बताते हैं। रसों का अनुप्रदान, वृत्र का वध तथा जो कोई भी बल का कार्य है वह इन्द्र का ही कर्म है (निरु० ७।१०)"। इन्द्र का पहला कर्म रसानुप्रदान है। जैसे, इन्द्रपदवाच्य सूर्य या विद्युत् वृष्टिरस प्रदान करते हैं, राजा प्रजाओं को सुख-समृद्धि का रस प्रदान करता है, वैसे ही परमेश्वर अध्यात्म-साधकों के लिए आनन्द-रस बरसाता है। इन्द्र का दूसरा कर्म वृत्रवध है। जैसे सूर्य या विद्युत् मेघरूप वृत्र को विदीर्ण करते हैं, राजा राष्ट्र की उन्नति में बाधक शत्रुओं की हिंसा करता है, वैसे ही परमेश्वर अध्यात्म-प्रगति में प्रतिबन्धक विघ्नों को विनष्ट करता है। तीसरा कर्म सब प्रकार की बलकृति है। जैसे सूर्य पृथिवी, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रहों को अपने आकर्षण-बल से धारण करता है, राजा या सेनापति अपने बल से शत्रुओं को जीतता है, वैसे ही परमेश्वर नास्तिक, अधार्मिक जनों को और उपासक के काम-क्रोध आदि रिपुओं को पराजित करता है तथा जिसमें अत्यधिक बल की अपेक्षा है ऐसे जगत्-धारण आदि कर्म को करता है। उसी परमेश्वर-रूप इन्द्र के रसानुप्रदान-वृत्रवध-बलकर्म आदि अद्भुत कार्य इस ऐन्द्र पर्व में वर्णित किये गये हैं।

—:०:—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

॥३॥ अथ 'तद्वो गाय' इत्याद्याया दशतेः

ऋषयः—१ शंयुर्बार्हस्पत्यः; २, ४, ५ श्रुतकक्षः; ३ हर्यतः प्रगाथः; ६ इन्द्रमातरो देवजामयः; ७, ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ९, १० मेधातिथिः काण्वः प्रियमेध आङ्गिरसश्च ॥

देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर के प्रति स्तोत्र-गान के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है ।

११५. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद् गवे न शाकिने ॥१॥[1]

पदार्थ—हे उपासको ! **वः** तुम **सुते** श्रद्धा-रूप सोमरस के अभिषुत होने पर **सचा** साथ मिलकर **पुरुहूताय** बहुत या बहुतों से स्तुति किये गये **सत्वने** बलशाली इन्द्र परमात्मा के लिए **तत्** वह स्तोत्र **गाय** गान करो, **यत्** जो **शाकिने** शाक अर्थात् घास-चारे से युक्त **गवे न** बैल के समान **शाकिने** शक्तिशाली **गवे** स्तोता के लिए **शम्** सुख-शान्ति को देने वाला हो । आशय यह है कि जैसे बैल के लिए घास-चारा सुखकर होता है, वैसे वह स्तोत्र स्तोता के लिए सुखकर हो ॥१॥

इस मन्त्र में 'गवे न शाकिने' में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—स्तुति करने से परमात्मा को कुछ उपलब्धि नहीं होती, प्रत्युत स्तुतिकर्ता को ही आत्मा में सुख, शान्ति और बल प्राप्त होता है ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से याचना की गयी है ।

११६. यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः ।
तेन नूनं मदे मदेः ॥२॥[2]

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत प्रज्ञाओं, कर्मों, यज्ञों और संकल्पों वाले **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यः** जो **ते** आपका **नूनम्** निश्चय ही **द्युम्नितमः** सबसे अधिक यशोमय **मदः** आनन्द है, **तेन** उससे **नूनम्** आज हमें भी **मदे** आनन्द में **मदेः** मग्न कर दीजिए ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा का आनन्द-रस जिन्होंने चख लिया है, वे उस रस की कीर्ति को गाते नहीं थकते । 'वह रसरूप है' यह तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है। सबको चाहिए कि उसके रस को प्राप्त कर अपने आपको धन्य करें ॥२॥

---

१. ऋ० ६।४५।२२, साम० १६६६ ।

२. ऋ० ८।९२।१६, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः ।

अगले मन्त्र में स्तोताओं को प्रेरणा दी जा रही है।

११७. गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥३॥[1]

पदार्थ—हे **गावः** स्तोताओ! तुम **अवटे** रसों के कूप-तुल्य परमेश्वर के विषय में **उप वद** महिमा-गान करो। **मही** महान् धरती-आकाश **यज्ञस्य** उस पूजनीय परमेश्वर के **रप्सुदा** स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं। **उभा** दोनों **हिरण्यया** सुनहरे सूर्य और चन्द्रमा, जिन धरती-आकाश के **कर्णा** कर्ण-कुण्डलों के समान हैं ॥३॥

इस मन्त्र में 'सुनहरे सूर्य-चन्द्र मानो कर्ण-कुण्डल हैं' इस कथन में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकार है। कर्ण-कुण्डलों के अर्थ में 'कर्णौ' के प्रयोग में लक्षणा है। इन्द्र में अवट (कूप) का आरोप होने से रूपक है ॥३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर दया, वीरता, आनन्द आदि रसों के कूप के समान है, उसकी सब मनुष्यों को अपनी वाणियों से महिमा अवश्य गान करनी चाहिए। यद्यपि वह निराकार तथा गोरे, काले, हरे, पीले आदि रूपों से रहित है, तो भी उसके भक्तजन धरती-आकाश के अनेकविध चित्र-विचित्र पदार्थों में उसी के रूप को देखते हैं और उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक रहा है, यह बुद्धि करते हैं। इसीलिए धरती-आकाश को उसके स्वरूप-प्रकाशक कहा गया है।

अगले मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा की गयी है।

११८. अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे।
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **श्रुतकक्ष** वेद को अपनी बगल में या मनरूप कोठे में रखने वाले वेदानुगामी मनुष्य! तू और तेरे सखा मिलकर **अरम्** पर्याप्तरूप से **अश्वाय** घोड़े, वायु, विद्युत्, अग्नि, बादल, प्राण आदि के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन करो। **अरम्** पर्याप्त रूप से **गवे** गाय, बैल, द्युलोक, सूर्य, भूमि, चन्द्रमा, जीवात्मा, वाणी, इन्द्रियों आदि के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन करो। **अरम्** पर्याप्त रूप से **इन्द्रस्य** परमेश्वर के **धाम्ने** तेज के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् उसके महत्त्व का वर्णन करो ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में उसके रचे हुए जो विविध पदार्थ हैं उनका और परमेश्वर के तेज का ज्ञान तथा महत्त्व का वर्णन सबको करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में स्तोता लोग और प्रजाजन कह रहे हैं।

११९. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥५॥[3]

१. ऋ० ८।७२।१२, देवता अग्निर्हवींषि वा। य० ३३।१९, ऋषिः पुरुमीढाजमीढौ, देवते इन्द्रवायू, ३३।७१ ऋषिः वसिष्ठः, देवते मित्रावरुणौ। सर्वत्र 'उपवदावटे' इत्यत्र 'उपावतावतं' इति पाठः। सा० १६०२।
२. ऋ० ८।९२।२५, 'गायत श्रुतकक्षारं' इत्यत्र 'गायति श्रुतकक्षो अरं' इति पाठः। ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।
३. ऋ० ८।९३।७, अथ० २०।४७।१, २०।१३७।१२—सर्वत्र ऋषिः सुकक्षः। साम० १२२२।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **महे** विशाल, **वृत्राय** सूर्यप्रकाश और जलवृष्टि को रोकने वाले मेघ के समान धर्म के बाधक पाप को **हन्तवे** नष्ट करने के लिए **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** महापराक्रमी परमात्मा की हम **वाजयामसि** पूजा करते हैं। **वृषा** वर्षक **सः** वह परमेश्वर **वृषभः** धर्म की वर्षा करने वाला **भुवत्** होवे ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। **महे वृत्राय** महान् शत्रु को **हन्तवे** मारने के लिए, हम **तम्** प्रजा से निर्वाचित उस **इन्द्रम्** अत्यन्त वीर राजा को **वाजयामसि** सहायता-प्रदान द्वारा बलवान् बनाते हैं, अथवा उत्साहित करते हैं। **वृषा** मेघतुल्य **सः** वह राजा **वृषभः** शत्रुओं के ऊपर आग्नेयास्त्रों की और प्रजा के ऊपर सुखों की वर्षा करने वाला **भुवत्** होवे ॥५॥

इस मन्त्र में 'वृषा, वृष' में छेकानुप्रास अलङ्कार है। 'वृषा-वृषभः' दोनों शब्द बैल के वाचक होने से पुनरुक्तवदाभास अलंकार भी है, यौगिक अर्थ करने से प्रतीयमान पुनरुक्ति का समाधान हो जाता है ॥५॥

भावार्थ—अनावृष्टि के दिनों में बादल जैसे सूर्य के प्रकाश को और जल को नीचे आने से रोककर भूमि पर अन्धकार और अवर्षण उत्पन्न कर देता है, वैसे ही पापविचार और पापकर्म भूमण्डल में प्रसार प्राप्त कर सत्य के प्रकाश को और धर्मरूप स्वच्छ जल को रोककर असत्य का अन्धकार और अधर्मरूप अवर्षण उत्पन्न कर देते हैं। इन्द्र नामक परमेश्वर जैसे मेघरूप वृत्र को मारकर सूर्य के प्रकाश को तथा वर्षाजल को निर्बाधगति से भूमि के प्रति प्रवाहित करता है, वैसे ही वह पापरूप वृत्र का विनाश कर संसार में सत्य के प्रकाश को और धर्म की वर्षा को मुक्त हस्त से प्रवाहित करे, जिससे सब भूमण्डलनिवासी लोग सत्य-ज्ञान और सत्य-आचरण में तत्पर तथा धार्मिक होकर अत्यन्त सुखी हों। इसी प्रकार राष्ट्र में राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह दुष्ट शत्रुओं को विनष्ट कर सुख उत्पन्न करे ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा की महिमा का वर्णन है।

१२०. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥६॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमवीर परमैश्वर्यवन् परमात्मन् और राजन्! **त्वम्** आप **बलात्** अत्याचारियों के वध और सज्जन लोगों के धारण आदि के हेतु बल के कारण, **सहसः** मनोबलरूप साहस के कारण, और **ओजसः** आत्मबल के कारण **अधिजातः** प्रख्यात हो। **सन्** श्रेष्ठ **त्वम्** आप, हे **वृषन्** सुखों के वर्षक! **वृषा इत्** वृष्टिकर्ता मेघ ही **असि** हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। इन्द्र में वर्षक मेघ का आरोप होने से रूपक है। 'वृष-वृषे' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा के राक्षसवधादिरूप और पृथिवी, सूर्य आदि लोकों के तथा राष्ट्र के धारणरूप बहुत से बल के कार्य प्रसिद्ध हैं। उनका मनोबल और आत्मबल भी अनुपम है। उनका वृषा (बादल) नाम सार्थक है, क्योंकि वे बादल के समान सबके ऊपर सुख की वर्षा करते हैं। ऐसे अत्यन्त महिमाशाली परमेश्वर और राजा का हमें दिन-रात अभिनन्दन करना चाहिए ॥६॥

---

१. ऋ० १०।१५३।२, अथ० २०।९३।५। उभयत्र 'सन्' इति नास्ति।

अगले मन्त्र में, यज्ञ से ही परमेश्वर की महिमा सर्वत्र फैली हुई है, इस विषय का वर्णन करते हैं।

१२१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि ॥७॥[1]

पदार्थ—**यज्ञः** परोपकार के लिए किये जाने वाले महान् कर्म ने **इन्द्रम्** परमात्मा को अर्थात् उसकी महिमा को **अवर्धयत्** बढ़ाया हुआ है। परमात्मा के यज्ञ कर्म का एक दृष्टान्त यह है **यत्** कि **दिवि** द्युलोक **में ओपशम्** सूर्यरूप मुकुट को **चक्राणः** रचने वाला वह परमात्मा **भूमिम्** भूमि को **व्यवर्तयत्** सूर्य के चारों ओर घुमा रहा है ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर यज्ञ का आदर्शरूप है। उससे किये जाते हुए यज्ञ का ही यह उदाहरण है कि वह द्युलोक में महान् मुकुटमणि सूर्य को संस्थापित करके उसके चारों ओर भूमि को अण्डाकार मार्ग से चक्ररूप में घुमा रहा है, जिससे छहों ऋतुओं का चक्र चलता है ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि यदि मैं परमेश्वर के समान धनपति हो जाऊँ तो क्या करूँ।

१२२. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥८॥[2]

पदार्थ—**यत्** यदि **इन्द्र** हे परमेश्वर! **अहम्** आपका उपासक मैं **यथा त्वम्** जैसे आप हैं **वैसे विस्वः** विद्याधन या भौतिकधन का **एकः इत्** एकमात्र **ईशीय** स्वामी हो जाऊँ, तो **मे** मेरा **स्तोता** प्रशंसक, शष्य या सेवक **गोसखा** वेदवाणियों का पण्डित अथवा गाय आदि धन का धनी **स्यात्** हो जाए ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर सम्पूर्ण विद्याधन का और भौतिक धन का एकमात्र परम अधीश्वर है, और उसने अपने विद्याधन को वेदरूप में तथा भौतिक धन को सोने, चाँदी, सूर्य, वायु, जल, फल, मूल आदि के रूप में हमें दिया है। वैसे ही मैं भी यदि परमेश्वर की कृपा से विद्यादि धन का और भौतिक धन का अधिपति हो जाऊँ, तो मैं भी अपने प्रशंसक शिष्यों को विद्यादान देकर वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों में पण्डित और सेवकों को धन देकर गाय आदि ऐश्वर्यों से भरपूर, अत्यन्त धनी कर दूँ ॥८॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि कैसा भक्तिरस परमात्मा को अर्पित करना चाहिए।

१२३. पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय।
सोमं वीराय शूराय ॥९॥[3]

पदार्थ—हे **सोतारः** भक्तिरूप सोम-रस को अभिषुत करने वाले उपासको! तुम **मद्याय** तृप्ति प्रदान किये जाने योग्य, **वीराय** विशेष रूप से सद्गुणों के प्रेरक, **शूराय** शूर परमात्मा के लिए **पन्यं पन्यम् इत्** प्रशंसनीय-प्रशंसनीय ही **सोमम्** श्रद्धा-रस को **आ धावत** समर्पित करो ॥९॥

१. ऋ० ८।१४।५, अथ० २०।२७।५, साम० १६३९।
२. ऋ० ८।१४।१, अथ० २०।२७।१, उभयत्र 'गोषखा' इति पाठः। साम० १८३४।
३. ऋ० ८।२।२५, साम० १६५७।

इस मन्त्र में 'पन्यं, पन्य' तथा 'राय, राय' में छेकानुप्रास और 'वीराय, शूराय' में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। य की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रशंसनीय, हृदय को मोह लेने वाले श्रद्धा-रस को प्राप्त कर स्तोता के हृदय में सद्गुणों को प्रेरित करता है और अपनी शूरता से उसके दुर्गुणों का संहार करता है ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम विद्वान् अतिथि और परमात्मा का उपहार से सत्कार करते हैं।

१२४. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्।
अनाभयिन् ररिमा ते ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **वसो** सद्गुणों के निवासक अतिथि अथवा परमात्मन्! आप **इदम्** इस हमारे द्वारा समर्पित किये जाते हुए **सुतम्** तैयार **अन्धः** अन्न या भक्तिरस को **सुपूर्णम् उदरम्** खूब पेट भरकर **पिब** पीजिए। हे **अनाभयिन्** निर्भीक! हम **ते** आपको **ररिम** अर्पित कर रहे हैं ॥१०॥

भावार्थ—जैसे कोई विद्वान् अतिथि हमसे दिये जाते हुए अन्न, रस, घी, दूध आदि को पेट भरकर पीता है, वैसे ही हे परमात्मन्! आप हमारे द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदित किये जाते हुए भक्तिरस को छककर पीजिए। यहाँ निराकार एवं मुख-पेट आदि से रहित भी परमेश्वर के विषय में 'पेट भरकर पीजिए' यह कथन आलङ्कारिक है ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के स्तुतिगान के लिए प्रेरणा, उससे सुख की प्रार्थना और उसकी महिमा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय से संगति है, यह जानना चाहिए ॥१०॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त॥

॥४॥ अथ 'उद्घे' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २ सुकक्ष-श्रुतकक्षौ; ३ भरद्वाजः; ४ श्रुतकक्षः; ५, ६ मधुच्छन्दाः; ७, ९, १० त्रिशोकः; ८ वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मारूप सूर्य किसके प्रति उदित होता है।

१२५. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्।
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥[2]

१. ऋ० ८।२।१, साम० ७३४।
२. ऋ० ८।९३।१, अथ० २०।७।१, उभयत्र ऋषिः सुकक्षः। साम० १४५०।

पदार्थ—हे **सूर्य** सूर्य के तुल्य प्रकाशमान और प्रकाशकर्ता, चराचर के अन्तर्यामी, सद्बुद्धि के प्रेरक, तमोगुण को प्रकंपित करने वाले परमात्मन् ! **त्वम्** आप **घ** निश्चय ही **श्रुतामघम्** वेदादि शास्त्रों का ज्ञान ही जिसका धन है ऐसे, **वृषभम्** विद्या, धन आदि की वर्षा करने वाले, **नर्यापसम्** जनहित के कर्मों में संलग्न, **अस्तारम्** सब विघ्नबाधाओं को प्रक्षिप्त कर देने वाले मनुष्य को ही **अभि** लक्ष्य करके **उद् एषि** उदित होते हो, अर्थात् उसके हृदय में प्रकट होते हो ॥१॥

भावार्थ—भौतिक सूर्य तो विद्वान्-अविद्वान्, दाता-कृपण, परोपकारी-स्वार्थी, जीते-हारे सबके प्रति उदित होता है। परन्तु परमात्मा-रूप सूर्य उन्हीं के हृदय में प्रकाशित होता है जो वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों के श्रवण को ही धन मानते हैं, जो अपने उपार्जित विद्यादि वैभव को और भौतिक धन को बादल के समान सब जगह बरसाते हैं, जिनके कर्म जन-कल्याणकारी होते हैं और जो बड़े से बड़े शत्रु को और बड़ी से बड़ी बाधा को अपने बल से परास्त कर देने का साहस रखते हैं ॥१॥

कौन परमात्मा के वश में होता है, यह कहते हैं।

१२६. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य ।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **वृत्रहन्** अविद्या, पाप, दुराचार आदि, जो धर्म की गति को रोकने वाले हैं, उनके विनाशक, **सूर्य** प्रकाशमय, प्रकाशदाता **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **अद्य** आज, आप **यत् कत् च** जिस किसी भी मनुष्य को अथवा जिस किसी भी मेरे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि को **अभि** लक्ष्य करके **उदगाः** उदित होते हो, **सर्वं तत्** वे सभी मनुष्य अथवा वे सभी मन, बुद्धि आदि **ते** आपके **वशे** वश में हो जाते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे भौतिक सूर्य जिन किन्हीं भी पदार्थों के प्रति उदित होता है, वे सभी पदार्थ उसके प्रकाश से परिप्लुत हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मारूप सूर्य जिसके अन्तःकरण में उदय को प्राप्त होता है वह उसके दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण होकर उसके वश में हो जाता है ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, विद्युत् और राजा के सख्य की प्रार्थना की गयी है।

१२७. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥३॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **यः** जो **परावतः** दूर से भी **यदुम्** यत्नशील मनुष्य को **सुनीती** उत्तम नीति की शिक्षा देकर **तुर्वशम्** अपने समीप **आनयत्** ले आता है, **सः** वह **युवा** सदा युवा की तरह सशक्त रहने वाला **इन्द्रः** परमेश्वर **नः** हमारा **सखा** सहायक मित्र होवे ॥

द्वितीय विद्युत् के पक्ष में। **यः** जो विमानादियानों में प्रयोग किया गया विद्युत् **यदुम्** पुरुषार्थी मनुष्य को **परावतः** अत्यन्त दूर देश से भी **तुर्वशम्** मनोवाञ्छित वेग से **सुनीती** उत्तम यात्रा के साथ,

---

१. ऋ० ८।९३।४, अथ० २०।११२।१, उभयत्र ऋषिः सुकक्षः। य० ३३।३५ देवता सूर्यः।
२. ऋ० ६।४५।१, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः।

अर्थात् कुछ भी यात्रा-कष्ट न होने देकर **आनयत्** देशान्तर में पहुँचा देता है, **सः** वह प्रसिद्ध **युवा** यन्त्रों में प्रयुक्त होकर पदार्थों के संयोजन या वियोजन की क्रिया द्वारा विभिन्न पदार्थों के रचने में साधनभूत **इन्द्रः** विद्युत् **नः** हमारा **सखा** सखा के समान कार्यसाधक होवे ॥

तृतीय राजा के पक्ष में। **यः** जो राजा **परावतः** अधममार्ग से हटाकर **यदुम्** प्रयत्नशील, उद्योगी, **तुर्वशम्** हिंसकों को वश में करने वाले मनुष्य को **सुनीती** उत्तम धर्ममार्ग पर **आनयत्** ले आता है, **सः** वह **युवा** शरीर, मन और आत्मा से युवक **इन्द्रः** अधर्मादि का विदारक राजा **नः** हम प्रजाओं का **सखा** मित्र होवे ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे विमानादि यानों में प्रयुक्त विद्युद्रूप अग्नि सुदूर प्रदेश से भी विमानचालकों की इच्छानुकूल गति से लोगों को देशान्तर में पहुँचा देता है, अथवा जैसे कोई सुयोग्य राजा अधर्ममार्ग पर दूर तक गये हुए लोगों को उससे हटाकर धर्ममार्ग में प्रवृत्त करता है, वैसे ही परमेश्वर उन्नति के लिए प्रयत्न करते हुए भी कभी कुसंग में पड़कर सन्मार्ग से दूर गये हुए मनुष्य को कृपा कर अपने समीप लाकर धार्मिक बना देता है ॥३॥

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार ने लिखा है कि तुर्वश और यदु नाम के कोई राजपुत्र थे। इसी प्रकार भरतस्वामी और सायण का कथन है कि तुर्वश और यदु नामक दो राजा थे, जिन्हें शत्रुओं ने दूर ले जाकर छोड़ दिया था। उन्हें इन्द्र उत्तम नीति से दूर देश से ले आया था यह उन सबका अभिप्राय है। यह सब प्रलापमात्र है, क्योंकि वेद सृष्टि के आदि में परब्रह्म परमेश्वर से प्रादुर्भूत हुए थे, अतः उनमें परवर्ती किन्हीं राजा आदि का इतिहास नहीं हो सकता। साथ ही वैदिककोष निघण्टु में 'तुर्वश' मनुष्यवाची तथा समीपवाची शब्दों में पठित है, और 'यदु' भी मनुष्यवाची शब्दों में पठित है, इस कारण भी इन्हें ऐतिहासिक राजा मानना उचित नहीं है ॥३॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि इन्द्र की मैत्री प्राप्त कर हम आक्रान्ता शत्रुओं पर विजय पा लें।

१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १र २र
१२८. मा न इन्द्राभ्या३दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत्।
२ ३ १ २ ३ २
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमवीर परमात्मन् अथवा राजन्! **आदिशः** किसी भी दिशा से **सूरः** अवसर देखकर चुपके से आ जाने वाला काम-क्रोधादि राक्षसगण या चोर आदि का समूह **अक्तुषु** अज्ञान-रात्रियों में अथवा अँधेरी रातों में **नः** हमें **मा** मत **अभि आ यमत्** आक्रान्त करे। यदि आक्रान्त करे तो **त्वा** आप **युजा** सहायक के द्वारा हम **तत्** उस कामादि राक्षसगण को अथवा चोरों के गिरोह को **वनेम** विनष्ट कर दें, समूल उन्मूलन करने में समर्थ हों ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—इस संसार में अज्ञानान्धकार में अथवा अँधियारी रात में पड़े हुए हम लोगों की न्यूनता देखकर जो कोई काम-क्रोधादि या चोर-लुटेरा आदि हम पर आक्रमण कर हमें विनष्ट करना चाहे, उसे परमात्मा और राजा की सहायता से हम धूल में मिला दें ॥४॥

---

१. ऋ० ८।९२।३१ ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।

अगले मन्त्र में इन्द्र से धन की प्रार्थना की गयी है ।

१२९. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥५॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र परमैश्वर्यशाली, परम ऐश्वर्य के दाता परमात्मन् और राजन् ! आप **सानसिम्** संभजनीय, **सजित्वानम्** सहोत्पन्न शत्रुओं को जीतने वाले, **सदासहम्** सदा दुष्ट शत्रुओं का अभिभव कराने वाले और दुःखों को सहन कराने वाले, **वर्षिष्ठम्** अतिशय बढ़े हुए और बढ़ाने वाले **रयिम्** अहिंसा, सत्य शम, दम आदि दैवी सम्पदा को तथा विद्या, धन, बल, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक ऐश्वर्य को **ऊतये** हमारी रक्षा, प्रगति, प्रीति और तृप्ति के लिए **आ भर** प्रदान कीजिए ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को परमधनी परमात्मा और राजा से याचना करके और अपने पुरुषार्थ द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, शम, दम, तेज, तप, क्षमा, धृति आदि दैवी सम्पदा और विद्या, धन, बल, दीर्घायुष्य, पशु, पुत्र, पौत्र, कलत्र, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक सम्पदा का उपार्जन करना चाहिए ॥५॥

संग्रामों में रक्षा के लिए हम क्या करें, यह कहते हैं ।

१३०. इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥[2]

पदार्थ—**वयम्** परमेश्वर के उपासक और राजभक्त हम लोग **वृत्रेषु** धर्म के आच्छादक दुष्टजनों व दुर्गुणों पर **वज्रिणम्** वज्रदण्ड उठाने वाले, **युजम्** सहयोगी सखा **इन्द्रम्** वीर परमेश्वर और राजा को **महाधने** योग-सिद्धिरूप बड़े धन जिससे प्राप्त होते हैं उस आन्तरिक महासंघर्ष में और सोना, चाँदी आदि महार्घ धन जिससे प्राप्त होते हैं उस बाह्य विकराल संग्राम में **हवामहे** पुकारें, **इन्द्रम्** उसी परमेश्वर और राजा को **अर्भे** छोटे आध्यात्मिक और बाह्य संघर्ष में भी पुकारें ।

विद्युत्-पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए । **इन्द्रम्** विद्युत् का हम बड़े-बड़े संग्रामों और छोटे संग्रामों में भी **हवामहे** उपयोग करें । कैसी विद्युत् का ? **युजम्** विमानादि यानों में और शस्त्रास्त्रों में जिसे प्रयुक्त किया जाता है, और जो **वृत्रेषु** शत्रुओं पर **वज्रिणम्** बिजली के गोले आदि रूप वज्रों को फेंकने का साधन है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि साधारण या विकट, बाह्य और आन्तरिक देवासुर-संग्रामों में विजय के लिए अत्यन्त वीर परमेश्वर तथा राजा का आह्वान करें । साथ ही बिजली से चलने वाले अस्त्रों का निर्माण करके शत्रुओं का समूल उच्छेद करें ॥६॥

---

१. ऋ० १।८।१, अथ० २०।७०।१७ ।
२. ऋ० १।७।५, अथ० २०।७०।११ ।

स्तोता को परमेश्वर की भक्ति से क्या प्राप्त होता है, यह कहते हैं ।

१३१. अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।
तत्राददिष्ट पौंस्यम् ॥७॥[1]

पदार्थ—**इन्द्रः** विघ्नविदारक, बलदायक परमेश्वर **सहस्रबाह्वे** काम, क्रोध आदि हजार भुजाओं वाले पापरूप दैत्य को मारने के लिए **कद्रुवः** क्रियाशील अथवा स्तुतिशील मनुष्य के **सुतम्** भक्तिरूप सोम-रस को **अपिबत्** पीता है, और **तत्र** उस मनुष्य को **पौंस्यम्** बल, पौरुष **अददिष्ट** प्रदान करता है ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य बड़ा ही निर्बल है, काम-क्रोध आदि सहस्र बाहुओं वाला पापरूप दैत्य उसे अपने वश में करना चाहता है। मनुष्य क्रियाशील और पुरुषार्थी होकर भक्तवत्सल, विपत्ति-भंजक, शक्तिदायक परमात्मा की उपासना करके उससे बल का संचय कर उस सहस्रबाहु शत्रु को प्रताडित करे ॥७॥

यहाँ अपनी कल्पना से ही किसी ने कद्रू नाम की भार्या, किसी ने कद्रु नामक यजमान, किसी ने कद्रु नाम का ऋषि और किसी ने कद्रु नाम का राजा मान लिया है। परस्पर विरुद्ध उनके वचन ही एक दूसरे की बात को काट देते हैं। असल में तो वेद में लौकिक इतिहास को खोजना खरगोश के सींग लगाने के प्रयत्न के समान निरर्थक ही है, अतः नैरुक्त पद्धति ही श्रेयस्कर है ॥७॥

अगले मन्त्र में स्तोताजन परमात्मा से निवेदन कर रहे हैं ।

१३२. वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वा३स्य नो वसो ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **वृषन्** अभीष्ट सुखों, शक्तियों और धन आदि की वर्षा करने वाले **इन्द्र** परमैश्वर्य-शाली, दुःखविदारक, शत्रुसंहारक परमात्मन् ! **वयम्** हम उपासक **त्वायवः** आपकी कामना वाले, आपके प्रेम के वश होते हुए **अभि प्र नोनुमः** आपकी भलीभाँति अतिशय पुनः पुनः स्तुति करते हैं। हे **वसो** सर्वान्तर्यामी, निवासक देव ! आप **अस्य** इस किये जाते हुए स्तोत्र को **विद्धि** जानिए ॥८॥

भावार्थ—हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् ! हे परमैश्वर्यप्रदातः ! हे विपत्तिविदारक ! हे धर्म-प्रसारक ! हे अधर्मध्वंसक ! हे मित्रों को सहारा देने वाले ! हे शत्रुविनाशक ! हे आनन्दधारा को प्रवाहित करने वाले ! हे सद्गुणों की वर्षा करने वाले ! हे मनोरथों के पूर्णकर्ता ! हे हृदय में बसने वाले ! हे निवासक ! आपके प्रेमरस में मग्न, आपकी प्राप्ति के लिए उत्सुक हम बार-बार आपकी वन्दना करते हैं, आपको प्रणाम करते हैं, आपके गुणों का कीर्तन करते हैं। नतमस्तक होकर हमसे किये जाते हुए वन्दन, प्रणाम और गुणकीर्तन को आप जानिए, स्वीकार कीजिए और हमें उद्बोधन दीजिए ॥८॥

परमात्मा की मित्रता का और अग्नि प्रदीप्त करने का क्या लाभ है, यह बताते हैं ।

१३३. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥९॥[3]

---

१. ऋ० ८।४५।२६ 'अत्राददिष्ट पौंस्यम्' इति पाठः ।
२. ऋ० ७।३१।४, अथ० २०।१८।४, उभयत्र 'प्रणोनुमो' इति पाठः ।
३. ऋ० ८।४५।१, य० ७।३२ पूर्वार्द्धः ।

पदार्थ—**ये** जो लोग **घ** निश्चय ही **अग्निम्** यज्ञ की अग्नि, उत्साह की अग्नि, संकल्प की अग्नि, महत्त्वाकांक्षा की अग्नि और आत्मा की अग्नि को **आ इन्धते** अभिमुख होकर प्रदीप्त करते हैं और **येषाम्** जिन लोगों का **युवा** सदा युवा अर्थात् सदा सशक्त रहने वाला **इन्द्रः** पराक्रमशाली परमात्मा **सखा** सहायक हो जाता है, वे लोग **आनुषक्** क्रमशः **बर्हिः** कुशा आदि यज्ञ साधनों और यज्ञ को **स्तृणन्ति** फैलाते हैं अर्थात् निरन्तर यज्ञकर्मों में संलग्न रहते हैं ॥६॥

भावार्थ—जिनके हृदय में अग्नि जाज्वल्यमान नहीं है, वे लोग आलसी होकर जीवन बिताते हैं। वे तो स्वार्थसाधन में भी मन्द होते हैं, फिर परार्थसाधनरूप यज्ञ-कर्म करने का तो कहना ही क्या है। परन्तु जो नित्य अग्निहोत्र की अग्नि को और उससे प्रेरणा प्राप्त कर उत्साह, संकल्प और महत्त्वाकांक्षा की अग्नि को तथा आत्मारूप अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और जो सदा युवक, दूसरों की दुःख-दरिद्रता को दूर करने वाले, शत्रुविजयी, सृष्टियज्ञकर्ता, शतक्रतु इन्द्र परमेश्वर को सखा बना लेते हैं, वे सदा ही मन में स्फूर्ति, कर्मण्यता और उदारता को धारण करते हुए निरन्तर परोपकार के कामों में लगे रहते हैं ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य से विघ्नों के नाश तथा धन प्रदान करने की प्रार्थना है।

१३४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र ! विद्यावीर, दयावीर, बलवीर परमात्मन् राजन् व आचार्य ! आप **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को और काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों तथा मानव राक्षसों की सेनाओं को **अप भिन्धि** विदीर्ण कर दीजिए। **बाधः** बाधक, सन्मार्ग में विघ्न डालने वाले **मृधः** संग्राम करने वाले पापों को **परि जहि** सर्वत्र नष्ट कर दीजिए। **तत्** वह प्रसिद्ध **स्पार्हम्** स्पृहणीय **वसु** सत्य, अहिंसा, आरोग्य, विद्या, सुवर्ण आदि आध्यात्मिक और भौतिक धन **आभर** हमें प्रदान कीजिए ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा, राजा और आचार्य की सहायता द्वारा रास्ते से राग, द्वेष, पाप, विघ्न-बाधा आदि को हटाकर और सब प्रकार का धन प्राप्त करके विजयी हों ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नामक परमेश्वर आदि के गुणों का वर्णन होने से, उसके पास से ऐश्वर्यों की प्रार्थना होने से, उसके प्रति प्रणाम अर्पित होने से और उससे शत्रु-विनाश तथा स्पृहणीय धन की याचना होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है यह जानना चाहिए ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त।

---

१. ऋ० ८।४५।४०, अ० २०।४३।१, साम० १०७०।

॥५॥ अथ 'इहेव शृण्व' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ कण्वो घौरः; २ त्रिशोकः; ३, ९ वत्सः काण्वः; ४ कुसीदी काण्वः; ५ मेधातिथिः; ६ श्रुतकक्षः; ७ श्यावाश्वः; ८ प्रगाथः काण्वः; १० इरिम्बिठिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अब इन्द्र के सहायक मरुतों का वर्णन करते हैं। यहाँ यद्यपि इन्द्र के सहायक मरुतों की स्तुति है, तथापि सैनिकों की स्तुति से सेनापति की ही स्तुति मानी जाती है, इस न्याय से देवता इन्द्र माना गया है। ऋग्वेद में इस मन्त्र के देवता साक्षात् 'मरुतः' ही हैं। इन्द्र से शरीर का सम्राट् जीवात्मा और राष्ट्र का सम्राट् राष्ट्रपति गृहीत होता है। जीवात्मा रूप इन्द्र के सहायक मरुत् प्राण हैं और राष्ट्रपति रूप इन्द्र के सहायक मरुत् सैनिक हैं, यह समझना चाहिए।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१३५. इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्।
१र २र ३ १ २
नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम सैनिकों के पक्ष में। **एषाम्** इन सैनिकों के **हस्तेषु** हाथों में, युद्धकाल में **यत्** जो **कशाः** चाबुकें **वदान्** बोलती हैं, वह इनका शब्द **इह इव** मानो यहीं, युद्ध से भिन्न स्थल में भी **शृण्वे** मैं सुन रहा हूँ। यह सैनिकों का गण **यामन्** संग्राम में **चित्रम्** अद्भुत **निऋञ्जते** प्रसाधन करता है।

वेद में सैनिकों का वेशप्रसाधन इस रूप में वर्णित हुआ है—"तुम्हारे कंधों पर ऋष्टियाँ हैं, पैरों में पादत्राण हैं, वक्षःस्थलों पर सोने के तमगे हैं, तुम रथ पर शोभायमान हो। तुम्हारी बाहुओं में अग्नि के समान चमकने वाले विद्युदस्त्र हैं, सिरों पर सुनहरी पगड़ियाँ हैं। ऋ० ५।५४।११, तुम उत्कृष्ट हथियारों से युक्त हो, गतिमान् हो, उत्कृष्ट स्वर्णालंकार धारण किये हो। ऋ० ७।५६।११।"

द्वितीय प्राणों के पक्ष में। **एषाम्** इन प्राणों के **हस्तेषु** पूरक-कुम्भक क्रियारूप हाथों में **यत्** जो **कशाः** कानों से न सुनायी देनेवाली सूक्ष्म वाणियाँ **वदान्** ध्वनित होती हैं, उस आवाज को **इह इव** मानो यहीं, प्राणाभ्यास से अतिरिक्त दशा में भी **शृण्वे** सुन रहा हूँ। यह प्राणगण **यामन्** अभ्यासमार्ग में **चित्रम्** अद्भुत रूप से **निऋञ्जते** प्राणायामाभ्यासी योगी को योगैश्वर्यों से अलंकृत कर देता है॥१॥

इस मन्त्र में भूतकाल की वस्तु को वर्तमान काल में प्रत्यक्ष घटित के समान वर्णन करने के कारण भाविक अलंकार है। सैनिक तथा प्राण इन दो अर्थों को अभिहित करने से श्लेष भी है॥१॥

भावार्थ—जैसे राजा के सहायक सैनिक लोग राष्ट्र की रक्षा करते हैं, वैसे ही योगी के सहायक प्राण योगी के योग की रक्षा करते हैं। युद्धों में शत्रुओं के सम्मुख सैनिकों की चाबुकें आवाज करती हैं, उस दृश्य को जिन्होंने देखा होता है उससे चमत्कृत होने के कारण युद्ध से भिन्न स्थलों में भी उन्हें ऐसा लगता है कि वे आवाजें सुनायी दे रही हैं। सैनिकों का वीरोचित वेश-विन्यास भी अद्भुत ही प्रतीत होता है। प्राण भी योगियों के सैनिक ही हैं, जो शरीर में उत्पन्न सब दोषों को बाहर निकाल देते हैं, इन्द्रियों को निर्मल करते हैं और योगैश्वर्य की प्राप्ति के प्रयास को सफल बनाते हैं॥१॥

---

१. ऋ० १।३७।३, देवता मरुतः।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा के सखा लोग उसके दर्शन की प्रतीक्षा करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३६. इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः ।
३ १२ ३ १ २ ३ २
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **इमे उ** ये **सोमिनः** भक्तिरसरूप सोम को परिस्रुत किये हुए **सखायः** आपके मित्र उपासक **त्वा** आपकी **विचक्षते** प्रतीक्षा कर रहे हैं, **पुष्टावन्तः** पशुओं के खाने योग्य परिपुष्ट घास आदि से युक्त पशुपालक **यथा** जिस प्रकार **पशुम्** गाय आदि पशु की प्रतीक्षा करते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे पशुओं के खाने योग्य घास आदि को तैयार किये हुए पशुपालक लोग गाय आदि पशु की प्रतीक्षा करते हैं कि वह आकर भक्ष्य को खाकर उसकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् दूध हमें दे, वैसे ही भक्तिरूप सोमरस को तैयार किये हुए उपासक लोग परमात्मा की प्रतीक्षा करते हैं कि वह उनके हृदय-सदन में आकर भक्तिरस का पान करे और उसकी अपेक्षा हजार गुणा मूल्य वाला आनन्दरसरूप दूध हमें प्रदान करे ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा के मन्यु के संमुख सब झुकते हैं।

१ २ ३ २३ २३ १ २ ३ १ २
१३७. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
३ १२३ १ २
समुद्रायेव सिन्धवः ॥३॥[2]

पदार्थ—**अस्य** इस परमैश्वर्यवान् पराक्रमशाली इन्द्र परमेश्वर के **मन्यवे** अन्याय, पाप अदि को सहन न करने वाले तेज के लिए अर्थात् उस तेज को पाने के लिए **विश्वाः** सब **कृष्टयः** कृषि करने वाली, अर्थात् मनोभूमि में सद्गुणरूप बीजों को बोने वाली **विशः** प्रजाएँ, **सं नमन्त** परमेश्वर के प्रति नत हो जाती हैं, **समुद्राय** समुद्र को प्राप्त करने लिए **सिन्धवः इव** जैसे नदियाँ नत होती हैं अर्थात् नीचे की ओर बहती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥३॥

भावार्थ—मन्यु उस मानसिक तेज को कहते हैं, जिसके कारण कोई अधर्म, दुराचार, पाप आदि को सहन नहीं कर सकता। इन्द्र नामक परमेश्वर उस मन्यु का आदर्श है। मन्यु के खजाने उस परमेश्वर के मन्यु को प्राप्त करने के लिए नम्रतापूर्वक सबको यत्न करना चाहिए ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्राप्तव्य रक्षण तथा विद्वानों से प्राप्तव्य ज्ञान की प्रार्थना करते हैं।

३ २ ३१र २र ३१र २र ३ २
१३८. देवानामिदवो महत् तदा वृणीमहे वयम् ।
१ २३ १ २३१२
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥४॥[3]

---

१. ऋ० ८।४५।१६

२. ऋ० ८।६।४, अथ० २०।१०७।१, साम० १६५१।

३. ऋ० ८।८३।१, देवता विश्वेदेवाः।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। इन्द्र परमेश्वर है, उसके दिव्य सामर्थ्य देव हैं। **देवानाम्** इन्द्र परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्यों का **इत्** ही **अवः** संरक्षण **महत्** महान् है। **वृष्णाम्** सुखों की वर्षा करने वाले उन दिव्य सामर्थ्यों के **तत्** उस संरक्षण को **वयम्** हम उपासक लोग **ऊतये** प्रगति के प्राप्त्यर्थ **अस्मभ्यम्** अपने लिए **आवृणीमहे** प्राप्त करते हैं।

द्वितीय विद्वानों के पक्ष में। इन्द्र आचार्य है, उसके विद्वान् शिष्य देव हैं। **देवानाम्** विद्वानों का **इत्** ही **अवः** शास्त्रज्ञान **महत्** विशाल होता है। **वृष्णाम्** विद्या की वर्षा करने वाले उन विद्वानों के **तत्** उस शास्त्रज्ञान को **वयम्** हम अल्पश्रुत लोग **ऊतये** प्रगति के प्राप्त्यर्थ **अस्मभ्यम्** अपने लिए **आवृणीमहे** भजते हैं ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—इन्द्र नाम से वेदों में जिसकी कीर्ति गायी गयी है उस परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्य बहुमूल्य हैं, जिनका संरक्षण पाकर क्षुद्र शक्ति वाला मनुष्य भी सब विघ्नों और संकटों को पार करके विविध कष्टों से आकुल भी इस संसार में सुरक्षित हो जाता है। अतः परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्यों का संरक्षण सबको प्राप्त करना चाहिए। साथ ही विद्वान् लोग भी देव कहलाते हैं। उनका उपदेश सुनकर ज्ञानार्जन भी करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में वेदादि के अधिपति इन्द्र परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है।

१३९. सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **ब्रह्मणःपते** वेद, ब्रह्माण्ड और सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र जगदीश्वर! **यः** जो मैं **औशिजः** मेधावी आचार्य का विद्यापुत्र हूँ, उस **कक्षीवन्तम्** मुझ क्रियावान् को **सोमानाम्** ज्ञानों का **स्वरणम्** प्रकाश करने वाला तथा उपदेश करने वाला **कृणुहि** बना दीजिए ॥५॥

इस मन्त्र की यास्काचार्य ने निरु० ६।१० में व्याख्या की है।

भावार्थ—गुरुकुल में विद्या पढ़कर आचार्य का विद्यापुत्र होकर मैं विद्या के अनुरूप कर्म कर रहा हूँ। ऐसे मुझको हे परमेश्वर! आप विद्या का प्रकाशक और उपदेशक बना दीजिए, जिससे मैं भी सत्पात्रों को विद्यादान करूँ ॥५॥

विवरणकार माधव, भरतस्वामी और सायणाचार्य ने यहाँ 'औशिजः' से उशिक् नामक माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि कल्पित किया है और दीर्घतमा को उसका पिता बताया है। लुप्तोपमा मानकर यह व्याख्यान किया है कि उशिक् माता के पुत्र कक्षीवान् ऋषि के समान मुझे कीर्तिमान् कर दीजिए। विचार करने पर यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदों के सृष्टि के आदि में परमेश्वर द्वारा प्रोक्त होने से उनमें परवर्ती इतिहास नहीं हो सकता ॥५॥

अगले मन्त्र में यह कहा है कि परमेश्वर हमारी प्रार्थना को सुने।

१४०. बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥६॥[2]

१. ऋ० १।१८।१, देवता ब्रह्मणस्पतिः। य० ३।२८, देवता बृहस्पतिः। उभयत्र 'सोमानम्' इति पाठः। साम० १४६३।
२. ऋ० ८।९३।१८, ऋषिः सुकक्षः। बोधिन्मना इति पाठः।

पदार्थ—**वृत्रहा** पापों का विनाशक **भूर्यासुतिः** बहुत रसमय इन्द्र परमेश्वर **नः** हमारे लिए **बोधन्मनाः** मन को प्रबुद्ध करने वाला **इत्** ही **अस्तु** होवे। वह **शक्रः** शक्तिशाली परमेश्वर **आशिषम्** हमारी महत्त्वाकांक्षा को **शृणोतु** सुने, पूर्ण करे ॥६॥

इस मन्त्र में 'वृत्रहा' और 'शक्रः' शब्द क्योंकि इन्द्र अर्थ में प्रसिद्धि पा चुके हैं, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। यौगिक अर्थ लेने पर पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है। 'शृणोतु' में श्रु धातु की पूर्ण करने अर्थ में लक्षणा है ॥६॥

भावार्थ—जो परमात्मा दोषों का हन्ता, अधर्मों का पराजेता, पापों का विनाशक, आनन्दरस का सागर और सर्वशक्तिमान् है, वह हमारे मन को प्रबुद्ध करके हमारी दीर्घायुष्य, समृद्धि, विजय, मोक्ष आदि की महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करे ॥६॥

अगले मन्त्र में प्रेरक परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

१४१. अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥७॥[1]

पदार्थ—मन्त्र का देवता इन्द्र होने से मन्त्रोक्त 'देव' और 'सवितः' उसी के विशेषण हैं। हे **देव** ऐश्वर्यप्रदायक, प्रकाशमय, प्रकाशक, सर्वोपरि विराजमान, **सवितः** उत्तम बुद्धि आदि के प्रेरक इन्द्र परमात्मन्! **अद्य** आज, आप **नः** हमारे लिए **प्रजावत्** सन्ततियुक्त अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ने वाले **सौभगम्** धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि का धन **सावीः** प्रेरित कीजिए, **दुःष्वप्न्यम्** दिन का दुःस्वप्न, रात्रि का दुःस्वप्न और उनसे होने वाले कुपरिणामों को **परासुव** दूर कर दीजिए ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना से मनुष्य निरन्तर बढ़ने वाले सद्गुणरूप बहुमूल्य धन को और दोषों से मुक्ति को पा लेता है ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के विषय में प्रश्न उठाया गया है।

१४२. क्वा३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥८॥[2]

पदार्थ—**क्व** कहाँ है **स्यः** वह **वृषभः** आनन्द की वर्षा करने वाला, **युवा** नित्य युवा, अर्थात् युवक के समान सदा शक्तिशाली, **तुविग्रीवः** अतिशय रूप से प्रलयकाल में जगत् को निगलने वाला अर्थात् प्रकृति में लय करने वाला और बहुत उपदेश देने वाला, **अनानतः** शत्रु के संमुख कभी न झुकने वाला, इन्द्र परमेश्वर? **कः** कौन सा **ब्रह्मा** विद्या-वृद्ध जन **तम्** पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त उस इन्द्र परमेश्वर को **सपर्यति** पूजता है? ॥८॥

भावार्थ—तुम कहते हो कि ब्रह्माण्ड का कोई शासक है, जो बादल के समान सबके ऊपर सुख बरसाता है, जो न कभी बालक होता है, न कभी बूढ़ा, किन्तु सदा युवा ही रहता है, जो मानो हजार ग्रीवाओं वाला होकर प्रलयकाल में सब पदार्थों को निगलता है और सृष्टिकाल में सहस्रों जनों को ज्ञान

१. ऋ० ५।८२।४, देवता सविता।
२. ऋ० ८।६४।७

का उपदेश करता है, जो कभी शत्रुओं के सम्मुख झुकता नहीं, अपितु उन्हें ही झुका लेता है। हम पूछते हैं कि वह कहाँ है? यदि है, तो दिखाओ। तुम कहते हो कि वह पूजनीय है। हम पूछते हैं कि भला कौन विद्वान् है जो उस निराकार, अशरीरी, अदृश्य, अश्रव्य की पूजा कर सके? इसलिए वह है ही नहीं, न ही कोई उसकी पूजा कर सकता है, यह प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है।

अगले मन्त्र में पूर्व प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

१४३. उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥९॥[1]

पदार्थ—**गिरीणाम्** पर्वतों के **उपह्वरे** एकान्त में अथवा समीप में **नदीनां च** और नदियों के **सङ्गमे** संगम-स्थल पर **धिया** ध्यान द्वारा **विप्रः** वह सर्वव्यापक और मेधावी इन्द्र परमेश्वर **अजायत** प्रकट होता है ॥९॥

भावार्थ—तुम्हारा प्रश्न है कि वह इन्द्र परमेश्वर कहाँ है? उस पर हमारा उत्तर है—वह सर्वव्यापक है, किन्तु उसका दर्शन बाह्य आँख से होना संभव नहीं है, ध्यान द्वारा आन्तरिक चक्षु से ही वह साक्षात्कार किये जाने योग्य है। और ध्यान कोलाहल-भरे वातावरण में नहीं, अपितु पर्वतों और नदियों के शान्त प्रदेश में सुगम होता है। उन्हीं ध्यानयोग्य प्रदेशों में ध्यान करने वालों को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। तुम्हारा दूसरा प्रश्न यह है कि कौन उसकी पूजा कर सकता है? इसका उत्तर भी पहले उत्तर में आ जाता है। निराकार, शरीर-रहित, आँख से अगोचर परमेश्वर की भी पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करता हुआ मनुष्य पूजा कर सकता है, उसकी मूर्ति रचकर उस पर पत्र, पुष्प, जल आदि चढ़ाने वाला उसका वास्तविक पूजक नहीं है ॥९॥

मनुष्यों को परमात्मा और राजा की स्तुति करने की प्रेरणा करते हैं।

१४४. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः।
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१०॥[2]

पदार्थ—हे भाइयो! तुम **चर्षणीनाम्** मनुष्यों के **सम्राजम्** सम्राट्, **नव्यम्** नवीन वा स्तवन-योग्य, **नरम्** नेता, पौरुषवान्, **नृषाहम्** दुष्टजनों को पराजित करने वाले, **मंहिष्ठम्** अतिशय दानी **इन्द्रम्** वीर परमात्मा और राजा का **गीर्भिः** वेद-वाणियों तथा निज वाणियों से **प्र स्तोत** भली भाँति कीर्तिगान करो ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा और राजा की धवल कीर्ति का गान करें और उनके गुणों को अपने जीवन में धारण करें ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।६।२८, 'सङ्गमे' इत्यत्र 'संगथे' इति पाठः। य० २६।१५।
२. ऋ० ८।१६।१, अथ० २०।४४।१

इस दशति में इन्द्र के सहायक मरुतों के वर्णनपूर्वक इन्द्र का महत्त्व प्रतिपादित होने से; ब्रह्मणस्पति, वृत्रहा, सविता, शक्र नामों से इन्द्र की स्तुति होने से, इन्द्र से दुःस्वप्न-विनाश की प्रार्थना होने से और इन्द्र की स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पंचम दशति समाप्त ।

द्वितीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

—०—

अथ द्वितीये प्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ तत्र 'अपादु' इत्याद्याया दशते ऋषयः—१ श्रुतकक्षः; २ मेधातिथिः; ३ गोतमः; ४ भरद्वाजः; ५ बिन्दुः पूतदक्षो वा; ६-७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा; ८ वत्सः काण्वः; ९ शुनःशेपः; १० शुनःशेपो वामदेवो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र समर्पणकर्ता के सोमरस को स्वीकार करता है ।

१४५. अपादु शिप्रयन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में । **शिप्री** सर्वव्यापक **इन्द्रः** परमात्मा **सुदक्षस्य** अतिकुशल, **प्रहोषिणः** प्रकृष्ट रूप से आत्मसमर्पण रूप हवि का होम करने वाले, **इन्दोः** चन्द्रमा के समान सौम्य उपासक के **यवाशिरः** यवों के तुल्य सात्त्विक ज्ञान और कर्मों के साथ परिपक्व **अन्धसः** भक्ति-रूप सोमरस का **अपात् उ** निश्चय ही पान करता है, अर्थात् ज्ञान-कर्म-पूर्वक की गयी भक्ति को अवश्य स्वीकार करता है ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **शिप्री** राजमुकुटधारी **इन्द्रः** राजा **सुदक्षस्य** सुसमृद्ध, **प्रहोषिणः** कर-रूप से राजा के लिए देय भाग को कर-विभाग में देने वाले, **इन्दोः** राष्ट्र को सींचने वाले प्रजाजन के **यवाशिरः** जौ, गेहूँ, तिल, चावल, मूँग, उड़द आदि सहित **अन्धसः** खाद्य, पेय, वस्त्र, सोना, चाँदी, मुद्रा आदि रूप में प्रदत्त राज-कर को **अपात् उ** अवश्य ग्रहण करता है ॥

तृतीय सूर्य के पक्ष में । **शिप्री** किरणों वाला **इन्द्रः** सूर्य **सुदक्षस्य** अतिशय समृद्ध, **प्रहोषिणः** अपने जल रूप हवि का होम करने वाले भूमण्डल के **यवाशिरः** संयोगविभागकारी ताप से पककर भापरूप में परिणत होने वाले **अन्धसः** भोज्यरूप **इन्दोः** जल का **अपात् उ** अवश्य पान करता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे राजा प्रजाजनों के कररूप उपहार को और सूर्य भूमण्डल के जलरूप उपहार को स्वीकार करता है, वैसे ही परमात्मा उपासकों के ज्ञानकर्ममय भक्तिरस के उपहार को प्रेमपूर्वक स्वीकार करता है ॥१॥

१. ऋ० ८।९२।४ ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ।

इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने जो 'सुदक्ष' शब्द से सुदक्ष नाम के ऋषि का ग्रहण किया है वह अन्य भाष्यकारों के विरुद्ध होने से ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि 'सुदक्ष' का अर्थ विवरण-कार माधव ने 'भले प्रकार उत्सादित' और भरतस्वामी ने 'अतिशय बलवान्' किया है। इस प्रकार के प्रसिद्धार्थक शब्दों को भी नाम मान लेने पर तो वेदों के सभी सुबन्त पद किसी ऋषि या राजा के नाम हो जाएँगे।

अगले मन्त्र में उपासक जन परमात्मा को कह रहे हैं।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१४६. इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः ।
१ २ ३ २उ ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **पुरूवसो** विद्या, सुवर्ण, सद्गुण आदि बहुत से धनों के स्वामी परमात्मन्! **इमाः उ** ये हमारे द्वारा उच्चारण की जाती हुई **गिरः** भावपूर्ण स्तुतिवाणियाँ **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके **प्र नोनुवुः** प्रकृष्ट रूप से अतिशय पुनः पुनः शब्दायमान हो रही हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने के लिए उत्सुक **गावः** गौएँ **वत्सं न** जैसे अपने बछड़े को लक्ष्य करके रँभाती हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर! जैसे गौएँ अपने प्यारे बछड़े को देखकर पौस कर उसे अपना दूध पिलाने के लिए रँभाती हैं, वैसे ही हमारी रस-भरी स्तुति-वाणियाँ भक्ति-रस को उद्वेल्लित सा करती हुई प्राणों से भी प्रिय आपको वह रस पिलाने के लिए आपके प्रति बहुत अधिक शब्दायमान हो रही हैं और आपकी स्तुति कर रही हैं ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सूर्य से चन्द्रमा और परमेश्वर से स्तोता का हृदय प्रकाशित होता है।

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
१४७. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥[2]

पदार्थ—प्रथम सूर्य से चन्द्रमा के प्रकाशित होने के पक्ष में। **त्वष्टुः** विच्छेदक, प्रकाश द्वारा शीघ्र व्याप्तिशील, देदीप्यमान सूर्य की **गोः** सुषुम्णनामक रश्मि के **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्रमण्डल में **अपीच्यम्** प्रच्छन्न रूप से **नाम** अवस्थान को, विद्वान् लोग **इत्था** सत्य रूप में **अमन्वत** जानते हैं। अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है इस रहस्य को विद्वान् लोग भलीभाँति समझते हैं।

निरुक्त में कहा है कि आदित्य का एक रश्मिसमूह चन्द्रमा में जाकर दीप्त होता है, अर्थात् आदित्य से चन्द्रमा की दीप्ति होती है, जैसा कि वेद में कहा है "सुषुम्ण नामक सूर्य रश्मियाँ हैं, चन्द्रमा उन रश्मियों को धारण करने के कारण गन्धर्व है" (य० १८।४०)। 'अत्राह गोरमन्वत' आदि मन्त्र में 'गोः' पद चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाली उन सुषुम्ण नामक सूर्यरश्मियों के लिए ही आया है।

---

१. ऋ० ६।४५।२५,२८ ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। इमा उ त्वा शतक्रतोऽभि प्र णोनुवुर्गिरः। इन्द्र वत्सं न मातरः ॥ इमा उ त्वा सुते सुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। वत्सं गावो न धेनवः ॥ इति द्वयोर्ऋचोः पाठः।

२. ऋ० १।८४।१५, अथ० २०।४१।३, साम० ९१५।

द्वितीय परमात्मापरक अर्थ। **त्वष्टुः** दुःखों के विच्छेदक, सर्वत्र व्यापक, तेज से प्रदीप्त और जगत् के रचयिता इन्द्र नामक परमेश्वर की **गोः** दिव्य प्रकाशरश्मि का **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** मन रूप चन्द्र के निवासस्थान हृदय में **अपीच्यं नाम** आगमन को, उपासक लोग **इत्था** सत्य रूप में **अमन्वत** अनुभव करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वैसे ही परमेश्वर के प्रकाश से स्तुतिकर्ताओं के हृदय प्रकाशित होते हैं ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर ही सूर्य द्वारा भूमियों और जलों को गति देता है।

१४८. यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः।
तत्र पूषाभुवत् सचा ॥४॥[1]

पदार्थ—**वृषन्तमः** अतिशय बलवान् अथवा वृष्टिकर्ता **इन्द्रः** परमेश्वर **यत्** जब **रितः** गति करने वाली **महीः** पृथिवी, चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रह रूप भूमियों को **अनयत्** अपनी-अपनी कक्षाओं में सूर्य के चारों ओर घुमाता है, और **अपः** जलों को **अनयत्** भाप बनाकर ऊपर और वर्षा द्वारा नीचे पहुँचाता है, तब **तत्र** उस कर्म में **पूषा** पुष्टिप्रद सूर्य **सचा** सहायक **अभुवत्** होता है ॥४॥

भावार्थ—महामहिमाशाली जगदीश्वर ही सूर्य, विद्युत्, बादल, पवन आदि को साधन बनाकर सब प्राकृतिक नियमों का संचालन कर रहा है ॥४॥

अगले मन्त्र में 'गौः' शब्द द्वारा भूमि, गाय, वाणी, विद्युत् आदि के गुण-कर्म वर्णित हैं। इन्द्र से रचे गये भूमि आदि के वर्णन से रचयिता इन्द्र की ही स्तुति होती है, इस दृष्टि से मन्त्र का देवता इन्द्र है।

१४९. गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्।
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥५॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** भूमि के पक्ष में। **मघोनाम्** ऐश्वर्यवान् **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो अन्न प्रदान करना चाहती हुई **माता** माता **गौः** भूमि **धयति** वर्षाजल को पीती है। **युक्ता** सूर्य से सम्बद्ध वह **रथानाम्** गतिमान् अग्नि, वायु, जल, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिकों को **वह्निः** एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाली होती है।

द्वितीय—गाय के पक्ष में। **मघोनाम्** यज्ञ रूप ऐश्वर्य से युक्त **मरुताम्** यजमान मनुष्यों को **श्रवस्युः** दूध-घी प्रदान करना चाहती हुई **माता गौः** गौ माता के तुल्य गाय **धयति** स्वच्छ जल पीती है। **युक्ता** यज्ञ के लिए नियुक्त वह **रथानाम्** यज्ञ-रूप रथों की **वह्निः** चलानेवाली होती है।

तृतीय—विद्युत् के पक्ष में। **मघोनाम्** साधनवान् **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो धन प्रदान करना चाहती हुई **माता** निर्माण करनेवाली **गौः** अन्तरिक्ष में स्थित विद्युत् **धयति** मेघ के जलों को पीती

१. ऋ० ६।५७।४ देवते इन्द्रापूषणौ। 'भुवत्' इत्यत्र 'भवत्' इति पाठः।
२. ऋ० ८।९४।१, देवता मरुतः।

है। और **युक्ता** शिल्पकर्म में प्रयुक्त हुई वह **रथानाम्** कलायन्त्र, भूयान, जलयान, विमान आदिकों की **वह्निः** चलानेवाली होती है।

चतुर्थ—वाणी के पक्ष में। **मघोनाम्** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि के ऐश्वर्य से युक्त **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो अन्न, धन, विद्या, कीर्ति आदि प्रदान करने की इच्छुक **माता गौः** माता वेदवाणी **धयति** ज्ञानरस का पान कराती है। **युक्ता** अध्ययन-अध्यापन में उपयोग लायी हुई वह **रथानाम्** रमणीय आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मवर्चस आदि की **वह्निः** प्राप्त करानेवाली होती है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'श्रवस्युः—मानो अन्न, धन, कीर्ति आदि प्राप्त कराना चाहती हुई' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ॥५॥

भावार्थ—इन्द्र परमात्मा से रची हुई भूमि, गाय, विद्युत्, वेदवाणी रूप गौओं का उपयोग लेकर सबको आध्यात्मिक, शारीरिक, भौतिक, वैज्ञानिक, याज्ञिक, सामाजिक और राष्ट्रिय उन्नति करनी चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा को और बालक के माता-पिता आचार्य को कहते हैं।

१५०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥६॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **मदानां पते** आनन्दों के अधिपति परमात्मन्! आप **नः** हमारे **हरिभिः** ज्ञान को आहरण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पन्न किये ज्ञान को **उप याहि** प्राप्त हों। **नः** हमारे **हरिभिः** कर्म को आहरण करने वाली कर्मेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पादित कर्म को **उप याहि** प्राप्त हों।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। हे **मदानां पते** हर्षप्रदायक ज्ञानों के अधिपति, विविध विद्याओं में विशारद आचार्यप्रवर! आप **हरिभिः** ज्ञान का आहरण करानेवाले अन्य गुरुजनों के साथ **नः** हमारे **सुतम्** गुरुकुल में प्रविष्ट पुत्र के **उप याहि** पास पहुँचिए। **हरिभिः** दोषों को हरने वाले अन्य गुरुओं के साथ **नः** हमारे **सुतम्** गुरुकुल में प्रविष्ट पुत्र के **उप याहि** पास पहुँचिए ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, 'उप नः हरिभिः सुतम्' की आवृत्ति में पादावृत्ति यमक है ॥६॥

भावार्थ—उपासक लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक कर्म में यदि आप व्याप्त हो जाते हैं, तभी हमारा जीवन-यज्ञ सफल होगा। और अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कर माता-पिता कुलपति से प्रार्थना करते हैं कि आप विद्याओं को पढ़ाने और चरित्र-निर्माण के लिए अन्य गुरुजनों सहित कृपा करके प्रतिदिन हमारे पुत्र के साथ सान्निध्य करते रहना ॥६॥

अगले मन्त्र में यजमानों का व्यवहार वर्णित है।

१५१. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे।
अच्छावभृथमोजसा ॥७॥[2]

१. ऋ० ८।९३।३१, ऋषिः सुकक्षः। साम० १७९०।

२. ऋ० ८।९३।२३, ऋषिः सुकक्षः,। 'वृधन्तो' इत्यत्र 'वृधासो' इति पाठः।

पदार्थ—अध्वरे हिंसादि दोषों से रहित अग्निहोत्र में, जीवन-यज्ञ में अथवा उपासना-यज्ञ में **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली, दुःखविदारक, मुक्तिदायक परमात्मा को **वृधन्तः** बढ़ाते हुए अर्थात् उत्तरोत्तर हृदय में विकसित करते हुए यजमानगण **ओजसा** बलपूर्वक अर्थात् पूरे प्रयास से **अवभृथम् अच्छ** यज्ञान्त स्नान को लक्ष्य करके अर्थात् हम शीघ्र यज्ञ को पूर्ण करके यज्ञान्त स्नान करें इस बुद्धि **से इष्टाः** अभीष्ट **होत्राः** आहुतियों को **असृक्षत** छोड़ते हैं।

यहाँ यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिए कि राष्ट्रयज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए पूरे प्रयत्न से राजा को बढ़ाते हुए अर्थात् अपने सहयोग से शक्तिशाली करते हुए प्रजाजन राष्ट्र के लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं ॥७॥

भावार्थ—अग्निहोत्र, जीवनयज्ञ, ध्यानयज्ञ, राष्ट्रयज्ञ, सभी यज्ञ आहुति देने से, परार्थ त्याग करने से या आत्मबलिदान करने से पूर्णता को प्राप्त होते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में उपासक अपनी उपलब्धि का वर्णन कर रहा है।

३ २उ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १र २र
अहं सूर्य इवाजनि ॥८॥[1]

पदार्थ—अहम् मैंने **इत् हि** सचमुच **पितुः परि** पिता इन्द्र परमेश्वर से **ऋतस्य मेधाम्** सत्याचरण की मेधा को अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा को **जग्रह** ग्रहण कर लिया है। उससे प्रकाशमान हुआ **अहम्** अध्यात्म-पथ का पथिक मैं **सूर्यः इव** सूर्य के समान **अजनि** हो गया हूँ ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—पिता परमेश्वर की उपासना से मनुष्य सत्यज्ञान, सत्य आचरण और ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करके सूर्य के समान प्रकाशमान होकर मुक्ति उपलब्ध कर सकता है ॥८॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा और राजा के संरक्षण में सब सुखी हों।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५३. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥९॥[2]

पदार्थ—नः हमारी **रेवतीः** प्रशस्त ऐश्वर्य वाली प्रजाएँ **सधमादे** जिसके साथ रहते हुए लोग आनन्द प्राप्त करते हैं ऐसे **इन्द्रे** परमैश्वर्यशाली परमात्मा और राजा के आश्रय में **तुविवाजाः** बहुत बल और विज्ञान से सम्पन्न **सन्तु** होवें, **याभिः** जिन प्रजाओं के साथ **क्षुमन्तः** प्रशस्त अन्नादि भोग्य सामग्री से सम्पन्न, प्रशस्त निवास से सम्पन्न और प्रशस्त कीर्ति से सम्पन्न हम **मदेम** आनन्दित हों ॥९॥

भावार्थ—सब प्रजाजनों को चाहिए कि वे इन्द्रनामक परमात्मा और राजा के मार्गदर्शन में सब कार्य करें, जिससे वे रोग, भूख, अकालमृत्यु आदि से पीडित न हों, प्रत्युत सब सात्त्विक खाद्य, पेय आदि पदार्थों को और बल, विज्ञान आदि को प्राप्त करते हुए समृद्ध होकर अधिकाधिक आनन्द को उपलब्ध करें ॥९॥

---

१. ऋ० ८।६।१०, अथ० २०।११५।१, उभयत्र 'जग्रह' इत्यस्य स्थाने 'जग्रभ' इति पाठः। साम० १५००।

२. ऋ० १।३०।१३, अथ० २०।१२२।१, साम० १०८४।

अगले मन्त्र में सोम और पूषा के गुण-कर्मों के वर्णन द्वारा इन्द्र परमेश्वर की महिमा प्रकट की गयी है।

१५४. सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥१०॥

पदार्थ—**सोमः पूषा च** चन्द्रमा और सूर्य अथवा मन और आत्मा **विश्वासाम् सुक्षितीनाम्** सब उत्कृष्ट प्रजाओं का **चेततुः** उपकार करना जानते हैं, वे **देवत्रा** विद्वज्जनों में **रथ्योः** रथारूढों के समान उन्नति के लिए प्रयत्नशील गुरु-शिष्य, माता-पिता, पिता-पुत्र, पत्नी-यजमान, स्त्री-पुरुष, शास्य-शासक आदि के **हिता** हितकारी होते हैं ॥१०॥

भावार्थ—इन्द्र नामक परमेश्वर की ही यह महिमा है कि उसकी रची हुई सृष्टि में सौम्य चन्द्रमा और तैजस सूर्य तथा मानव शरीर में सौम्य मन और तैजस आत्मा दोनों प्राण आदि के प्रदान द्वारा सब प्रजाओं का उपकार करते हैं। जैसे रथारूढ रथस्वामी और सारथि अथवा रानी और राजा क्रमशः मार्ग को पार करते चलते हैं, वैसे ही जो भी गुरु-शिष्य, माता-पिता, पिता-पुत्र, पत्नी-यजमान, स्त्री-पुरुष, शास्य-शासक आदि उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं उनके लिए पूर्वोक्त दोनों चन्द्र-सूर्य और मन-आत्मा परम हितकारी होते हैं ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र और इन्द्र द्वारा रचित भूमि, गाय, वेदवाणी, चन्द्र, सूर्य आदि का महत्त्व वर्णित होने से और इन्द्र के पास से ऋत की मेधा की प्राप्ति का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

द्वितीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त।

॥७॥ अथ 'पान्तमा वो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,४ श्रुतकक्षः; २ वसिष्ठः; ३ मेधातिथि-प्रियमेधौ; ५ इरिम्बिठिः; ६,१० मधुच्छन्दाः, ७ त्रिशोकः; ८ कुसीदी; ९ शुनःशेपः ॥

देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र के महिमागान के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

१५५. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो! **वः** तुम **अन्धसः** भोग्य वस्तुओं के **आ पान्तम्** सब ओर से रक्षक, **विश्वासाहम्** समस्त शत्रुओं के विजेता, **शतक्रतुम्** बहुत बुद्धिमान्, बहुत कर्मण्य, बहुत से यज्ञों को करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों को **मंहिष्ठम्** अतिशय दान करने वाले **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली वीर परमात्मा और राजा को **अभि** लक्षित करके **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गान करो अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करो ॥१॥

---

१. प्रथमायामृचि ७+८+८+७=३० इत्यक्षरसंख्यायां सामान्यतोऽनुष्टुप्छन्दसि स्वीकर्तव्येऽपि गायत्रीप्रकरणत्वादेषा गायत्री एवाभिमता। सेयं चतुष्पदा त्रिंशदक्षरा गायत्री। ऋ० ८।९२।१, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा, छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

इस मन्त्र में श्लेष और परिकर अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को योग्य है कि वे जगत् के रक्षक, समस्त काम-क्रोधादि रिपुओं के विजेता, असंख्य प्रज्ञाओं, असंख्य कर्मों और असंख्य यज्ञों से युक्त, सब मनुष्यों को विद्या, धन, धर्म आदि का अतिशय दान करने वाले परमात्मा के और राष्ट्र के रक्षक, शत्रु-सेनाओं को हराने वाले, विद्वान्, कर्मठ, अनेक यज्ञों के याज्ञिक, प्रजाओं को अतिशय विद्या, आरोग्य, धन आदि देने वाले राजा के प्रति उनके गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करने वाले स्तुति-गीत और उद्बोधन-गीत गायें ॥१॥

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र के प्रति स्तोत्र-गान के लिए प्रजाओं को प्रेरित किया गया है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
१५६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥२॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **सखायः** साथियो! **वः** तुम **हर्यश्वाय** जिसके द्वारा रचित घोड़े पशु या सूर्य-चन्द्र-वायु-बादल-प्राण आदि बड़े वेगवान् हैं ऐसे, **सोमपाव्ने** भक्तिरूप सोमरस का पान करने वाले और चन्द्रादि लोकों के रक्षक **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **मादनम्** आनन्ददायक तृप्तिकारी स्तोत्र को **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गाओ ॥२॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **सखायः** मित्रभूत प्रजाजनो! **वः** तुम **हर्यश्वाय** जिसके अश्वयान, अग्नियान, वायुयान, विद्युत्-यान आदि बहुत वेगवान् हैं उस **सोमपाव्ने** राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र के रक्षक, और यज्ञ के रक्षक **इन्द्राय** ऐश्वर्यशाली शत्रुविदारक राजा के लिए **मादनम्** हर्षप्रद और उत्साहकारी उद्बोधन-गीत या विजयगीत **प्र गायत** भलीभाँति गान करो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—सब सखाओं को मिलकर परमेश्वर के प्रति स्तुति-गीत और प्रजाओं को मिलकर युद्धारम्भ, विजयोत्सव आदि में राजा के प्रति उद्बोधन-गीत तथा विजय-गीत लयपूर्वक गाने चाहिएं ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम परमात्मा की अर्चना करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५७. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥३॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन्! **त्वायन्तः** आपके पाने की कामना करते हुए **सखायः** आपके सखा **वयम् उ** हम उपासक लोग **तदिदर्थाः** आपके दर्शन को ही प्रयोजन मानते हुए **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं। न केवल हम, प्रत्युत **कण्वाः** सभी मेधावी जन **उक्थेभिः** स्तोत्रों से आपकी **जरन्ते** स्तुति करते हैं ॥३॥

भावार्थ—हे परमानन्दप्रदायक परमेश्वर! आपके दर्शनों की लालसा वाले हम सभी बड़ी उत्सुकता से आपकी चाहना करते हैं और बार-बार भक्ति से गद्गद होकर आपकी स्तुति करते हैं ॥३॥

---

१. ऋ० ७।३१।१, साम० ७१६।
२. ऋ० ८।२।१६, साम० ७१९, अथ० २०।१८।१।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की अर्चना का विषय है।

१५८. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥४॥[1]

पदार्थ—**मद्वने** आनन्दमय **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **सुतम्** अभिषुत भक्तिरूप सोमरस को **नः** हमारी **गिरः** वाणियाँ **परिष्टोभन्तु** तरंगित करें। **अर्कम्** उस अर्चनीय देव की **कारवः** अन्य स्तोता जन भी **अर्चन्तु** मिलकर अर्चना करें ॥४॥

भावार्थ—आनन्द प्राप्त करने की कामना वाला मैं प्रेमरस से परिप्लुत हृदय वाला होकर परमानन्दमय परमात्मा के लिए जिन भक्तिरसों को प्रवाहित कर रहा हूँ उनमें मेरी स्तुति-वाणियाँ मानो तरंगें उत्पन्न कर रही हैं। अन्य स्तोता जन भी उसी प्रकार परमात्मा की अर्चना करें जिससे सारा ही वातावरण भक्तिमय और संगीत से तरंगित हो जाए ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को रसपान के लिए बुलाया जा रहा है।

१५९. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥५॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **अयम्** यह **सोमः** श्रद्धारस **तुभ्यम्** तेरे लिए **बर्हिषि अधि** हृदयरूप अन्तरिक्ष में **निपूतः** पूर्णतः पवित्र कर लिया गया है। **एहि** आ, **ईम्** इसके प्रति **द्रव** दौड़, **अस्य** इसके भाग को **पिब** पान कर ॥५॥

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल पवित्र होता है वैसे ही हृदयान्तरिक्ष में स्थित श्रद्धा-रस को तेरे भक्त मैंने पूर्णतः पवित्र कर लिया है। उस मेरे पवित्र श्रद्धा-रस का पान करने के लिए तू शीघ्र ही आ और उत्कंठित होकर पी, जिससे मैं कृतार्थ हो जाऊँ। यहाँ परमात्मा के सर्वव्यापक और निरवयव होने के कारण उसमें शीघ्र आने, पीने आदि का व्यवहार नहीं घट सकता, इसलिए आगमन का अर्थ प्रकट होना तथा पीने का अर्थ स्वीकार करना लक्षणावृत्ति से समझना चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा और आचार्य को बुलाया जा रहा है।

१६०. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥६॥[3]

पदार्थ—हम उपासक लोग, प्रजाजन अथवा शिष्यगण **सुरूपकृत्नुम्** सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति आदि सुरूप कर्मों के कर्ता परमात्मा को, प्रजापालन-राष्ट्रनिर्माण आदि सुरूप कर्मों के कर्ता राजा को और विद्याप्रदान-सदाचारनिर्माण आदि सुरूप कर्मों के कर्ता आचार्य को **ऊतये** क्रमशः उपासना के फल की प्राप्ति के लिए, राष्ट्ररक्षा के लिए और विद्याप्राप्ति के लिए **द्यविद्यवि** प्रतिदिन **जुहूमसि** पुकारते हैं, **गोदुहे** गाय दुहने वाले गोदुग्ध के इच्छुक मनुष्य के लिए **सुदुघाम् इव** जैसे दुधारू गाय को बुलाया जाता है ॥६॥

१. ऋ० ८।९२।१९, अथ० २०।११०।१, उभयत्र ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा। साम० ७२२।
२. ऋ० ८।१७।११, साम० ७२५, अथ० २०।५।५।
३. ऋ० १।४।१, अथ० २०।५७।१, ६८।१, साम० १०८७।

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे दूध के इच्छुक लोग दूध प्राप्त करने के लिए दुधारू गाय का बुलाते हैं, वैसे ही उपासक लोग उपासनाजन्य आनन्द की प्राप्ति के लिए परमात्मा को, प्रजाजन राष्ट्र की रक्षा के लिए राजा को और शिष्यजन विद्याग्रहण के लिए आचार्य को प्रतिदिन सत्कारपूर्वक बुलाया करें ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य को सम्बोधन कर कहा गया है।

१६१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **वृषभ** सुखशान्ति की वर्षा करने वाले परमात्मन्! **सुते** इस उपासना-यज्ञ में **पीतये** आपके पीने अर्थात् स्वीकार करने के लिए **सुतम्** निष्पादित भक्तिरस को **त्वा अभि** आपके प्रति **सृजामि** समर्पित करता हूँ, आप इससे **तृम्प** तृप्त हों। अपने भक्त को अपने प्रेम में डूबे हुए हृदय वाला देखकर **मदम्** आनन्द को **वि अश्नुहि** प्राप्त करें, जैसे पिता पुत्र को अपने प्रति श्रद्धालु देखकर प्रमुदित होता है।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। गुरुकुल में अपने बालक को आचार्य के हाथों में सौंपते हुए पिता कह रहा है—हे **वृषभ** ज्ञान-वर्षक आचार्यप्रवर! **सुते** इस अध्ययन-अध्यापन रूप सत्र के प्रवृत्त होने पर **पीतये** विद्यारस के पान के लिए **सुतम्** अपने पुत्र को **त्वा अभि** आपके प्रति **सृजामि** छोड़ता हूँ अर्थात् आपके अधीन करता हूँ। आगे पुत्र को कहता है—हे पुत्र! तू आचार्य के अधीन रहकर **तृम्प** ज्ञानरस से तृप्तिलाभ कर, **मदम्** आनन्दप्रद सदाचार को भी **वि अश्नुहि** प्राप्त कर, इस प्रकार आचार्य से विद्या की शिक्षा और व्रतपालन की शिक्षा ग्रहण करके विद्यास्नातक और व्रतस्नातक बन ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और 'सुते-सुतं' में छेकानुप्रास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर भूमि पर मेघ-जल और उपासकों के हृदय में सुख-शान्ति की वर्षा करता है, वैसे ही आचार्य शिष्य के हृदय में विद्या और सदाचार को बरसाता है। अतः सबको परमेश्वर की उपासना और आचार्य की सेवा करनी चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और राजा को कहा गया है।

१६२. य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः ।
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥८॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखप्रदाता परमात्मन् अथवा शक्तिशाली जीवात्मन्! **यः** जो यह **सोमः** भक्तिरस अथवा ज्ञानरस और कर्मरस **चमसेषु** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप चमसपात्रों में, और **चमूषु** प्राण-मन-बुद्धिरूप अधिषवणफलकों में **आ सुतः** चारों ओर से अभिषुत किया हुआ तैयार है, **तम्** उसे **पिब इत्** अवश्य पान कर, **अस्य** इस भक्तिरस का और इस ज्ञान एवं कर्म के रस का, हे परमात्मन् और हे जीवात्मन्! **त्वम्** तू **ईशिषे** अधीश्वर है ॥

१. ऋ० ८।४५।२२, अथ० २०।२२।१, साम० ७३१।
२. ऋ० ८।८२।७।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रु को दलन करने में समर्थ पराक्रमशाली राजन्! **यः** जो यह **ते** आपके **चमसेषु** मेघों के समान ज्ञान की वर्षा करने वाले ब्राह्मणों में, और **चमूषु** आपकी क्षत्रिय सेनाओं में **सोमः** क्रमशः ब्रह्मरूप और क्षत्ररूप सोमरस **आसुतः** अभिषुत है, उसका **पिब इत्** अवश्य पान कीजिए अर्थात् आप भी ब्रह्मबल और क्षत्रबल से युक्त होइए। **अस्य** इस ब्रह्मक्षत्ररूप सोम के **त्वम्** आप **ईशिषे** अधीश्वर हो जाइए ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा स्तोताओं के भक्तिरूप सोमरस को, जीवात्मा ज्ञान और कर्मरूप सोमरस को तथा राजा ब्रह्म-क्षत्र-रूप सोम-रस को यदि ग्रहण कर लें, तो स्तोताओं, जीवों और राष्ट्रों का बड़ा कल्याण हो सकता है ॥८॥

अगले मन्त्र में आत्मरक्षा के लिए इन्द्र को पुकारा जा रहा है।

१ २ ३१ २३ १ २
१६३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
१ २३ १२३ १२
सखाय इन्द्रमूतये ॥९॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **योगे योगे** योग के विभिन्न स्तरों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक- निर्विकल्पक समाधि में **तवस्तरम्** क्रमशः बढ़ने वाले, योग-विघ्नों को नष्ट करने वाले तथा साधक की उन्नति करने वाले **इन्द्रम्** सिद्धिप्रदायक परमेश्वर को **सखायः** हम साथी योगी-जन **वाजे वाजे** प्रत्येक आन्तरिक देवासुर-संग्राम में **ऊतये** रक्षा वा विजय-प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें॥

द्वितीय सेनाध्यक्ष के पक्ष में। **योगे योगे** राष्ट्र के प्रत्येक अप्राप्त की प्राप्तिरूप उत्कर्ष के निमित्त **तवस्तरम्** अतिशय क्रियाशील, बलवृद्ध, विघ्नविनाशक **इन्द्रम्** दुष्ट शत्रुओं के विदारक, विजय-प्रद, धार्मिक, वीर सेनाध्यक्ष को **सखायः** परस्पर सखिभाव से निवास करते हुए हम प्रजाजन **वाजे वाजे** प्रत्येक युद्ध में **ऊतये** रक्षा और विजय की प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें, उद्बोधन दें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'योगे योगे, वाजे वाजे' इस आवृत्ति में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—योगाभ्यास करते हुए मनुष्य के सम्मुख व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि बहुत से विघ्न आते हैं। ईश्वरप्रणिधान या प्रणवजप से वे हटाये जा सकते हैं। इसलिए जब-जब हमारे अन्तःकरण में देवासुर-संघर्ष प्रवृत्त होता है, तब-तब हम विघ्नों को पराजित करने और योगसिद्धि को प्राप्त करने के लिए बलवृद्ध परमेश्वर को पुकारते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में भी जब-जब शत्रुओं का आक्रमण होता है तब-तब उन्हें जीतने के लिए और राष्ट्र की रक्षा के लिए हम शूरवीर सेनापति को उद्बोधन दें, जिससे राष्ट्र शत्रुरहित और उन्नतिशील हो ॥९॥

अगले मन्त्र में स्तुतिगीत गाने के लिए सखाओं को निमन्त्रित किया गया है।

२उ ३ १ २ ३ १ २३ १र २र
१६४. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
१ २ ३ १२
सखायः स्तोमवाहसः ॥१०॥[2]

---

१. ऋ० १।३०।७, य० ११।१४, अथ० २०।२६।१, साम० ७४३।
२. ऋ० १।५।१, अथ० २०।६८।११, साम० ७४०।

पदार्थ—हे **स्तोमवाहसः** उपास्य के प्रति स्तोत्रों को ले जाने वाले अथवा जनता का नेतृत्व करने वाले **सखायः** मित्रो ! तुम **तु** शीघ्र ही **आ इत** आओ, **आ निषीदत** आकर उपासना के लिए अथवा राष्ट्रोत्थान के लिए बैठो, **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान्, दुःखविदारक, सुखप्रद परमात्मा को और राष्ट्र को **अभि** लक्ष्य करके **प्र गायत** गीत गाओ ॥१०॥

भावार्थ—सबको उपासनागृह में एकत्र होकर दुःखभंजक, सुखोत्पादक इन्द्र परमेश्वर के प्रति सामगीत गाने चाहिएँ और राष्ट्रोत्थान के लिए कृतसंकल्प होकर तथा कमर कसकर राष्ट्रगीत गाने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से परमात्मा के गुणवर्णनपूर्वक उसके प्रति स्तुतिगीत गाने के लिए और उसे भक्तिरस एवं कर्मरस रूप सोम अर्पित करने के लिए प्रेरणा होने से तथा उपासकों द्वारा उसका आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥१०॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।

द्वितीय अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥८॥ अथ 'इदं ह्यन्वोजसा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १ विश्वामित्रः, २ मधुच्छन्दाः; ३ कुसीदी काण्वः; ४ प्रियमेधः; ५, ८ वामदेवः; ६, ९ श्रुतकक्षः; ७ मेधातिथिः; १० बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है ।

१६५. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।
पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **राधानां पते** आध्यात्मिक तथा भौतिक धनों के स्वामी परमात्मन् ! **इदं हि** यह भक्ति और कर्म का सोमरस **ओजसा** सम्पूर्ण बल और वेग के साथ **अनुसुतम्** हमने अनुक्रम से अभिषुत किया है । हे **गिर्वणः** वाणियों द्वारा संभजनीय और याचनीय देव ! आप **तु** शीघ्र ही **अस्य** इस मेरे भक्तिरस को और कर्मरस को **पिब** स्वीकार करें ॥१॥

भावार्थ—हे परमेश्वर ! आप आध्यात्मिक और भौतिक सकल ऋद्धि-सिद्धियों के परम अधिपति हैं । आपके पास किसी वस्तु की कमी नहीं है, तो भी हमारे प्रति प्रेमाधिक्य के कारण ही आप हमारे प्रेमोपहार को स्वीकार करते हैं । हे देव ! आपके लिए हमने सम्पूर्ण बल के साथ भक्तिरस और कर्मरस तैयार किया है । उसे स्वीकार कर हमें अनुगृहीत कीजिए ॥१॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा के महत्त्व का वर्णन है ।

१६६. महाँ इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥२॥[2]

---

१. ऋ० ३।५१।१०, साम० ७३७ ।
२. ऋ० १।८।५, अथ० २०।७१।१ । उभयत्र 'पुरश्च नो' इत्यत्र 'परश्च नु' इति पाठः ।

पदार्थ—**इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, दुःखविदारक सुखशान्तिप्रदाता परमेश्वर वा राजा **महान्** अतिशय महान् है, **च** और वह **नः** हमारे **पुरः** समक्ष ही है । **वज्रिणे** उस न्यायदण्डधारी का **महित्वम्** महिमागान, जयजयकार **अस्तु** हो । **शवः** उसका बल **प्रथिना** विस्तार **में द्यौः न** विस्तीर्ण सूर्यप्रकाश के समान है ॥२॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—न्यायकारी, परमबली परमेश्वर और राजा का यशोगान करके स्वयं भी सबको न्यायकारी और बलवान् बनना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

१६७. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली राजन् ! **महाहस्ती** बड़ी सूँड वाले हाथी के समान विशाल भुजा वाले आप **तु** शीघ्र ही **दक्षिणेन** दाहिने हाथ से **नः** हमारे लिए अर्थात् हमें दान करने के लिए **क्षुमन्तम्** प्रशस्त अन्नों से युक्त **चित्रम्** आश्चर्यकारी **ग्राभम्** ग्राह्य धन को **आ** चारों ओर से **संगृभाय** संग्रह कीजिए ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! आप **तु** शीघ्र ही **नः** हमें देने के लिए **क्षुमन्तम्** भौतिक धन, अन्न आदि से युक्त **चित्रम्** अद्भुत **ग्राभम्** ग्राह्य अध्यात्मसम्पत्ति रूप धन को **संगृभाय** संगृहीत कीजिए, जैसे **महाहस्ती** विशाल भुजाओं वाला कोई मनुष्य **दक्षिणेन** अपने दाहिने हाथ से वस्तुओं का संग्रह करता है, अथवा, जैसे **महाहस्ती** प्रशस्त किरणों वाला हिरण्यपाणि सूर्य **दक्षिणेन** अपने समृद्ध किरणजाल से भूमि पर स्थित जलों का संग्रह करता है, अथवा, जैसे **महाहस्ती** विशाल हाथी **दक्षिणेन** अपने बलवान् सूंड-रूप हाथ से विविध वस्तुओं का संग्रह करता है ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'महाहस्ती' में लुप्तोपमा है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा सब प्रजाजनों को पुरुषार्थी करके प्रचुर धन-धान्य से सम्पन्न, विद्यावान्, धार्मिक और योगविद्या के ऐश्वर्य से युक्त करें ॥३॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को प्रेरणा की गयी है ।

१६८. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **गोपतिम्** सूर्य, पृथिवी आदि लोकों के अथवा राष्ट्रभूमि के स्वामी और पालनकर्ता, **सत्यस्य सूनुम्** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म के प्रेरक, **सत्पतिम्** सज्जनों के रक्षक एवं दुष्टों को दण्ड देने वाले **इन्द्रम्** परमात्मा और राजा को **अभि** लक्ष्य करके **गिरा** वाणी से **प्र अर्च** भलीभाँति स्तुति कर अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन कर, **यथा** जैसे वे **विदे** उस स्तुति को जान लें ॥४॥

---

१. ऋ० ८।८१।१, साम० ७२८ ।
२. ऋ० ८।६९।४, साम १४८६, अथ० २०।२२।४, ९२।१ ।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे विविध गुणगणों से विभूषित परमेश्वर और राजा को लक्ष्य करके उनके यथार्थ गुण-कर्म-स्वभावों का ऐसा वर्णन करें कि वे उसे जान लें, क्योंकि स्तोतव्य की स्तुति तभी फलदायक होती है जब वह उसके अन्तःकरण को छू लेती है ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नामक परमेश्वर और राजा की कृपा का वर्णन किया गया है।

१६९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥[1]

पदार्थ—**चित्रः** अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला वह इन्द्रनामक परमेश्वर और राजा **कया** कैसी अद्भुत **ऊती** रक्षा के द्वारा, और **कया** कैसी अद्भुत **शचिष्ठया** अतिशय बुद्धिपूर्ण **वृता** विद्यमान क्रिया के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः** सदा बढ़ाने वाला **सखा** सखा **आ भुवत्** बना हुआ है ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अपनी विलक्षण रक्षा से और विलक्षण क्रियाशक्ति से सबकी रक्षा और उपकार करता है, वैसे ही राजा प्रजाजनों का रक्षण और उपकार करे ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा के वरण का विषय है।

१७०. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
आ च्यावयस्यूतये ॥६॥[2]

पदार्थ—हे स्तोता ! तू **सत्रासाहम्** जो सत्य को ही सहन करता है, असत्य को नहीं, अथवा जो सत्य से शत्रुओं को परास्त करता है ऐसे **विश्वासु** सब **गीर्षु** वेदवाणियों में **आयतम्** विस्तीर्ण **त्यम्** उस इन्द्र नामक वीर परमेश्वर और राजा को **वः** वरण कर, स्वात्मशासन और राष्ट्रशासन के लिए चुन, और **ऊतये** रक्षा के लिए **आ च्यावयसि** स्वाभिमुख प्रेरित कर ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे राष्ट्र की प्रगति और रक्षा के लिए सुयोग्य राजा को चुनना आवश्यक होता है, वैसे ही अपने आत्मा की प्रगति और रक्षा के लिए सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले परमात्मा को वरण करना चाहिए ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, सभाध्यक्ष राजा और आचार्य से मेधा की याचना की गयी है।

१७१. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥[3]

---

१. ऋ० ४।३१।१, य० २७।३९, ३६।४, साम० ६८२, अथ० २०।१२४।१।

२. ऋ० ८।९२।७, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।

३. ऋ० १।१८।६, देवता सदसस्पतिः, य० ३२।१३ ऋषिः मेधाकामः, अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** आश्चर्यमय गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **इन्द्रस्य** शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** उपासकों के स्पृहणीय, **सनिम्** कृत पाप-पुण्य-रूप कर्मों के फलप्रदाता **सदसः पतिम्** हृदयरूप अथवा ब्रह्माण्डरूप यज्ञसदन के स्वामी परमात्मा से **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **अयासिषम्** माँगता हूँ ॥

द्वितीय सभाध्यक्ष के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले, इसीलिए **इन्द्रस्य** परमात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** सब प्रजाजनों द्वारा चाहने योग्य, **सनिम्** राष्ट्र में धन का संविभाग करने वाले, प्रजाओं को सत्कर्मों का पुरस्कार देनेवाले और असत्कर्मों का यथायोग्य दण्ड देने वाले **सदसः पतिम्** राष्ट्रसभा के अध्यक्ष राजा से **मेधाम्** विद्याप्रचार और धन की **अयासिषम्** याचना करता हूँ ॥

तृतीय आचार्य के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** ज्ञान-विज्ञान के अद्भुत भण्डार, **इन्द्रस्य** विद्याप्रचारक राजा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** सब विद्यार्थियों द्वारा चाहने योग्य, **सनिम्** विविध विद्याओं और व्रतों के दाता **सदसः पतिम्** विद्यार्थी-कुल के अध्यक्ष आचार्य से **मेधाम्** विद्याबोध की **अयासिषम्** याचना करता हूँ ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जो मनुष्य अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाले, अद्भुत ज्ञानविज्ञान की राशि, न्यायकारी, प्रिय परमात्मा, सभाध्यक्ष राजा और आचार्य की शरण में जाते हैं, वे मेधावी, शास्त्रवेत्ता, पुण्यकर्ता और धनवान् होकर सुखी होते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि सब प्रजाएँ आकाशमार्गों को, पृथिव्यादिलोकों के भ्रमण की विद्या को और विमानादि की विद्या को भलीभाँति जानें।

२ ३ १ २ ३ २ ३२उ ३क २र ३ १ २
१७२. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः।
३ १ २ ३ १ २
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥८॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे इन्द्र ! लोकलोकान्तरों के व्यवस्थापक परमेश्वर ! **ये** जो **ते** आपके रचे हुए **पन्थाः** मार्ग **दिवः** द्युलोक के **अधः** नीचे, अन्तरिक्ष में हैं **येभिः** जिनसे **व्यश्वम्** बिना घोड़ों के चलने वाले पृथिवी, चन्द्र, मंगल, बुध आदि ग्रहोपग्रहसमूह को **ऐरयः** आप चलाते हो, उन मार्गों को **नः** हमारी **भुवः** भूलोकवासी प्रजाएँ भी **श्रोषन्तु** सुनें, और सुनकर जानें।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे इन्द्र राजन् ! **ये** जो **ते** आपके निर्धारित **पन्थाः** आकाश-मार्ग **दिवः** द्युलोक से **अधः** नीचे अर्थात् भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में हैं, **येभिः** जिन **व्यश्वम्** बिना घोड़ों से चलने वाले भूयान, जलयान और विमानों को **ऐरयः** आप चलवाते हैं, उन भूमि-समुद्र-आकाश के मार्गों के विषय में **नः** हमारी **भुवः उत** जन्मधारी राष्ट्रवासी प्रजाएँ भी **श्रोषन्तु** वैज्ञानिकों के मुख से सुनें, और सुनकर भूयान, जलयान, विमान, कृत्रिम उपग्रह आदि के बनाने और चलाने की विद्या को भली-भाँति जानें ॥८॥

---

१. अथ० ७।५५।१। ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो। इति पाठः। ऋषिः भृगुः, छन्दः **विराट् परोष्णिक्।**

अन्तरिक्ष मार्गों का वर्णन अथर्ववेद के एक मन्त्र में इस प्रकार है—"जो विद्वान् लोगों के यात्रा करने योग्य बहुत से मार्ग द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में बने हुए हैं, वे मुझे सुलभ हों, जिससे मैं उनसे यात्रा करके विदेशों में दूध-घी बेचकर धन इकट्ठा करके लाऊँ, (अथ० ३।१५।२)। समुद्र और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों का वर्णन भी वेद में बहुत स्थलों पर मिलता है, जैसे "हे ब्रह्मचर्य द्वारा परिपुष्ट युवक ! जो तेरे लिए सोने-जैसी उज्ज्वल नौकाएँ अर्थात् नौका जैसी आकृति वाले जलपोत और विमान समुद्र में और अन्तरिक्ष में चलते हैं, उनके द्वारा यात्रा करके तू सूर्यपुत्री उषा के तुल्य ब्रह्मचारिणी कन्या को विवाह द्वारा प्राप्त करने के लिए जाता है (ऋ० ६।५८।३)। बिना घोड़ों के चलने वाले वेगवान् यान का वर्णन वेद में अन्यत्र भी है, यथा—"एक तीन पहियों वाला रथ है, जिसमें न घोड़े जुते हैं, न लगामें हैं, जो बड़ा प्रशंसनीय है और जो आकाश में किसी लोक की परिक्रमा करता है" (ऋ० ४।३६।१)।

भावार्थ—परमेश्वर अन्तरिक्ष-मार्ग में सूर्य को और भूमण्डल-चन्द्रमा-मंगल-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनि आदि ग्रहोपग्रहों को जैसा चाहिए वैसा उनकी धुरी पर या उनकी अपनी-अपनी कक्षाओं में संचालित करता है, और राष्ट्र का कुशल राजा भूयान, जलयान, विमान, कृत्रिम उपग्रह आदिकों को कुशल वैज्ञानिकों के द्वारा चलवाता है। तद्विषयक सारी विद्या राष्ट्रवासियों को पढ़नी-पढ़ानी और प्रयोग करनी चाहिए ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से भद्र की प्रार्थना की गयी है।

१७३. भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो।
यदिन्द्र मृडयासि नः ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **शतक्रतो** अनन्त शुभ कर्मों को करने वाले प्रभु ! तुम **भद्रंभद्रम्** भद्र-भद्र **इषम्** अन्न, धन, विज्ञान आदि और **ऊर्जम्** बल, प्राण, रस आदि **नः** हमारे लिए **आ भर** लाओ। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दयानिधि परमात्मन् ! आप **नः** हमें **मृडयासि** सदा सुखी ही करते हो ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को भद्र-भद्र ही धन आदि का उपार्जन करके अपनी और दूसरों की उन्नति करनी चाहिए ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन सोम का पान करते हैं।

१७४. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः।
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥[2]

पदार्थ—हे मेरे आत्मारूप इन्द्र ! **अयम्** यह **सोमः** भक्तिरस, ज्ञानरस, कर्मरस, वीरतारस या सेवा आदि का रस **सुतः** अभिषुत **अस्ति** है। **मरुतः** शरीर में प्राण तथा राष्ट्र में वीर क्षत्रिय जन **उत** और **स्वराजः** शरीर में अपने तेज से शोभायमान मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा राष्ट्र में अपने ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान ब्राह्मणजन और **अश्विना** शरीर में अपने-अपने विषय में व्याप्त होने वाले

१. ऋ० ८।९३।२८, ऋषिः सुकक्षः।
२. ऋ० ८।९४।४, साम० १७८५।

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा राष्ट्र में कृषि-व्यापार एवं शिल्प में व्याप्त होने वाले वैश्य और शिल्पकार लोग **अस्य** इस पूर्वोक्त सोम रस का **पिबन्ति** यथायोग्य पान करते हैं ।।१०।।

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ।।१०।।

भावार्थ—शरीर में मन, बुद्धि, आत्मा, प्राण एवं इन्द्रिय रूप देव तथा राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शिल्पी रूप देव यथायोग्य भक्ति, ज्ञान, कर्म, वीरता, सेवा आदि के सोमरसों का पान करके ही जीवन-संग्राम में सफल होते हैं ।।१०।।

इस दशति में इन्द्रनामक परमेश्वर के प्रति सोम अभिषुत करने का, परमेश्वर की महिमा का और उससे समृद्धि, मेधा आदि की याचना का वर्णन होने से और परमेश्वर की अर्चना के लिए प्रेरणा होने से तथा उसके अधीन रहने वाले अन्य शारीरिक एवं राष्ट्रीय देवों के सोमपान का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
द्वितीय अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।।

।।६।। अथ 'ईङ्खयन्तीरपस्युव' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ इन्द्रमातरो देवजामयः; २ गोधा; ३ दध्यङ्ङाथर्वणः; ४ प्रस्कण्वः; ५ गोतमः; ६ मधुच्छन्दाः; ७ वामदेवः; ८ वत्सः; ९ शुनःशेपः; १० वातायन उलः ।। देवता—इन्द्रः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर की उपासना और राजा के अभिनन्दन का वर्णन है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१७५. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
३ १ २ ३ १ २
वन्वानासः सुवीर्यम् ।।१।।[1]

पदार्थ—**ईङ्खयन्तीः** हर्ष से उछलती हुई, **अपस्युवः** कर्म करने की अभिलाषा वाली प्रजाएँ **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य की **वन्वानासः** चाहना या याचना करती हुई **जातम् इन्द्रम्** हृदय में प्रादुर्भूत परमेश्वर की **उपासते** उपासना करती हैं, अथवा **जातम् इन्द्रम्** निर्वाचित तथा अभिषिक्त राजा का **उपासते** अभिनन्दन व सेवन करती हैं ।।१।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ।।१।।

भावार्थ—राष्ट्र की प्रजाएँ ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए जैसे राजा का सेवन करती हैं, वैसे ही उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए ।।१।।

अगले मन्त्र में प्रजाएँ अपने आचरण की शुद्धि के विषय में प्रतिज्ञा कर रही हैं ।

१ २ ३ १र २र
१७६. न किं देवा इनीमसि न क्या योपयामसि ।
३ १ २
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।।२।।[2]

---

१. ऋ० १०।१५३।१, अथ० २०।९३।४।
२. ऋ० १०।१३४।७, नकिर्देवा मिनीमसि नकिरायोपयामसि । पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभामहे ।। इति पाठः ।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् अथवा हे इन्द्र राजन् ! **देवाः** हे दिव्य ज्ञान और दिव्य आचरणवाले विद्वज्जनो ! हम **नकि** न तो **इनीमसि** हिंसा करते हैं **नकि** और न ही **आ योपयामसि** छल-छद्म करते हैं, अपितु **मन्त्रश्रुत्यम्** वेदमन्त्रों में निर्दिष्ट कर्त्तव्य का ही **चरामसि** पालन करते हैं और करते रहेंगे ।।२।।

इस मन्त्र में तीनों क्रियापदों का एक कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपकालंकार है । 'मसि' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।२।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को हिंसा, उपद्रव, चोरी आदि और छल-कपट-ठगी आदि छोड़कर वेदों के अनुसार पवित्र जीवन बिताना चाहिए ।।२।।

अगले मन्त्र में मनुष्य को परमात्मा और राजा की स्तुति के लिए प्रेरणा की गयी है ।

१७७. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण ।
स्तुहि देवं सवितारम् ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **द्युमद्गामन्** विद्यादिसद्गुणों से प्रकाशित आचरण वाले **आथर्वण** अचंचल वृत्ति वाले अतिशय स्थितप्रज्ञ विद्वन् ! देख, **दोषा उ** अज्ञान, मोह, दुर्व्यसन, दुराचार आदि की अँधियारी रात **आ अगात्** आ गयी है, इसलिए तू **बृहत्** बहुत अधिक **गाय** गान कर अर्थात् सदुपदेश, शुभ शिक्षा आदि के द्वारा धर्मवाणी को फैला, **देवम्** प्रकाशमय और प्रकाशक **सवितारम्** सद्विद्या आदि के प्रेरक इन्द्र प्रभु की **अर्च** अर्चना कर, अथवा **सवितारम्** सद्विद्या आदि के प्रेरक इन्द्र राजा को **अर्च** उद्बोधन दे ।। इस ऋचा का देवता इन्द्र होने से 'सविता' यहाँ इन्द्र का ही विशेषण जानना चाहिए ।।३।।

भावार्थ—जैसे गगन में उदित हुआ सूर्य अपनी किरणों से घनघोर अन्धकार वाली रात्रि को हटाकर सर्वत्र प्रकाश फैला देता है, वैसे ही मनुष्यों के हृदयों में प्रकट हुआ परमात्मा और राष्ट्र में राजा के पद पर अभिषिक्त हुआ वीर मनुष्य सर्वत्र व्याप्त अधर्म, अज्ञान, दुश्चरित्रता, दुराचार आदि की काली रात को विदीर्ण कर धर्म, विद्या, सच्चरित्रता आदि के उज्ज्वल प्रकाश को चारों ओर फैला देता है। अतः विद्वानों को चाहिए कि वे उस परमात्मा और राजा की उनके गुणों के वर्णन द्वारा पुनः पुनः स्तुति करें ।।३।।

अगले मन्त्र में रात्रि के हट जाने पर छिटकी हुई उषा का वर्णन किया गया है ।

१७८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ।।४।।[2]

पदार्थः—**एषा उ** यह **अपूर्व्या** अपूर्व, **प्रिया** प्रिय **उषाः** उषा के समान प्रकाशमयी धर्म, विद्या आदि की ज्योति **दिवः** द्युतिमान् इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, आचार्य या राजा के पास से उत्पन्न होकर **व्युच्छति** अधर्म, अज्ञान आदि रूप अन्धकार को विदीर्ण कर छिटक रही है। **अश्विना** हे प्राकृतिक उषा

१. अथ० ६।१।१ दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद् धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ।। इति पाठः। ऋषिः अथर्वा। देवता सविता।

२. ऋ० १।४६।१, देवते अश्विनौ। साम० १७२८।

से प्रकाशित द्यावापृथिवी के समान धर्म, ज्ञान आदि से प्रकाशित स्त्री-पुरुषो ! मैं **वाम्** तुम्हारी **बृहत्** बहुत अधिक **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ।।४।।

भावार्थ—पहले मन्त्र में रात्रि को दूर करने की प्रार्थना की गयी थी । सौभाग्य से उस हृदय-व्यापिनी, राष्ट्रव्यापिनी और विश्वव्यापिनी अधर्मरूपिणी या अविद्यारूपिणी रात्रि को हटाकर दिव्य प्रकाशमयी धर्मरूपिणी या विद्यारूपिणी उषा प्रकट हो गयी है । जैसे प्राकृतिक उषा के प्रादुर्भाव से द्यावा-पृथिवी प्रकाश से भर जाते हैं, वैसे ही इस धर्म, विद्या, सच्चरित्रता, आध्यात्मिकता आदि की ज्योति से परिपूर्ण दिव्य उषा के प्रकाश से स्त्री-पुरुष-रूप द्यावापृथिवी दिव्य दीप्ति से देदीप्यमान हो उठे हैं ।।४।।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि रात्रि में जो निशाचर प्रकट हो जाते हैं, उनका वध कैसे होता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१७९. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
३ १ २ ३ १र २र
जघान नवतीर्नव ।।५।।[1]

पदार्थ—**अप्रतिष्कुतः** आन्तरिक देवासुर-संग्राम में असुरों से प्रतिकार न किया गया अथवा असुरों के मुकाबले में पराजित न होता हुआ **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा व परमात्मा **दधीचः** ध्यान में संलग्न मन का **अस्थभिः** अस्थि-तुल्य सुदृढ़ सात्त्विक वृत्तियों से **नवतीःनव** निन्यानवे **वृत्राणि** घेरने वाले निशाचरों को **जघान** नष्ट कर देता है । निन्यानवे निशाचर हैं—दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, आठ चक्र, अन्तःकरण-चतुष्टय और शरीर इन तैंतीस साधनों से भूतकाल में किये गये, वर्तमान में किये जा रहे तथा भविष्य में किये जाने वाले पाप । उन सबको जीवात्मा और परमात्मा सावधान मन की सात्त्विक वृत्तियों से नष्ट कर देते हैं ।।५।।

भावार्थ—पूर्व के दो मन्त्रों में रात्रि का और उसके निवारणार्थ उषा के प्रादुर्भाव का क्रमशः वर्णन किया गया था । इस मन्त्र में रात्रियों में उत्पन्न होने वाले निशाचरों के विनाश का वर्णन है कि इन्द्र दध्यङ् की हड्डियों से उन्हें मार देता है । यह इन्द्र मनुष्य के शरीर में विद्यमान जीवात्मा और हृदय में स्थित परमात्मा है । दध्यङ् मन है । उस मन की सात्त्विक वृत्ति रूप हड्डियों से उन निशाचरों का वध हो जाता है ।।५।।

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार माधव ने इस प्रकार इतिहास प्रदर्शित किया है—"कालकंज नामक असुर थे । उन असुरों से सताये जाते हुए देव ब्रह्मा के समीप पहुँचकर बोले—भगवन्, कालकंज असुर हमें सता रहे हैं, उनके मारने का उपाय कीजिए । यह सुनकर उसने देवों को कहा—दधीचि नाम का ऋषि है, उसके पास जाकर उसे कहो, वह मारने का उपाय कर देगा । यह सुनकर वे वैसा ही करना स्वीकार करके उस दधीचि के समीप पहुँचकर बोले—भगवन्, हमारे अस्त्रों को असुरों का पुरोहित शुक्र चुरा लेता है, उससे उनकी रक्षा कीजिए । उस ऋषि ने उनसे कहा कि इन अस्त्रों को मेरे मुख में डाल दो । तब मरुद्गणों सहित इन्द्र आदि देवों ने अस्त्र उसके मुख में डाल दिये । फिर समय आने पर जब देवासुरसंग्राम उपस्थित हुआ तब ऋषि के पास पहुँच देव बोले—भगवन्, अब वे अस्त्र हमें दे दीजिए । तब ऋषि ने कहा—वे तो पच गये । अब वे पुनः नहीं मिल सकते । तब प्रजापति आदि देव

---

१. ऋ० १।८४।१३, अथ० २०।४१।१, साम० ९१३ ।

बोले—भगवन्, प्राणत्याग कर दीजिए। यह सुनकर उसने प्राणत्याग कर दिया। तब दधीचि की अस्थियों से इन्द्र ने वृत्रों का वध किया।

सायण ने शाटचायनियों का उल्लेख करते हुए उनके नाम से यह इतिहास लिखा है—अथर्वा के पुत्र दधीचि जब जीवित थे तब उनके देखने से ही असुर पराजित हो जाते थे। फिर जब वे स्वर्गवासी हो गये तब भूमि असुरों से भर गयी। तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में स्वयं को असमर्थ पाकर जब उस ऋषि की खोज की तब उसने सुना कि वे तो स्वर्ग चले गये। तब वहाँ के लोगों से पूछा कि क्या उन ऋषि का कोई अंग बचा हुआ है? उन लोगों ने उसे बतलाया कि उसका घोड़े वाला सिर अवशिष्ट है, जिस सिर से उसने अश्वि देवों को मधुविद्या का प्रवचन किया था, पर हम यह नहीं जानते कि वह कहाँ है। तब इन्द्र ने उनसे कहा कि उसे खोजो। उन्होंने उसे खोजा और शर्यणावत् सरोवर में, जो कुरुक्षेत्र के जघनार्ध में प्रवाहित होता है, उसे पाकर ले आये। उसके सिर की अस्थियों से इन्द्र ने असुरों का वध किया।

कुछ नवीन पात्रों को कल्पित कर पुराण, महाभारत आदियों में भी कुछ-कुछ भेद से इस प्रकार की कथाएँ वर्णित हैं। ये सब कथाएँ इसी मन्त्र को आधार बनाकर रची गयी हैं। वे वास्तविक नहीं, अपितु आलंकारिक ही जाननी चाहिएँ। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक क्षेत्रों में सर्वत्र ही देवासुरसंग्राम चल रहा है। मनुष्य के मन में दिव्य प्रवृत्तियों और आसुरी प्रवृत्तियों का संग्राम आध्यात्मिक क्षेत्र का संग्राम है, जैसा हमारे द्वारा कृत इस मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट है। इन्द्र परमेश्वर दध्यङ् सूर्य की अस्थियों से अर्थात् अस्थिसदृश किरणों से मेघों का और रोग आदियों का वध करता है, यह अधिदैवत व्याख्या है। इन्द्र राजा दध्यङ् सेनापति की अस्थियों अर्थात् अस्थियों के समान सुदृढ़ शस्त्रास्त्रों से शत्रुओं का संहार करता है, यह अधिभूत व्याख्या है। वेदों में दध्यङ् नाम के किसी ऐतिहासिक मुनिविशेष की गाथा का होना तो संभव ही नहीं है, क्योंकि वेद सभी ऐतिहासिक मुनियों से पूर्व ही विद्यमान थे और पूर्ववर्ती वेद में परवर्तियों का इतिहास कैसे हो सकता है?

ऋषि दयानन्द ने ऋग्भाष्य (ऋ० १।८४।१३) में इस मन्त्र की व्याख्या में सूर्य के दृष्टान्त से सेनापति का कृत्य वर्णित किया है। वहाँ उन द्वारा प्रदर्शित भावार्थ यह है—"यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। मनुष्यों को उसे ही सैनापति बनाना चाहिए जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हन्ता और अपनी सेना का रक्षक हो।"

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और विद्वान् का आह्वान किया गया है।

१८०. इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥६॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुर्गुणों को विदीर्ण तथा सद्गुणों को प्रदान करने वाले परमेश्वर! आप **आ इहि** हमारे जीवन-यज्ञ में आइए, **अन्धसः** हमारे पुरुषार्थरूप अन्न से तथा **विश्वेभिः** सब **सोमपर्वभिः** भक्ति-समारोहों से **मत्सि** प्रसन्न होइए। आप **महान्** महान् और **ओजसा** बल से **अभिष्टिः** हमारे कामादि रिपुओं के प्रति आक्रमण करने वाले हो।

---

१. ऋ० १।९।१, य० ३३।२५, अथ० २०।७१।७।

द्वितीय विद्वान् के पक्ष में। हे **इन्द्र** विद्यारूप ऐश्वर्य से युक्त विद्वन् ! आप **आ इहि** आइए, **अन्धसः** सात्त्विक अन्न से, तथा **विश्वेभिः** सब **सोमपर्वभिः** बल बढ़ाने वाली सोम आदि ओषधियों के खण्डों से **मत्सि** तृप्त होइए। आप **महान्** गुणों में महान्, तथा **ओजसा** विद्याबल से **अभिष्टिः** अभीष्ट प्राप्त करानेवाले और समाज के अविद्या, दुराचार आदि दुर्गुणों पर आक्रमण करने वाले, बनिए ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे पुरुषार्थ और भक्ति से प्रसन्न किया गया परमेश्वर मनुष्यों के काम, क्रोध, हिंसा, उपद्रव आदि सब शत्रुओं को क्षण भर में ही विनष्ट कर देता है, वैसे ही विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि वह सात्त्विक एवं पुष्टिप्रद अन्न, ओषधि आदि से परिपुष्ट होकर राष्ट्र से अविद्या आदि दुर्गुणों का शीघ्र ही विनाश करे ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और विद्वान् आचार्य को पुकारा गया है।

१८१. आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि।
महान्महीभिरूतिभिः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **वृत्रहन्** अविद्या, विघ्न, दुःख, पाप आदिकों के विनाशक **इन्द्र** परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! आप **तु** शीघ्र ही **नः** हमारे समीप **आ** आइए। आप **अस्माकम्** हम स्तोताओं व शिष्यों के **अर्धम्** अपूर्ण जीवन में **आ गहि** आइए। आप **महीभिः** अपनी महान् रक्षाओं से **महान्** महान् हैं ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'महा, मही' में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—अपूर्ण, बहुत से दोषों से युक्त, विविध विघ्नों से प्रताड़ित मनुष्य अपने जीवन में परमात्मा, राजा और गुरु की सहायता से ही उन्नति कर सकता है ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के ओज का वर्णन है।

१८२. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८॥[2]

पदार्थ—**तत्** वह **अस्य** इस इन्द्र परमेश्वर का **ओजः** ओज अर्थात् महान् बल और तेज **तित्विषे** प्रकाशित हो रहा है, **यत्** जो कि **इन्द्रः** वह शक्तिशाली परमेश्वर **उभे** दोनों **रोदसी** द्युलोक और भूलोक को **चर्म इव** मृगछाला के आसन के समान **समवर्तयत्** सृष्टिकाल में फैलाता है और प्रलयकाल में समेट लेता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे कोई योगी सन्ध्योपासना के लिए मृगछाला के आसन को बिछाता है और सन्ध्योपासना समाप्त करके उसे समेट लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने ओज से सृष्ट्युत्पत्ति के समय सब जगत् को फैलाता है और प्रलय के समय समेट लेता है ॥८॥

---

१. ऋ० ४।३२।१, य० ३३।६५।
२. ऋ० ८।६।५, अथ० २०।१०७।२, साम० १६५३।

अगले मन्त्र में परमात्मा के साथ अपना स्नेह-सम्बन्ध सूचित किया गया है।

३ १२ ३ १२ ३ १२ ३२
१८३. अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्।
२ ३ १ २
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥९॥[1]

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन्! **अयम्** यह उपासक **उ** सचमुच **तव** तेरा ही है, जिसके पास तू **समतसि** पहुँचता है, **कपोतः** कबूतर **इव** जैसे **गर्भधिम्** अण्डों से नये निकले हुए बच्चों के आवास-स्थान घोंसले में पहुँचता है। **तत् चित्** इसी कारण, **नः** हमारे **वचः** स्नेहमय स्तुति-वचन को, तू **ओहसे** स्वीकार करता है ॥९॥

यास्काचार्य ने इस मन्त्र के प्रथम पाद को 'उ' के पदपूरक होने के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया है। निरु० १।१०। इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जैसे कबूतर घोंसले में स्थित शिशुओं के पालन के लिए घोंसले में जाता है, वैसे ही परमेश्वर अपने शिशु उपासकों के पालन के लिए उनके पास जाता है। और, जैसे कबूतर अपने शिशुओं के शब्द को उत्कण्ठापूर्वक सुनता है, वैसे ही परमेश्वर स्तोताओं के स्तुतिवचन को प्रेमपूर्वक सुनता है ॥९॥

अगले मन्त्र में 'वात' से भेषज आदि की आकांक्षा की गयी है।

२ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३२
१८४. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
२ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१०॥[2]

पदार्थ—**वातः** वायु को चलानेवाला इन्द्र परमेश्वर, अथवा परमेश्वर द्वारा रचित वायु और प्राण **भेषजम्** औषध को **आ वातु** प्राप्त कराये, **यत्** जो **नः** हमारे **हृदे** हृदय के लिए **शम्भु** रोगों का शमन करनेवाला, और **मयोभु** सुखदायक हो। वह परमेश्वर, वायु और प्राण **नः** हमारे **आयूंषि** आयु के वर्षों को **प्रतारिषत्** बढ़ायें ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'वात, वातु' में छेकानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—ईश्वरप्रणिधानपूर्वक प्राणायाम करने से चित्त की शुद्धि, हृदय का बल, शरीर का आरोग्य और दीर्घायुष्य प्राप्त होते हैं।

इस दशति में इन्द्र परमेश्वर की सहायता से अविद्या, अधर्म आदि के अन्धकार से पूर्ण रात्रि के निवारण का, दिव्य उषा के प्रादुर्भाव का, इन्द्र द्वारा वृत्र के संहार का, परमात्मा, वायु और प्राण से औषध-प्राप्ति का और यथायोग्य राजा एवं आचार्य के भी योगदान का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए।

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० १।३०।४, अथ० २०।४५।१, साम० १७६६।
२. ऋ० १०।१८६।१, देवता वायुः। 'न आयूंषि' इत्यत्र 'ण आयूंषि' इति पाठः।

॥१०॥ अथ 'यं रक्षन्ति प्रचेतसो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १—कण्वः; २, ३, ९ वत्सः; ४ श्रुतकक्षः; ५ मधुच्छन्दाः; ६ वामदेवः; ७ इरिम्बिठिः; ८ वारुणिः सत्यधृतिः ॥ देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में मित्र, वरुण और अर्यमा का विषय है।

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २
१८५. यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
२ ३ १ २ ३ १ २
न किः स दभ्यते जनः ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्मपक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन अपेक्षित है। हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! **यम्** जिस मनुष्य की **प्रचेतसः** हृदय में सदा जागनेवासे **वरुणः** पाप-निवारण का गुण, **मित्रः** मित्रता का गुण और **अर्यमा** न्यायकारिता का गुण **रक्षन्ति** विपत्तियों से बचाते तथा पालते हैं, **सः** वह **जनः** मनुष्य **नकिः** कभी नहीं **दभ्यते** हिंसित होता है।

द्वितीय राष्ट्रपक्ष में। **यम्** जिस राजा की **प्रचेतसः** प्रकृष्ट चित्तवाले, प्रकृष्ट विज्ञानवाले, सदा जागरूक **वरुणः** पाशधारी, शस्त्रास्त्रों से युक्त, शत्रुनिवारक, सेनापति के पद पर चुना गया सेनाध्यक्ष, **मित्रः** देश-विदेश में मित्रता के सन्देश को फैलानेवाला मैत्रीसचिव, और **अर्यमा** न्यायाधीश वा न्यायमन्त्री **रक्षन्ति** रक्षा करते हैं, **सः** वह **जनः** राजा **नकिः** कभी भी किसी से नहीं **दभ्यते** पराजित या हिंसित होता है ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि पाप-निवारण, मैत्री तथा न्याय के गुणों को अपने हृदय में धारण करें, और राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र में सेनाध्यक्ष, मैत्रीसचिव, न्यायाधीश आदि के विविध पदों पर सुयोग्य जनों को ही नियुक्त करे, जिससे शत्रुओं का उच्छेद और प्रजा का उत्कर्ष निरन्तर सिद्ध होते रहें ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
१८६. गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया ।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥२॥[2]

पदार्थः—हे इन्द्र ! परमैश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मन् और राजन् ! आप **गव्या** गायों, भूमियों, वाक्शक्तियों, विद्युद्विद्याओं और अध्यात्मप्रकाश की किरणों को प्रदान करने की इच्छा से, **उ सु** और **अश्वया** घोड़ों, प्राण-बलों, अग्नि तथा सूर्य की विद्याओं को प्रदान करने की इच्छा से, **उत** और **रथया** भूमि, जल व अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों एवं मानव-देह-रूप रथों को प्रदान करने की इच्छा से, तथा **महोनाम्** हम महानों को **वरिवस्या** धन प्रदान करने की इच्छा से **यथा पुरा** पहले के समान अब भी **नः** हमारे पास, आइये ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥२॥

---

१. ऋ० १।४१।१, देवता मित्रवरुणार्यमणः। 'नकिः' इत्यत्र 'नूचित्' इति पाठः।
२. ऋ० ८।४६।१०, ऋषिः वशोऽश्व्यः। 'वरिवस्य महामह' इति तृतीयः पादः।

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से, राजा की सुव्यवस्था से और अपने पुरुषार्थ से मनुष्यों को दुधार गौएँ, बलवान् घोड़े, तेल-गैस-बिजली-सूर्यताप आदि से चलाये जाने वाले भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलनेवाले यान, वाणी का बल, प्राण-बल, अग्नि-वायु-बिजली एवं सूर्य की विद्याएं, अध्यात्म-प्रकाश और चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करने चाहिएँ ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र की पृश्नियाँ क्या करती हैं, इसका वर्णन है।

१८७. इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
एनामृतस्य पिप्युषीः ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** यज्ञ के पक्ष में। हे **इन्द्र** गोपालक यजमान ! **ऋतस्य** यज्ञ की **पिप्युषीः** बढ़ाने वाली **इमाः** ये **ते** तेरी **पृश्नयः** यज्ञ के उपयोग में आने वाली अनेक रंगों वाली गायें **घृतम्** घी, और **एनाम् आशिरम्** इस दूध को **दुहते** प्रदान करती हैं॥

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में। हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **ऋतस्य** सत्य का **पिप्युषीः** पान कराने वाली **इमाः** ये **पृश्नयः** वेद-माताएँ **ते** तेरे लिए **घृतम्** तेज-रूप घी को अर्थात् ब्रह्मवर्चस को, और **एनाम् आशिरम्** इस परिपक्व आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, विद्या आदि के दूध को **दुहते** प्रदान करती हैं॥

तृतीय वर्षा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **इमाः** ये **ते** आपकी रची हुई **पृश्नयः** रंग-बिरंगी मेघमालाएँ **आशिरम्** सूर्य के ताप से भाप बने हुए **घृतम्** जल को **दुहते** बरसाती हैं, और **एनाम्** इस भूमि को **ऋतस्य** वृष्टिजल का **पिप्युषीः** पान कराने वाली होती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे यजमान की गायें यज्ञार्थ घी और दूध देती हैं, मेघमालाएं खेती आदि के लिए वर्षाजल-रूप दूध बरसाती हैं, वैसे ही वेद-माताएँ जीव के लिए ब्रह्मवर्चस-रूप घी और आयु-प्राण आदि रूप दूध देती हैं ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का उपाय वर्णित है।

१८८. अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत ।
यत् सोमेसोम आभुवः ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **पुरुणामन्** सर्वान्तर्यामिन् एवं वेदों में शक्र, वृत्रहा, मघवान्, शचीपति आदि अनेक नामों से वर्णित, **पुरुष्टुत** बहुस्तुत इन्द्र परमात्मन् ! **अया** इस **गव्यया** आत्मा-रूप सूर्य की किरणों को पाने की कामना वाली **धिया** बुद्धि तथा ध्यान-शृंखला से **च** ही, यह संभव है **यत्** कि, आप **सोमेसोमे** हमारे प्राण-प्राण में, प्रत्येक श्वास में **आभुवः** व्याप्त हो जाओ ॥४॥

भावार्थ—यदि हम तमोगुण से ढकी हुई आत्मसूर्य की किरणों को निश्चयात्मक बुद्धि और ध्यान से पुनः पाने का यत्न करें, तभी यह संभव है कि परमेश्वर हमारे प्राण-प्राण में, श्वास-श्वास में और रोम-रोम में व्याप्त हो जाए ॥४॥

१. ऋ० ८।६।१९।
२. ऋ० ८।९३।१७, ऋषिः सुकक्षः। 'आमुवः' इत्यत्र 'आभवः' इति पाठः।

अगले मन्त्र में वाणी और विदुषी का विषय वर्णित है।

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
१८९. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
३ १ २ ३ १२
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥५॥[1]

पदार्थ—प्रथम वेदवाणी के पक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन किया जाना चाहिए। हे इन्द्र परमेश्वर! आपकी **वाजिनीवती** क्रियामयी अथवा कर्म का उपदेश देने वाली **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदवाणी **वाजेभिः** विज्ञान-रूप बलों से **नः** हमें **पावका** पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** ज्ञान और कर्म के उपदेश से बसाने वाली वह **यज्ञम्** हमारे जीवन-यज्ञ को **वष्टु** भली भाँति चलाये, संस्कृत करे॥

द्वितीय गुरुओं की वाणी के पक्ष में। गुरुजन कामना कर रहे हैं। हे इन्द्र परमात्मन्! आपकी कृपा से **नः** हमारी **वाजिनीवती** विद्या से पूर्ण **सरस्वती** वाणी **वाजेभिः** सदाचार-रूप धनों से **पावका** शिष्यों को पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** बुद्धिपूर्वक शिष्यों में ज्ञान को बसाने वाली वह **यज्ञम्** शिक्षा-रूप यज्ञ का **वष्टु** भलीभाँति वहन करे॥

तृतीय विदुषी के पक्ष में। हे इन्द्र! हे विद्वान् गृहपति! **वाजिनीवती** क्रियाशील **सरस्वती** विदुषी माता **वाजेभिः** सात्त्विक, स्वास्थ्यकर अन्न आदि भोज्य पदार्थों, बल-प्रदानों और सदाचार की शिक्षाओं से **नः** हम सन्तानों के **पावका** शरीर और मन को पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** बोध-प्रदान के द्वारा बसाने वाली वह **यज्ञम्** गृहस्थ-यज्ञ को **वष्टु** वहन करने की कामना रखे॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की वेदवाणी श्रोताओं का हित-साधन करती है, और जैसे गुरुओं की वाणी शिष्यों का हित-साधन करती है, वैसे ही विदुषी माताएँ सन्तानों का हित सिद्ध करें॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमरस से तृप्त करने का विषय है।

२ ३१९ २१३ २८ ३ १ २
१९०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात्।
२ ३ २३ १ २
स नो वसून्या भरात् ॥६॥

पदार्थ—नाहुषीषु मानवीय प्रजाओं में **कः** कौन धन्य मनुष्य **इमम्** इस, गुणों के आधार **इन्द्रम्** परमात्मा, राजा, आचार्य एवं अतिथि आदि को **सोमस्य** सोम से अर्थात् श्रद्धा-रस, ज्ञान-रस, उपासना-रस, कर्म-रस, ब्रह्म-रस, क्षत्र-रस, ब्रह्मचर्य-रस, धर्म-रस, कीर्ति-रस आदि से **आ तर्पयात्** चारों ओर से तृप्त करेगा, जिससे **सः** तृप्त किया हुआ वह **नः** हमारे लिए **वसूनि** सब प्रकार के ऐश्वर्यों को **आ भरात्** लाये॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना, श्रद्धा, ज्ञान-संग्रह, कर्म, ब्रह्मचर्य, तपस्या, श्रम, धर्म, वैराग्य, व्रत-पालन आदि श्रेष्ठ आचारों से ही परमात्मा, राजा, आचार्य आदि प्रसन्न होते हैं और प्रचुर ऐश्वर्य प्रदान करते हैं॥६॥

---

१. ऋ० १।३।१०, य० २०।८४, उभयत्र देवता सरस्वती।

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमपानार्थ बुलाया जा रहा है।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१९१. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्।
२उ ३ १ २ ३ १ २
एदं बर्हिः सदो मम ॥७॥[1]

पदार्थ—आयाहि आइए, **ते** आपके लिए, हमने **सुषुम हि** सोमरस को अभिषुत किया है अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि के रस को निष्पादित किया है। हे **इन्द्र** परमात्मन्, राजन्, आचार्य, अतिथिप्रवर! **इमम्** इस हमारे द्वारा समर्पित किए जाते हुए **सोमम्** श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, उपासना, राजदेय कर, सोम ओषधि आदि के रस को **पिब** पीजिए। **इदम्** इस **मम** मेरे **बर्हिः** हृदयासन, राज्यासन अथवा कुशा के आसन पर **आ सदः** बैठिए ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।७॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे हृदय में परमात्मा को प्रकाशित कर उसकी पूजा करें और राजा, आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि को बुलाकर यथायोग्य उनका सत्कार करें ॥७॥

अगले मन्त्र में मित्र, वरुण और अर्यमा से रक्षण की याचना की गयी है।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
१९२. महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः
३ २ ३ १ २
दुराधर्षं वरुणस्य ॥८॥[2]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म और अधिदैवत पक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन अपेक्षित है। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर! आपकी कृपा **से मित्रस्य** अकाल-मृत्यु से रक्षा करने वाले वायु और जीवात्मा का, **अर्यम्णः** अपने आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों का नियन्त्रण करने वाले सूर्यलोक का तथा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने वाले मन का, और **वरुणस्य** आच्छादक मेघ का तथा प्राण का, **त्रीणाम्** इन तीनों का **महत्** महान्, **द्युक्षम्** तेज को निवास कराने वाला और **दुराधर्षम्** दुष्पराजेय, दृढ **अवः** रक्षण **अस्तु** हमें प्राप्त हो ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** प्रजा के कष्टों को दूर करने तथा सुख प्रदान करने वाले राजन्! आपकी व्यवस्था से **मित्रस्य** सबके मित्र शिक्षाध्यक्ष का, **अर्यम्णः** श्रेष्ठों और दुष्टों के साथ यथायोग्य व्यवहार करने वाले न्यायाध्यक्ष का, और **वरुणस्य** पाशधारी, शस्त्रास्त्रयुक्त, धनुर्वेद में कुशल सेनाध्यक्ष का, **त्रीणाम्** इन तीनों का **महि** महान्, **द्युक्षम्** राजनीति के प्रकाश से पूर्ण, **दुराधर्षम्** दुष्पराजेय **अवः** रक्षण **अस्तु** हम प्रजाजनों को प्राप्त हो ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा के अनुशासन में शरीरस्थ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि और बाह्य सूर्य, पवन, बादल आदि तथा राजा के अनुशासन में सब राजमन्त्री एवं अन्य राज्याधिकारी अपना-अपना रक्षण आदि हमें प्रदान करें, जिससे हम उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करते हुए समस्त प्रेय और श्रेय को प्राप्त कर सकें ॥८॥

---

१. ऋ० ८।१७।१, अथ० २०।३।१, ३८।१, ४७।७, साम० ६६६।
२. ऋ० १०।१८५।१, य० ३।३१, देवता आदित्यः (स्वस्त्ययनम्)।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और विद्वान् को सम्बोधन किया गया है।

१९३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **पुरूवसो** बहुत धनी, **प्रणेतः** उत्कृष्ट नेता, **हरीणाम्** आकर्षणगुणयुक्त पृथिवी-सूर्य आदि लोकों के, अथवा विषयों की ओर ले जाने वाली इन्द्रियों के, अथवा सवारी देने वाले विमान आदि यानों के **स्थातः** अधिष्ठाता **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन् व विद्वन्! **वयम्** हम मनुष्य **त्वावतः** तुझ जैसे किसी अन्य के न होने के कारण जो तू तुझ जैसा ही है ऐसे तुझ अद्वितीय के **स्मसि** हो गये हैं ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेष है। 'त्वावतः' में 'कमल कमल के समान है' इत्यादि के सदृश अनन्वय अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—संसार में बिखरे हुए सब धनों का स्वामी, सबका नेता, सूर्य-आदि लोकों का अधिष्ठाता, अनुपम परमेश्वर जैसे सबका वन्दनीय है, वैसे ही बहुत से ज्ञान, कर्म आदि धनों का स्वामी, मार्गप्रदर्शक, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राण, मन, बुद्धि आदि का अधिष्ठाता जीवात्मा भी सबसे सेवनीय है। उसी प्रकार वेग से यात्रा कराने वाले विमान आदियों के निर्माण और चलाने में कुशल, विविध विद्याओं में पारंगत, शिल्पशास्त्र के वेत्ता विद्वान् भी मनुष्यों द्वारा सेवनीय हैं ॥९॥

इस दशति में इन्द्र से सम्बद्ध वरुण, मित्र और अर्यमा के रक्षण की प्रार्थना होने से, इन्द्र की गौओं की प्रशंसा होने से, इन्द्र से गाय, अश्व आदि की याचना होने से, इन्द्र की सरस्वती का आह्वान होने से, इन्द्र का स्तुतिगान होने से तथा इन्द्र नाम से राजा, विद्वान्, आचार्य आदि का भी विषय वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
यह द्वितीय प्रपाठक सम्पूर्ण हुआ ॥
द्वितीय अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

अथ तृतीयः प्रपाठकः

॥१॥ 'उत् त्वा मन्दन्तु' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रगाथः; २ विश्वामित्रः; ३, १० वामदेवः; ४, ६ श्रुतकक्षः, ५ मधुच्छन्दाः; ७ गृत्समदः; ८, ९ भरद्वाजः ॥
देवता इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र सोमरस से प्रसन्न होकर क्या करे।

१९४. उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥[2]

---
१. ऋ० ८।४६।१, ऋषिः वशोऽश्व्यः।
२. ऋ० ८।६४।१, अथ० २०।९३।१, साम० १३५४।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन् ! **सोमाः** हमारे द्वारा अभिषुत श्रद्धारस, ज्ञानरस और कर्मरस **त्वा** तुझे **उत् मन्दन्तु** अत्यधिक आनन्दित करें। हे **अद्रिवः** मेघों के स्वामिन् ! वर्षा करने वाले ! तू हमारे लिए **राधः** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धारणा, ध्यान, समाधि, योगसिद्धि आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्य **कृणुष्व** प्रदान कर। **ब्रह्मद्विषः** ब्रह्मविरोधी काम, क्रोध, नास्तिकता आदि मानसिक शत्रुओं को **अवजहि** मार गिरा ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे इन्द्र राजन् ! **सोमाः** वीर-रस **त्वा** तुझे **उत् मन्दन्तु** उत्साहित करें। हे **अद्रिवः** वज्रधारी, विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित, धनुर्वेद में पारंगत राजन् ! तू प्रजाओं के लिए **राधः** सब प्रकार के धनधान्यादि **कृणुष्व** उत्पन्न कर, प्रदान कर। **ब्रह्मद्विषः** ईश्वरविरोधी, विद्या-विरोधी, सत्यविरोधी, धर्मविरोधी, न्यायविरोधी एवं प्रजाविरोधी डाकू, चोर आदियों को **अवजहि** विनष्ट कर ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर और वीर-रसों से उत्साहित राजा प्रजाओं के ऊपर भौतिक व आध्यात्मिक सम्पत्तियों की वर्षा करते हैं और ब्रह्मद्वेषी शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। इसलिए सबको परमेश्वर की उपासना करना और राजा का सत्कार करना तथा उसे प्रोत्साहित करना उचित है ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और गुरु से प्रार्थना की गयी है।

१९८. गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों व आदरवचनों से सेवनीय वा याचनीय परमात्मन् अथवा आचार्यप्रवर ! आप **नः** हमारे **सुतम्** अर्जित ज्ञानरस की अर्थात् विविध विद्याओं के विज्ञान की **पाहि** रक्षा कीजिए। आप **मधोः** मधुर ज्ञानराशि की **धाराभिः** धाराओं से **अज्यसे** सिक्त हैं। **इन्द्र** हे ज्ञानैश्वर्य से सम्पन्न परमात्मन् वा आचार्यप्रवर ! **त्वादातम्** आपके द्वारा शोधित, शोधन द्वारा धवलीकृत **इत्** ही **यशः** विविध विद्याओं एवं सदाचार से समुत्पन्न कीर्ति, हमें प्राप्त हो। अथवा, हे परमात्मन् अथवा आचार्यप्रवर ! **यशः** तप, ब्रह्मचर्य, विद्वत्ता, व्रतपालन आदि से उत्पन्न होने वाली कीर्ति **त्वादातम् इत्** आपके द्वारा ही हमें दातव्य है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—गुरुकुल में अध्ययन कर रहे शिष्य आचार्य से प्रार्थना करते हैं कि हे आचार्यप्रवर ! आप अगाध पाण्डित्य के खजाने और शिक्षणकला में परम प्रवीण हैं। आप भ्रान्ति, अपूर्णता आदि दोषों से रहित स्वच्छ ज्ञान हमारे अन्दर प्रवाहित कीजिए और उसे स्थिर कर दीजिए। तभी हमारा उज्ज्वल यश सर्वत्र फैलेगा। सम्पूर्ण विद्याओं से भासित, स्वच्छ ज्ञान की निधि परमात्मा से भी वैसी ही प्रार्थना की गयी है। वही यश वस्तुतः यश है, जो परमात्मा के आशीर्वाद से धवल हुआ हो ॥२॥

---

१. ऋ० ३।४०।६, अथ० २०।६।६।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा के वरण का विषय है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ १ ३ २
१९६. सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन्।
२ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! **सदा** हमेशा **वः** तुम्हें, जो **इन्द्रः** परमेश्वर वा सुयोग्य जन **आ चर्कृषत्** अतिशय बार-बार कर्मों में प्रेरित करे, और **उप उ** समीप आकर **नु** शीघ्र ही **सः** वह **सपर्यन्** तुम्हारा सत्कार करे, प्रेम से तुम्हें शुभ कर्मों के लिए साधुवाद और प्रोत्साहन प्रदान करे, वैसा **देवः** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला **शूरः** वीर **इन्द्रः** परमेश्वर वा सुयोग्य मनुष्य **वृतः न** तुमने अभी तक नेता रूप में या राजा रूप में वरा नहीं है? बिना वरे पूर्वोक्त लाभ कैसे मिल सकते हैं? अतः अवश्य ही उसका वरण करो ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे वरण किया हुआ परमेश्वर मनुष्यों को पुरुषार्थ में प्रवृत्त करता है और शुभ कर्म करने वालों को साधुवाद देकर उत्साहित करता है, वैसे ही प्रजाओं द्वारा चुना गया राजा प्रजाओं के लिए करे ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१९७. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः।
२ ३ १ २
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥४॥[1]

पदार्थ—**इन्दवः** चन्द्र-किरणों के सदृश आह्लादक मेरे स्तुतिरूप सोम **त्वा** तुझ परमेश्वर को **आ विशन्तु** प्राप्त करें, **सिन्धवः** नदियाँ **समुद्रम् इव** जैसे समुद्र को प्राप्त करती हैं। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन्, दुःखविदारक, सुखदाता परमात्मन्! **त्वाम्** तुझसे, कोई भी **न अतिरिच्यते** महिमा में अधिक नहीं है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे नदियाँ रत्नाकर समुद्र को प्राप्त करके रत्नों से मण्डित हो जाती हैं, वैसे ही सब प्रजाएँ स्तुति द्वारा गुण-रूप रत्नों के खजाने परमेश्वर को प्राप्त करके गुणों की निधि हो जाएँ ॥४॥

अगले मन्त्र में सबके द्वारा इन्द्र की स्तुति किया जाना वर्णित है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
१९८. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः
२ ३ १ २
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥५॥[2]

पदार्थ—**इन्द्रम्** महान् परमेश्वर की **इत्** ही **गाथिनः** सामगान करने वाले उद्गाता लोग, **इन्द्रम्** उसी महान् परमेश्वर की **अर्केभिः** वेदमन्त्रों द्वारा **अर्किणः** मन्त्रपाठी होता लोग स्तुति करते हैं। और **वाणीः** अन्य जनों की वाणियाँ भी **इन्द्रम्** उसी महान् परमेश्वर की **बृहत्** बहुत अधिक **अनूषत** स्तुति करती हैं ॥५॥

---

१. ऋ० ८।९२।२२, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा। साम० १६६०।
२. ऋ० १।७।१, अथ० २०।३८।४, ४७।४, ७०।७, साम० ७९६।

भावार्थ—परमैश्वर्यवान्, दुःख-दरिद्रता का मिटानेवाला, सुख-सम्पत्ति का प्रदाता, धर्मात्माओं का प्रशंसक, कुकर्मियों का विध्वंसक, समस्त गुण-गणों का खजाना, सद्गुणों का आधान करनेवाला परमात्मा ही सब मनुष्यों से वन्दना किये जाने योग्य है। उसी की सामगान से और वेद-मन्त्रों के पाठ आदि से स्तुति करनी चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र हमें क्या-क्या दे, इसकी प्रार्थना की गयी है।

१९९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥[1]

पदार्थ—**इन्द्रः** सब ऐश्वर्यों का खजाना और सब ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ परमेश्वर **इषे** राष्ट्र की प्रगति, अभ्युदय, अभीष्टसिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए **नः** हमें **ऋभुम्** अति तेजस्वी, सत्य से भासमान, सत्यनिष्ठ, मेधावी, विद्वान् ब्राह्मण और **ऋभुक्षणम्** मेधावियों का निवासक, महान् **रयिम्** धन **ददातु** प्रदान करे। **वाजी** बलवान् वह **वाजिनम्** बली, राष्ट्ररक्षाकुशल क्षत्रिय **ददातु** प्रदान करे ॥६॥

इस मन्त्र में 'ददातु' और 'ऋभु' शब्दों की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास अलंकार है। 'वाजी, वाजि' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से हमारे राष्ट्र में सत्यशील, उपदेशकुशल, मेधावी, विज्ञानवान्, ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण; बली, धनुर्विद्या में पारंगत, रोगों से आक्रान्त न होनेवाले, महारथी, राष्ट्ररक्षा में समर्थ, विजयशील शूरवीर क्षत्रिय और कृषि एवं व्यापार में प्रवीण, धनवान्, दानशील वैश्य उत्पन्न हों। सब राष्ट्रवासी धनपति होकर प्रगति और अभ्युदय को प्राप्त करते हुए आनन्द के साथ धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष के लिए प्रयत्न करते रहें ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से भय-मुक्त करने की प्रार्थना की गयी है।

२००. इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** विघ्नविदारक, सिद्धिप्रदाता परमेश्वर **अभि सत्** अभिभूत करने वाले **महत्** बड़े भारी **भयम्** विपत्तियों से उत्पन्न, काम-क्रोध आदि शत्रुओं के उत्पीड़न से उत्पन्न अथवा जन्म-मरण से उत्पन्न भय को **अप चुच्यवत्** पूर्णतः दूर कर दे, **हि** क्योंकि **सः** वह परमेश्वर **स्थिरः** भयों से उद्विग्न न होने वाला, स्थिरमति, और **विचर्षणिः** भय-निवारण के उपायों का द्रष्टा और दर्शाने वाला है।

द्वितीय—सूर्य के पक्ष में। **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** अन्धकार का विदारक, प्रकाशदाता सूर्य **अभि सत्** अभिभूत या उद्विग्न करने वाले **महत्** बड़े **भयम्** रोगों से उत्पन्न, बाघ आदि हिंसक जन्तुओं से उत्पन्न, पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रहों की टक्कर की आशंका से उत्पन्न इत्यादि प्रकार के भयों को **अपचुच्यवत्** दूर

१. ऋ० ८।९३।३४, ऋषिः सुकक्षः, देवता इन्द्रः ऋभवश्च।
२. ऋ० २।४१।१०, अथ २०।२०।५, ५७।८।

करता है, **हि** क्योंकि **सः** वह सूर्य **स्थिरः** आकर्षणशक्ति के द्वारा आकाश में स्थिर अर्थात् केवल अपनी धुरी पर ही घूमने के कारण स्थानान्तर गति से रहित, और **विचर्षणिः** प्रकाश के दान द्वारा सबको पदार्थों का दर्शन कराने वाला है।

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** परम धनी, शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला, प्रजाओं को सुख-सम्पदा देने वाला राजा अथवा सेनापति **अभि सत्** राष्ट्र में व्याप्त होने वाले **महत्** बड़े **भयम्** राष्ट्र के अन्दर के तथा बाहरी शत्रुओं से उत्पन्न किए गये भय को **अपचुच्यवत्** दूर कर दे, **हि** क्योंकि **सः** वह **स्थिरः** अपने पद पर अडिग, और **विचर्षणिः** गुप्तचर रूपी आँखों से अपने राष्ट्र में होने वाले तथा शत्रु-राष्ट्र में होने वाले सब घटनाचक्र का विशेष रूप से द्रष्टा है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—कभी काम, क्रोध आदि रिपुओं से उत्पन्न होने वाला भय, कभी दुर्भिक्ष, नदियों की बाढ़, संक्रामक रोग आदि का भय, कभी मानवीय विपत्तियों का भय, कभी बाघ आदि हिंसक जन्तुओं का भय, कभी पड़ोसी शत्रु राष्ट्रों का भय, कभी चोरों, लुटेरों, ठगों, हत्यारों आदि का भय, कभी जन्म-मृत्यु के चक्र का भय मनुष्यों को व्याकुल किए रखता है। स्थिर सर्वद्रष्टा परमात्मा, स्थिर प्रकाशक सूर्य और स्थिर गुप्तचर-रूप आँखों वाला राजा उस सब प्रकार के भय से मुक्त कर दे, जिससे सब लोग सब ओर से निर्भय होते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कर सकें ॥७॥

अगले मन्त्र में स्तोता जन परमात्मा को कह रहे हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२०१. इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
१ २ ३ २उ ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से सेवनीय वा याचनीय परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन्! **इमाः उ** ये हम से उच्चारण की जाती हुई **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा स्तुतिवाणियाँ **सुतेसुते** प्रत्येक ज्ञान, कर्म और उपासना के व्यवहार में **त्वा** आपको **नक्षन्ते** प्राप्त होती हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने वाली या अपने दूध से तृप्त करने वाली **गावः** गौएँ **वत्सं न** जैसे बछड़े को प्राप्त होती हैं ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे पौसे हुए पयोधरों वाली नवप्रसूत गौएँ अपना दूध पिलाने के लिए शीघ्रता से बछड़े के पास जाती हैं, वैसे ही हमारी रस बहाने वाली, अर्थपूर्ण स्तुतिवाणियाँ प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में, प्रत्येक कर्मयज्ञ में और प्रत्येक उपासनायज्ञ में परमात्मा के समीप पहुँचें ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि हम कल्याणार्थ किसे पुकारें।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२०२. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
३ २ ३ १ २
हुवेम वाजसातये ॥९॥[2]

---

१. ऋ० ६।४५।२८, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। 'वत्सं गावो न धेनवः' इति तृतीयः पादः।
२. ऋ० ६।५७।१, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। देवते इन्द्रापूषणौ।

पदार्थ—**वयम्** हम प्रजाजन **इन्द्रा-पूषणा** परमात्मा-जीवात्मा, प्राण-अपान, राजा-सेनापति, क्षत्रियवैश्य और विद्युत्-वायु को **नु** शीघ्र ही **सख्याय** मित्रता के लिए **स्वस्तये** अविनाश, उत्तम अस्तित्व एवं कल्याण के लिए, और **वाजसातये** अन्न, धन, बल, वेग, विज्ञान, प्राणशक्ति व आत्मशक्ति को प्राप्त कराने वाले आन्तरिक और बाह्य संग्राम में सफलता के लिए **हुवेम** पुकारें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्य के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में मनोभूमि में और बाहर की भूमि पर संग्राम होते हैं। उनमें परमात्मा-जीवात्मा, प्राण-अपान, राजा-सेनापति, क्षत्रिय-वैश्य एवं विद्युत्-वायु की मित्रता का जो वरण करते हैं वे विजयी होते हैं ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

२०३. न किं इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
न क्येवं यथा त्वम् ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन्! **त्वत्** तुझसे **उत्तरः** गुणों में अधिक प्रशस्त **न कि** कोई नहीं है। हे **वृत्रहन्** विघ्नों के विनाशक! **न** न ही कोई **ज्यायः** तुझसे आयु में अधिक बड़ा **अस्ति** है। **न कि** न ही **एवम्** ऐसा है, **यथा** जैसा **त्वम्** तू है ॥१०॥

भावार्थ—अति विशाल भी इस ब्रह्माण्ड में जिससे अधिक गुणवान् और जिससे अधिक वृद्ध दूसरा कोई नहीं है, उस जगदीश्वर की सबको श्रद्धा से पूजा करनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र परमात्मा के प्रति ज्ञान, कर्म, उपासना रूप सोम अर्पण करने, उसका स्तुति-गान करने, उससे धन की याचना करने, उसका महत्त्व वर्णन करने और इन्द्र नाम से आचार्य, राजा तथा सूर्य का भी वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ॥
द्वितीय अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'तरणिं वो जनानाम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,४ त्रिशोकः; २ मधुच्छन्दाः; ३ वत्सः; ५ सुकक्षः; ६,९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य और राजा की प्रशंसा की गयी है।

२०४. तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः।
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥[2]

---

१. ऋ० ४।३०।१, नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम् ॥ इति पाठः।
२. ऋ० ८।४५।२८।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **जनानां वः** आप जन्मधारियों का **तरणिम्** नौकारूप अर्थात् नाव के समान तारक, विपत्तिरूप नदियों से पार करने वाले, **गोमतः** प्रशस्त गौओं से युक्त, प्रशस्त भूमियों से युक्त, प्रशस्त वाणियों से युक्त, प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त, प्रशस्त किरणों से युक्त और प्रशस्त अन्तःप्रकाश से युक्त **वाजस्य** ऐश्वर्य के **त्रदम्** प्राप्त कराने वाले इन्द्र नामक परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सूर्य की **समानम् उ** सप्राण होकर, सोत्साह **प्रशंसिषम्** मैं प्रशंसा करता हूँ ।

पणि लोग इन्द्र की गौओं को चुराकर पर्वत की गुफा में छिपा देते हैं। इन्द्र सरमा को दूती बनाकर अंगिरस्, सोम और बृहस्पति की सहायता से गुफा तोड़कर उन्हें छुड़ाता है, यह वृत्त वेद में बहुत बार वर्णित हुआ है। अध्यात्म-क्षेत्र में गौएँ अन्तःप्रकाश की किरणें या मन की सात्त्विक वृत्तियाँ हैं, इन्द्र परमात्मा अथवा जीवात्मा है, पणि उन गौओं को चुराने वाली तामसिक मनोवृत्तियाँ हैं । अधिदैवत क्षेत्र में गौएं किरणें हैं, इन्द्र सूर्य है, पणि मेघ अथवा अन्धकारपूर्ण रात्रियाँ हैं। राष्ट्रिय क्षेत्र में गौएँ गाय पशु या भूमि आदि सम्पत्तियाँ हैं, इन्द्र राष्ट्र का पालक राजा है, और पणि उन सम्पत्तियों का अपहरण करने वाले लुटेरे शत्रु हैं। इन्द्र नामक परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य और राजा उन-उन पणियों को पराजित करके उनकी गुफा को तोड़कर उन गौओं को पुनः प्राप्त करके सत्पात्रों को उनका दान करते हैं। इसी प्रसंग से इस मन्त्र में तृद धातु दानार्थक हो गयी है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। इन्द्र में तरणि (नौका) का आरोप होने से रूपक है ॥१॥

भावार्थ—नौका के समान परमात्मा संसार-सागर से जनों का तारक, जीवात्मा कुमार्ग से इन्द्रियों का तारक, सूर्य अन्धकार या रोग से मनुष्यों का तारक और राजा विपत्तियों से प्रजाओं का तारक होता है। ये अपने-अपने क्षेत्र में यथायोग्य दिव्य प्रकाशरूप, दिव्य इन्द्रियरूप, किरणरूप, गायरूप और भूमिरूप गौओं को शत्रु के अधिकार से वापस लौटाने वाले हैं। अतः इनको प्रशंसा, गुण-वर्णन और सेवन सबको करना चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

१ २   ३ २ ३   २ ३   १र २र
२०५. असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
३ १ २   ३ १र   १र
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** पूजनीय जगदीश्वर ! मैं **ते** आपके लिए, आपकी स्तुति के लिए **गिरः** वेदवाणियों को **असृग्रम्** उच्चारित करता हूँ। **सजोषाः** प्रीतिपूर्वक उच्चारण की गई वे वेदवाणियाँ **वृषभम्** सब अभीष्टों की वर्षा करने वाले **पतिम्** पालनकर्ता **त्वां प्रति** आपको लक्ष्य करके **उद् अहासत** उठ रही हैं, उत्कण्ठापूर्वक आपको पाने का यत्न कर रही हैं ॥२॥

यहाँ प्रीतिमयी भार्या जैसे वर्षक पति को पाने के लिए उत्कण्ठापूर्वक जाती है, यह उपमा शब्द-शक्ति से ध्वनित हो रही है। उससे उपासक के प्रेम का अतिशय द्योतित होता है ॥२॥

भावार्थ—यदि परमात्मा की प्रीतिपूर्वक वेदवाणियों से स्तुति की जाती है, तो वह अवश्य प्रसन्न होता है और स्तोता के लिए यथायोग्य अभीष्ट धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की वर्षा करता है ॥२॥

---

१. ऋ० १।९।४, अथ० २०।७१।१०, उभयत्र 'अजोषा' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में मित्र, मरुत् और अर्यमा का विषय वर्णित है।

२०६. सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा।
मित्रास्पान्त्यद्रुहः ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन्! **सः** वह **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्य **घ** निश्चय ही **सुनीथः** शुभ नीति से युक्त अथवा प्रशस्त हो जाता है, **यम्** जिसे **मरुतः** प्राण, **यम्** जिसे **अर्यमा** श्रेष्ठ विचारों का सम्मानकारी आत्मा, और जिसे **अद्रुहः** द्रोह न करने वाले **मित्राः** मित्रभूत मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आँख, कान, त्वचा, नासिका और जिह्वा **पान्ति** रक्षित-पालित करते हैं।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे इन्द्र राजन्! **सः** वह **मर्त्यः** प्रजाजन **घ** निश्चय ही **सुनीथः** सन्मार्ग पर चलने वाला, सदाचारपरायण हो जाता है **यम्** जिसे **मरुतः** वीर क्षत्रिय, **यम्** जिसे **अर्यमा** धार्मिक न्यायाधीश और **अद्रुहः** राजद्रोह या प्रजाद्रोह न करने वाले **मित्राः** मित्रभूत अन्य राज्याधिकारी-गण **पान्ति** विपत्तियों से बचाते तथा पालित-पोषित करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—इस जगत् या राष्ट्र में बहुत से लोग योग्य मार्गदर्शन को न पाकर सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं। परन्तु जीवात्मा, प्राण आदि अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए जिस मनुष्य पर अनुग्रह करते हैं, तथा राष्ट्र में राज्याधिकारी जिसकी सहायता करते हैं, वह निरन्तर प्रगति के पथ पर दौड़ता हुआ लक्ष्य-सिद्धि को पाने में समर्थ हो जाता है ॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि किस प्रकार का धन हमें प्राप्त करना चाहिए।

२०७. यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर, राजन् और आचार्य! **यत्** जो दृढ़तारूप धन **वीडौ** दृढ लोहे, पत्थर, हीरे आदि में, **यत्** जो स्थिरतारूप धन **स्थिरे** अविचल सूर्य, पर्वत आदि में और **यत्** जो परोपकाररूप धन **पर्शाने** सींचनेवाले बादल में **पराभृतम्** निहित है, **तत्** वह **स्पार्हम्** स्पृहणीय **वसु** धन **आभर** हमें प्राप्त कराइए ॥४॥

भावार्थ—दृढ़तारूप गुण से ही लोहा, पत्थर, हीरा आदि पदार्थ कीर्तिशाली हैं। स्थिरतारूप गुण से ही सूर्य, पर्वत आदि गर्व से सिर उठाये खड़े हैं। सींचने-बरसने रूप गुणों से ही बादलों की सब प्रशंसा करते हैं। यह दृढ़ता का, स्थिरता का और सींचने-बरसने का गुण हमें भी प्राप्त करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम कैसे इन्द्र की किस प्रयोजन के लिए स्तुति करें।

२०८. श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्।
आशिषे राधसे महे ॥५॥[3]

---

१. ऋ० ८।४६।४ ऋषिः वशोऽश्व्यः। मित्रः पान्त्यद्रुहः इति पाठः।

२. ऋ० ८।४५।४१, साम० १०७२, अथ० २०।४३।२।

३. ऋ० ८।९३।१६, आशुषे इति पाठः।

पदार्थ—हे मित्रो ! **श्रुतम्** सर्वत्र प्रख्यात, **वः** तुम्हारे **वृत्रहन्तमम्** पाप, विघ्न, अविद्या आदि को अतिशय विनष्ट करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों के **प्र शर्धम्** अतिशय बल एवं उत्साह के प्रदाता परमेश्वर, राजा या आचार्य की **राधसे** ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए व कार्यसिद्धि के लिए, और **महे** महत्ता तथा पूज्यता की प्राप्ति के लिए, मैं **आशिषे** स्तुति करता हूँ ।।५।।

भावार्थ—जो मनुष्य जगदीश्वर, राजा व आचार्य को उनके गुण-कर्मों का वर्णन करते हुए स्मरण करते हैं और उनकी सेवा करते हैं, वे अविद्या, पाप, विघ्न, विपत्ति आदि को पार करके सब कल्याणों के भाजन बनते हैं ।।५।।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से प्रार्थना की गई है।

१२ ३ १२ ३१२ ३ १२
२०९. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः ।
१२ ३ १२
अरं शक्र परेमणि ।।६।।

पदार्थ—हे **शूर** विक्रमी **इन्द्र** ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! हम **त्वावतः** जिसके तुल्य अन्य कोई न होने से जो तू अपने समान ही है ऐसे **ते** तेरे **श्रवसे** यश को पाने के लिए अथवा यशोगान के लिए **अरम्** पर्याप्तरूप से, तुझे **गमेम** प्राप्त करें। हे **शक्र** शक्तिशालिन्, सब कार्यों को करने में समर्थ जगदीश्वर ! हम **परेमणि** जिससे तेरा साक्षात्कार होता है उस परा विद्या में **अरम्** पर्याप्त रूप में **गमेम** पारंगत हों ।।६।।

भावार्थ—अनुपम परमेश्वर का कीर्त्तिगान करने और उसके स्वरूप का हस्तामलकवत् साक्षात्कार करने में सबको प्रवृत्त होना चाहिए। केवल अपरा नामक विद्या की प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, प्रत्युत परा विद्या भी सीखनी चाहिए ।।६।।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और विद्वान् अतिथि को बुलाया जा रहा है।

३ १२ ३ १२ ३१२ ३ १२
२१०. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
१२ ३१२
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ।।७।।[1]

पदार्थ—प्रथम विद्वान् अतिथि के पक्ष में। हे **इन्द्र** विद्वन् ! आप **प्रातः** इस प्रभातकाल में **नः** हमारे **धानावन्तम्** भुने हुए जवों से युक्त, **करम्भिणम्** घृतमिश्रित सत्तुओं से युक्त, **अपूपवन्तम्** घी मिले जौ या चावल के पूड़ों से युक्त और **उक्थिनम्** वेदमन्त्रों के स्तोत्रों से युक्त यज्ञ में **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक आइए ।।

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन् ! आप **प्रातः** प्रभात-वेला में **नः** हमारे **धानावन्तम्** धारणा, ध्यान, समाधियों से युक्त अर्थात् उपासनाकाण्ड से युक्त, **करम्भिणम्** कर्मकाण्ड से युक्त, **अपूपवन्तम्** ज्ञानकाण्ड से युक्त, और **उक्थिनम्** सामगान से युक्त उपासना-यज्ञ को **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए ।।७।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।७।।

---

१. ऋ० ३।५२।१, य० २०।२९।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे जौ, सत्तू, पूड़े आदि सुगन्धित, मधुर, पुष्टिप्रद तथा आरोग्यदायक द्रव्यों का अग्नि में होम करके वायुमण्डल को स्वच्छ करें। इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड का आश्रय लेकर सामगान करते हुए परमात्मा की पूजा करें। इससे अभ्युदय और मोक्ष को साधें ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा, जीवात्मा, वैद्य, राजा, और सेनापति किस प्रकार 'नमुचि' का संहार करते हैं।

३ १र   २र ३   १ २ ३   १ २ ३ १ २
२११. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
१ ३   १र२र३   १ २
विश्वा यदजय स्पृधः ॥८॥[1]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म-पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन् व जीवात्मन्! तुम **अपां फेनेन** पानी के झाग के समान स्वच्छ सात्त्विक चित्त की तरंग से **नमुचेः** न छोड़ने वाले, प्रत्युत दृढ़ता से अपना पैर जमा लेने वाले पाप के **शिरः** सिर को अर्थात् ऊँचे उठे प्रभाव को **उदवर्तयः** पृथक् कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** सब **स्पृधः** पापरूप नमुचि के सहायक काम-क्रोध आदि शत्रुओं की स्पर्धाशील सेनाओं को **अजयः** जीतते हो।

द्वितीय आयुर्वेद के पक्ष में। हे **इन्द्र** रोगविदारक वैद्य! आप **अपां फेनेन** समुद्रफेन रूप औषध से **नमुचेः** शरीर को न छोड़ने वाले, दृढ़ता से जमे रोग के **शिरः** हानिकर प्रभाव को **उदवर्तयः** उच्छिन्न कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** समस्त **स्पृधः** स्पर्धालु, रोग-सहचर वेदना, वमन, मूर्छा आदि उत्पातों को **अजयः** जीतते हो॥

तृतीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** वीर राजन्! आप **अपाम्** राष्ट्र में व्याप्त प्रजाओं के **फेनेन** कर-रूप से प्राप्त तथा चक्रवृद्धि ब्याज आदि से बढ़े हुए धन से **नमुचेः** राष्ट्र को न छोड़ने वाले, प्रत्युत राष्ट्र में व्याप्त होकर स्थित दुःख, दरिद्रता आदि के **शिरः** सिर को, उग्रता को **उदवर्तयः** उच्छिन्न कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** समस्त **स्पृधः** हिंसा, रक्तपात, लूट-पाट, ठगी, तस्कर-व्यापार आदि स्पर्धालु वैरियों को **अजयः** पराजित कर देते हो॥

चतुर्थ सेनापति के पक्ष में। हे **इन्द्र** सूर्यवत् विद्यमान शत्रुविदारक सेनापति! आप **अपां फेनेन** जलों के झाग के समान उज्ज्वल शस्त्रास्त्र-समूह के द्वारा **नमुचेः** पीछा न छोड़ने वाले शत्रु के **शिरः** सिर को **उदवर्तयः** धड़ से अलग कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** सब **स्पृधः** स्पर्धा करने वाली शत्रुसेनाओं को **अजयः** जीतते हो॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है॥८॥

भावार्थ—जैसे कोई वैद्यराज समुद्रफेन औषध से रोग को नष्ट करता है, जैसे राजा प्रजा से कर-रूप में प्राप्त हुए धन से प्रजा के दुःखों को दूर करता है और जैसे सेनापति शस्त्रास्त्र-समूह से शत्रु का सिर काटता है, वैसे ही परमेश्वर और जीवात्मा मनुष्य के मन की सात्त्विक वृत्तियों से पाप को उन्मूलित करते हैं॥

यहाँ सायणाचार्य ने यह इतिहास प्रदर्शित किया है—पहले कभी इन्द्र असुरों को जीतकर भी नमुचि नामक असुर को पकड़ने में असमर्थ रहा। उल्टे नमुचि ने ही युद्ध करते हुए इन्द्र को पकड़ लिया।

---

१. ऋ० ८।१४।१३, य० १९।७१, ऋषिः शङ्खः। अथ० २०।२९।३।

पकड़े हुए इन्द्र को नमुचि ने कहा कि तुझे मैं इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि तू मुझे कभी न दिन में मारे, न रात में, न सूखे हथियार से मारे, न गीले हथियार से। जब इन्द्र ने यह शर्त मान ली तब नमुचि ने उसे छोड़ दिया। उससे छूटे हुए इन्द्र ने दिन-रात की सन्धि में झाग से उसका सिर काटा (क्योंकि दिन-रात की सन्धि न दिन कहलाती है, न रात, और झाग भी न सूखा होता है, न गीला)।" यह इतिहास दिखा कर सायण कहते हैं कि यही विषय इस ऋचा में प्रतिपादित है। विवरणकार माधव ने भी ऐसा ही इतिहास वर्णित किया है। असल में तो यह कल्पित कथानक है, सचमुच घटित कोई इतिहास नहीं है।।८।।

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमरसों के प्रति निमन्त्रित किया जा रहा है।

२१२. इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः।
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ।।९।।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन्! **ते** आपके लिए **इमे** ये वर्तमान काल में प्रस्तुत **सोमाः** हमारे मैत्रीरस हैं, **ये** जो **सुतासः** भूतकाल में भी निष्पादित हो चुके हैं, **सोत्वाः च** और भविष्य में भी निष्पादित होते रहेंगे। हे **प्रभूवसो** प्रचुर रूप से हमारे अन्दर सद्गुणों के बसाने वाले परमात्मन्! आप **तेषाम्** उनसे **मत्स्व** प्रमुदित हों।।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** जीवात्मन्! **ते** तेरे लिए **इमे** ये वर्तमान काल में प्रस्तुत **सोमाः** ज्ञानरस, कर्मरस और श्रद्धारस हैं, **ये** जो **सुतासः** पहले भूतकाल में भी निष्पादित हो चुके हैं, **सोत्वाः च** और भविष्य में भी निष्पादित किये जाने वाले हैं। हे **प्रभूवसो** मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि को बहुत अधिक बसाने वाले जीवात्मन्! **तेषाम्** उन रसों से **मत्स्व** तृप्ति प्राप्त कर, अर्थात् ज्ञानवान्, कर्मण्य और श्रद्धावान् बन।।९।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।।९।।

भावार्थ—सबको चाहिए कि उपासकों के मन में सद्गुणों को बसाने वाले, दिव्य धन के स्वामी परमेश्वर को सब कालों में मैत्री-रस से सिक्त करें और अपने आत्मा को ज्ञानरसों, कर्मरसों और श्रद्धा-रसों से तृप्त करें।।९।।

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि परमेश्वर स्तोताओं को सुख प्रदान करे।

२१३. तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ।।१०।।[1]

पदार्थ—हे **विभावसो** तेज रूप धन वाले परमेश्वर! **तुभ्यम्** आपके लिए **सोमाः** हमारे प्रीतिरस **सुतासः** निष्पादित किये गये हैं, और **बर्हिः** हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्** बिछाया गया है। हृदयासन पर बैठ-कर, हमारे प्रीतिरूप सोमरसों का पान करके, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परब्रह्म! आप **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं के लिए **मृडय** आनन्द प्रदान कीजिए।।१०।।

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से और उसके प्रति अपना प्रेमभाव समर्पण करने से उपासकों को ही सुख मिलता है।।१०।।

---

१. ऋ० ८।९३।२५, ऋषिः सुकक्षः। 'तुभ्यं सोमाः सुता इमे', 'स्तोतृभ्य इन्द्रमावह' इति पाठः।

इस दशति में इन्द्र का तरणि आदि रूप में वर्णन होने से, इन्द्र के सहचारी मित्र, मरुत् और अर्यमा की प्रशंसा होने से, इन्द्र द्वारा जल-फेन आदि साधन से नमुचि का सिर काटने आदि का वर्णन होने से और इन्द्र नाम से विद्वान्, वैद्य, राजा, सेनापति आदि के अर्थों का भी प्रकाश होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
द्वितीय अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'आ व इन्द्रम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ शुनःशेपः; २ श्रुतकक्षः; ३ त्रिशोकः; ४, ९ मेधातिथिः; ५ गोतमः; ६ ब्रह्मातिथिः; ७ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा; ८ प्रस्कण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के प्रति मनुष्यों का कर्त्तव्य वर्णित किया गया है ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२१४. आ व इन्द्रं कृविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
१ २ ३ १ २
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥१॥[1]

पदार्थ—हे साथियो ! **वाजयन्तः** बल, विज्ञान या ऐश्वर्य की इच्छा करते हुए **वः** तुम लोग **शतक्रतुम्** बहुत ज्ञानी और बहुत से कर्मों को करने वाले, **इन्द्रम्** परमात्मा को **इन्दुभिः** भक्तिरसों से **आ** आसिञ्चित करो । जैसे **वाजयन्तः** अन्नों की उत्पत्ति चाहने वाले किसान लोग **कृविम्** कृत्रिम कुएँ को खेतों में सिंचाई करने के लिए **इन्दुभिः** जलों से भरते हैं, उसी प्रकार मैं भी **मंहिष्ठम्** अतिशय दानी, सबसे महान् और पूज्यतम उस परमात्मा को **इन्दुभिः** भक्तिरसों से **सिञ्चे** सींचता हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा के साथ मित्रता करते हैं वे सदा आनन्दित होते हैं ॥१॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र किन वस्तुओं के साथ हमें प्राप्त हो ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २
२१५. अतश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया ।
३ २ ३ १ २ २
इषा सहस्रवाजया ॥२॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **अतः चित्** इसीलिए, अर्थात् क्योंकि हम पूर्वमन्त्रोक्त रीति से बलादि की कामना करते हुए आपको अपने मैत्रीरसों से सींचते हैं इस कारण हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! आप **शतवाजया** सैकड़ों बलों से युक्त और **सहस्रवाजया** सहस्रों विज्ञानों से युक्त **इषा** अभीष्ट आनन्दरस की धारा के साथ **नः** हमें **उप आयाहि** प्राप्त हों ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक धनपति राजन् ! आप **अतः चित्** इस अपनी

---

१. ऋ० १।३०।१।
२. ऋ० ८।९२।१०।

राजधानी से **शतवाजया** बहुत बल और वेग वाली तथा **सहस्रवाजया** सहस्र संग्राम करने में समर्थ **इषा** सेना के साथ **नः** शत्रुओं से पीड़ित हम प्रजाजनों को **उप आयाहि** प्राप्त हों।

तृतीय आचार्य के पक्ष में। हे **इन्द्र** अविद्या के विदारक और ज्ञान-धन से सम्पन्न आचार्यप्रवर! **त्वम्** आप अतः **चित्** इस अपनी कुटी **से शतवाजया** प्रचुर बल से युक्त, **सहस्रवाजया** बहुत ज्ञान से युक्त **इषा** ब्रह्मचर्यादि व्रतपालन की प्रेरणा के साथ **नः** हम शिष्यों को **उप आयाहि** प्राप्त हों ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है और उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है। 'वाजया' इस भिन्नार्थक शब्द की एक बार आवृत्ति होने से यमक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे राजा बलवती, संग्रामकुशल सेना के साथ प्रजाजनों को और आचार्य बलविद्या-युक्त सदाचार-प्रेरणा के साथ शिष्यों को प्राप्त होता है, वैसे ही परमात्मा बलविज्ञानयुक्त आनन्दरस की धारा के साथ हमें प्राप्त हो ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जीवात्मा, मन और परमात्मा का कृत्य वर्णित किया गया है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
२१६. आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद् वि मातरम्।
२ ३ १ २ २ २
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥[1]

पदार्थ—प्रथम जीव के पक्ष में। **जातः** मानवदेह में जन्मा, **वृत्रहा** दुष्टों के संहार करने में समर्थ जीवात्मा, **बुन्दम्** बाण को, शस्त्रास्त्रसमूह को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** अपनी माता से **वि पृच्छात्** पूछे कि हे माँ! **के** कौन लोग **उग्राः** दुष्ट हैं, **के ह** और कौन **शृण्विरे** सद्गुणों और सत्कर्मों से प्रख्यात कीर्ति वाले हैं, यह तुम बताओ, जिससे मैं दुष्टों को दण्डित करूँ और सज्जनों का सम्मान करूँ॥

द्वितीय मन के पक्ष में। **जातः** वेग आदि सामर्थ्य में प्रसिद्ध, **वृत्रहा** पापरूप वृत्र का संहार करने वाला इन्द्र अर्थात् सद्विचाररूप परमैश्वर्य वाला मन **बुन्दम्** शिवसंकल्परूप बाण को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** सत्-असत् के विवेक की निर्मात्री बुद्धि से **वि पृच्छात्** पूछे कि **के** कौन से विचार **उग्राः** उत्कट पाप वाले हैं, **के ह** और कौन से विचार **शृण्विरे** पुण्य से प्रख्यात हैं, यह बताओ, जिससे मैं पापात्मक विचारों का खण्डन और पुण्यात्मक विचारों का मण्डन करूँ॥

तृतीय राजा के पक्ष में। **जातः** प्रजाओं द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त, **वृत्रहा** राष्ट्र के आन्तरिक और बाह्य शत्रुरूप वृत्रों के संहार में समर्थ राजा **बुन्दम्** बाण को अर्थात् शासनदण्ड को अथवा शस्त्रास्त्रसमूह को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** राजा की निर्मात्री जनता से **वि पृच्छात्** विशेष रूप से पूछे कि **के** कौन लोग **उग्राः** प्रचण्ड कोप वाले शत्रु हैं, जो तुम्हें परेशान करते हैं, **के ह** और कौन **शृण्विरे** सद्गुण, सत्कर्म आदि के कारण विश्रुत हैं, प्रख्यात हैं, जो तुम्हारे साथ मित्र के समान आचरण करते हैं। बताओ, जिससे मैं शत्रुओं को दण्डित और मित्रों को सत्कृत करूँ ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जिन्होंने मानव-शरीर धारण किया है उन वीरों का और राजा का यह कर्तव्य है कि वे दुष्टों को दण्ड देकर पुण्यात्माओं का सत्कार करें। साथ ही सबको चाहिए कि वे मन और बुद्धि की सहायता से पापों को दूर कर पुण्यों का प्रसार करें ॥३॥

---

१. ऋ० ८।४५।४, 'पृच्छाद्' इत्यत्र 'पृच्छद्' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम अपनी रक्षा के लिए कैसे परमात्मा और राजा का आह्वान करें।

२१७. **बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये।**
साधः कृण्वन्तमवसे ॥४॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हम **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीय कीर्ति वाले, **सृप्रकरस्नम्** व्यापक कर्मों में निष्णात, और **अवसे** प्रगति के लिए **साधः** सूर्य, वायु, अग्नि, चाँदी, सोना आदि साधन-समूह को **कृण्वन्तम्** उत्पन्न करने वाले इन्द्र नामक परमात्मा को **ऊतये** रक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हम प्रजाजन **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीय कीर्ति वाले, **सृप्रकरस्नम्** घुटनों तक लम्बी बाहुओं वाले अथवा शत्रुनिग्रह, प्रजापालन आदि शुभ कर्मों में व्याप्त भुजाओं वाले, और **अवसे** प्रजाओं की प्रगति के लिए **साधः** शस्त्रास्त्र-ज्ञानविज्ञान-चिकित्सा आदि की सिद्धि को **कृण्वन्तम्** करने वाले इन्द्र राजा को **ऊतये** सुरक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं।

भावार्थ—पुरुषार्थी जन सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की और सुयोग्य राजा की सहायता से ही अपनी और समाज की प्रगति कर सकते हैं, इसलिए सबको उनकी सहायता माँगनी चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि इन्द्र से अधिष्ठित वरुण, मित्र आदि हमें सरल मार्ग से ले चलें।

२१८. **ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान्।**
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥[2]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन्! आपकी सहायता से **देवैः** चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ **सजोषाः** प्रीति वाला, **विद्वान्** ज्ञानी **वरुणः** पापों से निवारण करने वाला जीवात्मा, **मित्रः** प्राण, और **अर्यमा** मन **नः** हमें **ऋजुनीती** सरल धर्ममार्ग से **नयति** ले चलें।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे इन्द्र राजन्! **देवैः** अपने-अपने अधिकार में व्यवहार करने वाले राजपुरुषों के साथ **सजोषाः** प्रीति वाला अर्थात् अनुकूलता रखने वाला **विद्वान्** विद्वान् विद्यासभाध्यक्ष, **वरुणः** शत्रुनिवारक, शस्त्रास्त्रधारी सेनाध्यक्ष, **मित्रः** कुत्सित आचरणरूप मृत्यु से त्राण करने वाला धर्म-सभा का अध्यक्ष और **अर्यमा** न्यायसभा का अध्यक्ष **नः** हम प्रजाजनों को **ऋजुनीती** सरल धर्ममार्ग से **नयति** ले चलें।

तृतीय विद्वान् के पक्ष में। **देवैः** विद्या और व्रत-शिक्षा का दान करने वाले सब अध्यापकों से **सजोषाः** सामञ्जस्य रखता हुआ **वरुणः** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाला, छात्रों द्वारा आचार्य रूप में वरण किया गया व छात्रों को शिष्य रूप से वरने वाला, **मित्रः** पापरूप मरण से त्राण कराने वाला, **अर्यमा** न्यायकारी **विद्वान्** विद्वान् आचार्य **नः** हम शिष्यों को **ऋजुनीती** सरल विद्या-दान और व्रत-पालन करने की नीति से **नयति** आगे ले चले, अर्थात् हमें सुयोग्य विद्या-व्रत-स्नातक बनाये ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

१. ऋ० ८।३२।१०, 'साधः' इत्यत्र 'साधु' इति पाठः।
२. ऋ० १।९०।१, 'नयति' इत्यत्र 'नयतु' इति पाठः। विश्वेदेवाः देवता।

भावार्थ—शरीर में विद्यमान जीवात्मा, प्राण, मन आदि देव परमात्मा के पास से बल प्राप्त कर मनुष्यों को धर्म-मार्ग से ले जाते हैं। उसी प्रकार राष्ट्र में विद्यासभा, धर्मसभा और न्यायसभा के अध्यक्ष तथा सेना का अध्यक्ष प्रजाजनों को धर्ममार्ग में ले चलें। गुरुकुलवासी सुयोग्य अध्यापकों से युक्त, श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाला आचार्य भी शिष्यों को धर्म तथा विद्या के मार्ग में ले चले ।।५।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सूर्य के प्रकाश से और अध्यात्म-प्रकाश से दूरस्थ भी पदार्थ समीपस्थ के समान दीखते हैं।

२१९. दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत् ।
वि भानुं विश्वथातनत् ।।६।।[1]

पदार्थ—प्रथम खगोल पक्ष में। **अरुणप्सुः** चमकीले रूपवाला सूर्यरूपी इन्द्र **यत्** जब **दूरात्** खगोल में स्थित दूरवर्ती प्रदेश से, मंगल-बुध-चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को **इह इव सतः** मानों यहीं समीप में ही स्थित करता हुआ **अशिश्वितत्** चमकाता है, तब **भानुम्** अपने प्रकाश को **विश्वथा** बहुत प्रकार से **विअतनत्** विस्तीर्ण करता है।

द्वितीय अध्यात्म पक्ष में। **अरुणप्सुः** तेजस्वी रूप वाला इन्द्र परमेश्वर **यत्** जब, **दूरात्** दूर से अर्थात् व्यवधानयुक्त अथवा दूरस्थ प्रदेश से, पदार्थों को **इह इव सतः** यहाँ समीपस्थ के समान करता हुआ **अशिश्वितत्** योगी के मानस को प्रकाशित करता है, तब **भानुम्** भासमान जीवात्मा को **विश्वथ** सर्व प्रकार से **वि अतनत्** योगैश्वर्य प्राप्त कराकर विस्तीर्ण अर्थात् व्यापक ज्ञानवाला कर देता है ।।६।।

योगाभ्यासी मनुष्य को परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य आलोक से सूक्ष्म, ओट में स्थित और दूरस्थ पदार्थों का, दूरस्थित ताराव्यूहों का और ध्रुव आदि नक्षत्रों का समीपस्थ वस्तु के समान हस्तामलकवत् साक्षात्कार हो सकता है, यह योगदर्शन में विभूतिपाद में महर्षि पतंजलि ने कहा है। योगसिद्धियों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के विचार इसी मन्त्र की संस्कृत टिप्पणी में देखें।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'दूरस्थित को भी मानो समीप-स्थित करता हुआ' इसमें उत्प्रेक्षालंकार है ।।६।।

भावार्थ—चमकीला सूर्य जब अपने प्रकाश को मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्र आदि ग्रहोपग्रहों पर फेंकता है, तब उसके प्रकाश से वे प्रकाशित हो जाते हैं और वह प्रकाश हमारी आँखों पर प्रतिफलित होकर उन दूरस्थित पदार्थों को भी समीप में स्थित के समान दिखाता है। उसी प्रकार योगाभ्यास से योगियों के मनों में परमात्मा का दिव्य आलोक प्रतिबिम्बित होकर उनके अन्दर वह शक्ति उत्पन्न कर देता है, जिससे वे सूक्ष्म, ओट में स्थित तथा दूरस्थित पदार्थों को भी साक्षात् समीपस्थ के समान देखने लगते हैं ।।६।।

अगले मन्त्र में इन्द्र से अधिष्ठित ब्राह्मण और क्षत्रिय को सम्बोधन किया गया है।

२२०. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ।।७।।[2]

१. ऋ० ८।५।१ अश्विनौ देवते। 'सतोऽरुणप्सु' 'विश्वथा' इत्यत्र 'सत्यरुणप्सु' 'विश्वधा' इति पाठः।
२. ऋ० ३।६२।१६, य० २१।८ उभयत्र मित्रावरुणौ देवते, यजुषि 'विश्वामित्र' ऋषिः। साम० ६६३।

पदार्थ—इन्द्र परमात्मा और इन्द्र राजा के अधिष्ठातृत्व में चलने वाले हे **मित्रावरुणौ** ब्राह्मण और क्षत्रियो ! तुम दोनों **नः** हमारी **गव्यूतिम्** राष्ट्रभूमि को **घृतैः** घृत आदि पदार्थों से **आ उक्षतम्** सींचो अर्थात् समृद्ध करो । हे **सुक्रतू** उत्तम ज्ञान और कर्म वालो ! तुम दोनों **मध्वा** विद्यामधु के साथ **रजांसि** क्षात्रतेजों को उत्पन्न करो ।।७।।

भावार्थ—परमात्मा से प्रेरणा और राजा से सहायता पाकर ब्राह्मण और क्षत्रिय राष्ट्र की प्रजाओं में समृद्धि, विद्या, वीरता और क्षात्रतेज को यदि उत्पन्न करते हैं, तो राष्ट्र परम उत्कर्ष को पा सकता है ।।७।।

अगले मन्त्र में इन्द्र के अधीन रहनेवाले मरुतों का वर्णन है ।

२३ २ ३२३ २३ १ २ ३१ २
२२१. उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।
३ १ २३१२ २१
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ।।८।।[1]

पदार्थ—**प्रथम** वायुओं के पक्ष में । **सूनवः** परमेश्वररूप अथवा सूर्यरूप इन्द्र के पुत्र **त्ये** वे मरुद्-गण अर्थात् पवन **यज्ञेषु** वृष्टि-यज्ञों में, जब **गिरः** विद्युद्गर्जनाओं को तथा **काष्ठाः** मेघजलों को **उद् अत्नत** विस्तीर्ण करते हैं अर्थात् बिजली को गर्जाते हैं तथा बादलों के जलों पर आघात करते हैं, तब **वाश्राः** रिमझिम करते हुए वर्षाजल **अभिज्ञु** पृथिवी की ओर **यातवे** जाना आरंभ कर देते हैं, अर्थात् वर्षा होने लगती है ।

द्वितीय सैनिकों के पक्ष में । **सूनवः** सेनापतिरूप इन्द्र के पुत्रों के समान विद्यमान **त्ये** वे सैनिक-रूप मरुद्गण **यज्ञेषु** जिनमें मुठभेड़ होती है ऐसे संग्रामयज्ञों में **गिरः** जयघोषों को **उद् अत्नत** आकाश में विस्तीर्ण करते हैं, तथा **काष्ठाः** दिशाओं को **उद् अत्नत** लाँघ जाते हैं । **अभिज्ञु** घुटने झुका-झुकाकर **यातवे** चलने पर, उनके लिए **वाश्राः** उत्साहवर्धक शब्द उच्चारण किये जाते हैं ।

हे मरुतो ! शत्रु को परे भगाने के लिए तुम्हारे हथियार चिरस्थायी हों और शत्रुओं का प्रतिरोध करने के लिए सुदृढ़ हों (ऋ० १।३९।२) इत्यादि वैदिक वर्णन मरुतों का सैनिक होना सूचित करते हैं ।

तृतीय अध्यात्म पक्ष में । जीवात्मा रूप इन्द्र से सम्बद्ध **त्ये** वे **गिरः** शब्दोच्चारण के साधनभूत **सूनवः** प्रेरक प्राण **यज्ञेषु** योगाभ्यास-रूप यज्ञों में, जब **काष्ठाः** चित्त की दिशाओं को **उत् अत्नत** उ ऊर्ध्व-गामिनी कर देते हैं, तब **अभिज्ञु** घुटने मोड़कर पद्मासन बाँधकर **यातवे** मोक्ष की ओर जाने के लिए, उनके चित्त में **वाश्राः** धर्ममेघ समाधिजन्य वर्षाएँ होती हैं ।।८।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।८।।

भावार्थ—पवन जैसे आकाश में बिजली की गर्जना करते हैं, वैसे ही सेनापति के अधीन रहने वाले योद्धा लोग संग्रामरूप यज्ञ में जयघोषों से सब दिशाओं को भरपूर कर दें । जैसे पवन बादलों में स्थित जलों को भूमि पर बरसाते हैं, वैसे ही प्राण योगी की चित्तभूमि में धर्ममेघ समाधि को बरसावें ।।८।।

---

१. ऋ० १।३७।१०, 'यज्ञेष्वत्नत' इत्यत्र 'अज्मष्वत्नत' इति पाठः । मरुतो देवताः । कण्वो घौरः ऋषिः ।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे विष्णु तीन प्रकार से अपने कदम भरता है।

२२२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥[1]

पदार्थ—यहाँ मन्त्र का देवता इन्द्र है, अतः विष्णु इन्द्र का विशेषण समझना चाहिए। **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **विष्णुः** चराचर जगत् में व्याप्त होने वाला परमेश्वर **इदम्** इस सब जगत् में **वि चक्रमे** व्यापक है। **त्रेधा** तीन प्रकार से—अर्थात् उत्पादक, धारक और विनाशक इन तीन रूपों में उस जगत् में वह **पदम्** अपने पैर को अर्थात् अपनी सत्ता को **निदधे** रखे हुए है। किन्तु **अस्य** इस परमेश्वर का, वह पैर अर्थात् अस्तित्व **पांसुले** पाञ्चभौतिक इस जगत् में **समूढम्** छिपा हुआ है, चर्म-चक्षुओं से अगोचर है। जैसे धूलि वाले प्रदेश में **समूढम्** छिपा हुआ **पदम्** किसी का पैर दिखाई नहीं देता है, यह यहाँ ध्वनि निकल रही है॥

द्वितीय सूर्य के पक्ष में। **विष्णुः** अपने प्रकाश से सबको व्याप्त करने वाला सूर्य **इदम्** इस सब ग्रहोपग्रह-चक्र में **विचक्रमे** अपने किरणरूप चरणों को रखे हुए है। **त्रेधा** भूगर्भ, भूतल और आकाश इन तीनों स्थानों पर, उसने **पदम्** अपने किरणसमूह-रूप पैर को **निदधे** रखा हुआ है। किन्तु **पांसुले** धूलिमय भूगर्भ में **अस्य** इस सूर्य का किरणरूप पैर **समूढम्** तर्कणा-गम्य ही है, प्रत्यक्ष नहीं है॥९॥

यहाँ श्लेषालंकार और उपमाध्वनि है॥९॥

भावार्थ—विष्णु सूर्य अपनी किरणों से व्याप्त होकर सब ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है। सूर्य के ही ताप से ओषधि, वनस्पति आदि पकती हैं। सूर्य यद्यपि तीनों स्थानों पर अपने किरण-रूप पैर रखे हुए है, तो भी उसकी किरणें पृथ्वीतल पर और आकाश में ही प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देती हैं, भूगर्भ में भी पहुँचकर कैसे वे मिट्टी के कणों को लोहे, ताँबे, सोने आदि के रूप में परिणत कर देती हैं यह सबकी आँखें नहीं देख सकतीं, अपितु भूगर्भवेत्ता वैज्ञानिक लोग ही इस रहस्य को जानते हैं। वैसे ही विष्णु परमेश्वर ने अपनी सत्ता से ब्रह्माण्ड को व्याप्त किया हुआ है। वह सब पदार्थों को सृष्टि के आरम्भ में पैदा करता है, पैदा करके धारण करता है और प्रलयकाल में उनका संहार कर देता है। यह तीन रूपों वाला उसका कार्य तीन प्रकार से पैर रखने के रूप में वर्णन किया गया है। यद्यपि वह सभी जगह अपना पैर रखे हुए है, तो भी जैसे किसी का धूल में छिपा हुआ पैर नहीं दीखता है, वैसे ही उसका सर्वत्र विद्यमान स्वरूप भी दृष्टिगोचर नहीं होता है॥९॥

इस दशति में इन्द्र के गुणवर्णनपूर्वक उसका आह्वान करने के कारण, उसके सहायक मित्र, वरुण और अर्यमा के नेतृत्व की याचना के कारण और मित्रावरुण, मरुत् तथा विष्णु के गुणकर्मों का कीर्तन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० १।२२।१७, य० ५।१५, अथ० ७।२६।४, सर्वत्र देवता विष्णुः, 'पांसुले' इत्यत्र च 'पांसुरे' इति पाठः। साम० १६६९।

॥४॥ अथ 'अतीहि मन्युषाविणम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७, ८ मेधातिथिः; २ वामदेवः; ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ; ४ विश्वामित्रः; ६ कौत्सो दुर्मित्रः सुमित्रो वा; ९ विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा; १० श्रुतकक्षः ॥
देवता— इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र किसके सोमरस का पान करे ।

२२३. अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय ।
अस्य रातौ सुतं पिब ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म-पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **मन्युषाविणम्** जो उदासीन भाव से अर्थात् हृदय में प्रीति रखे बिना उपासना करता है उसे **अति इहि** लाँघ जाइये । **सुषुवांसम्** हार्दिक प्रीति से उपासनारस अभिषुत करने वाले को **उप-आ-ईरय** अपने समीप ले आइये । **अस्य** इस यजमान के **रातौ** आत्म-समर्पण-प्रवृत्त होने पर **सुतम्** अभिषुत श्रद्धारस का **पिब** पान कीजिए ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे इन्द्र राजन् ! आप **मन्युषाविणम्** क्रोध उगलनेवाले दुष्ट शत्रु को **अति-इहि** पराजित कीजिए । **सुषुवांसम्** कर-प्रदान रूप सोमयाग करने वाले प्रजाजन को **उप-आ-ईरय** प्राप्त होकर शुभ कर्मों में प्रेरित कीजिए । **अस्य** इस प्रजाजन के **रातौ** करप्रदान के प्रवृत्त होने पर **सुतम्** दिये हुए कर को **पिब** स्वीकार कीजिए । और स्वीकार करके उसे सहस्रगुणित रूप में प्रजा-कल्याण के कार्य में ही व्यय कर दीजिए, जैसे सूर्य भूमिष्ठ रसों को सहस्रगुणित रूप में बरसा देने के लिए ही ग्रहण करता है ।

तृतीय अध्ययनाध्यापन पक्ष में । हे इन्द्र ! विद्युत् के समान तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थी ! तू **मन्युषाविणम्** क्रोध, द्वेष आदि से विद्यादान करने वाले गुरु को **अति-इहि** त्याग दे, उसके पास विद्या पढ़ने के लिए मत जा । **सुषुवांसम्** प्रेम से विद्या दान करने वाले के पास ही **उप-आ-ईरय** पहुँचकर विद्या पढ़ने के लिए प्रार्थना कर । **अस्य** उस गुरु के **रातौ** विद्यादान के प्रवृत्त होने पर **सुतम्** ज्ञानरस को **पिब** पी ।

इससे यह अभिप्राय सूचित होता है कि अध्यापक को छात्रों के प्रति दिव्य मन रखते हुए रमण-पद्धति से पढ़ाना चाहिए । अथर्ववेद में छात्रों की ओर से आचार्य को कहा गया है कि हे वाणी के अधि-पति तथा विद्याधन के स्वामी आचार्यप्रवर ! आप दिव्य मन के साथ हमारे बीच में पुनः-पुनः आइये और ऐसी रमण-पद्धति से हमें विद्यादान दीजिए कि सुना हुआ शास्त्र कभी भूलें नहीं (अथ० १।१।२) ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—परमेश्वर उसके श्रद्धारस को स्वीकार नहीं करता जो उदासीन मन से देता है । राजा भी शत्रु को नहीं, अपितु कर (टैक्स) देने वाले प्रजाजन को ही बढ़ाता है । गुरुओं को भी सरल पद्धति से और प्रेमपूर्वक ही छात्रों को पढ़ाना चाहिए, जटिल पद्धति से तथा क्रोध-विद्वेष आदि के वशो-भूत होकर नहीं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।३२।२१ 'मुपेरय' इत्यत्र 'मुपारणे', 'अस्य रातौ' इत्यत्र च 'इमं रातं' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि परमात्मा की स्तुति हम क्यों करें।

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
२२४. कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
१र २र ३ १ २
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥२॥

पदार्थ—**कत् उ** किसलिए **प्रचेतसे** प्रकृष्ट ज्ञान वा प्रकृष्ट चित्त वाले, **महे** महान् **देवाय** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले इन्द्र परमेश्वर के लिए **वचः** स्तुति-वचन **शस्यते** उच्चारण किया जाता है ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर है—**हि** क्योंकि **तत्** वह स्तुति-वचन **अस्य** इस स्तुतिकर्ता यजमान का **वर्धनम्** बढ़ाने वाला होता है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर के लिए जो स्तुति-वचन कहे जाते हैं, उनसे स्तोता की ही वृद्धि और उन्नति होती है, यह जानना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में यह बताते हैं कि किसका किया हुआ भी कार्य व्यर्थ होता है।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
२२५. उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत ।
१ २ ३ २ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥[1]

पदार्थ—**अगोः** अश्रद्धालु जन का **न** न तो **शस्यमानम्** उच्चारण किया जाता हुआ **उक्थम् च** स्तोत्र ही, **न** न ही **रयिः** दान किया जाता हुआ धन, **न** न ही **गीयमानम्** गान किया जाता हुआ **गायत्रम्** सामगान **आ चिकेत** कभी किसी से जाना गया है। अतः श्रद्धापूर्वक ही परमेश्वर-विषयक स्तुति आदि कर्म करना चाहिए ॥

इस मन्त्र में स्तोत्रोच्चारण, गायत्रगान आदि कारण के होने पर भी उनके ज्ञान-रूप कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित होने से विशेषोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—श्रद्धा-रहित मनुष्य का उच्चारण किया गया भी स्तोत्र अनुच्चारित के समान होता है, दिया हुआ भी दान न दिये हुए के समान होता है और गाया हुआ भी सामगान न गाये हुए के समान होता है। इसलिए श्रद्धा के साथ ही सब शुभ कर्म सम्पादित करने चाहिएँ ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर कैसा है, और राजा कैसा हो।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२२६. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवान्त्सुतानां सखा ॥४॥

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, विघ्नों को विदीर्ण करने वाला, सुख आदि का प्रदाता परमेश्वर **उक्थेभिः** वेदमन्त्रों से **मन्दिष्ठः** अतिशय आनन्दित करने वाला, **वाजानां च** तथा सब बलों का **वाजपतिः** बलपति, **हरिवान्** प्रशस्त प्राणवाला, और **सुतानाम्** सब पुत्र-पुत्रियों का **सखा** मित्र है ॥

---

१. ऋ० ८।२।१४ 'शस्यमानमगोररिराचिकेत' इति पाठः।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **इन्द्रः** राजा **उक्थेभिः** कीर्तियों से **मन्दिष्ठः** सबको अत्यन्त आनन्द देने वाला, **वाजानां च** सब प्रकार के अन्नों, धनों, बलों और विज्ञानों का **वाजपतिः** स्वामी, **हरिवान्** जितेन्द्रिय अथवा राज्य में विद्युत् आदि से चलने वाले तीव्रगामी भूमियान, जलयान और विमानों का प्रबन्ध करने वाला और **सुतानाम्** पुत्रतुल्य प्रजाजनों का **सखा** मित्र हो ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'वाजा, वाज' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जैसे विश्व का सम्राट् परमेश्वर अनेक प्रकार के गुण-समूहों का अग्रणी है, वैसे ही प्रजाओं के बीच जो मनुष्य यशस्वी, यश देने वाला, धनपति, बलवान्, विज्ञानी, जितेन्द्रिय, सुप्रबन्धक और सबके साथ सौहार्द से बरतने वाला हो, उसी को राजा के पद पर अभिषिक्त करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को उपासनायज्ञ में निमन्त्रित किया जा रहा है।

२२७. आ याह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः।
महाँ इव युवजानिः ॥५॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन्! महान् आप **वाजेभिः** आध्यात्मिकबलरूप तथा योगैश्वर्यरूप उपहारों के साथ **नः** हमारे **सुतम्** प्रारम्भ किये हुए उपासना-यज्ञ में **आ याहि** आइये, **मा हृणीयथाः** रोष वा संकोच मत कीजिए, **इव** जैसे **युवजानिः** युवति पत्नी वाला **महान्** गुणों से महान् कोई पुरुष, बहुमूल्य उपहारों के साथ पत्नी-सहित दूसरों के यज्ञ में जाता है ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे रूपवती भार्या वाला कोई महान् पुरुष सामान्यजनों के भी निमन्त्रण को स्वीकार कर, उपहार लेकर भार्या के साथ उनके यज्ञ में जाता है, वैसे ही महान् परमात्मा भी हम तुच्छों से भी आयोजित उपासना-यज्ञ में आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपहार लेकर आये ॥५॥

अगले मन्त्र में भौतिक तथा दिव्य वर्षा की कामना करता हुआ कोई कह रहा है।

२२८. कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥६॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** भौतिक वर्षा के पक्ष में। बहुत समय तक वर्षा न होने पर जल के अभाव से पीड़ित मनुष्य कहता है—हे **वसो** निवासप्रद इन्द्र जगदीश्वर! वर्षा के लिए **स्तोत्रम्** स्तोत्र को **हर्यते** आपके प्रति पहुँचाते हुए मेरे लिए **कदा** कब **श्मशा** वर्षाजल से परिपूर्ण नदी या नहर **वाः** जल को **आ अवरुधत्** लाकर खेत, जलाशय आदि में रोकेगी? मैंने **वाताप्याय** वर्षा-जल के लिए **दीर्घम्** लम्बे समय तक **सुतम्** वृष्टियज्ञ किया है।

द्वितीय अध्यात्म-वर्षा के पक्ष में। दिव्य आनन्दरस से परिपूर्ण परमेश्वर के पास से आनन्दरस की वर्षा की कामना करता हुआ साधक कह रहा है—हे **वसो** मुझ निर्धन के धन, निवासदाता जगदीश्वर!

---

१. ऋ० ८।२।१९, 'ओ षु प्रयाहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्यस्मान्' इति तत्र पूर्वार्द्धपाठः।

२. ऋ० १०।१०५।१ 'आ अव' इत्यत्र 'आव' इति पाठः।

आनन्दरस की वर्षा के लिए **स्तोत्रम्** स्तुति को **हर्यते** आपके प्रति पहुँचाते हुए मेरे लिए **कदा** कब **श्मशा** आपके पास से बहती हुई आनन्द-रस की धारा **वाः** आनन्द-रस को **आ अवरुधत्** लाकर मेरे हृदयरूप क्षेत्र या जलाशय में रोकेगी ? हे रसागार ! चिरकालीन दुःख के दावानल **से** दग्ध **मैंने वाताप्याय** दिव्य आनन्द-जल की वर्षा पाने के लिए **दीर्घम्** लम्बे समय तक **सुतम्** श्रद्धारस प्रस्तुत करते हुए **अध्यात्म-यज्ञ** निष्पन्न किया है । तो भी आनन्द-रस की वर्षा मुझे क्यों नहीं प्राप्त हो रही है ? ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे अनावृष्टि होने पर वर्षा के लिए लम्बा वृष्टियज्ञ किया जाता है, वैसे ही आनन्द-रस का प्यासा मैं आनन्द-रस की वर्षा को पाने के लिए दीर्घ ध्यान-यज्ञ चिरकाल से कर रहा हूँ । तो भी हे प्रभो, क्यों आप आनन्द-वारि नहीं बरसा रहे हैं ? बरसाओ, बरसाओ, हे देव, दिव्य आनन्द को बरसाओ । नहीं तो अनेक प्रकार के सांसारिक संतापों से संतप्त हुआ मैं जीवन धारण भी नहीं कर सकूंगा ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य की मित्रता की याचना की गयी है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १

२२९. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु ।

२ ३ २ ३ १ २ २ १

तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! आप **राधसः** ध्यान-यज्ञ के साधक **ब्राह्मणात्** वेद तथा ईश्वर के ज्ञाता मुझ से **ऋतून् अनु** ऋतुओं के अनुरूप, समयानुसार **सोमम्** मेरे मैत्री-रस का **पिब** पान कीजिए । मेरे साथ **तव** आपकी **इदम्** यह **सख्यम्** मित्रता **अस्तृतम्** अविनष्ट अर्थात् चिरस्थायी रहे ॥

द्वितीय गुरुशिष्य के पक्ष में । हे **इन्द्र** विद्युत् के समान तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थी ! तू **राधसः** अध्ययन-अध्यापन यज्ञ के साधक **ब्राह्मणात्** ब्रह्मवेत्ता, वेदवेत्ता और ब्राह्मण स्वभाव वाले आचार्य से **ऋतून् अनु** प्रत्येक ऋतु में **सोमम्** ज्ञानरस को **पिब** पी । **तव** तेरी **इदम्** यह गुरुशिष्य-सम्बन्ध-रूप **सख्यम्** मित्रता **अस्तृतम्** अविनष्ट रहे ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जो परमात्मा और गुरु की मैत्री प्राप्त करते हैं वे सदा सुखी होते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के स्तुति-विषय का वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

२३०. वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।

१ २

त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **गिर्वणः** वेदवाणियों से भजनीय ! **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **वयम्** हम **स्तोतारः** स्तोता लोग **घ** निश्चय ही **ते अपि** तेरे ही **स्मसि** हैं । हे **सोमपाः** हमारे मैत्री रस का पान करने वाले ! **त्वम्** तू **नः** हमें **जिन्व** तृप्त कर ॥८॥

---

१. ऋ० १।१५।५ 'तवेदं' इत्यत्र 'तवेद्धि' इति पाठः ।

२. ऋ० ८।३२।७ 'स्मसि' इत्यत्र 'ष्मसि' इति पाठः ।

भावार्थ—जो लोग परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, परमात्मा भी उन्हें सदा सुखी करता है ।।८।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से बलादि की प्रार्थना की गयी है ।

२३१. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ।।९।।

पदार्थ—हे इन्द्र शत्रुविदारक तथा दुःखच्छेदक परमात्मन् और राजन् ! आप **कासुचित् पृक्षु** जिन किन्हीं भी देवासुर-संग्रामों में **नः** हमारे **तनूषु** शरीरों में **नृम्णम्** बल **आधेहि** स्थापित कीजिए। हे **सत्राजित्** सत्यजयी अथवा सदाजयी, **उग्र** तीव्र तेज वाले परमात्मन् व राजन् ! आप हममें **पौंस्यम्** धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ को स्थापित कीजिए ।।९।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।९।।

भावार्थ—जैसे परमात्मा सभी आन्तरिक और बाह्य संग्रामों में शत्रुओं को जीतने और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है, वैसे ही राजा भी करे ।।९।।

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की स्तुति की गयी है ।

२३२. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ।।१०।।[1]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् अथवा राजन् ! **एव हि** सचमुच, आप **वीरयुः** वीरों को चाहने वाले **असि** हैं । **एव** सचमुच, आप **शूरः** शूरवीर **उत** और **स्थिरः** अविचल हैं । **एव** सचमुच ही **ते** आपका **मनः** मन **राध्यम्** सत्कर्मों आदि द्वारा अनुकूल किये जा सकने योग्य है ।।१०।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर स्वयं वीर, सुस्थिर और किसी से जीता न जा सकने वाला होकर संसार में वीरों की ही कामना करता है, डरपोकों की नहीं, वैसा ही राजा भी हो ।।१०।।

इस दशति में इन्द्र को सोमपान के लिए निमन्त्रित करने, उसके सखित्व का महत्त्व वर्णन करने, उससे बल की याचना करने, शूर आदि के रूप में उसकी स्तुति करने तथा इन्द्र शब्द से आचार्य, राजा आदि के भी चरित्र का वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
द्वितीय अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त ।
यह द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।।

---

१. ऋ० ८।९२।२८, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । अथ० २०।६०।१, ऋषिः सुकक्षः सुतकक्षो वा । साम० ८२४ ।

अथ तृतीयोऽध्याय:

।।५।। अथ 'अभि त्वा शूर' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,६,९ वसिष्ठः; २ भरद्वाजः; ३ बालखिल्याः; ४ नोधाः, ५ कलिः प्रागाथः; ७ मेधातिथिः; ८ भर्गः; १० प्रगाथः काण्वः ।। देवता—१-८, १० इन्द्रः; ९ मरुतः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

प्रथम मन्त्र में गुणवर्णनपूर्वक परमात्मा की स्तुति की गयी है ।

२३३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **शूर** विक्रमशाली **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर ! **अस्य** इस सामने दिखाई देनेवाले **जगतः** जंगम के **ईशानम्** अधीश्वर, और **तस्थुषः** स्थावर के **ईशानम्** अधीश्वर, **स्वर्दृशम्** मोक्ष-सुख का दर्शन कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके, हम प्रजाजन **अदुग्धाः धेनवः इव** न दोही गयीं गायों के समान, अर्थात् न दोही गयीं गायें जैसे अपने बछड़े को देखकर उसे दूध पिलाने के लिए रँभाती हैं वैसे **नोनुमः** अतिशय बारंबार आपकी स्तुति कर रहे हैं। आप हमारे लिए वैसे ही प्रिय हैं, जैसे गाय को बछड़ा प्यारा होता है, यह यहाँ ध्वनित हो रहा है ।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ—जैसे गौएँ बछड़े को अपना दूध पिलाकर बदले में सुख प्राप्त करती हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर से प्रीति जोड़कर सब प्रकार के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का सुख प्राप्त करें ।।१।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है ।

२३४. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।।२।।[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** विपत्ति के विदारक और सब सम्पत्तियों के दाता परमेश्वर व राजन् ! **कारवः** स्तुतिकर्ता, कर्मयोगी हम लोग **वाजस्य** बल की **सातौ** प्राप्ति के निमित्त **त्वाम् इत् हि** तुझे ही **हवामहे** पुकारते हैं। **नरः** पौरुष से युक्त हम **वृत्रेषु** पापों एवं शत्रुओं का आक्रमण होने पर **सत्पतिम्** सज्जनों के रक्षक **त्वाम्** तुझे पुकारते हैं। **अर्वतः** घोड़े आदि सेनांगों के अथवा आग्नेयास्त्रों और वैद्युतास्त्रों के **काष्ठासु** संग्रामों में भी **त्वाम्** तुझे पुकारते हैं ।।२।।

भावार्थ—परमेश्वर और राजा आदि का आह्वान मनुष्यों को स्वयं कर्मण्य होकर ही करना चाहिए। जब पापरूप या पापीरूप वृत्र आक्रमण करते हैं, अथवा जब दैत्यों के साथ देवपुरुषों का हाथी,

---

१. ऋ० ७।३२।२२, य० २७।३५, अथ० २०।१२१।१, साम० ६८० ।

२. ऋ० ६।४६।१, अथ० २०।९८।१, उभयत्र 'सातौ' इति स्थाने 'साता' इति पाठः । य० २७।३७ । साम० ८०९ । सर्वत्र शंयुः ऋषिः ।

घोड़े, रथ, पैदल, योद्धा इन सेनांगों के द्वारा और आग्नेयास्त्रों या बिजली के अस्त्रों द्वारा घोर भयंकर युद्ध प्रवृत्त होता है, तब परमेश्वर और राजा से सहयोग, प्रेरणा, बल और साहस प्राप्त करके शत्रु को धूल में मिला देना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर की अर्चना के लिए प्रेरित किया गया है ॥३॥

२३५. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥३॥[1]

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम **सुराधसम्** प्रशस्त धनों वाले और शुभ सफलता को देने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **प्र अर्च** भलीभाँति ऐसी अर्चना करो **यथा** जिससे कि वह अर्चना **विदे** जान ली जाए, **यः** जो प्रसिद्ध **मघवा** ऐश्वर्यवान् **पुरूवसुः** बहुत अधिक बसाने वाला अथवा बहुतों को बसाने वाला परमेश्वर **जरितृभ्यः** स्तोताओं के लिए **सहस्रेण इव** मानो हजार हाथों से **शिक्षति** भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति प्रदान करता है ॥३॥

इस मन्त्र में 'सहस्रेणेव शिक्षति' में उत्प्रेक्षालङ्कार है ॥३॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि बहुत सम्पत्ति के स्वामी, पुरुषार्थियों को सफलता देने वाले, निवासक, भूरि-भूरि सुख-सम्पदा को बरसाने वाले परमेश्वर की श्रद्धा के साथ पूजा करें ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि वह परमात्मा कैसा है, जिसकी हम स्तुति करते हैं ।

२३६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥४॥[2]

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम्हारे और हमारे **दस्मम्** दर्शनीय अथवा दुःखों का क्षय करने वाले, **ऋतीषहम्** आक्रान्ता काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने वाले, **वसोः** धनभूत **अन्धसः** भक्तिरूप सोमरस से **मन्दानम्** आनन्दित होने वाले **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** परमेश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **स्वसरेषु** दिनों के आविर्भाव-काल में अथवा घरों में **गीर्भिः** वाणियों से, हम **नवामहे** स्तुति करते हैं, **न** जैसे **धेनवः** दूध देने वाली गौएँ **वत्सम् अभि** बछड़े के प्रति **स्वसरेषु** प्रातः दोहन-वेला में अथवा गोशालाओं में रंभाती हैं ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे दिन निकलने पर गोशालाओं में स्थित गौएँ बछड़े को देखकर दूध पिलाने के लिए प्रेम से रँभाने लगती हैं, वैसे ही परमात्मा के प्रति हम प्रजाओं को प्रेम में भरकर स्तुतिगीत गाने चाहिएँ ॥४॥

---

१. ऋ० ८।४९।१, अथ० २०।५१।१, साम० ८११, सर्वत्र प्रस्कण्वः ऋषिः ।
२. ऋ० ८।८८।१, य० २६।११, साम० ६८५, अथ० २०।९।१, ४९।४ ।

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर को स्मरण-योग्य कहा गया है।

२३७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद् गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥[1]

पदार्थ—हे साथियो! **वः** तुम लोग **सबाधः** जब बाधाओं से आक्रान्त होओ तब **ऊतये** रक्षा के लिए **सुतसोमे** जिसमें श्रद्धा और कर्मरूप सोम का निष्पादन किया गया है ऐसे **अध्वरे** हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **तरोभिः** वेगों और बलों के साथ **विदद्वसुम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर के **बृहत्** बहुत अधिक **गायन्तः** गीत गाओ। मैं भी **भरम् न** कुटुम्ब का भरण-पोषण करने वाले गृहपति के समान **कारिणम्** कर्मशील उस परमेश्वर का **हुवे** आह्वान करता हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—जब-जब मनुष्य अपने जीवन में विघ्न-बाधाओं से पीड़ित होते हैं, तब-तब उन्हें परमेश्वर का स्मरण करना चाहिए। स्मरण करने पर वह उन्हें पुरुषार्थ में और कर्मयोग में प्रवृत्त करता है। जैसे कोई गृहपति कर्मपरायण होकर ही कुटुम्ब के भरण-पोषण में समर्थ होता है, वैसे ही परमेश्वर भी कर्मपरायण होकर ही विश्व को धारण करता है और सब उपासकों को भी कर्मयोग में प्रेरित करता है ॥५॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा की अनुकूलता प्राप्त करने का विषय है।

२३८. तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥६॥[2]

पदार्थ—तरणिः दुःखों से तराने वाला इन्द्र परमेश्वर अथवा इन्द्र राजा **इत्** अवश्य **युजा** सदा साथ रहने वाली **पुरन्ध्या** अपनी महती बुद्धि और क्रिया से **वाजम्** बल, धन और विज्ञान **सिषासति** बाँटता या देता है। इसलिए मैं **पुरुहूतम्** बहुतों द्वारा स्तुत **इन्द्रम्** उस परमेश्वर वा राजा को **गिरा** वाणी के द्वारा **वः** आप लोगों के लिए **आनमे** कार्य में प्रवृत्त करता हूँ, **तष्टा इव** जैसे शिल्पी **नेमिम्** रथचक्र की परिधि को **सुद्रुवम्** सुप्रवृत्त करता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमा अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—उत्तम प्रज्ञा वाला तथा उत्तम कर्मों वाला परमेश्वर और राजा यथायोग्य मनुष्यों को सुख, धन, विद्यादि प्रदान करता है, अतः प्रार्थना-वचनों से सबको उन्हें अपनी ओर प्रवृत्त करना चाहिए। जैसे रथ-चक्र के प्रवृत्त होने से ही रथ में बैठे लोग गन्तव्य स्थान को पहुँच सकते हैं, वैसे ही परमेश्वर और राजा की प्रजा की ओर प्रवृत्ति होने से ही लोगों का अभ्युदय हो सकता है ॥६॥

---

१. ऋ० ८।६६।१, साम० ६८७।
२. ऋ० ७।३२।२० 'सुद्रुवम्' इत्यत्र 'सुद्र्वम्' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि परमेश्वर और राजा हमारी वृद्धि के लिए होवें।

२३९. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर! आप **रसिनः** रसीले **सुतस्य** निष्पादित भक्तिभावरूप सोमरस का **पिब** पान कीजिए। **गोमतः** प्रशस्त इन्द्रियों और प्रशस्त वेदवाणियों का पाठ करने वाले **नः** हमें **मत्स्व** आनन्दित कीजिए। **सधमाद्ये** जिसमें सब राष्ट्रों के लोग परस्पर मिलकर आनन्दलाभ करते हैं ऐसे विश्वयज्ञ में **वृधे** वृद्धि के लिए **आपिः** बन्धु बनकर **नः** हमें **बोधि** बोध प्रदान कीजिए। **ते** आपकी **धियः** बुद्धियाँ और कर्म **अस्मान्** हमें **अवन्तु** रक्षित करें॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** ऐश्वर्यशाली राजन्! आप **रसिनः** रसीले **सुतस्य** निचोड़कर तैयार किये हुए सोमादि ओषधियों के रस का **पिब** पान कीजिए। उससे शक्तिशाली होकर आप **गोमतः** प्रशस्त भूमियों के स्वामी **नः** हम लोगों को **मत्स्व** आनन्दित कीजिए। **सधमाद्ये** जिसमें सब प्रजाजन मिलकर सुखी होते हैं ऐसे राष्ट्रयज्ञ में **वृधे** वृद्धि के लिए **आपिः** बन्धु बनकर **नः** हम प्रजाजनों को **बोधि** जागरूक कीजिए। **ते** आपकी **धियः** राजनीति में चतुर बुद्धियाँ और राष्ट्रोत्थान के कर्म **अस्मान्** हमें **अवन्तु** रक्षित करें॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा और राजाओं के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र की उन्नति, प्रजाओं का आनन्द और विश्वशान्ति हो सकती है॥७॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

२४०. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर वा राजन्! **त्वं हि** आप **चेरवे** मुझ पुरुषार्थी के हित के लिए **आ इहि** आइए। **वसुत्तये** मुझ धन के दानी के लिए **भगम्** धन **विदाः** प्राप्त कराइए। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! आप **गविष्टये** मुझ प्रशस्त इन्द्रिय, पृथिवीराज्य, विद्याप्रकाश आदि के अभिलाषी के लिए **उद्वावृषस्व** धन, विद्या आदि की अतिशय पुनः पुनः वर्षा कीजिए। आप **अश्वमिष्टये** घोड़े, बल, वेग, प्राण आदि के इच्छुक मेरे लिए **उद्वावृषस्व** अतिशयरूप से पुनः पुनः इन वस्तुओं को बरसाइए॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'आ, जान, बरसा' इन सब क्रियाओं का एक कर्ताकारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार भी है। 'ष्टय, ष्टये' में छेकानुप्रास और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद के अन्त में 'अये' होने से अन्त्यानुप्रास भी है॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा आदि राज्याधिकारीगण उसी की सहायता करते हैं जो 'चरैवेति चरैवेति' 'पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ करो।' (ऐ० ब्रा० ७।३।३) के उपदेश को अपने जीवन में चरितार्थ करता है और पुरुषार्थ से धन कमाकर सत्पात्रों में उसका दान भी करता है॥८॥

---

१. ऋ० ८।३।१ 'सधमाद्ये' इत्यत्र 'सधमाद्यो' इति पाठः। साम० १४२१।
२. ऋ० ८।६१।७, साम० १५८१।

अगले मन्त्र में आचार्य और परमात्मा का कार्य वर्णित किया है।

२४१. न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिनः ॥९॥[1]

पदार्थ—प्रथम अध्ययनाध्यापन के पक्ष में। हे विद्यार्थीरूप मरुतो! **वः** तुममें से **चरमं च न** हीनकोटि वाले भी विद्यार्थी को **वसिष्ठः** विद्या से बसाने वाला आचार्य **नहि** नहीं **परिमंसते** छोड़ता है, अर्थात् विद्या से वंचित नहीं करता है। **अद्य** आज **सुते** विद्यायज्ञ के प्रवृत्त हो जाने पर **अस्माकम्** हमारे **विश्वे** सब **कामिनः** विद्या-ग्रहण के इच्छुक **मरुतः** विद्यार्थी **सचा** साथ मिलकर **पिबन्तु** विद्या-रस का पान करें।

'मरुतः' का यौगिक अर्थ है मरने वाले। मृत्यु-रूप आचार्य के गर्भ में स्थित होकर पूर्व संस्कारों को छोड़कर (अर्थात् मरकर) विद्या से पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, इस कारण विद्यार्थी 'मरुत्' कहलाते हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट ही आचार्य को मृत्यु कहा है (अथर्व० ११।५।१४), यह भी कहा है कि "आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है, तीन रात्रि तक उसे अपने उदर में रखता है, फिर जब ब्रह्मचारी द्वितीय जन्म लेता है, अर्थात् विद्या पढ़कर स्नातक बनता है, तब उसे देखने के लिए अनेक विद्वान् जन आते हैं।" (अथर्व० ११।५।३)।

द्वितीय कर्मफल-भोग के पक्ष में। हे मरणधर्मा मनुष्यो! **वः** तुम्हारे बीच **में चरमं चन** एक को भी **वसिष्ठः** अतिशय बसाने वाला सर्वव्यापक परमेश्वर **नहि परिमंसते** कर्मफल दिये बिना नहीं छोड़ता है, अर्थात् प्रथम से लेकर अन्तिम तक सभी को कर्मफल प्रदान करता है। **अद्य** आज, वर्तमान काल में **सुते** उत्पन्न जगत् में **अस्माकम्** हमारे बीच में **विश्वे** सभी **कामिनः** अभ्युदय के इच्छुक **मरुतः** मरणधर्मा मनुष्य **सचा** साथ मिलकर **पिबन्तु** कर्मफलों का भोग करें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥९॥

भावार्थ—जैसे वसिष्ठ परमेश्वर निरपवाद रूप में सभी जीवात्माओं को कर्मानुसार फल देता है, वैसे ही वसिष्ठ आचार्य ऐसी सरल शैली से शिष्यों को पढ़ाये जिससे बिना अपवाद के सभी शिष्य विद्या के ग्रहण में समर्थ हों ॥९॥

अगले मन्त्र में एक परमेश्वर ही सबके द्वारा उपासनीय है, इस विषय का प्रतिपादन है।

२४२. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥[2]

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो! तुम **अन्यत्** दूसरी किसी वस्तु पत्थर की मूर्ति, नदी, पर्वत आदि की **मा चित्** कभी मत **वि शंसत** उपास्य रूप में पूजा करो, **मा रिषण्यत** जो उपासनीय नहीं हैं उनकी उपासना करके हानि प्राप्त मत करो। **सुते** ज्ञान, कर्म और भक्ति का रस निष्पादित होने पर **सचा** साथ मिलकर

---

१. ऋ० ७।५९।३ 'पिबन्तु' इत्यत्र 'पिबत' इति पाठः।
२. ऋ० ८।१।१, साम० १३६०, अथ० २०।८५।१

वृषणम् सुखवर्षक **इन्द्रम् इत्** परमेश्वर की ही **स्तोत** स्तुति-उपासना करो और उसके प्रति **मुहुः** पुनः पुनः **उक्था च** स्तोत्रों का भी **शंसत** गान करो ॥१०॥

भावार्थ—परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत् में जो सम्मान के योग्य हैं उनका सम्मान तो करना ही चाहिए, किन्तु उनमें से किसी की भी परमेश्वर के रूप में पूजा नहीं करनी चाहिए, न ही नदी, वृक्ष, पर्वत आदि जड़ पदार्थों की पूजा करनी चाहिए। इन्द्र आदि नामों से वेदों में प्रसिद्ध सुखवर्षी एक जगदीश्वर ही पुनः पुनः स्तुति, प्रार्थना, अर्चना और उपासना करने योग्य है ॥१०॥

इस दशति में मनुष्यों को इन्द्र की स्तुति, अर्चना आदि के लिए प्रेरणा करने, उससे ऐश्वर्य आदि की प्रार्थना करने और इन्द्र के सहचर मरुतों का आह्वान करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पञ्चम दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ अथ 'नकिष्टं कर्मणा' इत्याद्याया दशते ऋषयः—१ आङ्गिरसः पुरुहन्मा; २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ४ विश्वामित्रः; ५ गौतमः; ६ नृमेधपुरुमेधौ; ७, ९ मेध्यातिथिः; १० देवातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

२४३. न किष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥[1]

पदार्थ—यः जो मनुष्य **चकार** महत्त्वपूर्ण कर्मों को करता है, वह भी **तम्** उस प्रसिद्ध **सदावृधम्** सदा बढ़ाने वाले, **विश्वगूर्तम्** सबसे स्तुति किये जाने वाले, **ऋभ्वसम्** बहुत विशाल अर्थात् सर्वव्यापक, सूर्य-किरणों को चन्द्रादिलोकों में भेजने वाले, **अधृष्टम्** किसी से पराजित न होने वाले, और **ओजसा** अपने बल से **धृष्णुम्** कामादि शत्रुओं को परास्त करने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर की **नकिः** न तो **कर्मणा** वीरतापूर्ण कर्म में, **न** न ही **यज्ञैः** परोपकार आदि यज्ञों में **नशत्** बराबरी कर सकता है ॥१॥

भावार्थ—संसार में परमेश्वर के जो वीरतापूर्ण कार्य और परोपकार के कार्य हैं उनमें उसकी बराबरी का या उससे अधिक न कोई उत्पन्न हुआ है, न भविष्य में उत्पन्न होगा ॥१॥

---

१. ऋ० ८।७०।३, अथ० २०।९२।१८। उभयत्र 'धृष्णुमोजसा' इत्यत्र 'धृष्ण्वोजसम्' इति पाठः। साम० ११५५।

अगले मन्त्र में परमात्मा, जीवात्मा, प्राण और शल्यचिकित्सक का कर्तृत्व वर्णित है।

२ ३१ २ ३१२ ३२ ३१ २ ३१२
२४४. यः ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
१ २ ३ २ ३१२ ३२३ १ २३ १२३ १२
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः ॥२॥[1]

पदार्थ—यः जो **अभिश्रिषः** जोड़ने वाले पदार्थ गोंद, सरेस, प्लास्टर आदि के **ऋते चित्** बिना ही **जत्रुभ्यः** गर्दन की हड्डियों पर से **आतृदः** गले के कटने से **पुरा** पहले ही **सन्धिम्** जोड़ने योग्य अवयव को **सन्धाता** जोड़ देता है, अर्थात् शास्त्र आदि से गले के एक भाग के कट जाने पर भी कटे हुए भाग को प्राकृतिक रूप से भरकर पुनः स्वस्थ कर देता है, जिससे सिर कटकर गिरता नहीं। वह **पुरूवसुः** बहुत से शरीरावयवों को यथास्थान बसाने वाला **मघवा** चिकित्सा-विज्ञान रूप धन का धनी परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण वा शल्य-चिकित्सक **विह्रुतम्** टेढ़े हुए भी अंग को **पुनः** फिर से **निष्कर्ता** ठीक कर देता है ॥२॥

इस मन्त्र में जोड़ने वाले द्रव्य रूपकारण बिना ही जोड़ने रूपी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—अहो, परमेश्वर की कैसी शरीर-रचना की चतुरता है! यदि वह जोड़ने वाले द्रव्य गोंद आदि के बिना ही बीच में जोड़ लगाकर सिर को धड़ के साथ दृढ़तापूर्वक जोड़ न देता तो कभी भी कहीं भी सिर धड़ से अलग होकर गिर जाता। यह भी परमेश्वर का ही कर्तृत्व है कि शरीर का कोई भी अंग यदि घायल या टेढ़ा हो जाता है तो जीवात्मा और प्राण की सहायता से तथा शरीर की स्वाभाविक क्रिया से फिर घाव भर जाता है और टेढ़ा अंग सीधा हो जाता है। कुशल शल्यचिकित्सक भी उस कर्म में परमेश्वर का अनुकरण करता है। युद्ध में यदि शत्रु के शस्त्र-प्रहार से किसी योद्धा का गले का एक भाग कट जाता है तो वह कटे भाग को सुई से सिलकर और ओषधि का लेप करके पुनः स्वस्थ कर देता है। दुर्घटना आदि से यदि किसी का अंग विकृत या टेढ़ा हो जाता है तो उसे भी वह उचित उपायों से ठीक कर देता है ॥२॥

अगले मन्त्र में हरियों द्वारा इन्द्र को वहन किये जाने का वर्णन है।

१ २ ३२३२ ३२ ३ १र २र ३ १२
२४५. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
३ २ ३ १२ ३ २ ३ १२३ १२
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥[2]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन्! **हिरण्यये** सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय **रथे** शरीररूप रथ में **युक्ताः** नियुक्त **ब्रह्मयुजः** ब्रह्म के साथ योग कराने वाले अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार के साधनभूत **केशिनः** प्रकाशमय तथा प्रकाशक **सहस्रम्** सहस्र संख्यावाले **हरयः** आहरणशील सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप अश्व अथवा प्राणरूप अश्व **सोमपीतये** श्रद्धारूप सोमरस का जिसमें पान किया जाता है ऐसे उपासना-यज्ञ के लिए **त्वा** तुझे **आवहन्तु** हृदय में लायें, प्रकट करें, **शतम्** सौ संख्या वाले सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप अश्व **आ** हृदय में लायें, प्रकट करें।

---

१. ऋ० ८।१।१२, अथ० १४।२।४७ ऋषिका सूर्यासावित्री, देवता आत्मा।
२. ऋ० ८।१।२४, साम० १३६१।

पहले हजार कहकर फिर सौ कहना इस बात का ज्ञापक है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए शनैः शनैः सात्त्विक चित्तवृत्तियों का भी निरोध करना होता है। इसी प्रकार प्राणायाम में पहले श्वासोच्छ्वासों की संख्या अधिक होती है, क्रमशः अभ्यास करते-करते उनकी संख्या न्यून हो जाती है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** वीर मनुष्य ! **हिरण्यये** ज्योतिर्मय **रथे** राष्ट्ररूप रथ में **युक्ताः** नियुक्त, **ब्रह्मयुजः** वेदज्ञ चुनाव-अधिकारियों से प्रेरित, **केशिनः** ज्ञान-प्रकाश से युक्त **सहस्रम्** सहस्र **हरयः** मतदान के अधिकारी मनुष्य **सोमपीतये** सुखशान्ति की रक्षा जिसमें होती है ऐसे राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालनार्थ **त्वा** तुझे **आ वहन्तु** चुनकर राजा के पद पर लायें, **शतम् हरयः** सौ चनने वाले विधायक लोग तुझे चुनकर **आ** राजा के पद पर प्रतिष्ठित करें।

पहले हजार या अधिक प्रजाजन मतदान करके कुछ विधायकों को चुनते हैं, फिर वे विधायक जो संख्या में कम होते हैं राजा को चुनते हैं। यह बात क्रमशः सहस्र और शत शब्दों से सूचित होती है ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे योगीजन प्रकाशपूर्ण सात्त्विक चित्त की भावनाओं से परमात्मा को प्राप्त करते हैं, वैसे ही विवेकशील प्रजाजनों को चाहिए कि वे मतदान द्वारा सुयोग्य राजा को प्राप्त करें ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र निर्बाध हमारे समीप आ जाए।

२४६. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥[1]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! आप **मन्द्रैः** आनन्ददायक **मयूररोमभिः** मोरपंखों के समान मृदु **हरिभिः** प्राणों के द्वारा **आयाहि** आइये, अर्थात् हमारे हृदय में प्रकट होइये। **त्वा** प्रकट होते हुए आपको **केचित्** कोई भी योगमार्ग में बाधक व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व रूप विघ्न **मा नियेमुः** न रोक सकें, **न** जैसे **पाशिनः** जाल हाथ में लिये व्याध **इत्** गतिमान् अर्थात् भूमि पर चलते हुए अथवा आकाश में उड़ते हुए पशु-पक्षी आदि को जाल द्वारा रोक लेते हैं। **तान्** उन प्रतिबन्धकों को **धन्व इव** अन्तरिक्ष के समान **अति इहि** पार करके प्रकट हो जाइए, अर्थात् जैसे विमानों से अन्तरिक्ष को पार करके कोई आता है, वैसे ही उन बाधकों को पार करके आप हमारे हृदय में प्रकट होइए। अथवा **धन्व इव** धनुषधारी के समान आप उन बाधक शत्रुओं को पराजित करके प्रकट हो जाइए।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक वीर राजन् ! आप **मन्द्रैः** स्तुतियोग्य अथवा गम्भीर स्वर वाले, **मयूररोमभिः** मोरों के रोमों के समान मृदु केसरों वाले **हरिभिः** रथ में जोते हुए उत्कृष्ट जाति के घोड़ों द्वारा **आयाहि** संकट-काल में प्रजा की रक्षा के लिए आइए ! **न** जैसे **इत्** भूमि पर चलते या आकाश में उड़ते हुए पशु-पक्षी आदि को **पाशिनः** पाशधारी व्याध बाँध लेते हैं, वैसे **त्वा** आपको **केचित्** कोई भी शत्रुजन **मा नियेमुः** बाँध न सकें। **धन्व इव** धनुष के समान आप **तान्** उन शत्रुओं को **अति इहि** अतिक्रान्त अर्थात् पराजित कर दीजिए ॥४॥

---

१. ऋ० ३।४५।१, य० २०।५३, अथ० ७।११७।१। सर्वत्र 'नियेमुरिन्न' 'इत्यत्र नियमन्न्वि न' इति पाठः। साम० १७१८।

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमालंकार है। रेफ, मकार और नकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'न्द्रै, न्द्र', 'न्नि, न्न' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—प्राणों का स्वरूप मोर के रोमों के समान मृदु होता है, इसीलिए प्राणविद्या मधु-विद्या नाम से प्रसिद्ध है। प्राणायाम द्वारा हम परमात्मा को अपने हृदय के अन्दर प्रकट कर सकते हैं। प्रकट किया गया वह हमारी योगसाधना में आने वाले विघ्नों को दूर कर देता है। इसी प्रकार प्रजाजनों से पुकारा गया राजा सब शत्रुओं को पराजित करके राष्ट्र को उन्नत करता है ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

२४७. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥[1]

पदार्थ—**अङ्ग** हे **शविष्ठ** सबसे अधिक बली परमात्मन् वा राजन्! **देवः** दिव्यगुणयुक्त **त्वम्** आप **मर्त्यम्** मनुष्य को **प्रशंसिषः** प्रशंसा का पात्र कीजिए। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! **त्वत् अन्यः** आपसे भिन्न अन्य कोई भी **मर्डिता** सुखदाता **न अस्ति** नहीं है। हे **इन्द्र** विघ्नविदारक सिद्धिदायक परमेश्वर वा राजन्! मैं **ते** आपके लिए **वचः** स्तुति-वचन **ब्रवीमि** बोल रहा हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—हे बलियों में बलिष्ठ, समस्त दिव्य गुणों के पारावार, सकलसम्पत्तिशाली, न्याय-विद्या-विवेक-दया आदि ऐश्वर्यों के निधि परमात्मन् वा राजन्! कभी अधर्माचरण में संलग्न होकर हम जगत् में निन्दा के पात्र हो जाते हैं। आप कृपा करके हमें धर्म में नियुक्त करके और शुभ कर्मों में समुत्साहित करके प्रशंसा का पात्र बना दीजिए ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की महिमा वर्णित की गयी है।

२४८. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत् पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर अथवा राजन्! **त्वम्** आप **यशाः** यशस्वी **असि** हो, **ऋजीषी** सरल धर्ममार्ग पर चलने के इच्छुक अथवा सरल गुण-कर्म-स्वभाव वाले और **शवसः पतिः** बल के स्वामी हो। **त्वम्** आप **एकः इत्** अकेले ही **पुरु** बहुत से **अप्रतीनि** अप्रतिद्वन्द्वी **वृत्राणि** आन्तरिक व बाह्य पापी शत्रुओं को **हंसि** दण्डित या विनष्ट करते हो। **त्वम्** आप **अनुत्तः** किसी से बलात् प्रेरित किये बिना ही **चर्षणी-धृतिः** मनुष्यों का धारण करने वाले हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर यशस्वी, ऋजुमार्गगामी, बलवान्, पाप आदिकों का विनाशक, स्वयं शुभकार्यों में प्रवृत्त होने वाला तथा मनुष्यों का धारणकर्ता है, वैसे ही राजा और प्रजाजनों को होना चाहिए ॥६॥

---

१. ऋ० १।८४।१९, य० ६।३७, साम० १७२३।

२. ऋ० ८।९०।५। 'शवसस्पते' इति 'इदनुत्ता चर्षणीधृता' इति च पाठः। साम० १४११।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है।

२४९. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥[1]

पदार्थ—**इन्द्रम् इत्** इन्द्र नामक जगदीश्वर और सभापति राजा को **देवतातये** विद्वानों के कल्याण के लिए अथवा विद्वानों से फैलाये जाने वाले यज्ञ की पूर्ति के लिए **हवामहे** हम पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **प्रयति** प्रवृत्त होते हुए **अध्वरे** हिंसादि दोषों से रहित यज्ञ में **हवामहे** हम पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **समीके** देवासुर-संग्राम में **वनिनः** स्तुति, प्रार्थना एवं ज्ञानप्रकाश से युक्त हम लोग **हवामहे** पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **धनस्य** आध्यात्मिक एवं भौतिक ऐश्वर्य की **सातये** प्राप्ति के लिए **हवामहे** हम पुकारते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। इन्द्र शब्द की अनेक बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जगत् में अथवा राष्ट्र में विविध सत्कार्यों की सफलता के लिए और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए परमात्मा तथा सभापति राजा का पुनःपुनः श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा को कह रहा है।

२५०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **पुरूवसो** बहुत धन वाले अथवा बहुत बसाने वाले इन्द्र परमात्मन् **इमाः उ** ये **याः** जो **मम** मेरी **गिरः** वाणियाँ हैं वे **त्वा** आपको अर्थात् आपकी महिमा को **वर्धन्तु** बढ़ायें। **पावकवर्णाः** अग्नि के समान वर्ण वाले अर्थात् तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी, **शुचयः** शुद्ध अन्तःकरण वाले **विपश्चितः** विद्वान् लोग **स्तोमैः** स्तोत्रों से **अभि अनूषत** आपकी स्तुति करते ही हैं। जैसे वे आपकी स्तुति करते हैं, वैसे ही मैं भी करूँ ॥८॥

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना में और भाषण-उपदेश-गुणवर्णन आदि में अपनी वाणियों का उपयोग करके संसार में परमात्मा के अस्तित्व का प्रचार करें, जिससे सब लोग आस्तिक होकर सदाचारी बनें ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि मेरे कैसे स्तोत्र किस प्रकार परमात्मा के प्रति उठ रहे हैं।

२५१. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥[3]

---

१. ऋ० ८।३।५, अथ० २०।११८।३, साम० १५८७।
२. ऋ० ८।३।३, य० ३३।८१, साम० १६०७, अथ० २०।१०४।१।
३. ऋ० ८।३।१५, साम० १३६२, अथ० २०।१०।१; २०।५९।१।

पदार्थ—त्ये वे **मधुमत्तमाः** अत्यन्त मधुर, **सत्राजितः** सत्यजयी, **धनसाः** स्तोता को सद्गुणरूप धन प्रदान करने वाले, **अक्षितोतयः** अक्षय रक्षा वाले, **वाजयन्तः** स्तोता को आत्मबल प्रदान करने वाले, **गिरः** परमेश्वर की अर्चना में साधनभूत **स्तोमासः** मेरे स्तोत्र **रथाः इव** अन्तरिक्ष में चलने वाले विमान-रूप रथों के समान **उद्-ईरते उ** उठ रहे हैं। जो विमान-रूप रथ भी **सत्राजितः** समवेत शत्रुओं को जीतने में साधन-भूत, **धनसाः** स्थानान्तर से धन को लाने में साधनभूत, **अक्षितोतयः** अक्षय रक्षा के साधनभूत, **वाजयन्तः** अन्न आदि को देशान्तर में पहुँचाने वाले तथा **मधुमत्तमाः** अतिशय मधुर गति वाले होते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जगदीश्वर की महिमा गाने के लिए मेरी जिह्वा मधुर-मधुर स्तोत्रों को उठा रही है, जैसे विमान-चालक मधुर गति वाले विमान यानों को ऊपर उठाता है ॥९॥

अगले मन्त्र में गौरमृग के दृष्टान्त से परमात्मा को प्रीतिरस-पान के लिए बुलाया जा रहा है।

२५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥[1]

पदार्थ—यथा जिस प्रकार **गौरः** गौरमृग **तृष्यन्** प्यासा होकर **इरिणम्** मरुस्थल को **अव** छोड़-कर **अपा** जल से **कृतम्** पूर्ण किये हुए जलाशय अथवा जलप्रचुर देश को **एति** चला जाता है, वैसे ही **आपित्वे** बन्धुभाव के अर्थात् प्रीतिरस के **प्रपित्वे** प्राप्त हो जाने पर, अर्थात् प्रीतिरूप जल से हमारे हृदय के पूर्ण हो जाने पर, आप **तूयम्** शीघ्र ही **नः** हमारे पास **आगहि** आइए, और **कण्वेषु** हम मेधावियों के पास आकर **सचा** एक साथ **सु पिब** भलीभाँति हमारे प्रीतिरस-रूप सोम का पान कीजिए ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'पित्वे, पित्वे' में यमक है ॥१०॥

भावार्थ—प्यासा गौर मृग जैसे जल-रहित मरुस्थल को छोड़कर जलप्रचुर प्रदेश में चला जाता है, वैसे ही प्रीतिरस का प्यासा परमात्मा भी प्रीतिरहित हृदयों को छोड़कर प्रीतिरस से जिनके हृदय परिपूर्ण हैं ऐसे मेधावी जनों के पास चला जाता है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उसमें जाने-आने की क्रियाएँ क्योंकि सम्भव नहीं हैं, इसलिए वेदों में अनेक स्थानों पर वर्णित परमात्मा के गमन-आगमन की प्रार्थना आलंकारिक जाननी चाहिए। गमन से उसे भूल जाना तथा आगमन से उसका स्मरण या आविर्भाव लक्षित होता है ॥१०॥

इस दशति में अंगों को शरीर में यथास्थान जोड़ने आदि इन्द्र के कौशल का वर्णन होने से, उसके गुण-कर्मों का वर्णन होने से और इन्द्र नाम से जीवात्मा, प्राण, शल्यचिकित्सक, राजा आदि के भी चरित्र का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए।

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० ८।४।३, साम० १७२१।

॥७॥ अथ 'शग्ध्यू३षु' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भर्गः; २ रेभः काश्यपः, ३ जमदग्निः; ४,९ मेधातिथिः; ५,६ नृमेधपुरुमेधौ; ७ वसिष्ठः; ८ रेभः; १० भरद्वाजः ॥
देवता—१,२,४-१० इन्द्रः; ३ आदित्याः ॥ छन्दः—बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है।

२५३. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **शचीपते इन्द्र** प्रज्ञा, वाणी एवं कर्म के स्वामी परमात्मन् व राजन् ! आप **विश्वाभिः** सब **ऊतिभिः** रक्षाओं से उ निश्चय ही **सु** भलीभाँति **शग्धि** हमें शक्तिशाली कीजिए। **भगं न हि** सूर्य के समान **यशसम्** यशस्वी, **वसुविदम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **त्वा अनु** आपकी आज्ञाओं के अनुकूल **शूर** हे दानशूर, धर्मशूर, विद्याशूर, वीरताशूर परमात्मन् व राजन् ! हम लोग **चरामसि** आचरण करते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा के समान राजा को भी वाग्मी, कर्मण्य, ज्ञानी, प्रजा की रक्षा करने में समर्थ, सूर्य के समान कीर्तिमान्, प्रजा को ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला, दानवीर, धर्मवीर, विद्यावीर और युद्धवीर होना चाहिए। साथ ही प्रजाओं को परमात्मा तथा धर्मात्मा राजा की आज्ञाओं के अनुकूल चलना चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

२५४. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **स्वर्वान्** धनवान्, प्रकाशवान् और आनन्दवान् आप **अ-सुरेभ्यः** जो सुरापान करके उन्मत्त नहीं हुए हैं, किन्तु जागरूक हैं, उनके लिए **याः भुजः** जिन अन्तःप्रकाशरूप वा आनन्दरूप भोगों को **आ अभरः** लाते हो, उनसे, हे **मघवन्** दिव्य सम्पत्ति के स्वामी ! **अस्य** इस अध्यात्म-यज्ञ के **स्तोतारम्** स्तोता यजमान को **इत्** अवश्य ही **वर्धय** बढ़ाओ, **ये च** और जो **त्वयि** आपकी प्राप्ति कराने वाले अध्यात्मयज्ञ में **वृक्तबर्हिषः** मार्गदर्शक ऋत्विज् लोग हैं, उन्हें भी बढ़ाओ ॥२॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सम्पत्तिप्रदायक राजन् ! **स्वर्वान्** राजनीति-विद्या के प्रकाश से युक्त आपने **असुरेभ्यः** अदानी, अपने कोठों में ही राष्ट्र की सम्पत्ति को भरने वाले कृपणों के पास से **याः भुजः** जिन भोग्य-सम्पदाओं को **आ अभरः** अपहृत किया है, छीना है, उनसे, हे **मघवन्** धनी राजन् ! **अस्य** इस राष्ट्रयज्ञ के **स्तोतारम्** स्तोता को, राष्ट्रगीत के गायक को, न कि राष्ट्-

---

१. ऋ० ८।६१।५, अथ० २०।११८।१, साम० १५७९।
२. ऋ० ८।९७।१, अथ० २०।५५।२।

द्रोही को **इत्** ही **वर्धय** समृद्ध कीजिए, **ये च** और जो **त्वे** आपके लिए, आपकी सहायता के लिए **वृक्त-बर्हिषः** राष्ट्रयज्ञ का विस्तार करने वाले राजपुरुष हैं उन्हें भी समृद्ध कीजिए।

राजा को उचित है कि अपने राज्य के कृपण धनपतियों को प्रेरणा करे कि वे निर्धनों को अपने धन का दान करें। फिर भी जो दान न करें उनके धन को बलात् उनसे छीन ले, यह वैदिक मर्यादा अनेक वेदवाक्यों से प्रमाणित होती है, यथा 'हे तेजस्वी पोषक राजन्, जो अपनी सम्पत्ति का दान नहीं करना चाहता उसे आप दान के लिए प्रेरित कीजिए। ऋ० ६।५३।३', हे राष्ट्र के स्वामी राजन्! दान न करने वालों के धन को आप छीन लीजिए—ऋ० १।८१।९। यही बात प्रस्तुत मन्त्र में भी कही गयी है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर धार्मिक उपासकों को ज्ञान-प्रकाश से और दिव्य आनन्द से समृद्ध करता है, वैसे ही राजा भी राष्ट्र-भक्तों को समृद्ध करे और राष्ट्रद्रोहियों को दण्डित करे ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कौन-कौन गुण-वर्णन द्वारा स्तुति करने योग्य हैं। मन्त्र के देवता आदित्य अर्थात् अदिति के पुत्र मित्र, अर्यमा और वरुण हैं।

२५५. प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो।
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** वायु आदि के पक्ष में। हे **ऋतावसो** सत्यरूप धन वाले मानव! तू **मित्राय** वायु के लिए, **अर्यम्णे** आदित्य के लिए और **वरूथ्ये** शरीर रूप गृह के लिए हितकर **वरुणे** अग्नि के लिए **सचथ्यम्** सेवनीय, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध **वचः** स्तुति-वचन को **प्र प्र** भलीभाँति गान कर, गान कर। हे भाइयो! तुम भी **राजसु** उक्त शोभायमान वायु, आदित्य और अग्नि के सम्बन्ध में **स्तोत्रम्** स्तोत्र का **गायत** गान करो।

द्वितीय प्राणों के पक्ष में। हे **ऋतावसो** प्राणायाम रूप यज्ञ को धन मानने वाले प्राणसाधक! तू **मित्राय** पूरक प्राण के लिए, **अर्यम्णे** कुम्भक प्राण के लिए और **वरूथ्ये** शरीररूप गृह के हितकारी **वरुणाय** रेचक प्राण के सम्बन्ध में **सचथ्यम्** एक साथ मिलकर पढ़ने योग्य, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध **वचः** प्राण-महिमापरक वचन का **प्र प्र** भलीभाँति उच्चारण कर। हे दूसरे प्राणसाधको! तुम भी **राजसु** प्रदीप्त हुए पूर्वोक्त पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणों के विषय में **स्तोत्रम्** प्राण का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले स्तोत्र का **गायत** गान करो।

प्राण का महत्त्व प्रतिपादन करने वाले छन्दोबद्ध वेदमन्त्र अथर्व ११।४ में देखने चाहिए। जैसे, "अन्दर आने वाले पूरक प्राण को हम अनुकूल करें, बाहर जाने वाले रेचक प्राण को अनुकूल करें" आदि अथर्व० ११।४।८ ॥

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **ऋतावसो** राष्ट्रयज्ञ को धन मानने वाले राष्ट्रभक्त! तू राजा रूप इन्द्र के साथ-साथ **मित्राय** देश-विदेश में मैत्री के संदेश का प्रसार करने वाले राज्याधिकारी के लिए, **अर्यम्णे** न्यायाध्यक्ष के लिए और **वरूथ्ये** सेना के लिए हितकारी **वरुणे** शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष के लिए

---

1. ऋ० ८।१०१।५ 'वरूथ्ये' इत्यत्र 'वरूथ्यं' इति पाठः।

सचथ्यम् सहगान के योग्य, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध गीत **को प्र प्र** भलीभाँति गा। हे दूसरे राष्ट्रभक्तो ! तुम भी **राजसु** पूर्वोक्त राज्याधिकारियों के विषय में **स्तोत्रम्** उन-उनके गुण वर्णन करने वाले स्तोत्र को **गायत** गाओ ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा की सृष्टि में जो वायु-सूर्य और अग्नि आदि, मनुष्य के शरीर में जो प्राण आदि और राष्ट्र में जो विभिन्न राज्याधिकारी हैं, उनके गुण-कर्मों का वर्णन करते हुए उनसे यथायोग्य लाभ सबको प्राप्त करने चाहिएँ ॥३॥

अगले मन्त्र में इस विषय का वर्णन है कि कौन-कौन परमात्मा की स्तुति करते हैं।

२५६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **पूर्वपीतये** जिसका श्रेष्ठ रसास्वादन होता है उस आनन्द के लिए **आयवः** मनुष्य **स्तोमेभिः** स्तोत्रों से **त्वा** आपकी **अभि** चारों ओर स्तुति करते हैं। **समीचीनासः** सम्यक् शुभकर्मों में संलग्न अथवा परस्पर संगत हुए **ऋभवः** मेधावी लोग **समस्वरन्** आपकी स्तुति करते हैं, **रुद्राः** सदुपदेशक, प्राणसाधक स्तोता लोग **पूर्व्यम्** पूर्वकाल में भी विद्यमान अर्थात् सनातन आपकी **गृणन्त** अर्चना करते हैं ॥४॥

भावार्थ—आयुष्मान् सामान्यजन, कर्मयोगी मेधावीजन, सदुपदेशक स्तोताजन सभी जिस परमात्मा की आराधना करते हैं, उसकी आराधना हम भी क्यों न करें ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और सेनाध्यक्ष हमारे शत्रुओं का संहार करें।

२५७. प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥५॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **मरुतः** मेरे प्राणो ! **वः** तुम **बृहते** महान् **इन्द्राय** परमेश्वर के लिए **ब्रह्म** साम-स्तोत्र को **प्र अर्चत** प्रेरित करो। वह **वृत्रहा** पापहन्ता **शतक्रतुः** अनन्त प्रज्ञावाला तथा अनन्त कर्मोंवाला परमेश्वर, अपने **शतपर्वणा** बहुमुखी **वज्रेण** वीर्य से **वृत्रम्** पाप को **हनति** नष्ट करे।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **मरुतः** राष्ट्रवासी प्रजाजनो ! **वः** तुम लोग **बृहते** महान् **इन्द्राय** वीर सेनाध्यक्ष के लिए **ब्रह्म** स्तोत्र अर्थात् प्रार्थनावचन **अर्चत** प्रेरित करो। वह **वृत्रहा** अत्याचारियों का संहारक **शतक्रतुः** अनेक शत्रु-विध्वंसक कार्यों का कर्ता सेनाध्यक्ष **शतपर्वणा वज्रेण** सौ कीलों से युक्त गदादि वज्र से अथवा सौ गोलों या गोलियों के आधारभूत तोप, बन्दूक आदि शस्त्र से **वृत्रम्** राष्ट्र की उन्नति में प्रतिबन्धक मायावी शत्रु को **हनति** मारे ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है 'वृत्रं, वृत्र' में छेकानुप्रास और 'शत, शत' में लाटानुप्रास है ॥५॥

---

१. ऋ० ८।३।७, अथ० २०।९९।१, साम० १५३७।
२. ऋ० ८।८९।३, य० ३३।९६।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर उपासक के काम-क्रोध आदि तथा पाप आदि रिपुओं का संहार करता है, वैसे ही सेनाध्यक्ष को चाहिए कि राष्ट्र के सब शत्रुओं का समूल उन्मूलन करे ॥५॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर के स्तुतिगीत गाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है।

३ १र २र ३ १२ ३ १ २
२५८. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥६॥[1]

पदार्थ—हे **मरुतः** मनुष्यो ! तुम **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **वृत्रहन्तमम्** विघ्नों व पापों के अतिशय विनाशक **बृहत्** "त्वामिद्धि हवामहे" साम २३४, ८०९ ऋचा पर गाये जाने वाले बृहत् नामक सामगान को **गायत** गाओ, **येन** जिस गान से **ऋतावृधः** सत्य को बढ़ानेवाले सिद्ध योगी लोग **देवाय** योगाङ्गों में क्रीड़ा करने वाले साधक के लिए **देवम्** प्रकाशमान, **जागृवि** जागरणशील **ज्योतिः** अन्तःज्योति को **अजनयन्** उत्पन्न कर देते हैं ॥६॥

भावार्थ—जिस सामगान से सिद्ध योगी लोग योगाभ्यासी शिष्य को योगविद्या में निष्णात कर देते हैं, वह सामगान हमें भी गाना चाहिए ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, आचार्य और राजा से प्रार्थना की गयी है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
२५९. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥७॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परम ऐश्वर्य को देने वाले जगदीश्वर, आचार्य वा राजन् ! आप **नः** हमें **क्रतुम्** विज्ञान और कर्म **आभर** प्रदान करो, **यथा** जिस प्रकार **पिता** पिता **पुत्रेभ्यः** अपने पुत्रों और पुत्रियों के लिए विज्ञान और कर्म प्रदान करता है। हे **पुरुहूत** बहुस्तुत जगदीश्वर, आचार्य वा राजन् ! आप **अस्मिन्** इस सामने विद्यमान **यामनि** जीवनमार्ग, जीवनयज्ञ अथवा योगमार्ग में **नः** हमें **शिक्ष** सभी सामर्थ्य प्रदान करो अथवा शिक्षा दो कि **जीवाः** जीवित और जागरूक रहते हुए हम **ज्योतिः** आशारूप ज्योति को, कर्त्तव्या-कर्त्तव्यदर्शनरूप ज्योति को, आत्मज्योति को, अथवा परब्रह्म की दिव्य ज्योति को **अशीमहि** प्राप्त कर लेवें ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ॥७॥

भावार्थ—जैसे पिता अपनी सन्तानों को ज्ञान देता है, कर्म करना सिखाता है, मार्ग में चलना और दौड़ना सिखाता है, जिससे आत्मनिर्भर होकर वे जीवन में सफल होते हैं, वैसे ही परमात्मा, आचार्य और राजा हमें प्रचुर ज्ञान, महान् कर्मयोग, अतुल सामर्थ्य और श्रेष्ठ शिक्षा प्रदान करें, जिससे हम जीवन से निराशा के अन्धकार को दूर कर जीवित-जागृत रहते हुए, उत्तरोत्तर ज्योति का दर्शन करते हुए सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय दिव्य ज्योति को पा सकें ॥७॥

---

१. ऋ० ८।८९।१, य० २०।३०।

२. ऋ० ७।३२।२६, ऋषिः वसिष्ठः वासिष्ठः शक्तिर्वा, अथ० १८।३।६७ यमः देवता, अथर्वा ऋषिः, २०।७९।१ वसिष्ठः शक्तिर्वा ऋषिः, साम० १४५६।

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर, आचार्य और राजा से प्रार्थना की गयी है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२६०. मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये ।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, आचार्य व राजन् ! आप **नः** हमें **मा परावृणक्** मत छोड़ो। **सधमाद्ये** जहाँ साथ-साथ आनन्द से रहते हैं उस घर यज्ञ गुरुकुल सभास्थल, राष्ट्र आदि में, आप **नः** हमारे **भव** सहायक होवो। **त्वम्** आप **नः** हमारी **ऊती** रक्षा के लिए होवो। **त्वम् इत्** आप ही **नः** हमारे **आप्यम्** बन्धु बनो। हे **इन्द्र** परमेश्वर आचार्य व राजन् ! **नः मा परावृणक्** आप हमें असहाय मत छोड़ो।

यहाँ पुनरुक्ति से उत्कट इच्छा सूचित होती है। निरुक्तकार ने भी कहा है कि पुनरुक्ति में बहुत बड़ा अर्थ छिपा होता है, जैसे किसी अद्‌भुत वस्तु को देखकर द्रष्टा कहता है—"अहो दर्शनीय है, अहो दर्शनीय है।" (निरु० १०।४०) ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा, गुरुजन और राजा का यथायोग्य पूजन व सत्कार करके उनसे बहुमूल्य लाभ प्राप्त करने चाहिएँ ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि क्यों हम परमेश्वर की उपासना करते हैं।

३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २
२६१. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥९॥[2]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! **वृक्तबर्हिषः** जिन्होंने अन्तरिक्ष को छोड़ दिया है ऐसे **आपः न** मेघ-जलों के समान **वृक्तबर्हिषः** सांसारिक एषणाओं को छोड़े हुए **सुतावन्तः** उपासना-रसों को अभिषुत किये हुए **वयं घ** हम **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं, क्योंकि, हे **वृत्रहन्** पापविनाशक परमेश्वर ! **स्तोतारः** आपके स्तोता लोग **पवित्रस्य** शुद्ध सात्त्विक आनन्द के **प्रस्रवणेषु** प्रवाहों में **परि आसते** तैरा करते हैं, जैसे अन्तरिक्ष को छोड़े हुए उपर्युक्त मेघ-जल **प्रस्रवणेषु** नदियों, झरनों आदियों में **परि आसते** बहते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। साथ ही कारणरूप उत्तरार्द्धवाक्य कार्यरूप पूर्वार्द्धवाक्य का समर्थन कर रहा है अतः कारण से कार्यसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है ॥९॥

भावार्थ—जैसे मेघों के जल आकाश को छोड़कर भूमि पर आकर धान्य, वनस्पति आदि को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही हम पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का परित्याग करके परमात्मा को प्राप्त कर आनन्द-रस को उत्पन्न करें ॥९॥

---

१. ऋ० ८।९७।७ 'सधमाद्ये' इत्यत्र 'सधमाद्यः' इति पाठ।

२. ऋ० ८।३३।१, साम० ८६४, अथ० २०।५२।१, २०।५७।१४, सर्वत्र मेध्यातिथिः ऋषिः।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि किन-किन का क्या-क्या गुण हमें प्राप्त करना चाहिए।

२६२. यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु।
यद्वा पञ्चक्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** दान के महारथी परमेश्वर! **यत्** जो **नाहुषीषु** संघरूप में परस्पर बँधी हुई मानव-प्रजाओं में **ओजः** संघ का बल, और **कृष्टिषु** कृषि आदि धन कमाने के कामों में लगी हुई प्रजाओं में **नृम्णम्** धन का बल **आ** आता है, **यद् वा** और जो **पञ्चक्षितीनाम्** निवास में कारणभूत पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अथवा प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन पाँचों का **द्युम्नम्** यश है, वह **आभर** हमें प्रदान कीजिए। **सत्रा** साथ ही **विश्वानि** सब **पौंस्या** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थों को भी **आभर** प्रदान कीजिए ॥१०॥

भावार्थ—संघ का बल, ऐश्वर्य का बल, इन्द्रियों का बल, प्राणसहित अन्तःकरणचतुष्टय का बल, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का बल परमेश्वर की कृपा से हमें प्राप्त हो, जिससे हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र तथा उससे सम्बद्ध मित्र, वरुण, अर्यमा के महत्त्ववर्णनपूर्वक उसकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से, इन्द्र से ओज, ऋतु, नृम्ण, द्युम्न आदि की याचना होने से और इन्द्र नाम से आचार्य, राजा, सेनाध्यक्ष आदि के भी गुण-कर्मों का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त॥

॥८॥ अथ 'सत्यमित्था' इत्याद्याया दशतेः **ऋषयः**—१ मेधातिथिः; २ रेभः; ३ वत्सः; ४ भरद्वाजः; ५ नृमेधः; ६ पुरुहन्मा; ७ नृमेधपुरुमेधौ; ८ वसिष्ठः; ९ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; १० कलिः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर के गुणों का वर्णन किया गया है।

२६३. सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः ॥१॥[2]

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर! **सत्यम् इत्था** सचमुच-सचमुच आप **वृषा इत्** ऐश्वर्यवर्षी होने से वर्षा करने वाले बादल ही **असि** हो, और **वृषजूतिः** विद्युत् आदि पदार्थों को मन के वेग के समान वेग प्रदान करने वाले **नः** हमारे **अविता** रक्षक हो। हे **उग्र** प्रबल ऐश्वर्य वाले! आप **परावति** उत्कृष्ट मोक्ष-लोक में **वृषा हि** निश्चय ही मोक्ष के आनन्दों की वर्षा करने वाले **शृण्विषे** सुने जाते हो, और **अर्वावति** इह लोक में भी **वृषः** धर्म-अर्थ-काम-आनन्दों के वर्षक **श्रुतः** सुने गये हो ॥१॥

---

१. ऋ० ६।४६।६, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः।

२. ऋ० ८।३३।१०, ऋषिः मेध्यातिथिः 'नोऽविता' इत्यत्र 'नोऽवृतः' इति पाठः।

इस मन्त्र में 'वृषे, वृष, वृषा, वृषो' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। 'वृषेदसि'—'आप बादल ही हो' यहाँ परमेश्वर में बादल का आरोप होने से रूपक है। 'वति, वति' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—समस्तगुणगणों में अग्रणी, इहलोक तथा परलोक में विविध आनन्दों की वृष्टि करने वाले, परोपकारी परमेश्वर की हम वन्दना क्यों न करें ॥१॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन करके उसकी उपासना का विषय कहा गया है।

२६४. यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **शक्र** शक्तिशाली परमेश्वर! **यत्** क्योंकि, तुम **परावति** सुदूरस्थ सूर्य, नक्षत्र, चन्द्र-मण्डल आदियों में अथवा पराविद्या से प्राप्तव्य मोक्षलोक में **असि** विद्यमान हो, और हे **वृत्रहन्** अविद्या आदि दोषों के विनाशक! **यत्** क्योंकि, तुम **अर्वावति** समीप स्थित पर्वत, नदी, सागर आदि में अथवा अपरा विद्या से प्राप्तव्य इहलोक के ऐश्वर्य में **असि** विद्यमान हो, **अतः** इसलिए, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर! **सुतावान्** उपासना-रस को अभिषुत किये हुए यजमान **त्वा** तुम्हारी **द्युगत्** शीघ्र ही अथवा जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके इस प्रकार **केशिभिः** ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान **गीर्भिः** वेदवाणियों से **आ विवासति** पूजा कर रहा है ॥२॥

इस मन्त्र में शक्र, वृत्रहन्, इन्द्र इन सबके इन्द्रवाचक प्रसिद्ध होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, किन्तु योगार्थ ग्रहण करने से पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। 'वति, वति' तथा 'सुता, सति' में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—सब कर्म करने में समर्थ, दूर से दूर और समीप से समीप विद्यमान, अविद्या-पाप आदि के विनाशक, सब ऐश्वर्यों के स्वामी परमात्मा की ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से भरपूर साममन्त्रों के गान से सबको भक्तिपरायण होकर शीघ्र ही उपासना करनी चाहिए और उसकी उपासना से ऐहिक तथा पारलौकिक आनन्द प्राप्त करना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के स्तुतिगान की प्रेरणा की गयी है।

२६५. अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥३॥[2]

पदार्थ—हे उद्गाताओ! **वः** तुम **अन्धसः** श्रद्धारस की **मदेषु** तृप्तियों में **महा** महती **गिरा** वेदवाणी से **वीरम्** विक्रमशाली अथवा शत्रुओं को प्रकम्पित करने वाले, **विचेतसम्** विशिष्ट ज्ञान से पूर्ण, **श्रुत्यम्** श्रुतियों में प्रसिद्ध, **शाकिनम्** शक्तिमान् **इन्द्रं नाम** इन्द्र नामक परमेश्वर को **अभि** अभिलक्ष्य करके **वचः यथा** जैसा विधिवचन हो उसके अनुसार **गाय** गाओ, सामगान करो ॥३॥

भावार्थ—काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं को तथा मानव-समाज में भ्रष्टाचारियों को

---

१. ऋ० ८।९७।४।
२. ऋ० ८।४६।१४, ऋषिः वशोऽश्व्यः।

अपनी वीरता से पराजित करने वाले, सर्वज्ञ, वेदों में प्रसिद्ध, सब कार्य करने में समर्थ परमेश्वर की सबको सामगानपूर्वक अर्चना करनी चाहिए ॥३॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसा घर, शरीर और कैसी परमात्मा की शरण हमें सुलभ हो।

२६६. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥४॥[1]

पदार्थ—प्रथम राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःख-विदारक, सुखप्रदाता, परमैश्वर्य के स्वामी राजन्! आप **मघवद्भ्यः च** धनिकों के लिए **मह्यं च** और मुझ सामान्य प्रजाजन के लिए **स्वस्तये** सुख, उत्तम अस्तित्व व अविनाश के निमित्त **त्रिधातु** तीन मंजिलों वाला अथवा कम से कम तीन कोठों वाला **शरणम्** आश्रय-योग्य, **त्रिवरूथम्** सर्दी, गर्मी और वर्षा तीनों को रोकने वाला **छर्दिः** घर **यच्छ** प्रदान कीजिए। और **एभ्यः** इन जनों के लिए उक्त घर में **दिद्युम्** बिजुली के प्रकाश को भी **यावय** संयुक्त कीजिए, अथवा **एभ्यः** इन घरों से **दिद्युम्** आकाशीय बिजुली को **यावय** दूर कर दीजिए अर्थात्, घरों में विद्युद्-वाहक ताँबे का तार लगवाकर ऐसा प्रबन्ध करवा दीजिए कि आकाश से गिरी हुई बिजली भी घर को क्षति न पहुँचा सके।

द्वितीय मानव-शरीर के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर! आप इस राष्ट्र के **मघवद्भ्यः** विद्या, स्वास्थ्य आदि धनों से सम्पन्न लोगों के लिए **मह्यं च** और मुझ उपासक के लिए **स्वस्तये** कल्याणार्थ, पुनर्जन्म में **त्रिधातु** सत्त्व-रजस्-तमस्रूप, वात-पित्त-कफरूप, प्राण-मन-बुद्धिरूप, बाल्यावस्था-यौवन-वार्धक्यरूप वा अस्थि-मज्जा-वीर्यरूप तीन धातुओं से युक्त, **शरणम्** आत्मा का आधारभूत, **त्रिवरूथम्** ज्ञान-कर्म-उपासनारूप तीन वरणीय व्रतों से युक्त **छर्दिः** मानव-शरीर रूप घर **यच्छ** प्रदान कीजिए और **एभ्यः** इन शरीर-गृहों से **दिद्युम्** संतापक रोग आदि तथा दुष्कर्म आदि को **यावय** दूर करते रहिए।

तृतीय अध्यात्म-परक। हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखप्रदाता, परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! आप **मघवद्भ्यः** योगसिद्धिरूप धन के धनिक सिद्ध योगी जनों के लिए **मह्यं च** और मुझ योग-साधक के लिए **स्वस्तये** मोक्षरूप उत्तम अस्तित्व के प्राप्त्यर्थ **त्रिधातु** सत्त्व, चित्त्व और आनन्दरूप तीन धातुओं वाली, **त्रिवरूथम्** आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक रूप तीनों दुःखों को दूर करने वाली, **छर्दिः** पापों का वमन कराने वाली **शरणम्** अपनी शरण **यच्छ** प्रदान कीजिए। **एभ्यः** इन योग में संलग्न लोगों के हितार्थ **दिद्युम्** उत्तेजक काम, क्रोध आदि को **यावय** दूर कर दीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। पूर्वार्ध में तकार का अनुप्रास और उत्तरार्ध में यकार का अनुप्रास भी है ॥४॥

भावार्थ—राजकीय सहायता से राष्ट्रवासियों के रहने के घर यथायोग्य तिमंजिले, कम से कम तीन कोठों वाले, सर्दी-गर्मी-वर्षा से त्राण करने वाले, सब ऋतुओं में सुखकर, बिजली के प्रकाश से युक्त और आकाश की बिजली गिरने पर क्षतिग्रस्त न होने वाले हों। परमात्मा की छत्रछाया रूप घर भी हमें सुलभ हो। साथ ही हम सदा ऐसे कर्म करें जिनसे हमें पुनः पुनः मानव-शरीर-रूप घर ही मिले, कभी ऐसे कर्मों में लिप्त न हों जिनसे हमें शेर, बाघ, कीड़े-पतंगों की योनियों अथवा स्थावर योनियों में जन्म लेना पड़े ॥४॥

१. ऋ० ६।४६।९, अथ० २०।८३।१ ऋषिः शंयुः। उभयत्र 'स्वस्तये' इत्यत्र 'स्वस्तिमत्' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव हमें धारण करने चाहिएँ।

२६७. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ॥५॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो! **श्रायन्तः** फल पकाने वाले वृक्ष आदि अथवा पकाने वाले अग्नि आदि **सूर्यम् इव** जैसे सूर्य का सेवन करते हैं, वैसे **श्रायन्तः** अपने आत्मा को परिपक्व करते हुए तुम लोग **इन्द्रस्य** जगत् के सम्राट् परमेश्वर के **विश्वा इत्** सभी परोपकार, दयालुता, न्यायकारिता आदि स्वरूपों का **भक्षत** सेवन करो। **जातः** प्रसिद्ध वह परमेश्वर **ओजसा** अपने बल से **वसूनि** समस्त धनों को, और **जनिमानि** विविध जन्मों को देता है। हम **भागं न** जैसे पुत्र दायभाग को ग्रहण कर अपने पास रख लेता है, वैसे ही उस इन्द्र परमेश्वर को **प्रतिदीधिमः** अपने हृदय में धारण करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि है ॥५॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के बिना फल आदि नहीं पकते हैं, ऐसे ही परमेश्वर के बिना जीवात्माओं का परिपाक नहीं होता है। जैसे पुत्र अपने दायभाग को अपने पास रख लेते हैं, ऐसे ही सबको चाहिए कि परमात्मा को अपने अन्दर धारण करें ॥५॥

अगले मन्त्र का यह विषय है कि पुरुषार्थी मानव ही जीवन में सफल होता है।

२६८. न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः।
एतग्वा चिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **दीर्घायो** दीर्घायु यजमान! **अदेवः** जो देव अर्थात् तेजस्वी और महत्त्वाकांक्षी नहीं है वह **मर्त्यः** मनुष्य **तत्** उस प्रसिद्ध **इषम्** अभीप्सित विजय, साम्राज्य, मोक्ष आदि को **न सीम् आप** नहीं प्राप्त कर पाता। **यः** जो यजमान **एतशः** गतिशील एवं कर्मण्य होकर **एतग्वा** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूप अथवा मन-प्राण-रूप अश्वों को **चित्** निश्चय ही **युयोजते** कार्यों में नियुक्त करता है, उसके प्रति **इन्द्रः** परमेश्वर भी **हरी** अपने ज्ञान-कर्म-रूप अश्वों को **युयोजते** नियुक्त करता है, अर्थात् ज्ञान और कर्म से उसकी सहायता करता है।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि विद्याविस्तार, शत्रुविजय, चक्रवर्ती साम्राज्य, मोक्ष आदि को लक्ष्य बनाकर मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि साधनों का उपयोग कर, कर्मण्यता को स्वीकार कर पुरुषार्थ करें, क्योंकि आलसी लोगों का परमेश्वर भी सहायक नहीं होता है ॥६॥

---

१. ऋ० ८।९९।३, य० ३३।४१, अथ० २०।५८।१, सर्वत्र 'वसूनि जाते जनिमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम' इति पाठः। साम० १३१६।

२. ऋ० ८।७०।७, 'आपदिषं', 'एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि सर्वत्र युद्धों में परमेश्वर आह्वान करने योग्य है।

२६९. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥७॥[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो! तुम **विश्वासु समत्सु** सब देवासुर-संग्रामों में **नः** हमारे और तुम्हारे, सबके **हव्यम्** पुकारने योग्य **इन्द्रम्** शत्रुविदारक परमात्मा को **आभूषत** नेता के पद पर अलंकृत करो। हे **वृत्रहन्** पाप आदि असुरों के विनाशक, हे **ऋचीषम** वेदज्ञों का सत्कार करने वाले, स्तोताओं को मान देने वाले, स्तुति के अनुरूप परमात्मन्! **परमज्याः** प्रबल कामक्रोधादि रिपुओं के विध्वंसक, आप **ब्रह्माणि** हमारे स्तोत्रों को और **सवनानि** जीवनरूप यज्ञ के बचपन-यौवन-बुढ़ापा रूप प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवनों को **उप** प्राप्त होवो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य के जीवन में जो बाह्य और आन्तरिक देवासुर-संग्राम उपस्थित होते हैं, उनमें यदि वह परमेश्वर को स्मरण कर उससे बल प्राप्त करे तो सभी प्रतिद्वन्द्विओं को पराजित कर सकता है ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि संसार में विद्यमान सब धन परमात्मा का ही है।

२७०. तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा गोषु वृण्वते ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर! **अवमम्** निचला अर्थात् पृथिवी अथवा शरीर में स्थित **वसु** धन **तव इत्** तेरा ही है। **त्वम्** तू ही **मध्यमम्** मध्यलोक अन्तरिक्ष में अथवा मनरूपी लोक में विद्यमान धन को **पुष्यसि** परिपुष्ट करता है। **सत्रा** सचमुच ही तू **विश्वस्य** सब **परमस्य** उच्च द्यौलोक में अथवा आत्मलोक में विद्यमान धन का भी **राजसि** राजा है। **त्वा** तुझे **गोषु** पृथिवी आदि लोकों में अथवा गाय आदि धनों के दानों में **न किः** कोई भी नहीं **वृण्वते** रोक सकते हैं ॥८॥

भावार्थ—निचले भूलोक में जो चाँदी, सोना, मणि, मौती, हीरे, कन्द, फल, रस, गाय, घोड़े, सन्तान, आदि ऐश्वर्य है, बीच के अन्तरिक्षलोक में जो बिजली, बादल, ग्रह, चन्द्रमा आदि ऐश्वर्य है, और उच्च द्युलोक में जो सूर्यकिरण, तारामण्डल आदि धन है, उस सबका परमेश्वर ही राजा है। उसी प्रकार हमारे अध्यात्म-जगत् में स्थूल शरीर का त्वचा, हड्डी, मज्जा, वीर्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि जो धन है, बीच के मनोलोक का जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप धन है, और परम लोक आत्मा का जो ज्ञान आदि ऐश्वर्य है, उसका भी परमेश्वर ही शासक और पोषक है। उस परमेश्वर की पृथिवी आदि लोकों में कहीं भी गति रोकी नहीं जा सकती। वह अपने ऐश्वर्य में से जो कुछ भी गाय आदि धन जिस किसी को भी देना चाहता है उसके उस दान में भी कोई विघ्न नहीं डाल सकता है ॥८॥

---

१. ऋ० ८।९०।१, अथ० २०।१०४।३। उभयत्र 'हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु' इति 'वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः' इति च पाठः। अथर्ववेदे ऋषिः नृमेधः। साम० १४६२।

२. ऋ० ७।३२।१६।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा का आह्वान किया गया है।

२७१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥९॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र जगदीश्वर अथवा राजन्! तू **क्व** कहाँ **इयथ** चला गया है? **क्व इत्** कहाँ **असि** है? **पुरुत्रा चित्** बहुतों में अर्थात् बहुतों के उद्धार में **ते** तेरा **मनः** मन लगा हुआ है। हे **युध्म** युद्ध-कुशल! हे **खजकृत्** शत्रुओं का मन्थन करने वाले! हे **पुरन्दर** शत्रु की नगरियों को विदीर्ण करने वाले! तू **अलर्षि** गतिमय अर्थात् कर्मण्य है। **गायत्राः** प्रभुस्तुति के अथवा राष्ट्रगान के गायक जन **अगासिषुः** तेरा यशोगान कर रहे हैं।

वास्तव में परमात्मा हमें छोड़कर कहीं नहीं चला जाता, हम ही उसे छोड़ते हैं। यह भाषा की शैली है कि स्वयं को उपालम्भ देने के स्थान पर परमात्मा को उपालम्भ दिया जा रहा है। अन्यत्र परमात्मा के अनुग्रह-रहित होने पर स्वयं को ही उपालम्भ दिया गया है। जैसे "हे वरुण परमात्मन्! मुझसे क्या अपराध हो गया है कि आप मुझ अपने सबसे बड़े स्तोता का वध करना चाह रहे हैं? मेरा अपराध मेरे ध्यान में ला दीजिए, जिससे मैं उस अपराध को छोड़कर नमस्कारपूर्वक आपकी शरण में आ सकूँ।" ऋ० ७।८६।४। एवं दोनों प्रकार की शैली वेदों में प्रयुक्त हुई है। राजा-परक अर्थ में शत्रु से पीड़ित प्रजाजन राजा को पुकार रहे हैं और उसे उद्बोधन दे रहे हैं, यह समझना चाहिए ॥९॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है। 'क्वे क्वे' में छेकानुप्रास और 'युध्म, खजकृत्, पुरन्दर' में पुनरुक्तवदाभास है ॥९॥

भावार्थ—जैसे काम, क्रोध आदि शत्रुओं से पीड़ित जन सहायता के लिए परमात्मा को पुकारते हैं, वैसे ही मानव-शत्रुओं से और दैवी विपत्तियों से व्याकुल किये गये आर्त प्रजा जन राजा को बुलाते हैं ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा का विषय वर्णित है।

२७२. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१०॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में। **वयम्** हम उपासक लोग **वज्रिणम्** दुर्जनों वा दुर्गुणों के प्रति वज्रधारी अर्थात् उनके विनाशक, **एनम्** प्रसिद्ध गुणों वाले इस इन्द्र परमेश्वर को **इदा** इस समय और **ह्यः** कल **इह** इस उपासना यज्ञ में **अपीपेम** स्तुतिगान से रिझा चुके हैं। हे भाई! तू भी **तस्मै उ** उस इन्द्र परमेश्वर के लिए **अद्य** आज **सवने** अपने जीवन-यज्ञ में **सुतम्** श्रद्धारूप सोमरस को **भर** हृदय में धारण कर अथवा अर्पित कर। हे साथियो! तुम सब भी **नूनम्** निश्चय ही **श्रुते** वेदादि द्वारा उसकी महिमा सुनी जाने पर, उसे **आभूषत** स्तोत्ररूप उपहारों से अलंकृत करो॥

द्वितीय—राष्ट्र के पक्ष में। **वयम्** हम लोगों ने **वज्रिणम्** दुष्ट शत्रुओं तथा चोर, ठग, लुटेरे

---

१. ऋ० ८।१।७।
२. ऋ० ८।६६।७, अथ० २०।९७।१, साम० १६६१।

आदियों के प्रति दण्डधारी **एनम्** इस अपने सम्राट् को **इदा** वर्तमान काल में, और (ह्यः) भूतकाल में **इह** इस राष्ट्र-यज्ञ में **अपीपेम** कर-प्रदान द्वारा बढ़ाया है। हे भाई! तू भी **तस्मै उ** उस सम्राट् के लिए **अद्य** आज **सवने** राष्ट्ररूप यज्ञ में **सुतम्** अपनी आमदनी की राशि में से पृथक् किये हुए राजदेय कर को **भर** प्रदान कर। हे दूसरे प्रजाजनो! तुम भी **नूनम्** निश्चयपूर्वक **श्रुते** राजाज्ञा के सुनने पर, राजा को **आभूषत** अपना-अपना देय अंश देकर अलंकृत करो ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि दुर्जनों और दुर्गुणों के विनाशक तथा सज्जनों और सद्-गुणों के पोषक परमेश्वर की उपासना करें। उसी प्रकार दुष्ट शत्रुओं, चोर, लम्पट, ठग, लुटेरे आदियों तथा अशान्ति फैलाने वालों को दण्ड देने वाले और सज्जनों तथा शान्ति के प्रेमियों को बसाने वाले सम्राट् का भी कर (टैक्स) देकर सम्मान करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के गुणों का वर्णन करके उसकी महिमा गाने की प्रेरणा होने से, उससे गृह आदि की याचना होने से, उसका आह्वान होने से और इन्द्र नाम से राजा आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

॥६॥ अथ 'यो राजा चर्षणीनाम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,६ पुरुहन्मा; २ भर्गः; ३ इरिम्बिठिः; ४ जमदग्निः; ५, ७ देवातिथिः; ८ वसिष्ठः; ९ भरद्वाजः; १० बालखिल्याः ॥ देवता—१-३, ५-८, १० इन्द्रः, ४ सूर्यः; ९ इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और राजा के गुणों का वर्णन किया गया है।

२७३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥१॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **यः** जो इन्द्र परमेश्वर **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** सम्राट् **रथेभिः याता** मानो रथों से यात्रा करने वाला अर्थात् रथयात्री के समान शीघ्रव्यापी, **अध्रिगुः** बेरोक गति वाला तथा **विश्वासाम्** सब **पृतनानाम्** शत्रु-सेनाओं का, अर्थात् शत्रुभूत कामज-क्रोधज आदि गणों का **तरुता** पराजित करने वाला है, **यः** और जो **वृत्रहा** पापों का संहारक है, उस **ज्येष्ठम्** गुणों में सबसे श्रेष्ठ तथा अनादि होने से आयु में भी सबसे वृद्ध परमेश्वर की, मैं **गृणे** स्तुति और अर्चना करता हूँ ॥

कामज और क्रोधज गणों का उल्लेख मनु ने इस प्रकार किया है—शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, दूसरों की स्त्रियों का सेवन करना, नशा करना, अनुचित रूप से बाजे बजाने में लगे रहना, व्यर्थ इधर-उधर घूमना ये दस काम के गण हैं। चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थशुचि न होना, वाणी और दण्ड की कठोरता होना, ये आठ क्रोध के गण हैं।

१. ऋ० ८।७०।१, अथ० २०।९२।१६, २०।१०५।४ सर्वत्र 'ज्येष्ठं' इत्यत्र ज्येष्ठो इति पाठः। साम० ९३३।

(मनु० ७।४७, ४८)। साधक की उपासना में विघ्न डालने वाले इन शत्रुगणों को परमेश्वर पराजित कर देता है।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **यः** जो **चर्षणीनाम्** मानुषी प्रजाओं का **राजा** राजा, **रथेभिः** जल, स्थल और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों से **याता** आवागमन करने वाला, **अध्रिगुः** न रोकी जा सकने योग्य गति वाला और **विश्वासाम्** सब **पृतनानाम्** रिपुसेनाओं का **तरुता** पराजेता है, **यः** और जो **वृत्रहा** विघ्न-कारी शत्रुओं का संहारक है, उस **ज्येष्ठम्** वीरता आदि गुणों में श्रेष्ठ राजा को, मैं **गृणे** पुकारता हूँ, उसकी स्तुति करता हूँ, उसे प्रोत्साहित करता हूँ, उसका सत्कार करता हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष अलङ्कार है। परमेश्वर-पक्ष में 'याता रथेभिः' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ॥१॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड का राजराजेश्वर, संकटों से बचाने वाला, किसी से प्रतिहत न होने वाला, विजयार्थ प्रयत्नशील दिव्य गुणों की सेनाओं को विजय दिलाने वाला, काम-क्रोध आदि की सेनाओं का ध्वंस करने वाला, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ परमात्मा सबके द्वारा उपासना करने योग्य है, वैसे ही बिजली आदि से चलाये जाने वाले विमान आदि यानों से जाने-आने वाला, समस्त शत्रुओं को जीतने वाला वीर राष्ट्रनायक भी संकटकाल में प्रजाजनों द्वारा पुकारने योग्य, प्रोत्साहन देने योग्य तथा गुण-कर्मों की प्रशंसा करके कीर्ति गाने योग्य है ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा से निर्भयता की याचना है।

२७४. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥२॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन् अथवा राजन्! हम लोग **यतः** जिससे **भयामहे** भय खाते हैं, **ततः** उससे **नः** हमारी **अभयम्** निर्भयता **कृधि** कर दो। हे **मघवन्** निर्भयतारूप धन के धनी! आप **शग्धि** हमें शक्तिशाली बनाओ, **तव** आपका **तत्** वह अभय-प्रदान **नः** हमारी **ऊतये** रक्षा के लिए होवे, आप **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को अथवा द्वेष करने वालों को **विजहि** विनष्ट कर दो, **मृधः** हिंसावृत्तियों को अथवा आपस के युद्धों को **विजहि** समाप्त कर दो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। 'भया, भयं' में छेकानुप्रास है। तकार की आवृत्ति में वृत्त्यनु-प्रास है ॥२॥

भावार्थ—महाबली परमात्मा को हृदय में धारण करके और महापराक्रमी पुरुष को राजा के पद पर अभिषिक्त करके, उनसे अभय पाकर, महत्त्वाकांक्षा जगाकर, महान् कार्यों को करके संसार से द्वेषवृत्तियाँ, हिंसावृत्तियाँ और युद्ध समाप्त करने चाहिएँ और राष्ट्रों में शान्ति एवं सद्भावना स्थापित करनी चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा तथा शिल्पी के गुण-कर्मों का वर्णन है।

२७५. वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ॥३॥[2]

---

१. ऋ० ८।६१।१३, 'ऊतये' इत्यत्र 'ऊतिभिर्' इति पाठः। अथ० १९।१५।१ ऋषिः अथर्वा, 'तन्न ऊतये' इत्यत्र 'त्वं न ऊतये' इति पाठः। साम० १३२१।

२. ऋ० ८।१७।१४ देवता इन्द्रः वास्तोष्पतिर्वा। 'द्रप्सः पुरां भेत्ता' इत्यत्र 'द्रप्सो भेत्ता पुरां' इति पाठः।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** ब्रह्माण्डरूप घर के स्वामी इन्द्र परमात्मन् ! आप **सोम्यानाम्** शान्तिमय, दूसरों को शान्ति देने वाले अथवा ब्रह्मानन्दरूप सोमरस को प्रवाहित करने योग्य स्तोता जनों के **ध्रुवा स्थूणा** स्थिर आधारस्तम्भ अर्थात् आधारस्तम्भ के समान आश्रयभूत हैं, एवं **अंसत्रम्** धनुष तथा कवच हैं अर्थात् धनुष के समान विघ्नकर्ताओं पर बाण-प्रहार करने वाले और कवच के समान रक्षक हैं। **द्रप्सः** रसमय अथवा सूर्य के समान ज्योतिष्मान् तथा **शश्वतीनाम्** चिरकाल से चली आ रही **पुराम्** काम-क्रोधादि शत्रुओं की किलेबन्दियों के **भेत्ता** तोड़ने वाले **इन्द्रः** इन्द्र नामक आप **मुनीनाम्** मुनियों के **सखा** मित्र हैं ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** राष्ट्ररूप गृह के अधिपति इन्द्र राजन् ! आप राष्ट्रयज्ञ रूप सोमयाग करने वाले प्रजाजनों के **ध्रुवा स्थूणा** स्थिर आधार-स्तम्भ और **अंसत्रम्** धनुष तथा कवच बनें अर्थात् आप आधारस्तम्भ बनकर प्रजाजनों को सहारा दें और धनुष बनकर शत्रुओं पर आक्रमण करें एवं कवच बनकर प्रजा का शत्रुजन्य आघातों से त्राण करें। साथ ही **द्रप्सः** प्रेमरस के अगार और सूर्य के समान तेजस्वी तथा **शश्वतीनाम्** चिरकाल से सुदृढ़ रूप में बनायी हुई **पुराम्** शत्रु-नगरियों को **भेत्ता** विदीर्ण करने वाले **इन्द्रः** सम्राट् आप **मुनीनाम्** मुनिवृत्ति से वनों में बसने वाले वानप्रस्थों के **सखा** मित्र के समान हितचिन्तक हों ॥

तृतीय वास्तुकला-विशेषज्ञ शिल्पी के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** वास्तुकलाविशेषज्ञ, गृहनिर्माण-कुशल शिल्पी ! ध्यान रख कि **सोम्यानाम्** यज्ञ अथवा ऐश्वर्य के अधिकारी गृहस्थ जनों की **स्थूणा** मकानों के आधारभूत खम्भे व दीवारें **ध्रुवा** सुदृढ़ हों, और **अंसत्रम्** मकानों के कंधों के तुल्य खम्भों, दीवारों आदि की रक्षक छतें भी सुदृढ़ हों, क्योंकि कभी-कभी **द्रप्सः** वर्षा-जल **शश्वतीनाम्** चिरकाल से भी स्थित **पुराम्** नगरियों का, उनमें बने हुए मकानों का **भेत्ता** तोड़कर गिरा देने वाला हो जाता है। यदि कहो कि मुनियों के घरों के विषय में निवेदन क्यों नहीं करते हो, तो उसका उत्तर है कि—**मुनीनाम्** वानप्रस्थ-वृत्ति से वन में निवास करने वाले मुनियों का तो **इन्द्रः** परमेश्वर **सखा** मित्र होता है, अर्थात् वे तो एक परमेश्वर की ही शरण में स्थित रहते हुए, बाह्य सुख की अपेक्षा न करते हुए वन में वृक्षों के नीचे कुटियों में रहते हुए भी स्वयं को सुखी मानते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। प्रथम दो व्याख्याओं में इन्द्र में अंसत्र और स्थूणा का आरोप होने से रूपक अलङ्कार भी है ॥३॥

भावार्थ—वही राजा श्रेष्ठ है जो परमेश्वर के गुणों का अनुसरण करता हुआ प्रजा का आधार-स्तम्भ, शत्रुओं का संहारक, स्वजनों का रक्षक, प्रेमरस का अगार, सूर्य के समान तेजस्वी और ऋषि-मुनियों का मित्र-सदृश हितकर्ता हो। और वास्तुकला के विशेषज्ञ इंजीनियरों का कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र में ऐसे सुदृढ़ मकान कुशल शिल्पियों द्वारा बनवायें कि वे मूसलाधार वर्षा, आँधी आदि से भी कुछ भी क्षतिग्रस्त न हों ॥३॥

अगले मन्त्र का सूर्य देवता है। सूर्य नाम से परमेश्वर, राजा, आचार्य आदि की स्तुति की गयी है।

२७६. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥४॥[1]

१. ऋ० ८।१०१।११, य० ३३।३९, अथ० २०।५८।३ सर्वत्र 'पनिष्टम मह्ना' इत्यत्र 'पनस्यतेऽद्धा' इति पाठः। अथ० १३।२।२९ ऋषिः ब्रह्मा, 'महाँस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि' इत्युत्तरार्द्धः। साम० १७८८।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **बट्** सचमुच हे **सूर्य** सर्वव्यापक, सर्वजगत् को उत्पन्न करने वाले, दुष्टों को प्रकंपित करने वाले, सूर्यसदृश प्रकाशमान एवं सर्वप्रकाशक जगदीश्वर ! आप **महान्** अतिशय महान् **असि** हो। **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** अविनाशी-स्वरूप परमात्मन् ! आप **महान्** परम महिमा वाले **असि** हो। हे **पनिष्टम** अतिशय स्तुति के पात्र परब्रह्म परमेश्वर ! **महः** महान् **सतः** होते हुए **ते** आपकी **महिमा** महिमा **महान्** अपार है। **मह्ना** महिमा से, आप **महान्** सबसे बड़े **असि** हो।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** अपने राष्ट्र में सूर्य के समान विद्या का प्रकाश फैलाने वाले राजन् ! आप **महान्** बड़े दिग्विजेता **असि** हो। **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** राष्ट्रभूमि के पुत्र अर्थात् राष्ट्रवासियों द्वारा मत देकर राज्य के अन्दर से ही चुने हुए राजन् ! आप **महान्** प्रजापालनरूप महान् कर्म वाले **असि** हो। हे **पनिष्टम** व्यवहार के श्रेष्ठ ज्ञाता ! **महः सतः** प्रजा के पूज्य होते हुए **ते** आपकी **महिमा** गरिमा **महान्** बहुत बड़ी है, क्योंकि आपमें मनुस्मृति (७।४) के अनुसार इन्द्र, वायु, यम, सूर्य आदि सब देवों के गुण विद्यमान हैं। हे **देव** प्रजाओं को सुख देने वाले राजन् ! आप **मह्ना** गुणों के गौरव के कारण **महान्** बड़े कीर्तिशाली **असि** हो।

तृतीय आचार्य के पक्ष में। **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** प्रकाशमय सूर्य के समान विद्या के प्रकाश से परिपूर्ण आचार्यवर ! आप **महान्** महान् पाण्डित्य से युक्त **असि** हो। **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** आदित्य ब्रह्मचारी ! आप **महान्** महान् व्रतों का अनुष्ठान करने वाले **असि** हो। हे **पनिष्टम** अत्यधिक विद्याव्यवहार के ज्ञाता ! **महः सतः** शिष्यों के पूज्य **ते** आपकी **महिमा** महिमा **महान्** अपार है। हे **देव** दिव्यगुणों वाले आचार्यप्रवर ! आप **मह्ना** विद्या, शिक्षणकला आदि की महिमा से **महान्** गौरवशाली **असि** हो ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में परमेश्वर, राष्ट्र में राजा और गुरुकुल में गुरु तीनों ही महान्, परोपकारी और कीर्तिमान् हैं। उनसे यथायोग्य उपकार सबको ग्रहण करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य की मैत्री का फल कहा गया है।

२७७. अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखदाता परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर राजन् वा आचार्य ! **यत्** जब कोई **ते** आपका **सखा** मित्र हो जाता है, तब वह **अश्वी** प्रशस्त घोड़ों का स्वामी और प्रशस्त मन, प्राण एवं इन्द्रियों का स्वामी, **रथी** प्रशस्त स्थलयानों, जलयानों एवं विमानों का स्वामी और प्रशस्त मानव-देह रूप रथ का स्वामी, **सुरूपः** प्रशस्त रूप एवं प्रशस्त गुणों का स्वामी, और **गोमान्** प्रशस्त गौओं, भूमियों तथा वाणियों आदि का स्वामी **इत्** अवश्य हो जाता है। **सः** वह **सदा** हमेशा **श्वात्रभाजा** धन वाली, विज्ञान वाली और शीघ्र किये जाने वाले कर्मों वाली **वयसा** आयु से **सचते** संयुक्त होता है, और **चन्द्रैः** चन्द्रमा के समान आह्लादक गुणों से युक्त होकर **सभाम्** प्रजा की सभा, विद्वानों की सभा और राजसभा में **उपयाति** जाता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

---

१. ऋ० ८।४।९ 'गोमाँ इदिन्द्र' 'चन्द्रो याति' इति पाठः।

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा, राजा एवं आचार्य से मैत्री जोड़ लेता है वह पुरुषार्थी, बलवान्, वाग्मी, जितेन्द्रिय, मेधावी, रथवान्, अश्ववान्, गोमान्, प्राणवान्, धनवान्, विज्ञानवान्, कर्मवान्, गुणवान्, आयुष्मान् होकर जनता का नेतृत्व करता हुआ जनसभाओं, विद्वत्सभाओं और राजसभाओं में प्रतिष्ठा पाता है ॥५॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन है।

२७८. यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥६॥[1]

पदार्थ—हे **वज्रिन्** वज्रधारी के समान सब सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि को नियम में चलाने वाले **इन्द्र** महामहिम परमेश्वर! **यत्** यदि **ते** आपके रचे हुए **द्यावः** द्यौ लोक **शतम्** सौ, **उत** और **भूमीः** भूमियाँ भी **शतम्** सौ **स्युः** हो जाएँ और **सूर्याः** सूर्य **सहस्रम्** हजार हो जाएँ, तो भी वे **त्वा** तेरी **न** नहीं **अनु** बराबरी कर सकते। **न** न ही **रोदसी** आकाश-भूमि के मध्य में **जातम्** उत्पन्न वायु, बादल, पहाड़, झरने, नदी, सागर आदि जो कुछ हैं, वे सब भी **अष्ट** तेरी महिमा का पार पा सकते हैं। अर्थात् तेरी महिमा अपरम्पार है ॥६॥

इस मन्त्र में द्यौ, भूमि और सूर्य से शत तथा सहस्र संख्याओं का सम्बन्ध न होने पर भी उनके साथ सम्बन्ध वर्णित होने से असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है। साथ ही उपमानों से उपमेय का आधिक्य वर्णित होने से व्यतिरेक अलंकार भी है। 'शतं, शतं' में लाटानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—उषा, सूर्य, चाँद, तारे, भूमि, नदियाँ, पहाड़, समुद्र, वृक्ष, वनस्पतियाँ, दिन-रात, ऋतुएँ, वर्ष ये सब सौ हजार या लाख भी क्यों न हो जाएँ, परमेश्वर की महिमा को प्राप्त नहीं कर सकते ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि प्रत्येक दिशा में परमेश्वर मनुष्यों द्वारा पुकारा जा रहा है।

२७९. यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥७॥[2]

पदार्थ—**यत्** क्योंकि, **इन्द्र** हे जगदीश्वर! तू **प्राक्** पूर्व दिशा में, **अपाक्** पश्चिम दिशा में, **उदक्** उत्तर दिशा में **न्यक् वा** और दक्षिण दिशा में **नृभिः** स्तोता जनों के द्वारा **हूयसे** पुकारा जाता तथा महिमा गान किया जाता है, इस कारण **नृषूतः** उन स्तोता जनों के द्वारा प्रेरित-प्रचारित होकर तू **पुरु** बहुत रूपों में **सिमा** सर्वत्र **आनवे** मानव-जाति में **असि** विदित हो जाता है। **प्रशर्ध** हे प्रकृष्ट रूप से शत्रुओं को परास्त करने वाले! तू **तुर्वशे** मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं के विनाशक पुरुषार्थी मनुष्य में, उसकी सहायता के लिए **असि** विद्यमान रहता है ॥७॥

भावार्थ—दिशा-दिशा में परमात्मा का प्रचार हमें करना चाहिए, तभी मानव जाति का कल्याण हो सकता है ॥७॥

---

१. ऋ० ८।७०।५, साम० ८६२, अथ० २०।८१।१, २०।९२।२०।
२. ऋ० ८।४।१, अथ० २०।१२०।१ उभयत्र 'दुदग्' इत्यत्र 'दुदङ्' इति पाठः। साम० १२३१।

इस मन्त्र पर सायण ने यह लिखा है कि अनु नाम का एक राजा था, उसका राजर्षि पुत्र 'आनव' है, और 'तुर्वश' भी एक राजा का नाम है। उसका यह व्याख्यान असंगत है, क्योंकि सृष्टि के आदिकाल में प्रादुर्भूत वेदों में परवर्ती मानव-इतिहास का वर्णन असंभव है। निघण्टु में अनु और तुर्वश मनुष्यवाची नामों में पठित होने से ऐतिहासिक नाम नहीं हैं।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर में श्रद्धा करने से क्या प्राप्त होता है।

२८०. कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **त्वावसो** कोई दूसरा निवासक न होने से जो स्वयं ही अपना निवासक है ऐसे आत्म-निर्भर **इन्द्र** परमात्मन्! **कः मर्त्यः** भला कौन मनुष्य **तम् आदधर्षति** उसका बाल भी बाँका कर सकता है, जो **मघवन्** हे ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **पार्ये दिवि** पार करने योग्य सम्पूर्ण दिन में **ते** तेरे प्रति **श्रद्धा** श्रद्धा से **हि** निश्चय ही **वाजी** अन्न, धन, विद्या, आत्मबल आदि से युक्त होकर **वाजम्** अन्न, धन, विद्या आत्म-बल आदि को **सिषासति** दूसरों के लिए देना चाहता है ॥८॥

भावार्थ—जो दिन-रात परमेश्वर में श्रद्धा रखकर उसकी कृपा से अन्न, धन, विद्या, बल, वेग आदि प्राप्त करके सत्पात्रों को उसका दान करता है, उस परोपकारी का सब आदर करते हैं ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्राग्नी देवता हैं। पहेली द्वारा श्रद्धा, उषा, विद्युत् आदि का वर्णन है।

२८१. इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् ॥९॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** श्रद्धा के पक्ष में। हे **इन्द्राग्नी** परमात्मन् और जीवात्मन्! तुम्हारे सान्निध्य से **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह पूर्व मन्त्र में वर्णित श्रद्धा **पद्वतीभ्यः** पैरों वाली प्रजाओं से **पूर्वा** पूर्व-गामिनी होती हुई **आ अगात्** आ गयी है। **शिरः** सिर को **हित्वा** छोड़कर भी, अर्थात् बिना सिर वाली होती हुई भी यह **जिह्वया** जिह्वा **से रारपत्** पुनः पुनः बोलती हुई सी, अर्थात् अपना सन्देश सुनाती हुई सी **चरत्** विचर रही है। और यह **त्रिंशत् पदानि** शरीरस्थ दस इन्द्रियों, दस प्राणों, पाँच कोशों और आत्मासहित अहङ्कारचतुष्टय इन तीसों स्थानों को **अक्रमीत्** व्याप्त कर रही है॥

द्वितीय उषा के पक्ष में। हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणो और क्षत्रियो! **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह उषा **पद्वतीभ्यः** सोयी हुई पैरों वाली प्रजाओं से **पूर्वा** पहले जागकर **आ अगात्** आ गयी है। यह उषा **शिरः** सिर को **हित्वा** छोड़कर भी अर्थात् बिना सिर के भी **जिह्वया** जिह्वा-सदृश अपनी प्रभा से **रारपत्** जागरण का सन्देश पुनः पुनः बोलती हुई सी **चरत्** विचर रही है। **त्रिंशत् पदानि** अहोरात्र के तीसों मुहूर्तों को **अक्रमीत्** पार करके आ गयी है, क्योंकि एक पूरे अहोरात्र के पश्चात् उषा का पुनः प्रादुर्भाव होता है।

तृतीय विद्युत् के पक्ष में। हे **इन्द्राग्नी** राजप्रजाजनो! देखो, **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह विद्युत् **पद्वतीभ्यः** पैरों वाली मनुष्य, पशु आदि प्रजाओं से **पूर्वा** तीव्रगामिनी होती हुई **आ अगात्** हमारे

---

१. ऋ० ७।३२।१४ 'त्वावसवा' 'हिते' इत्यत्र क्रमेण 'त्वावसुमा' 'इत्ते' इति पाठः। साम० १६८२।
२. ऋ० ६।५९।६, य० ३३।९३। उभयत्र 'हित्वा' 'रारपच्चरत्' इत्येतयोः स्थाने क्रमेण 'हित्वी' 'बावदच्चरत्' इति पाठः।

उपयोग के लिए हमें प्राप्त हुई है। यह विद्युत् **शिरः हित्वा** सिर के बिना भी **जिह्वया** सन्देशवाहक विद्युत्-तारयन्त्र द्वारा **रारपत्** पुनः पुनः सन्देश-प्रेषक के सन्देश को बोलती हुई **चरत्** तार में चलती है। यह **त्रिंशत् पदानि** महीने के तीसों दिनों को व्याप्त करके **अक्रमीत्** प्रकाश-प्रदान, सन्देशवहन, यन्त्रचालन आदि कार्यों में पग रखती है अर्थात् इन कार्यों को करती है ॥९॥

इस मन्त्र में 'पैर-रहित होती हुई भी पैरों वालियों से पहले पहुँच जाती है', 'सिर-रहित होती हुई भी जिह्वा से बोलती है', यहाँ बिना कारण के कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है। श्रद्धा, उषा, विद्युत् आदि किसी का नाम लिये बिना संकेतों से सूचना देने के कारण प्रहेलिकालंकार भी है ॥९॥

भावार्थ—श्रद्धा के धारण से धर्म में प्रवृत्ति और वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नति होती है। उषा जागरण का सन्देश देती है। विद्युत् के प्रयोग से रात में भी दिन के समान प्रकाश प्राप्त होता है और दूरभाषयन्त्र, आकाशवाणीयन्त्र, ऐक्सरेयन्त्र, भार ऊपर उठाने, अस्त्र छोड़ने आदि के विविध यन्त्र और स्थलयान, जलयान एवं विमान चलाये जाते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, उषा और विद्युत् सब जनों के लिए अतिलाभकारी हैं। अतः उनका यथोचित उपयोग सबको करना चाहिए ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, राजा, विद्वान् आदि का आह्वान किया गया है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२८२. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर, राजन् वा विद्वन्! आप **मितमेधाभिः** मेधापूर्ण **ऊतिभिः** रक्षाओं के साथ **नेदीयः इत्** हमारे अधिक समीप **आ इहि** आइए। हे **शन्तम** अतिशय कल्याण करने वाले! आप **शन्तमाभिः** अतिशय कल्याण करने वाली **अभिष्टिभिः** अभीष्ट प्राप्तियों के साथ **आ** आइए। हे **स्वापे** सुबन्धु! आप **स्वापिभिः** उत्कृष्ट बन्धुभावों के साथ **आ** आइए ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। दकार, तकार, मकार की आवृत्ति में, 'भि' की आवृत्ति में और 'रभि', 'भिरा' में वृत्त्यनुप्रास है। 'शन्तम, शन्तमा' और 'स्वापे, स्वापि' में छेकानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की रक्षाएँ बुद्धिपूर्ण, दान कल्याणकारी और बन्धुभाव शुभ होते हैं, वैसे ही राष्ट्र में राजा और विद्वान् अध्यापक के भी हों ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से परमेश्वर, राजा, आचार्य आदि के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करके उनसे अभय आदि की याचना होने से, सूर्य नाम से भी इनकी स्तुति होने से और श्रद्धा आदि का भी महत्त्व वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० ८।५३।५, ऋषिः मेध्यः काण्वः।

।।१०।। अथ 'इत ऊती' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ नृमेधः; २,३ वसिष्ठः; ४ भरद्वाजः; ५ परुच्छेपः; ६ वामदेवः, ७ मेध्यातिथिः; ८ भर्गः; ९-१० मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च ।। देवता—१-४, ७-१० इन्द्रः; ५ अश्विनौ; ६ वरुणः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर और राजा के गुण वर्णित किये गये हैं ।

२८३. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ।।१।।[1]

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **वः** तुम लोग **ऊती** रक्षा के लिए **अजरम्** बुढ़ापे अथवा जीर्णता से रहित, **प्रहेतारम्** शुभ कर्मों में प्रेरणा करने वाले, **अ-प्रहितम्** स्वयं किसी अन्य से प्रेरित न होने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी, न कि व्यर्थ ही कार्यों को लटकाने वाले, **जेतारम्** विजयी, **हेतारम्** वृद्धि करने वाले, **रथीतमम्** गतिशील, सूर्यचन्द्रादिरूप रथों के तथा ब्रह्माण्डरूप रथ के श्रेष्ठ रथी, अथवा श्रेष्ठ रथारोही, **अतूर्तम्** किसी से हिंसित न होने वाले, **तुग्रियावृधम्** अन्न में रहने वाले अन्नरस, आकाश में रहने वाले मेघजल या वायु, यज्ञ में रहने वाले फलसाधनत्व तथा वरिष्ठ जनों में रहने वाले धर्माचार के वर्धक इन्द्र परमेश्वर को अथवा प्रजाओं की वृद्धि करने वाले इन्द्र राजा को **इतः** इधर अपने अभिमुख करो ।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । तकार और रेफ की अनेक बार आवृत्ति में, 'तार' की तीन बार आवृत्ति में और 'तम, मतू' में वृत्त्यनुप्रास है । 'प्रहेता, प्रहित' में छेकानुप्रास, और 'हेतारं' की आवृत्ति में यमक है ।।१।।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि सांसारिक विषय-विलासों में अति प्रवृत्ति को छोड़कर विविध गुणों वाले परमेश्वर की उपासना करके और राजा को प्रजाओं के अनुकूल करके अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करें ।।१।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

२८४. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन् ।
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ।।२।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! **वाघतः** हमारे शरीर-यज्ञ के ऋत्विज् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि **च न** निश्चय ही **त्वा** तुझे **अस्मत्** हमसे **आरे** दूर **मा उ सु** मत **निरीरमन्** रमायें अर्थात् इन्द्रिय आदियों से विषयों में आकृष्ट हुआ मैं तुझे अपने पास से दूर न रखूँ । तू **आरात्तात्** **वा** दूर से भी **नः** हमारे **सधमादम्** जीवन-यज्ञ या उपासना-यज्ञ में **आ गहि** आ, **इह वा सन्** और यहीं हृदय में रहता हुआ **उपश्रुधि** हमारी स्तुति और प्रार्थना को सुन ।।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे इन्द्र राजन् ! **वाघतः** बुद्धिमान् राजमन्त्री, नगराधीश आदि

१. ऋ० ८।९९।७, अथ० २०।१०५।३ । उभयत्र 'तुग्रियावृधम्' इत्यस्य स्थाने 'तुग्र्यावृधम्' इति पाठः ।
२. ऋ० ७।३२।१ 'वाघतश्चनारे' इत्यविभक्तः पाठः, 'आरात्ताद्वा' इत्यत्र 'आरात्ताच्चित्' इति पाठः । साम० १६७५ ।

राज्याधिकारी **च न** निश्चय ही **त्वा** तुझे **अस्मत्** हमसे **आरे** दूर **मा उ सु** मत **निरीरमन्** रोकें, अर्थात् तुझ राजा को हमारे लिए सुलभ करायें। हे राजन्! **आरात्तात् वा** सुदूरस्थ भी अपनी राजधानी से, तू **नः** हमारे **सधमादम्** यज्ञ-समारोह में **आ गहि** आ, **इह वा सन्** और यहीं हमारे मध्य में विराजमान होता हुआ तू **उपश्रुधि** हमारे सुखदुःखादि के निवेदन को सुन ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। रेफ की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—राजराजेश्वर परमात्मा और मानव राजा हम प्रजाजनों को सदा सुलभ रहता हुआ हमारे सुख-दुःख को जाने ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के लिए सोम अभिषुत करने की प्रेरणा दी गयी है।

२८५. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः ॥३॥[1]

पदार्थ—हे मरणधर्मा मनुष्यो! तुम **सोमपाव्ने** उपासकों के श्रद्धारस का पान करने वाले, **वज्रिणे** पापाचारियों के प्रति दण्डधारी **इन्द्राय** जगदीश्वर के लिए **सोमम्** श्रद्धारस को **सुनोत** अभिषुत करो, **पक्तीः** ज्ञान, कर्म आदि के परिपाकों को **पचत** पकाकर तैयार करो, और **अवसे** जगदीश्वर की प्रीति के लिए **कृणुध्वम् इत्** उन श्रद्धारसों और ज्ञान, कर्म आदि के परिपाकों को उसे समर्पित करो। **पृणते** समर्पण करने वाले मनुष्य के लिए वह जगदीश्वर **मयः** सुख को **पृणन् इत्** अवश्य प्रदान करता है ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में 'समर्पण करने वाले को सुख मिलता है' इससे सोमसवन एवं पाकों के परिपाक के समर्पण रूप कार्य का समर्थन होता है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'सोम-सोम' में लाटानुप्रास तथा 'पृण-पृण' में छेकानुप्रास है ॥३॥

सुखार्थी जनों को चाहिए कि परमेश्वर में श्रद्धा और अपनी अन्तरात्मा में ज्ञान, कर्म, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का परिपाक अवश्य करें ॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि कैसे परमेश्वर और राजा को हम पुकारें और उससे क्या याचना करें।

२८६. यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥४॥[2]

पदार्थ—**यः** जो परमात्मा वा राजा **सत्राहा** सत्य से असत्य का हनन करने वाला अथवा सत्य व्यवहार करने वाला और **विचर्षणिः** विशेष रूप से द्रष्टा है, **तम्** उस **इन्द्रम्** दुःख, विघ्न आदि के विदारक तथा सुख एवं ऐश्वर्य के प्रदाता परमात्मा और राजा को **वयम्** हम प्रजाजन **हूमहे** पुकारते हैं। हे **सहस्रमन्यो** पापों और पापियों के विनाशार्थ अनन्त उत्साह को धारण करने वाले, **तुविनृम्ण** बहुत बली

---

१. ऋ० ७।३२।८, अथ० ६।२।३। उभयत्र 'सुनोत' इत्यस्य स्थाने 'सुनोता' इति पाठः।
२. ऋ० ६।४६।३, ऋषिः शंयुः। 'सहस्रमन्यो' इत्यत्र 'सहस्रमुष्क' इति पाठः।

तथा बहुत धनी, **सत्पते** सज्जनों के पालक ! तू **समत्सु** जीवन के संघर्षों में एवं देवासुरसंग्रामों में **नः** हमारी **वृधे** वृद्धि के लिए **भव** हो ।।४।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ।।४।।

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड में परमेश्वर सत्य का हन्ता, सर्वद्रष्टा, पापों को सहन न करने वाला, बहुत बलवान्, बहुत धनवान् और देवासुरसंग्रामों में देवपुरुषों को विजय दिलाने वाला तथा बढ़ाने वाला है, वैसे ही राष्ट्र में राजा हो ।।४।।

अगले मन्त्र में अश्वियुगल देवता हैं। उनसे याचना की गयी है।

२८७. शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।
मा वां रातिरुपदसत् कदा चनास्मद्रातिः कदा चन ।।५।।[1]

पदार्थ—हे **शचीवसू** कर्म-रूप धन वाले परमात्मा-जीवात्मा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक, वैद्य-शल्यचिकित्सक, राजा-राजमन्त्री, सभापति-सेनापति आदि अश्वीदेवो ! तुम **शचीभिः** अपने-अपने कर्मों से **नः** हमें **दिवा नक्तम्** दिन-रात **दिशस्यतम्** अपनी-अपनी देनें प्रदान करो। **वाम्** तुम्हारा **रातिः** दान **कदा च न** कभी **न उपदसत्** समाप्त न हो, वैसे ही **अस्मत्** हमारे अन्दर से **रातिः** दान का गुण **कदा च न** कभी **न उपसदत्** समाप्त न हो, अर्थात् हम भी निरन्तर दान में संलग्न रहें ।।५।।

इस मन्त्र में 'शची, शची', 'राति, रातिः', तथा 'कदा च न, कदा च न' में लाटानुप्रास अलङ्कार है ।।५।।

भावार्थ—उक्त अश्वी-युगल जैसे अपनी-अपनी आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, शिल्पात्मक, चिकित्सात्मक आदि देनों से हमारा उपकार करते रहें, उसी प्रकार हम भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार दूसरों का उपकार करें ।।५।।

अगले मन्त्र में वरुण देवता है। उसकी उपासना के लिए प्रेरणा की गयी है।

२८८. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः ।
आदिद् वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं विव्रतानाम् ।।६।।

पदार्थ—**यदा कदा च** जब कभी **स्तोता** स्तोता **मर्त्यः** मनुष्य **मीढुषे** बादल के समान ऐश्वर्य-वर्षक परमैश्वर्यशाली इन्द्र परमात्मा को अनुकूल करने के लिए **जरेत** उसकी अर्चना करे, **आत् इत्** उसके अनन्तर ही वह **विव्रतानाम्** व्रत-रहितों को **धर्तारम्** कर्म-पाशों से जकड़ने वाले, **वरुणम्** कर्मानुसार फल देकर पापों से निवारण करने वाले वरुण परमात्मा की भी **विपा** मेधायुक्त **गिरा** वाणी से **वन्देत** वन्दना कर लिया करे ।।६।।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण दोनों ही परमेश्वर के नाम हैं। इन्द्र नाम से उसकी परमैश्वर्यवत्ता तथा ऐश्वर्यवर्षकता सूचित होती है, और वरुण नाम से उसका पाशधारी होना तथा कर्म-पाशों से बाँध-कर और दण्ड देकर पापनिवारक होना सूचित होता है। परमेश्वर के इन दोनों ही स्वरूपों के चिन्तन करने, स्मरण करने तथा सदा अपने सामने धारण रखने से मनुष्य अपने जीवन में सन्मार्गगामी होकर

---

१. ऋ० १।१३९।५ 'दिशस्यतम्' इत्यत्र 'दशस्यतम्' इति पाठः।

सफलता प्राप्त कर सकता है। ऐश्वर्य पाकर मनुष्य कुमार्ग में प्रवृत्त न हो जाए, इसके लिए परमेश्वर के वरुण स्वरूप को भी ध्यान में रखना आवश्यक है ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के आतिथ्य की प्रेरणा दी गयी है।

२८९. पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
यः सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **मेध्यातिथे** पवित्र इन्द्र रूप अतिथि वाले स्तोता! तू **अन्धसः** भक्तिरस के **मदे** आनन्द में विह्वल होकर **इन्द्राय** इन्द्र परमेश्वर के लिए, अर्थात् उसके आतिथ्य के लिए **गाः** स्तुतिवाणियों को **पाहि** पाल-पोसकर प्रवृत्त कर, **यः** जो इन्द्र परमेश्वर **हर्योः** मन-प्राणरूप घोड़ों को **संमिश्लः** शरीर में नियुक्त करने वाला है, और **यः** जो **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय है, और जो **इन्द्रः** परमेश्वर **वज्री** वज्र के समान विद्यमान आक्रामक तथा रक्षक बल से युक्त होकर दुर्जनों को दण्डित एवं सज्जनों को रक्षित करने वाला, और **हिरण्ययः** सत्यरूप स्वर्णालङ्कार से अलंकृत है ॥७॥

इस मन्त्र में 'इन्द्राय गाः पाहि' इससे यह उपमालंकार ध्वनित होता है कि जैसे कोई गृहस्थ विद्वान् अतिथियों के सत्कार के लिए गाय पालता है। 'इन्द्रा, इन्द्रे' में छेकानुप्रास, 'हर्यो र्योहि' में वृत्त्यनुप्रास, तथा 'हिरण्यय, हिरण्ययः' में यमक अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—अतिथि-सत्कार मनुष्य का परम धर्म है। इन्द्र परमेश्वर भी मनुष्य के हृदय-गृह का अतिथि है। उसके आतिथ्य के लिए उसे श्रद्धारस में विभोर होकर स्तुतिवाणीरूप अर्घ्य प्रदान करना चाहिए। इन्द्र परमेश्वर एक विलक्षण अतिथि है जो अपना आतिथ्य करने वाले को ज्योति, यश एवं सत्यादिरूप सुवर्ण प्रदान करता है, अपने बल से उसकी रक्षा करता है, उसके शरीर में मन और प्राण को नियुक्त करके उसे लम्बी आयु और सामर्थ्य देता है ॥७॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और राजा हमारे वचन को सुनें।

२९०. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥[2]

पदार्थ—**इन्द्रः** सुखप्रदाता, दुःखहर्ता जगदीश्वर एवं राजा **अर्वाक्** हमारे अभिमुख हो, **च** और **नः** हमारे **इदम्** इस **उभयम्** मानसिक तथा वाचिक अथवा लिखित एवं मौखिक दोनों प्रकार के **वचः** निवेदन को **शृणवत्** सुने। साथ ही **मघवान्** सकल ऐश्वर्य का स्वामी, **शविष्ठः** सबसे अधिक बली वह जगदीश्वर एवं राजा **सोमपीतये** मानस तथा बाह्य शान्ति की रक्षा के लिए **सत्राच्या** सत्य का अनुसरण करने वाली **धिया** विचारशृङ्खला के साथ **आ गमत्** हमारे पास आये ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा मनुष्यों के अन्तःकरण में भ्रातृभाव और शान्ति के विचारों को प्रेरित

---

१. ऋ० ८।३३।४ 'गा अन्धसो' इत्यत्र 'गायान्धसो', 'र्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री' इत्यत्र च 'यः सुते सचा वज्री रथो' इति पाठः।
२. ऋ० ८।६१।१, अथ० २०।११३।१ उभयत्र 'मघवान्त्सोमपीतये' इत्यत्र 'मघवा सोमपीतये' इति पाठः। साम० १२३३।

करता है, वैसे ही राजा लोग राष्ट्रों में और संसार में पारस्परिक विद्वेष को समाप्त करके शान्ति का विस्तार करें ॥८॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमेश्वर को हम बड़े-से-बड़े मूल्य पर भी न छोड़ें।

२९१. महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **अद्रिवः** आनन्दरूप मेघों के स्वामी, आनन्दरस-वर्षक इन्द्र परमात्मन् ! **त्वा** तुम **महे च** किसी बड़ी भी **शुल्काय** कीमत पर, हमसे **न** नहीं **परादीयसे** छोड़े जा सकते हो। हे **वज्रिवः** प्रशस्त विज्ञानमय नीति के अनुसार चलने वाले ! **न** न **सहस्राय** हजार मुद्रा आदि का मूल्य लेकर, और **न** न ही **अयुताय** दस हजार मुद्रा आदि का मूल्य लेकर, छोड़े जा सकते हो। हे **शतामघ** अनन्त सम्पदा वाले ! **न** न ही **शताय** दस हजार से भी सौ गुणा अधिक अर्थात् दस लाख मुद्रा आदि का मूल्य लेकर छोड़े जा सकते हो ॥९॥

इस मन्त्र में 'अद्रिवः, वज्रिवः और शतामघ' विशेषण साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। जो मेघ के समान सुखवर्षक, प्रशस्त नीति से चलने वाला और अनन्त धनवान् है वह भला किसी मूल्य पर कैसे छोड़ा जा सकता है ॥९॥

भावार्थ—हे राजराजेश्वर परमात्मन् ! तुम्हें हमने अपने प्रेम से वश में कर लिया है। अब तुम्हें सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़ मूल्य के बदले भी हम छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का वर्णन है।

२९२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! आप **अभुञ्जतः** पालन न करने वाले **मे** मेरे **पितुः** पिता से **उत** और **भ्रातुः** सगे भाई से **वस्यान्** अधिक निवासप्रद **असि** हो। हे **वसो** निवासक जगदीश्वर ! आप, **मे माता च** और मेरी माता **समा** दोनों समान हो, क्योंकि तुम दोनों ही **वसुत्वनाय** धन के लिए और **राधसे** सफलता के लिए **छदयथः** हमें अपनी शरण से सत्कृत करते हो ॥१०॥

इस मन्त्र में 'अभुञ्जतः' पद का अर्थ पिता और भ्राता की अपेक्षा इन्द्र के अधिक निवासक होने में तथा 'वसुत्वनाय राधसे छदयथः' इस वाक्य का अर्थ इन्द्र और माता के समान होने में हेतु होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है। 'तुरु, तुर', 'वसो, वसु' में छेकानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जगदीश्वर सभी सांसारिक बन्धुबान्धवों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रिय और श्रेष्ठ है। केवल माता से उसकी कुछ तुलना हो सकती है, क्योंकि माता भूमि से भी अधिक गौरवमयी है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।१।५ 'च न' इति समस्तः पाठः। 'दीयसे' इत्यत्र च 'देयाम्' इति पाठः।

इस दशति में इन्द्र के गुणों का वर्णन तथा आह्वान होने से, उससे वृद्धि आदि की प्रार्थना होने से, उससे सम्बद्ध अश्विनों से दान की याचना होने से तथा इन्द्र नाम से राजा आदि का भी चरित्र वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
यह तृतीय प्रपाठक समाप्त हुआ ॥
तृतीय अध्याय में छठा खण्ड समाप्त ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

॥१॥ अथ 'इम इन्द्राय सुन्विरे' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ वसिष्ठः; २, ६, ७ वामदेवः; ३ मेधातिथिमेध्यातिथी, विश्वामित्र इत्येके; ४ नोधाः; ५ मेधातिथिः; ८ बालखिल्याः; ९ मेध्यातिथिः; १० नृमेधः ॥ देवता—१-६, ८-१० इन्द्रः; ७ बहवः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र को सोमपान के लिए बुलाया जा रहा है।

३१र २र ३ १ २ ३ १ २
२९३. इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।
१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम अतिथि के पक्ष में। **इमे** ये **दध्याशिरः** दही के साथ मिलाये हुए **सोमासः** सोमादि ओषधियों के रस **इन्द्राय** तुझ विद्वान् अतिथि के लिए **सुन्विरे** तैयार रखे हैं। हे **वज्रहस्त** हमारे दोषों को नष्ट करने के लिए उपदेशवाणीरूप वज्र को धारण करने वाले विद्वन् ! **तान्** उन दधिमिश्रित सोमरसों को **मदाय** तृप्त्यर्थ **पीतये** पीने के लिए **हरिभ्याम्** ऋक् और साम के ज्ञान के साथ अथवा दो घोड़ों से चलने वाले रथ पर बैठकर, मुझ गृहस्थ के **ओकः** घर पर **आयाहि** आइए ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **इमे** ये **दध्याशिरः** कर्मरूप दही के साथ मिलाये या पकाये हुए **सोमासः** हमारे श्रद्धा-रस **इन्द्राय** तुझ जगदीश्वर के लिए **सुन्विरे** तैयार किये हुए हैं। हे **वज्रहस्त** वज्र-धारी के समान दोषों को नष्ट करने वाले परमेश्वर ! **तान्** उन कर्ममिश्रित श्रद्धारसों को **मदाय** तृप्त्यर्थ **पीतये** पान करने के लिए **हरिभ्याम्** जैसे कोई रथ में घोड़ों को नियुक्त करके वेगपूर्वक आता है वैसे **ओकः** हमारे हृदय-सदन में **आयाहि** आइए ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, परमात्मपक्ष में लुप्तोपमा भी है ॥१॥

भावार्थ—जैसे दही में मिलाकर सोमादि ओषधियों का रस अतिथियों को समर्पित किया जाता है, वैसे ही श्रद्धारस को कर्म के साथ मिलाकर ही परमेश्वर को अर्पित करना चाहिए, क्योंकि कर्महीन भक्ति कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाती है ॥१॥

---

१. ऋ० ७।३२।४।

अगले मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है।

२९४. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः।
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ।।२।।

पदार्थ—**इमे** ये **उक्थिनः** स्तोत्रयुक्त **सोमाः** हमारे श्रद्धारस, हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **ते** आपकी **मदाय** तृप्ति के लिए **चिकित्रे** जाने गये हैं, सर्वविदित हैं। हमारे **मधोः** मधुर श्रद्धारस का **पपानः** पान करते हुए **नः** हमारी **गिरः** प्रार्थना-वाणियों को **उप शृणु** समीपता से सुनिए। हे **गिर्वणः** वाणियों द्वारा सेवन करने अथवा याचना करने योग्य परमात्मन् ! आप **स्तोत्राय** मुझ स्तुतिकर्ता को **रास्व** अभीष्ट फल प्रदान कीजिए ।।

अतिथि के पक्ष में भी अर्थयोजना कर लेनी चाहिए। उस पक्ष में 'उक्थिनः सोमाः' से प्रशंसित सोमादि ओषधियों के रस अभिप्रेत हैं। उनसे सत्कृत होकर वह गृहस्थों की प्रार्थना को सुनकर उन्हें अभीष्ट उपदेश आदि प्रदान करे ।।२।।

भावार्थ—परमेश्वर और अतिथि हमारी प्रार्थना को सुनकर अभीष्ट फल हमें प्रदान करें ।।२।।

अगले मन्त्र में दूध देने वाली गाय के रूप में इन्द्र की स्तुति की गयी है।

२९५. आ त्वा३द्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ।।३।।[1]

पदार्थ—**अद्य** आज **तु** शीघ्र ही **सबर्दुघाम्** ज्ञानरूप दूध को देने वाली, **गायत्र-वेपसम्** जिसके कर्मों का सर्वत्र गान हो रहा है ऐसी, **सुदुघाम्** भलीभाँति कामनाओं को पूर्ण करने वाली, **अन्याम्** विलक्षण, **इषम्** चाहने योग्य, **उरुधाराम्** बड़ी-बड़ी धारों वाली, **अरंकृतम्** अलंकृत करने वाली **इन्द्रं धेनुम्** परमेश्वर-रूप गाय को **आहुवे** पुकारता हूँ ।।३।।

इस मन्त्र में परमेश्वर में गाय का आरोप होने से रूपक अलंकार है ।।३।।

भावार्थ—जैसे गाय दूध देती है, वैसे परमेश्वर ज्ञान-रस देता है। गाय और परमेश्वर दोनों के यज्ञ-साधकत्व रूप कर्म का गान किया जाता है। दोनों ही मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। गाय अन्य पशुओं से विलक्षण है, परमेश्वर अन्य चेतन-अचेतनों से विलक्षण है। गाय दूध की बड़ी-बड़ी धारों को देती है, परमेश्वर आनन्द की धारें बरसाता है। गाय पुष्टि और आरोग्य देकर मनुष्यों को शोभित करती है, परमेश्वर अध्यात्मबल से शोभित करता है। इस प्रकार दोनों की समता होने से परमेश्वर की गाय के समान सेवा और पूजा करनी योग्य है ।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर का दान करने का धर्म वर्णित है।

२९६. न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः।
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ।।४।।[2]

---

१. ऋ० ८।१।१०।
२. ऋ० ८।८८।३ 'यच्छिक्षसि' इत्यत्र 'यद्दित्ससि' इति पाठः।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **बृहन्तः** विशाल **वीडवः** दृढ **अद्रयः** पर्वत भी **त्वा** तुझे **न** नहीं **वरन्त** रोक सकते हैं, **यत्** जब कि तू **मावते** मुझ जैसे **स्तुवते** स्तोता जन के लिए **वसु** आध्यात्मिक और भौतिक धन **शिक्षसि** देता है। **तत्** उस तेरे दानरूप कर्म को **न किः** कोई भी नहीं **आ मिनाति** नष्ट कर सकता है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर का जो गुण-कर्म-स्वभाव है उसके फलीभूत होने में संसार की कोई भी बाधा रुकावट नहीं डाल सकती ॥४॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि स्तुति किया हुआ जगदीश्वर क्या करता है।

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
२९७. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्रयन्धसः ॥५॥[1]

पदार्थ—**सुते** उपासना-यज्ञ में **सचा** एक-साथ **पिबन्तम्** यजमान के श्रद्धारस का पान करते हुए **ईम्** इस इन्द्र परमेश्वर को **कः वेद** कौन जानता है? **कत्** कब वह **वयः** उपासक के जीवन को **दधे** सहारा दे देता है, इसे भी कौन जानता है? अर्थात् यदि कोई जानता है तो उपासक ही जानता या अनुभव करता है। कैसे परमेश्वर को? इसका उत्तर देते हैं—**अयम्** यह **यः** जो **शिप्री** प्रशस्त स्वरूप वाला परमेश्वर **अन्धसः** यजमान के श्रद्धारस से **मन्दानः** प्रसन्न होता हुआ **ओजसा** बलपूर्वक **पुरः** उसकी मनोभूमि में दृढ़ता के साथ जमी हुई काम-क्रोधादि असुरों की नगरियों को **विभिनत्ति** तोड़-फोड़ देता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना का यही लाभ है कि वह उपासक के मन में सब शत्रुओं को पराजित कर सकने वाले पुरुषार्थ को उत्पन्न करके उसे समरभूमि में विजयी बना देता है ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा को सम्बोधित किया गया है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२९८. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय ॥६॥

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दुर्गुणनिवारक जगदीश्वर ! आप **शासः** शासक और नियामक हैं, इस कारण **अव्रतम्** व्रतहीन और कर्महीन मनुष्य को **सदसः परि** सज्जनों के समाज से **च्यावय** निकाल दीजिए। हे **मघवन्** सद्गुणरूप धनों के धनी ! **अस्माकम्** हमारे **पुरुस्पृहम्** बहुत अधिक प्रिय **अंशुम्** मन को **वसव्ये अधि** आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों प्रकार के धन-समूह की प्राप्ति के निमित्त से **बर्हय** श्रेष्ठ बना दीजिए ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** पाप और पापियों के विनाशक राजन् ! आप **शासः** शासक हैं, इस कारण **अव्रतम्** वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन न करने वाले मनुष्य को **सदसः परि** राष्ट्ररूप यज्ञगृह से **च्यावय** निष्कासित कर दो। अथवा **अव्रतम्** राष्ट्रसेवा के व्रत से रहित मनुष्य को **सदसः परि** संसत् की सदस्यता से **च्यावय** च्युत कर दो। हे **मघवन्** धनों के स्वामिन् ! **अस्माकम्** हमारे **पुरुस्पृहम्** अतिशय प्रिय **अंशुम्** प्रदत्त कर-रूप अंशदान को **वसव्ये अधि** राष्ट्रहित के कार्यों में **बर्हय** व्यय करो ॥६॥

---

१. ऋ० ८।३३।७, साम० १६९६, अथ० २०।५३।१, २०।५७।११ सर्वत्र ऋषिः मेध्यातिथिः।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—वे ही राष्ट्रपरिषद् के सदस्य होने योग्य हैं जो राष्ट्रसेवा के व्रत में दीक्षित हों। प्रजाजनों को भी वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन करने वाला और कर्मपरायण होना चाहिए। प्रजाओं को चाहिए कि स्वेच्छा से राजा को कर प्रदान करें और राजा को चाहिए कि कर द्वारा प्राप्त धन को राष्ट्रहित के कार्यों में व्यय करे ॥६॥

इस मन्त्र के देवता मन्त्रोक्त त्वष्टा, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और अदिति हैं। इन्द्र के प्रकरण में उनसे भी रक्षा आदि की याचना की गयी है।

२९९. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥७॥[1]

पदार्थ—**त्वष्टा** दोषनिवारक, तेजस्वी, दुःखच्छेदक विद्वान् मनुष्य, **पर्जन्यः** बादल के समान उपदेश की वर्षा करनेवाला संन्यासी, और **ब्रह्मणः पतिः** ज्ञान का अधिपति आचार्य **नः** हमारे लिए **दैव्यं वचः** ईश्वरीय वेदवचन का उपदेश करें। **पुत्रैः** पुत्रों सहित, और **भ्रातृभिः** भाई-बन्धुओं सहित **नः** हमें **अदितिः** जगन्माता **नु** शीघ्र ही **पातु** रक्षा प्रदान करती रहे। हमारा **वचः** वचन **दुष्टरम्** दुस्तर, अकाट्य तथा **त्रामणम्** दूसरों की रक्षा करनेवाला होवे ॥२॥

भावार्थ—विद्वानों के उपदेश से पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव आदि सहित सब लोग वेद के ज्ञाता, सत्कर्मों में संलग्न और परमेश्वर-प्रेमी होते हुए व्यवहार में सत्य, मधुर, प्रभावजनक तथा कुतर्कों से अकाट्य वचन बोला करें ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर की अर्चना कभी निष्फल नहीं होती।

३००. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** सुखप्रदाता परमेश्वर! आप **कदाचन** कभी **स्तरीः** वन्ध्या गौ के समान निष्फल **न असि** नहीं होते, प्रत्युत **दाशुषे** आत्मदान करनेवाले उपासनायज्ञ के यजमान को फल देने के लिए **सश्चसि** प्राप्त होते हो। हे **मघवन्** धनों के स्वामी! **देवस्य ते** तुझ दानादिगुणयुक्त का **दानम्** दान **इत् नु** निश्चय ही **भूयः इत्** पुनः-पुनः **उप-उप पृच्यते** यजमान को प्राप्त होता है, अवश्य प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ—जो स्वयं को परमेश्वर के लिए समर्पित कर देता है उसे वह दुधारू गाय के समान सदा फल प्रदान करता रहता है ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और सेनाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया है।

३०१. युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि ॥९॥[3]

---

१. अथ० ६।४।१ अथर्वा ऋषिः। 'नो' इत्यत्र 'मे' इति, 'त्रामणं वचः' इत्यत्र च 'त्रायमाणं सहः' इति पाठः।
२. ऋ० ८।५१।७, ऋषिः श्रुष्टिगुः काण्वः। य० ३।३४, ऋषिः मधुच्छन्दाः।
३. ऋ० ८।३।१७।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **वृत्रहन्तम** पापरूप वृत्रासुरों का अतिशय वध करनेवाले **इन्द्र** परमात्मन्! **परावतः** अपने परम स्वरूप में स्थित होकर आप **हरी** हमारे ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व हि** कार्य में प्रवृत्त कीजिए, अर्थात् हमें ज्ञानवान् और कर्मवान् बनाइए। **उग्रः** तीक्ष्ण बल वाले आप **अर्वाचीनः** हमारे अभिमुख होते हुए **सोमपीतये** हमारे आत्मा के रक्षणार्थ **ऋष्वेभिः** महान् वीरता, दया, उदारता आदि गुणों के साथ अर्थात् हमारे लिए उनका उपहार लेकर **आगहि** आइए॥

द्वितीय—राष्ट्र के पक्ष में। राष्ट्र में शत्रु का संकट आ जाने पर प्रजा द्वारा सेनाध्यक्ष को सैनिकों के साथ बुलाया जा रहा है। हे **वृत्रहन्तम** शत्रुओं का अत्यधिक संहार करनेवाले **इन्द्र** सेनाध्यक्ष! आप **परावतः** अपने उत्कृष्ट सैन्यावास से **हरी** संकटों को हरने वाले अपने आक्रामक और रक्षक दोनों सेना-दलों को **युङ्क्ष्व हि** शत्रुओं के उच्छेद और राष्ट्र के रक्षण के लिए नियुक्त कीजिए। हे **मघवन्** वीरतारूप धन के धनी! **उग्रः** प्रचण्ड आप **सोमपीतये** शान्ति के रक्षणार्थ **ऋष्वेभिः** अपने महाबली सैनिकों के साथ **अर्वाचीनः** रणभूमि की ओर **आगहि** आइए॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है॥९॥

भावार्थ—देहधारी जीवात्मा के ज्ञान एवं पौरुष से रहित तथा पापग्रस्त हो जाने पर जैसे परमेश्वर का आह्वान श्रेयस्कर होता है, वैसे ही राष्ट्र जब शत्रुओं से आक्रान्त हो जाता है तब सेनाध्यक्ष का आह्वान श्रेयस्कर होता है॥९॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर वा राजा का आह्वान किया गया है।

३०२. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **वज्रिन्** वज्रधारी, अर्थात् दुर्जनों के दलन और सज्जनों के रक्षण की शक्ति से युक्त परमात्मन् वा राजन्! **त्वाम्** आपको **भूर्णयः** लोगों का भरण-पोषण करने वाले **नरः** नेताजन **इदा** इस समय, तथा **ह्यः** भूतकाल में **अपीप्यन्** बढ़ाते हैं और बढ़ाते रहे हैं, अर्थात् सदा आपका प्रचार करते हैं। **सः** वह आप **इन्द्र** हे दुर्मति के विदारक और सुमति के दाता परमात्मन् वा राजन्! **स्तोमवाहसः** स्तुति करने वाले हम लोगों को अर्थात् हमारे निवेदनों को **इह** यहाँ **श्रुधि** सुनिए और **स्वसरम्** हमारे हृदयसदन में अथवा प्रजा के सभागृह में **उप आ गहि** आइए॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है॥

भावार्थ—समाज में जो नेताजन होते हैं उन्हें चाहिए कि सर्वत्र परमात्मा वा प्रजारञ्जक राजा का प्रचार करें, जिससे राष्ट्र के सब लोग आस्तिक तथा राजभक्त हों॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के प्रति सोमरस अर्पित होने, गाय के रूप में इन्द्र का स्मरण करके उसका आह्वान होने, इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाले त्वष्टा, पर्जन्य, बृहस्पति एवं अदिति का आह्वान होने और इन्द्र नाम से राजा, सेनापति आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त।

---

१. ऋ० ८।९९।१ 'वाहस इह' इत्यत्र 'वाहसामिह' इति पाठः। साम० ८१३।

।।२।। अथ 'प्रत्यु अदर्श्या' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ७, ८ वसिष्ठः; ३ पौर आत्रेयः; ४ प्रस्कण्वः; ५ मेधातिथिमेध्यातिथी; ६ देवातिथिः; ९ नृमेध; १० नोधाः ।। देवता—१ उषा; २, ३ अश्विनौ; ४-१० इन्द्रः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

प्रथम मन्त्र का देवता उषा है। इसमें उषा के आविर्भाव का वर्णन है।

३०३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ।।१।।[1]

पदार्थ—**आयती** आती हुई, **उच्छन्ती** उदित होती हुई **दिवः दुहिता** द्यो-लोक की पुत्री उषा **प्रति अदर्शि उ** दिखाई दी है। **मही** महती यह उषा **चक्षुषा** दर्शनप्रदान से **तमः** अन्धकार को **अप उ वृणुते** दूर कर रही है। **सूनरी** सुनेत्री यह उषा **ज्योतिः** ज्योति को **कृणोति** उत्पन्न कर रही है ।।१।।

इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार है, और प्राकृतिक उषा के वर्णन से आध्यात्मिक उषा का वर्णन ध्वनित हो रहा है ।।

भावार्थ—जैसे सूर्योदय से पूर्व व्याप्त घने रात्रि के अन्धकार को विच्छिन्न करता हुआ प्राकृतिक उषा का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही परमात्मारूप सूर्य के उदय से पूर्व मनोभूमि में व्याप्त तामसिक वत्तियों के जाल को विच्छिन्न कर आध्यात्मिक उषा का प्रकाश आत्मा में फैलता है। यह उषा योगमार्ग में ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से प्रसिद्ध है ।।१।।

अगले दो मन्त्रों का देवता 'अश्विनौ' है। इस मन्त्र में अश्विनौ के नाम से परमात्मा-जीवात्मा और अध्यापक-उपदेशक की स्तुति की गयी है।

३०४. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ।।२।।[2]

पदार्थ—हे **अश्विनौ** परमात्मा और जीवात्मा अथवा अध्यापक-उपदेशको ! **उस्रा वाम्** आप निवासकों को **इमाः उ** ये **दिविष्टयः** ज्ञान-प्रकाश को चाहने वाली प्रजाएँ **हवन्ते** पुकार रही हैं। हे **शचीवसू** कर्मरूप और प्रज्ञारूप धन वालो ! **अयम्** यह मैं भी **अवसे** रक्षा के लिए **वाम्** तुम्हें **अह्वे** पुकार रहा हूँ, **हि** क्योंकि, तुम **विशं विशम्** प्रत्येक प्रजा के पास **गच्छथ** जाते हो ।।२।।

भावार्थ—जैसे परमात्मा और जीवात्मा मनुष्यों का मार्गदर्शन करते हैं, वैसे ही अध्यापक और उपदेशक भी शिक्षा और उपदेश के द्वारा सदाचार का मार्ग दर्शाते हैं। अतः उनकी संगति सबको करनी चाहिए ।।२।।

अगले मन्त्र में यह बताया है कि किस कारण से उक्त अश्वी तप्त या रुष्ट होते हैं।

३०५. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः ।
घ्नता वामश्नया क्षपमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ।।३।।

---

१. ऋ० ७।८१।१ 'अपो महि व्ययति चक्षसे' इति पाठः। साम० ७५१।

२. ऋ० ७।७४।१, साम० ७५३।

पदार्थ—हे **देवा** दानादि गुणों से युक्त, तेज से प्रकाशमान **अश्विना** परमात्मा-जीवात्मा और अध्यापक-उपदेशको ! **युवाम्** तुम **कु** कहाँ **स्थः** हो ? **कः मर्त्यः** कौन मनुष्य **वाम्** तुम्हें **तपानः** संतप्त करने वाला **है** ? तुम कहाँ हो ? प्रेरणा, शिक्षण या उपदेश क्यों नहीं करते हो ? क्या रुष्ट हो ? तुम्हारे रोष का क्या कारण **है** ? आगे स्वयं ही उत्तर देता है—**प्रथम** परमात्मा-जीवात्मा के पक्ष में—**अश्नया** मन में व्याप्त, **वाम् घ्नता** तुम्हारे पास पहुँचने वाले **अंशुना** ज्ञान-कर्म-श्रद्धारूप सोमरस से **क्षपमाणः** तुम्हें वंचित करने वाला ही तुम्हारा संतापक है। **द्वितीय** अध्यापक-उपदेशक के पक्ष में—**अश्नया** भूख से **घ्नता** पीड़ित **वाम्** तुम्हें **अंशुना** भोजन, वस्त्र, वेतन आदि देयांश से **क्षपमाणः** वंचित करने वाला ही तुम्हारा संतापक **है**। आगे **उभयपक्ष में—इत्थम् उ** ऐसा ही है न ? **आत् उ** अथवा **अन्यथा** इससे भिन्न अन्य ही कोई तुम्हारे संताप और रोष का कारण **है** ? अभिप्राय यह है कि अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।

भावार्थ—परमात्मा और जीवात्मा रूप अश्वी सदा मनुष्यों के हृदय में बैठे हुए हैं। जो ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, भक्ति आदि का सोमरस यथायोग्य उन्हें अर्पित करता है, उसे वे सदा सत्प्रेरणा देते रहते हैं। पर जो उनकी उपेक्षा करता है उससे वे रुष्ट के समान हो जाते हैं। इसी प्रकार जो शिक्षण और उपदेशों से उपकार करने वाले अध्यापक और उपदेशक को दक्षिणारूप में भोजन-वस्त्र आदि अथवा निश्चित वेतन नहीं देता वह उनके प्रति अपराध करता है ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से अधिष्ठित आत्मा और मनरूप अथवा इन्द्र राजा से अधिष्ठित अध्यापक और उपदेशकरूप अश्विनों से याचना की गयी है।

३०६. अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **अश्विना** आत्मा और मन रूप अथवा अध्यापक और उपदेशक रूप अश्वी देवो ! **दिविष्टिषु** अध्यात्म-दीप्ति के यज्ञों में अथवा व्यवहार-यज्ञों में **अयम्** यह **मधुमत्तमः** अत्यन्त मधुर **सोमः** ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, शान्ति आदि का रस अथवा सोमादि ओषधियों का रस **वाम्** तुम्हारे लिए **सुतः** मैंने तैयार किया है। **तिरोअह्न्यम्** पवित्रता में दिन को भी तिरस्कृत करने वाले अर्थात् उज्ज्वल दिन से भी अधिक पवित्र **तम्** उस रस को, तुम **पिबतम्** पान करो, और **दाशुषे** देने वाले मुझ यजमान के लिए **रत्नानि** उत्कृष्ट प्रेरणा, उत्कृष्ट संकल्प, उत्कृष्ट शिक्षा, उत्कृष्ट उपदेश आदि बहुमूल्य रमणीय धन **धत्तम्** प्रदान करो ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।

भावार्थ—मन के शिवसंकल्पपूर्वक जीवात्मा जिस ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, भक्ति आदि को परमात्मा के प्रति अर्पण की बुद्धि से करता है, वह बहुत फलदायक होता है। उसी प्रकार राष्ट्र में अध्यापक और उपदेशक के यथायोग्य सत्कार से उनके पास से बहुत अधिक ज्ञान, विज्ञान आदि प्राप्त किया जा सकता है ॥४॥

---

१. ऋ० १।४७।१ देवते अश्विनौ। 'सोमो दिविष्टिषु' इत्यत्र 'सोम ऋतावृधा' इति पाठः।

अगला मन्त्र इन्द्र परमात्मा को सम्बोधित किया गया है ।

३०७. आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या ।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥५॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! **सोमस्य** शान्तरस के **गल्दया** प्रवाह के साथ **ज्या** जिह्वा द्वारा **त्वा** तुझसे **सदा** हमेशा **याचन्** याचना करता हुआ **अहम्** मैं **सवनेषु** बहुत-से घृत द्वारा सिद्ध होने वाले यज्ञों में **भूर्णिम्** अपने दूध-घी से भरण-पोषण करने वाले **मृगम् न** गाय पशु के समान **सवनेषु** जीवन-यज्ञों में **भूर्णिम्** भरण-पोषण-कर्ता तथा **मृगम्** मन को शुद्ध करने वाले तुझे मैं **न आचुक्रुधम्** क्रुद्ध न करूँ। सदा याचना से दाता क्रुद्ध क्यों न हो जाएगा, इसका उत्तर देते हैं—**ईशानम्** स्वामी से **कः** कौन **न याचिषत्** याचना नहीं करता ॥५॥

इस मन्त्र में 'भूर्णिं मृगं न सवनेषु' में श्लिष्टोपमालङ्कार है। 'न' उपमार्थक तथा निषेधार्थक दोनों है। जब 'मृगं' से सम्बद्ध होता है तब बाद में प्रयुक्त होने के कारण उपमार्थक है, और जब 'सवनेषु' से सम्बद्ध होता है तब पहले प्रयुक्त होने के कारण निषेधार्थक है। अभिप्राय यह है कि जैसे यज्ञ में बार-बार दूध-घी माँगने पर भी गाय क्रुद्ध नहीं होती, ऐसे ही मेरे बार-बार माँगने से आप क्रुद्ध न हों। 'कः ईशानम् न याचिषत्—स्वामी से कौन नहीं माँगता' इस सामान्य से अपने माँगने रूप विशेष का समर्थन होने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

भावार्थ—बार-बार भी याचना करके जगदीश्वर से सद्गुण, सदाचार आदि सबको प्राप्त करने चाहिएँ ॥५॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के लिए शान्तरस को प्रवाहित करने के लिए कहा गया है ।

३०८. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** अध्यात्म-यज्ञ के अध्वर्यु मेरे मन ! **त्वम्** तू **सोमम्** शान्तरस को **आ द्रावय** चारों ओर से प्रवाहित कर, **इन्द्रः** आतमा **पिपासति** उसका प्यासा है। **नूनम्** मानो, **वृत्रहा** शान्ति के बाधक अशान्त विचारों के हन्ता परमात्मा ने भी, तेरे अध्यात्म-यज्ञ में आने के लिए **वृषणा** बलवान् **हरी** वेग से ले जाने वाले घोड़ों को **उपो युयुजे** रथ में नियुक्त कर लिया है, और साथ ही साथ **आजगाम च** वह आ भी गया है ॥६॥

इस मन्त्र में उत्प्रेक्षालंकार है। 'नूनम्' शब्द उत्प्रेक्षावाचक है। कहा भी है—'मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम्, इव आदि शब्द उत्प्रेक्षावाचक होते हैं।' शरीररहित परमात्मा का रथ में घोड़ों को नियुक्त करना असंभव होने से 'मानो घोड़ों को नियुक्त किया है' इस रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है। साथ ही 'आत्मा शान्तिरस का प्यासा है' इस कारण द्वारा शान्तरस-प्रवाह करने रूप कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। इसके अतिरिक्त 'घोड़ों को नियुक्त करते ही आ पहुँचा है' इस प्रकार कारण-कार्य की एक-साथ प्रतीति होने से अतिशयोक्ति अलंकार भी है ॥६॥

---

१. ऋ० ८।१।२०, 'आ' इत्यत्र 'मा' इति, 'ज्या' इत्यत्र च 'गिरा' इति पाठः ।
२. ऋ० ८।४।११ ।

भावार्थ—जीवात्मा को शान्तरस से तृप्त करने के लिए अपने मन को अध्वर्यु बनाकर सबको आन्तरिक शान्तियज्ञ का विस्तार करना चाहिए, क्योंकि शान्त आत्मा में ही परमात्मा का निवास होता है ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम द्वारा परमेश्वर, गुरु, राजा आदि से ऐश्वर्य की याचना की गयी है।

३०९. अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरेभरे च हव्यः ॥७॥[1]

पदार्थ—प्रथम उपास्य-उपासक के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर! **कनीयसः सतः** आपकी अपेक्षा अल्प शक्ति और अल्प धन आदि वाले मुझे **तत्** वह आपके पास विद्यमान **ज्यायः** अत्यधिक प्रशस्त तथा अधिक महान् आध्यात्मिक एवं भौतिक धन और बल **अभि आ भर** प्राप्त कराओ। हे **मघवन्** प्रशस्त ऐश्वर्य वाले परमात्मन्! आप **पुरूवसुः** बहुत धनी **बभूविथ** हो, **भरे-भरे च** और प्रत्येक अन्तर्द्वन्द्व में, प्रत्येक देवासुर-संग्राम में, प्रत्येक संकट में विजयप्रदानार्थ **हव्यः** पुकारे जाने योग्य हो।

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में। हे **इन्द्र** दोषविदारक तथा उपदेशप्रदायक आचार्यवर! **कनीयसः सतः** आयु और विद्या में आपसे अत्यल्प मुझ अपने शिष्य को आप **तत्** उस अपने पास विद्यमान **ज्यायः** प्रशंसनीय तथा विशाल विद्या और व्रतपालन के भण्डार को **अभि आ भर** प्रदान करो, **हि** क्योंकि **मघवन्** हे ज्ञान-धन के धनी! आप **पुरूवसुः** अनेक विद्याओं में विशारद **बभूविथ** हो, **भरे-भरे च** और शिष्यों का प्रत्येक भार उठाने के निमित्त **हव्यः** ग्रहण करने योग्य हो॥

तृतीय राजा-प्रजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सुखादिप्रदायक राजन्! **कनीयसः सतः** धन, शूरवीरता आदि में आपकी अपेक्षा बहुत कम मुझ प्रजाजन को **तत्** वह स्पृहणीय, प्रसिद्ध **ज्यायः** प्रशस्यतर तथा विशालतर, धन-धान्य, शस्त्रास्त्र, कला-कौशल, सुराज्य आदि ऐश्वर्य **अभि आ भर** प्रदान कीजिए। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! आप **पुरूवसुः** बहुत-सी प्रजाओं को बसाने वाले **बभूविथ** हो, **भरे भरे च** और राष्ट्र के अन्दर तथा बाहर जो शत्रु हैं उनके साथ होने वाले प्रत्येक संग्राम में **हव्यः** पुकारे जाने योग्य हो ॥७॥

नन्हे पात्र में बड़ी वस्तु नहीं समा सकती, अतः 'ज्यायः कनीयसः' में वैषम्य प्रतीत होने के कारण विषमालंकार व्यङ्ग्य है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा के पास अत्यन्त प्रशस्त और अत्यन्त विशाल भौतिक तथा आध्यात्मिक धन, गुरु के पास प्रचुर विद्याधन तथा सच्चारित्र्य का धन और राजा के पास प्रभूत, चाँदी, सोने, धान्य, शस्त्रास्त्र, कलाकौशल, चिकित्सा-साधन आदि का धन है। वे अपने-अपने धन से हमें धनी करें ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि धनस्वामियों को धन का व्यय कहाँ करना चाहिए।

३१०. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥८॥[2]

1. ऋ० ७।३२।२४, 'मघवन् बभूविथ' इत्यत्र 'मघवन्त्सनादसि' इति पाठः।
2. ऋ० ७।३२।१८, अथ० २०।८२।१। उभयत्र 'दधिषे' 'रंसिषम्' इत्यत्र क्रमेण 'दिधिषेय' 'रासीय' इति पाठः। साम० १७६६।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **यत्** यदि **यावतः** जितने धन के **त्वम्** आप स्वामी हैं **एतावत्** उतने धन का **अहम्** मैं **ईशीय** स्वामी हो जाऊँ, तो हे **रदावसो** पवित्रताकारक धन वाले, अथवा दानियों को बसाने वाले परमात्मन् ! मैं **स्तोतारम्** आपके स्तोता, पुण्यकर्ता मनुष्य को **इत्** ही **दधिषे** धन-दान से धारण करूँ, **पापत्वाय** पाप के लिए कभी **न** नहीं **रंसिषम्** दान करूँ ।।८।।

भावार्थ—धन पाकर किसी को कंजूस नहीं होना चाहिए, किन्तु उस धन का यथायोग्य सत्पात्रों में दान करना चाहिए । पर पाप-कार्य के लिए कभी धन-दान नहीं करना चाहिए ।।८।।

अगले मन्त्र में परमात्मा वा राजा से शत्रुसंहार की प्रार्थना की गयी है ।

३११. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ।।९।।[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** शूरवीर परमात्मन् वा राजन् ! **त्वम्** आप **प्रतूर्तिषु** झटापटी वाले देवासुर-संग्रामों में **विश्वाः** सब **स्पृधः** स्पर्धालु शत्रु-सेनाओं को **अभि असि** परास्त करते हो । आप **अशस्तिहा** अप्रशस्ति को दूर करने वाले, **जनिता** प्रशस्तिप्रद सद्गुणों और सच्चारित्र्यों को हृदय में वा राष्ट्र में उत्पन्न करने वाले, **वृत्रतूः** पाप वा पापियों की हिंसा करने वाले **असि** हो । **त्वम्** आप **तरुष्यतः** हिंसकों की **तूर्य** हिंसा करो ।।९।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष और कारण से कार्य का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है । 'तूर्' की तीन बार आवृत्ति तथा तकार की ग्यारह बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । परमात्मा और राजा का उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है ।।९।।

भावार्थ—जैसे परमात्मा मानस देवासुर-संग्रामों में काम, क्रोध आदि असुरों को परास्त कर, अप्रशस्ति को दूर कर, प्रशस्ति दिलाने वाले श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों को उत्पन्न कर, पापों का निर्मूलन कर स्तोता की कीर्ति का विस्तार करता है, वैसे ही राजा को भी राष्ट्र के अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं का उन्मूलन करके, राष्ट्र की अप्रशस्ति का निवारण करके, प्रजाओं में सद्गुणों और सदाचार का प्रचार करके सुप्रबन्ध द्वारा कीर्ति उत्पन्न करनी चाहिए ।।९।।

अगले मन्त्र में इन्द्र की महिमा का वर्णन है ।

३१२. प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ ।।१०।।[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यः** जो आप **ओजसा** बल और प्रताप से **दिवः** द्यौ लोक के **सदोभ्यः** सदनों—सूर्य-तारामण्डल आदियों से **परि** ऊपर होकर **प्र रिरिक्षे** महिमा में उनसे बढ़े हुए हो, **त्वा** ऐसे आपको **पार्थिवं रजः** पार्थिव लोक भी **न विव्याच** नहीं छल सकता है, अर्थात् महिमा में

---

१. ऋ० ८।९९।५, य० ३३।६६, साम १६३७, अथ० २०।१०५।१ ।

२. ऋ० ८।८८।५, 'यो', 'दिवः सदोभ्यस्परि', 'पार्थिवमति विश्वं' एतेषां स्थाने क्रमेण 'हि', 'दिवो अन्तेभ्यस्परि', 'पार्थिवमनु स्वधां' इति पाठः ।

पराजित नहीं कर सकता है। सचमुच आप **विश्वम् अति** सारे विश्व को अतिक्रमण करके **ववक्षिथ** महान् हो ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा का बल, महत्त्व, प्रताप और प्रभाव द्यावापृथिवी आदि सारे ब्रह्माण्ड से अधिक है ॥१०॥

इस दशति में प्राकृतिक उषा के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक उषा के आविर्भाव को सूचित कर, अश्विनौ के नाम से परमात्मा-जीवात्मा, आत्मा-मन और अध्यापक-उपदेशक का स्तवन कर, इन्द्र नाम से जगदीश्वर की स्तुति करके उससे धन, शत्रुविनाश आदि की प्रार्थना कर उसकी महिमा का वर्णन होने से और इन्द्र नाम से राजा, सेनापति आदि के भी कर्तव्यों का बोध कराने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त॥

॥३॥ अथ 'असावि देवम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ६ वसिष्ठः; ३ गातुः; ४ पृथुर्वैन्यः; ५ सप्तगुः; ७ गौरिवीतिः; ८ वेनो भार्गवः, बृहस्पतिर्नकुलो वा; १० सुहोत्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर को श्रद्धारस अर्पण करने का वर्णन है।

३१३. असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु ॥१॥[1]

पदार्थ—हमारे द्वारा **देवम्** दीप्तियुक्त, तेजस्वी, **गोऋजीकम्** इन्द्रियरूप गौओं की सरलगामिता में हेतुभूत **अन्धः** श्रद्धारस **असावि** अभिषुत कर लिया गया है। **अस्मिन्** इसमें **इन्द्रः** परमेश्वर **जनुषा ईम्** स्वभावतः ही **नि उवोच** अतिशय संबद्ध हो गया है। हे **हर्यश्व** वेगवान् भूमि, चन्द्र, विद्युत् आदि व्याप्त पदार्थों के स्वामी परमात्मन्! हम **यज्ञैः** योगाभ्यासरूप यज्ञों से **त्वा** आपको **बोधामसि** जानते हैं, आप **अन्धसः** आनन्द रस की **मदेषु** तृप्तियों में **नः** हमें **बोध** जानिये ॥१॥

इस मन्त्र में इन्द्र तथा उसके स्तोताओं द्वारा परस्पर एक बोधनरूप क्रिया किये जाने का वर्णन होने से अन्योन्य अलंकार है। 'बोधा' की एक बार आवृत्ति में यमक तथा 'मन्धो, मन्ध' में छेकानुप्रास है॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से योगाभ्यासी मनुष्य की इन्द्रियाँ सरल मार्ग पर चलनेवाली हो जाती हैं। इसलिए सबको श्रद्धापूर्वक परमेश्वर की अर्चना करनी चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा को सम्बोधित किया गया है।

३१४. योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि।
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥२॥[2]

---

१. ऋ० ७।२१।१।

२. ऋ० ७।२४।१, 'वृधश्चिद् ददो' इत्यत्र 'वृधे च ददो' इति पाठः।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रद परमेश्वर ! **ते** आपके **सदने** बैठने के निमित्त **योनिः** हृदय-गृह **अकारि** हमने संस्कृत कर लिया है। हे **पुरुहूत** बहुस्तुत ! **तम्** उस हृदय-गृह में **नृभिः** उन्नति कराने वाले सत्य, अहिंसा, दान, उदारता आदि गुणों के साथ **आ प्र याहि** आप आइए, **यथा** जिससे, आप **नः** हमारे **अविता** रक्षक और **वृधः चित्** वृद्धिकर्ता भी **असः** होवें, **वसूनि** आध्यात्मिक एवं भौतिक धनों को **ददः** देवें, **च** और **सोमैः** शान्तियों से **ममदः** हमें आनन्दित करें॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक शान्तिप्रदाता राजन् ! **ते** आपके **सदने** बैठने के निमित्त **योनिः** सिंहासन **अकारि** बनाया गया है। हे **पुरुहूत** बहुत-से प्रजाजनों द्वारा निर्वाचित राजन् ! आप **नृभिः** नेता राज्याधिकारियों के साथ **आ** आकर **प्रयाहि** विराजिए, **यथा** जिससे, आप **नः** हम प्रजाओं के **अविता** रक्षक और **वृधः चित्** उन्नतिकर्ता भी **असः** होवें, **वसूनि** धनों को **ददः** देवें, **च** और **सोमैः** शान्तियों से **ममदः** हम प्रजाजनों को आनन्दित करें॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर हृदयासन पर और राजा सिंहासन पर बैठकर सबको आध्यात्मिक तथा भौतिक रक्षा, वृद्धि, सम्पदा और शान्ति प्रदान कर सकते हैं॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के वर्षा आदि तथा मुक्तिप्रदानरूपी कार्य का वर्णन है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३१९. अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ २
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन्॥३॥[1]

पदार्थ—प्रथम। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम्** सकलसृष्टि के व्यवस्थापक आप, अपने द्वारा रचित सूर्य को साधन बनाकर **उत्सम्** जल के आधार बादल का **अदर्दः** विदारण करते हो, **खानि** उसके बन्द छिद्रों को **वि असृजः** खोल देते हो। **बद्बधानान्** न बरसने वाले बादल में दृढ़ता से बँधे हुए **अर्णवान्** जल के पारावारों को **अरम्णाः** छोड़ देते हो। इस प्रकार वृष्टिकर्म के वर्णन के बाद पहाड़ों से जलधाराओं के प्रवाह का वर्णन है। **यत्** जब **महान्तम्** विशाल **पर्वतम्** बर्फ के पर्वत को **विवः** पिघला देते हो **और यत्** जब **दानवान्** जल-प्रवाह में बाधक शिलाखण्ड आदियों को **हन्** दूर करते हो, तब **धाराः** नदियों की धाराओं को **अव सृजत्** बहाते हो॥

इससे राजा का विषय भी सूचित होता है। जैसे परमेश्वर वा सूर्य वृष्टि-प्रतिबन्धक मेघ को विदीर्ण कर उसमें रुकी हुई जलधाराओं को प्रवाहित करते हैं, वैसे ही राजा भी राष्ट्र की उन्नति में प्रतिबन्धक शत्रुओं को विदीर्ण कर उनसे अवरुद्ध ऐश्वर्य की धाराओं को प्रवाहित करे।

द्वितीय। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम्** आप **उत्सम्** ज्ञान के रुके हुए स्रोत को **अदर्दः** खोल देते हो, **खानि** अन्तरात्मा से पराङ्मुख हुई बहिर्मुख इन्द्रियों को **वि-असृजः** बाह्य विषयों से पृथक् कर देते हो, **बद्बधानान्** आनन्दमय कोशों में रुके हुए **अर्णवान्** आनन्द के पारावारों को **अरम्णाः** मनोमय आदि कोशों में फव्वारे की तरह छोड़ देते हो। **यत्** जब, आप **महान्तम्** विशाल **पर्वतम्** योगमार्ग में विघ्नभूत व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदियों के पहाड़ को **विवः** विदीर्ण कर देते हो, **और यत्** जब **दानवान्** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप दानवों को **हन्** विनष्ट कर देते हो, **तब धाराः** कैवल्य प्राप्त कराने वाली धर्ममेघ समाधि की धाराओं को **अव सृजत्** प्रवाहित करते हो॥३॥

[1] ऋ० ५।३२।१ 'सृजो वि धारा अव दानवान् हन्' इति पाठः।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।३।।

भावार्थ—परमेश्वर जैसे वर्षा करना, नदियों को बहाना आदि प्राकृतिक कार्य सम्पन्न करता है, वैसे ही योगाभ्यासी मुमुक्षु मनुष्य के योगमार्ग में आये हुए विघ्नों का निवारण कर उसकी आत्मा में आनन्द की वृष्टि करके उसे मोक्ष भी प्रदान करता है ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से याचना की गयी है ।

३१६. सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम् ।
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्याम त्वोताः ।।४।।[1]

पदार्थ—हे **तुविनृम्ण** बहुत बली और बहुत धनी **इन्द्र** परमात्मन् ! **सुष्वाणासः** श्रद्धारस को अभिषुत किये हुए हम **वाजम्** आत्मबल और अध्यात्मधन को **सनिष्यन्तः** पाना चाहते हुए **त्वा** तेरी **स्तुमसि** स्तुति करते हैं । तू **नः** हमें **सुवितम्** सद्गति और उत्कृष्ट प्रजा **आ भर** प्रदान कर, **यस्य** जिसकी **नः** हमें **कोना** कामना है । **त्वोताः** तुझसे रक्षित हम **त्मना** आत्म-बल द्वारा **तना** इधर-उधर फैले शत्रुओं को **सह्याम** परास्त कर दें ।।४।।

भावार्थ—आत्मा, मन, प्राण, शरीर आदि का बल और आत्मिक एवं सांसारिक धन पाने के लिए अनन्त बल और अपार धन वाले परमेश्वर से ही हमें याचना करनी चाहिए । उसी की कृपा से हम उत्तम गति और उत्तम प्रजा को पाने तथा शत्रु का पराजय करने में समर्थ होते हैं ।।४।।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

३१७. जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।।५।।[2]

पदार्थ—हे **वसूनां वसुपते** समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के अधिपति **इन्द्र** परमात्मन्, राजन् और आचार्य ! **वसूयवः** धन, धान्य, राज्य, विद्या, शम, दम, वैराग्य आदि ऐश्वर्यों की कामना वाले हम **ते** आपके **दक्षिणं हस्तम्** दाहिने हाथ को अर्थात् आपकी शरण को **जगृह्म** पकड़ रहे हैं । हे **शूर** दानवीर परमात्मन् राजन् और आचार्य ! हम **त्वा** आपको **गोनां गोपतिम्** समस्त वाणी, इन्द्रिय, गाय, भूमि आदियों का स्वामी **विद्म** जानते हैं । आप **अस्मभ्यम्** हमें **चित्रम्** गुण आदि में अद्भुत, **वृषणम्** व्यक्ति, समाज, राष्ट्र वा जगत् में सुख की वर्षा करने वाला **रयिम्** ऐश्वर्य **दाः** प्रदान कीजिए ।।५।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ।।५।।

भावार्थ—परमात्मा, राजा और आचार्य यथायोग्य अनेक प्रकार के धन, धान्य, विद्या, आरोग्य, सत्य, अहिंसा, शम, दम, योगसिद्धि, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि ऐश्वर्यों के स्वामी हैं । उनकी शरण में जाकर हम भी इन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें ।।५।।

---

१. ऋ० १०।१४८।१ 'सनिष्यन्तश्चित्' 'कोना तना त्मना सह्याम' इत्येतयोः स्थाने क्रमशः 'ससवांसश्च', 'वाकन्त्मना तना सनुयाम' इति पाठः ।

२. ऋ० १०।४७।१ देवता इन्द्रो वैकुण्ठः । 'जगृह्मा' इत्यत्र 'जगृभ्मा' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

३१८. इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।
शूरो नृषाता श्रवसश्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥[1]

पदार्थ—**इन्द्रम्** वीर परमात्मा वा राजा को **नरः** प्रजाजन **नेमधिता** आन्तरिक वा बाह्य संग्राम में और यज्ञ में **हवन्ते** सहायतार्थ पुकारते हैं। **पार्याः** पार होने योग्य वे, आन्तरिक और बाह्य विघ्नों को पार करने के लिए **यत्** जिस साधन का **युनजते** उपयोग करते हैं **ताः** वे **धियः** बुद्धियाँ और कर्म हैं, अर्थात् बुद्धि और कर्म का अवलम्बन करके वे सब शत्रुओं और विघ्नों को पार करते हैं। हे परमात्मन् वा राजन्! **शूरः** शूरवीर **त्वम्** आप **नृषाता** संग्राम में **यशसः च** और यश की **कामे** अभिलाषा-पूर्ति में, और **गोमति व्रजे** प्रशस्त भूमि, वाणी, इन्द्रिय, दुधार गायों आदि के समूह में **नः** हमें **आ भज** भागी बनाइए, अर्थात् आप हमारी यशस्वी होने की कामना को पूर्ण कीजिए तथा हमें पृथिवी का राज्य, वाणी का बल, इन्द्रियों का बल और उत्तम जाति की गायें आदि प्राप्त कराइए ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा, राजा की सहायता एवं अपने बुद्धिकौशल तथा पुरुषार्थ से शत्रु-विजय, परम कीर्ति, भूमण्डल का साम्राज्य आदि सब अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं ॥६॥

अगले मन्त्र में पहेली द्वारा बहुत-से अर्थों का वर्णन है।

३१९. वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान् ॥७॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य और सूर्य-किरणों के पक्ष में। **सुपर्णाः वयः** सुन्दर पंखों वाले पक्षियों के समान सुन्दर उड़ान लेने वाली सूर्य-किरणें, मानो **इन्द्रम्** सूर्य के **उपसेदुः** समीप पहुँचती हैं। **प्रियमेधाः** बुद्धि बढ़ाना अथवा प्रकाशप्रदानरूप यज्ञ करना जिन्हें प्रिय है ऐसी **ऋषयः** दर्शन में सहायक वे **नाधमानाः** मानो याचना करती हैं कि हे सूर्य **निधया इव** मानो जाल से **बद्धान्** बँधी हुई **अस्मान्** हमें आप **मुमुग्धि** छोड़ दो, हमारे द्वारा **ध्वान्तम्** अन्धकार के आवरण को **अप-ऊर्णुहि** परे हटा दो, और **चक्षुः** प्राणियों की आँख को **पूर्धि** प्रकाश से पूर्ण कर दो ॥

द्वितीय आचार्य और शिष्यों के पक्ष में। **सुपर्णाः** ज्ञान, कर्म, उपासना रूप सुन्दर पंखों वाले, **वयः** उड़ने में समर्थ पक्षियों के समान पढ़ी हुई विद्या के प्रचार में समर्थ शिष्यगण **इन्द्रम्** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य के **उपसेदुः** समीप पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** मेधा और यज्ञ से प्रीति रखने वाले, **ऋषयः** वेदादि शास्त्रों के द्रष्टा होते हुए वे **नाधमानाः** आचार्य से याचना करते हैं कि **निधया इव बद्धान्** मानो जाल से बाँधकर इस गुरुकुल में रखे हुए **अस्मान्** हमें, आप **मुमुग्धि** बाहर जाने के लिए छोड़ दीजिए, **ध्वान्तम्** संसार में फैले हुए अविद्या के अन्धकार को, **अप-ऊर्णुहि** हमारे द्वारा हटा दीजिए, और लोगों में **चक्षुः** ज्ञान के प्रकाश को **पूर्धि** भर दीजिए ॥

---

१. ऋ० ७।२७।१ 'श्रवसश्च काम' इत्यत्र 'शवसश्चकान' इति पाठः।
२. ऋ० १०।७३।११।

तृतीय परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में। **सुपर्णाः** ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि रूप सुन्दर पंखों वाले **वयः** पक्षियों के तुल्य जीवात्मा **इन्द्रम्** परमेश्वर के **उपसेदुः** पास पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** बुद्धि अथवा यज्ञ के प्रेमी, **ऋषयः** पदार्थों का दर्शन करने वाले वे **नाधमानाः** परमात्मा से याचना करते हैं कि हमारे **ध्वान्तम्** तमोगुण के आवरण को **अप-ऊर्णुहि** हटा दो, और हमारे अन्दर **चक्षुः** ज्ञानप्रकाश को **पूर्धि** भर दो। **निधया इव** जाल के तुल्य जन्म, जरा, मरण आदि से **बद्धान्** शरीर या संसार में बँधे हुए **अस्मान्** हमें **मुमुग्धि** मुक्त कर दो, मोक्ष प्रदान कर दो।

चतुर्थ राजा और प्रजा के पक्ष में। **सुपर्णाः** विविध साधनरूप शुभ पंखों वाले **वयः** कर्मण्य प्रजाजन **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् वीर राजा के **उपसेदुः** समीप पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** मेधाप्रिय एवं यज्ञप्रिय, **ऋषयः** दृष्टिसम्पन्न, प्रबुद्ध वे **नाधमानाः** राजा से याचना करते हैं कि **ध्वान्तम्** राष्ट्र में व्याप्त अविद्या, भ्रष्टाचार आदि के अन्धकार को **अप-ऊर्णुहि** हटा दीजिए, हमारे अन्दर **चक्षुः** सद्विज्ञान, सद्विचार, सदाचार आदि का प्रकाश **पूर्धि** भर दीजिए। **निधया इव** मानो पापों और दुर्व्यसनों के जाल से **बद्धान्** बँधे हुए **अस्मान्** हम प्रजाजनों को **मुमुग्धि** श्रेष्ठ शिक्षा, दण्ड आदि उपायों द्वारा पापों और दुर्व्यसनों से छुड़ा दीजिए ॥७॥

इस मन्त्र में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। अप्रस्तुत सूर्य तथा रश्मियों के वृत्तान्त से प्रस्तुत गुरु-शिष्य, परमात्मा-जीवात्मा और राजा-प्रजा का वृत्तान्त सूचित हो रहा है। 'निधयेव बद्धान्—मानो जाल में बँधे हुए' में उत्प्रेक्षा है ॥७॥

भावार्थ—कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि रात्रि में सूर्य-किरणें जाल में बँधे पक्षियों के समान मानो सूर्यमण्डल के अन्दर बद्ध हो जाती हैं, तब वे मानो सूर्य से याचना करती हैं कि हमें छोड़ दो, जिससे हम भूतल पर जाकर अँधेरा मिटाकर सर्वत्र प्रकाश फैला दें। इसी प्रकार विद्याध्ययन किये हुए शिष्य आचार्य से याचना करते हैं कि आप हमें गुरुकुल से मुक्त कर दीजिए, जिससे बाहर जाकर हम संसार में फैले हुए अविद्या के अँधेरे को मिटाएँ। जीवात्मा-गण परमात्मा से याचना करते हैं कि ज्ञान की सलाई से हमारी चक्षु को दोषमुक्त करके जन्म, जरा, मरण आदि से बँधे हुए हमें मोक्ष का अधिकारी बना दीजिए। प्रजाजन राजा से याचना करते हैं कि राष्ट्र में व्याप्त अज्ञान, दुराचार आदि के अन्धकार को विच्छिन्न कर राष्ट्र को पतन की ओर ले जाने वाले सब दुर्व्यसनों से हमें छुड़ा दीजिए ॥७॥

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा के गुण वर्णन करते हुए उसके दर्शन का उपाय कहा गया है।

१ २ ३२उ ३ १र २र ३१र २र ३ १ २
३२०. नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥८॥[1]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन्! **नाके** आत्मलोक में **उपपतन्तम्** पहुँचते हुए, **हिरण्यपक्षम्** ज्योति-रूप पंखों वाले, **वरुणस्य दूतम्** पापनिवारक मन के प्रेरक, **यमस्य** शरीरस्थ इन्द्रियों के नियामक जीवात्मा के **योनौ** हृदयरूप गृह में उदित, **शकुनम्** शक्तिशाली, **भुरण्युम्** धारक और पोषक, **सुपर्णम्** शुभ पालन-गुणों से युक्त **त्वा** आपको **यत्** जब, स्तोता जन **वेनन्तः** सच्ची कामना करते हैं, तब वे **हृदा** मन से **अभ्य-**

---

१. ऋ० १०।१२३।६, देवता वेनः। साम० १८४६। अथ० १८।३।६६, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः।

चक्षत आपका साक्षात्कार कर लेते हैं, जैसे **नाके** मध्याह्नाकाश **में उपपतन्तम्** जाते हुए **हिरण्यपक्षम्** किरणरूप सुनहरे पंखों वाले, **वरुणस्य दूतम्** रोगनिवारक अन्तरिक्षस्थानीय वायु के **दूतम्** दूत के समान उपकारक **यमस्य** रथ, यन्त्र आदियों को नियन्त्रित करनेवाले वैद्युत अग्नि के **योनौ** गृहरूप अन्तरिक्ष **में शकुनम्** पक्षी के समान विद्यमान, **भुरण्युम्** भ्रमणशील **सुपर्णम्** सूर्य को, लोग **अभ्यचक्षत** आँख से देखते हैं ।।८।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार और उपमाध्वनि है ।।८।।

भावार्थ—जो मनुष्य उत्कण्ठापूर्वक परमेश्वर की कामना करते हैं वे मन द्वारा उसका वैसे ही साक्षात्कार कर लेते हैं, जैसे आँख से सूर्य को देखते हैं ।।८।।

अगले मन्त्र में सूर्य तथा परमेश्वर के महान् कार्य का वर्णन किया गया है।

३२१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ।।९।।[1]

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **प्रथमम्** श्रेष्ठ **ब्रह्म** महान् आदित्यरूप ज्योति **पुरस्तात्** पूर्व दिशा में **जज्ञानम्** प्रकट हो रही है। **वेनः** कान्तिमान् सूर्य ने **सीमतः** चारों ओर अथवा मर्यादापूर्वक **सुरुचः** सम्यक् रोचमान किरणों को **वि आवः** रात्रि के अन्धकार के अन्दर से आविर्भूत कर दिया है। **सः** वह सूर्य **उपमाः** सबके समीप स्थित **अस्य** इस जगत् की **विष्ठाः** विशेष रूप से स्थितिसाधक **बुध्न्याः** अन्तरिक्षवर्ती दिशाओं को **विवः** अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, और **सतः च** व्यक्त अर्थात् कार्यरूप में परिणत, **असतः च** और कारण के अन्दर अव्यक्तरूप से विद्यमान पदार्थ-समूह के **योनिम्** गृहरूप भूमण्डल को **विवः** प्रकाशित करता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **प्रथमम्** श्रेष्ठ **ब्रह्म** जगत् का आदिकारण ब्रह्म **पुरस्तात्** पहले, सृष्टि के आदि में **जज्ञानम्** प्रकृति के गर्भ से महत् आदि जगत्प्रपञ्च का जनक हुआ। **वेनः** मेधावी उस परब्रह्म ने **सीमतः** मर्यादा से अर्थात् महदादि क्रम से व्यवस्थापूर्वक **सुरुचः** सुरोचमान पदार्थों को **वि आवः** उत्पन्न किया। **सः** उसी परब्रह्म ने **उपमाः** समीपता से धारण तथा आकर्षण की शक्तियों द्वारा एक-दूसरे को स्थिर रखने वाले, और **अस्य** इस जगत् के **विष्ठाः** विशेष रूप से स्थिति के निमित **बुध्न्याः** आकाशस्थ सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे आदि लोकों को **विवः** प्रकाशित किया। उसी ने **सतः च** व्यक्त भूमि, जल, अग्नि, पवन आदि **असतः च** और अव्यक्त महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि की **योनिम्** कारणभूत प्रकृति को **विवः** कार्य पदार्थों के रूप में प्रकट किया ।।९।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'सतश्च-सतश्च' की एक बार आवृत्ति में यमक है ।।९।।

भावार्थ—कान्तिमान् सूर्य पूर्व दिशा में प्रकट होता हुआ अपनी सुप्रदीप्त किरणों को आकाश और भूमि पर प्रसारित करता हुआ सब दिशाओं को तथा सारे जगत् को प्रकाशित करता है। कान्तिमान् मेधावी परमेश्वर प्रकृति के मध्य से सुरोचमान पदार्थों को और सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे आदि लोकों को प्रकट करता है। उस सूर्य का भलीभाँति उपयोग और उस परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना सबको करनी चाहिए ।।९।।

---

१. य० १३।३ ऋषिः वत्सारः, देवता आदित्यः। अथ० ४।१।४ ऋषिः वेनः, देवता बृहस्पतिः, आदित्यः। अथ० ५।६।५ ऋषिः अथर्वा, देवता ब्रह्म।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमात्मा के लिए कौन लोग कैसे स्तुतिवचनों को कहें।

३२२. अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः ॥१०॥[1]

पदार्थ—**अस्मै** इस **महे** महान् **वीराय** वीर अथवा कामादि शत्रुओं के प्रकम्पक, **तवसे** बलवान् **तुराय** शीघ्र कार्यों को करने वाले इन्द्र परमेश्वर के लिए और **अस्मै** इस **विरप्शिने** विशेष रूप से वेदों के प्रवक्ता तथा विशेषरूप से स्तुतियोग्य, **वज्रिणे** वज्रधारी के समान दुष्टों को दण्ड देने वाले, **स्थविराय** प्रवृद्धतम चिरन्तन पुराण पुरुष इन्द्र परमेश्वर के लिए, स्तोता जन **अपूर्व्या** अपूर्व **पुरुतमानि** बहुत सारे **शन्तमानि** अतिशय शान्तिदायक **वचांसि** स्तोत्रों को **तक्षुः** रचते या प्रयुक्त करते हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। 'तमान्-तमानि', 'वीराय-विराय' आदि में छेकानुप्रास और 'राय' की तीन बार आवृत्ति में तथा 'वीर-विर-विरा' में वृत्त्यनुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—पुराण पुरुष परमेश्वर सबसे अधिक महान्, सबसे अधिक वीर, सबसे अधिक बली, सबसे अधिक शीघ्रकारी, सबसे अधिक स्तुतियोग्य, सबसे अधिक दुर्जनों का दण्डयिता, सबसे अधिक वयोवृद्ध, सबसे अधिक ज्ञानवृद्ध और सबसे अधिक प्राचीन है। वैदिक, स्वरचित और अन्य महाकवियों द्वारा रचित स्तोत्रों से उसकी पूजा सबको करनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र को प्रबोधन देने, उसके गुण वर्णन करने, उसके द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति आदि वर्णित करने, उसकी स्तुति करने तथा इन्द्र नाम से सूर्य, राजा, आचार्य आदि के कर्मों का वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'अव द्रप्सो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ४ द्युतानः; ३ बृहदुक्थः; ५ वामदेवः; ६, ८ वसिष्ठः; ७ विश्वामित्रः; ९ गोरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः।
छन्दः—१-५, ७-९ त्रिष्टुप्; ६ त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् ॥
स्वरः—१-५, ७-९ धैवतः; ६ गान्धारः ॥

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि पापादि रूप असुरों से आक्रान्त जीवात्मा का कैसे उद्धार होता है।

३२३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः ॥१॥[2]

पदार्थ—**द्रप्सः** जल की बूंद के समान अणुरूप जीवात्मा **अंशुमतीम्** चक्षु आदि इन्द्रिय, प्राण और मन से युक्त देहपुरी में **अव-अतिष्ठत्** स्थित होता है, अर्थात् संचित कर्मों के फल भोगने के लिए और नवीन कर्म करने के लिए परमात्मा से प्रेरित होकर देहपुरी में आता है। **कृष्णः** काला तमोगुण **दशभिः सहस्रैः**

१. ऋ० ६।३२।१, 'वचांस्यासा स्थविराय तक्षम्' इति पाठः।
२. ऋ० ८।९६।१३, ऋषिः तिरश्चीराङ्गिरसो द्युतानो वा मारुतः। 'अप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त' इति पाठः।

दस हजार योद्धाओं के साथ अर्थात् अपने-अपने गणों सहित अनेकों काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि रिपुओं के साथ **इयानः** उस आत्मा पर आक्रमण कर देता है। तब **धमन्तम्** तरह-तरह की पैंतरे-बाजी करते हुए अथवा साँस फेंकते हुए **तम्** सैन्यसहित उस काले तमोगुण पर **इन्द्रः** जीवात्मा का सहायक परमैश्वर्यवान् परमात्मा **शच्या** उत्कृष्ट ज्ञान वा कर्म के साथ **आवत्** झपटता है। तदनन्तर **नृमणाः** सज्जनों पर ध्यान व प्रेम रखने वाला वह परमात्मा **स्नीहितिम्** तमोगुण की उस हिंसक सेना को **अप** भगाकर, आत्मा में **राः** सद्गुणरूप सम्पत्तियों को **अधत्** आधान कर देता है। अभिप्राय यह है कि जब-जब देहधारी जीवात्मा पर तमोगुणरूप कृष्णासुर आक्रमण करता है, तब-तब इन्द्र परमात्मा उसका उससे उद्धार कर देता है ॥१॥

भावार्थ—देह में स्थित जीवात्मा को काम, क्रोध आदि अनेक दानव पीड़ित करना चाहते हैं, जिनका पराजय उसे अपने पुरुषार्थ द्वारा और परमात्मा की सहायता से करना चाहिए। तभी वह आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकता है ॥१॥

इस मन्त्र पर सायण इस प्रकार ऐतिहासिक अर्थ लिखते हैं—"पहले कभी कृष्ण नामक असुर दस हजार असुरों के साथ अंशुमती नाम की नदी के किनारे ठहरा हुआ था। वहाँ जंगल के मध्य में स्थित उस कृष्णासुर के पास इन्द्र बृहस्पति के साथ पहुँचा। आकर उसने उस कृष्णासुर को और उसके अनुचरों को बृहस्पति की सहायता से मार डाला था।" यह सब वृत्तान्त अप्रामाणिक ही है, क्योंकि वेदों में लौकिक इतिहास नहीं है। इस इतिहास की यदि आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधियज्ञ या अधिभूत व्याख्या की जाए तो संगति लग सकती है, जैसे हमने अपनी व्याख्या में आध्यात्मिक अर्थ की दिशा प्रपंचित की है।

अपनी मति से चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में टिप्पणीसहित अनुवाद करने वाले ग्रिफिथ महोदय ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि यहाँ 'कृष्ण द्रप्स' अन्धकारावृत चन्द्रमा है, और अंशुमती अन्तरिक्ष की कोई रहस्यमय नदी है, दस हजार असुर अन्धकार-रूप दानव हैं, जिनके वध के पश्चात् चन्द्रमा अन्धकार से मुक्त हो जाता है। ग्रिफिथ का यह लेख आधिदैविक व्याख्या की ओर एक संकेत है।

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि इन्द्र वृत्र की सेनाओं को कैसे जीते।

३२४. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥२॥[1]

पदार्थ—प्रथम जीवात्मा के पक्ष में। आन्तरिक देवासुरसंग्राम में अपने आत्मा को, जिसका साथ सबने छोड़ दिया है, अकेला देखकर कोई कह रहा है—**वृत्रस्य** तमोगुण के प्रधान हो जाने से उत्पन्न कामक्रोधादिरूप वृत्रासुर की **श्वसथात्** फुंकार से **ईषमाणाः** भयभीत हो पलायन करती हुई **विश्वे देवाः** सब चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों ने **त्वा** तुझ आत्मा को **अजहुः** अकेला छोड़ दिया है, **ये** जो इन्द्रियाँ **सखायः** पहले तेरी मित्र बनी हुई थीं। हे **इन्द्र** जीवात्मन् **मरुद्भिः** प्राणों के साथ **ते** तेरी **सख्यम्** मित्रता **अस्तु** हो, **अथ** उसके अनन्तर, तू **इमाः** इन **विश्वाः** सब **पृतनाः** काम-क्रोध आदि शत्रुओं की सेनाओं को **जय** जीत ले ॥

इस प्रसंग में वृत्रवध के आख्यान में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि—इन्द्र और उसके साथी वृत्र को मारने की इच्छा से दौड़े। उसने जान लिया कि ये मुझे मारने के लिए दौड़ रहे हैं। उसने सोचा, इन्हें डरा दूँ। यह सोचकर उसने उनकी ओर साँस छोड़ी, फुंकार मारी। उसकी साँस या फुंकार से

१. ऋ० ८।९६।७, ऋषिः तिरश्चीराङ्गिरसः द्युतानो वा मारुतः।

भयभीत हो सब देव भाग खड़े हुए। केवल मरुतों ने इन्द्र को नहीं छोड़ा। 'भगवन् प्रहार करो, मारो, वीरता दिखाओ'—इस प्रकार वाणी बोलते हुए वे उसके साथ उपस्थित रहे। ऋषि इसी अर्थ का दर्शन करता हुआ कह रहा है—'वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणाः' आदि। ऐ० ब्रा० ३।२०। यह आख्यान उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए है।

छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा भी इस मन्त्र के भाव को स्पष्ट करती है। वहाँ लिखा है—"देव और असुरों में लड़ाई ठन गयी, दोनों प्रजापति के पुत्र थे। देव उद्गीथ को ले आये कि इससे इन्हें परास्त कर देंगे। उन्होंने नासिक्य (नासिका से आने-जाने वाले) प्राण को उद्गीथरूप में उपासा। असुरों ने उसे पाप से बींध दिया। इसी कारण नासिक्य प्राण से सुगन्धित और दुर्गन्धित दोनों प्रकार के पदार्थ सूँघता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। इसके बाद उन्होंने वाणी को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण वाणी से सत्य और असत्य दोनों बोलता है, यतः यह पाप से बिंध चुकी है। इसके बाद उन्होंने आँख को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण आँख से दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को देखता है, यतः यह पाप से बिंध चुकी है। फिर उन्होंने श्रोत्र को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण श्रोत्र से श्रवणीय और अश्रवणीय दोनों सुनता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। तत्पश्चात् उन्होंने मन को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण मन से उचित और अनुचित दोनों प्रकार के संकल्प करता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। तदनन्तर उन्होंने मुख्य प्राण को उद्गीथरूप में उपासा। असुर जब उसे भी बींधने के लिए झपटे तो वे उससे टकराकर ऐसे विध्वस्त हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। इस प्रकार जो मुख्य प्राण से साहचर्य कर लेता है उसके सब शत्रु ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर हो जाता है। इस कथा से स्पष्ट है कि चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ आत्मा की सच्ची सहायक नहीं हैं, मुख्य प्राण की ही सहायता से वह काम, क्रोधादि असुरों को परास्त करने में सफल हो सकता है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। संग्रामों में जिसका प्रजाजनों ने साथ छोड़ दिया है, ऐसे अकेले पड़े हुए राजा को राजमन्त्री कह रहा है—**वृत्रस्य** अत्याचारी शत्रु के **श्वसथात्** विनाशक शस्त्रास्त्र-समूह से **ईषमाणाः** भयभीत हो भागते हुए **विश्वे देवाः** सब प्रजाजनों ने **त्वा** आपको **अजहुः** छोड़ दिया है, **ये** जो प्रजाजन, पहले जब युद्ध उपस्थित नहीं हुआ था तब **सखायः** आपके मित्र बने हुए थे। हे **इन्द्र** राजन्! **मरुद्भिः** वीर क्षत्रिय योद्धाओं के साथ **ते** आपकी **सख्यम्** मित्रता **अस्तु** हो, **अथ** उसके पश्चात्, आप **इमाः** इन **विश्वाः** सब **पृतनाः** युद्ध करने वाली शत्रु-सेनाओं को **जयासि** जीत लो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थ—युद्ध का समय उपस्थित होने पर युद्ध में निपुण शूरवीर क्षत्रिय योद्धा ही रिपुदल से मुठभेड़ कर सकते हैं। इसी प्रकार आन्तरिक देवासुर-संग्राम में प्राण आत्मा के सहायक बनते हैं ॥२॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि जन्मधारियों की मृत्यु निश्चित है।

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
३२९. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १र २र
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥३॥[1]

१. ऋ० १०।५५।५। साम० १७८२। अथ० ६।१०।६, ऋषिः ब्रह्मा, देवता गौः, विराट्, अध्यात्मम्, 'समने बहूनां' इत्यत्र 'सलिलस्य पृष्ठे' इति पाठः।

पदार्थ—प्रथम चन्द्र-सूर्य के पक्ष में। **समने** अन्धकार के साथ युद्ध में **बहूनाम्** बहुत से अन्धकार-रूप शत्रुओं के **दद्राणम्** विदारणकर्त्ता **विधुम्** चन्द्रमा को **युवानं सन्तम्** युवक होते हुए अर्थात् पूर्णिमा में पूर्ण प्रकाशमान होते हुए को भी **पलितः** बूढ़े, पके हुए किरणरूप केशों वाले सूर्य ने **जगार** निगल लिया है, अर्थात् पूर्णिमा के बीत जाने पर प्रतिपदा तिथि से आरम्भ करके धीरे-धीरे एक-एक कला को निगलते-निगलते अमावस्या को पूर्ण रूप से निगल लिया है। **देवस्य** क्रीडा करने वाले परमेश्वर के **महित्वा** महान् **काव्यम्** जगत्-रूप दृश्य काव्य को **पश्य** देखो। इसमें जो **ह्यः** कल **समान** प्राण धारण किए हुए था, जीवित था, **सः** वह **अद्य** आज **ममार** मर जाता है।

चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा के परिभ्रमण करने के कारण उसका जितना भाग पृथिवी की ओट में आ जाता है उतने पर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, अतः वह अप्रकाशित ही रहता है। अमावस्या को चन्द्रमा और सूर्य के बीच में पृथिवी के आ जाने से सूर्य की किरणें चन्द्रमा पर बिल्कुल नहीं पड़ती हैं, इस कारण उस रात चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नहीं देता। उसी को यहाँ वेदकाव्य के कवि ने इस रूप में वर्णित किया है कि सूर्य चन्द्रमा को निगल लेता है।

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में। **समने** प्राणवान् शरीर में **बहूनाम्** अनेक ज्ञानेन्द्रियों को **दद्राणम्** अपने-अपने विषयों में प्रेरित करने वाले **विधुम्** ज्ञान-साधन मन को **युवानं सन्तम्** जाग्रदवस्था में युवा के समान पूर्णशक्तिमान् होते हुए को भी **पलितः** अनादि होने से बूढ़ा आत्मा **जगार** सुषुप्ति अवस्था में निगल लेता है, क्योंकि सुषुप्ति में मन के सब व्यापार शान्त हो जाते हैं। **देवस्य** प्रकाशक आत्मा के **महित्वा** महान् **काव्यम्** जनन, जीवन, मरण आदि-रूप काव्य को **पश्य** देखो। जो **अद्य** आज **ममार** मरा पड़ा है, **सः** वह **ह्यः** कल **समान** प्राण धारण कर रहा था। यह सब आत्मा के ही आवागमन का खेल है। इसी प्रकार आगे भी आत्मा पुनर्जन्म प्राप्त करके देहधारी होकर देह की दृष्टि से जीवित भी होगा, मरेगा भी ॥३॥

इस मन्त्र में 'अद्य ममार स ह्यः समान' इस सामान्य का विधु-निगरणरूप विशेष अर्थ द्वारा समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'युवक को बूढ़े ने निगल लिया' इसमें विरूपसंघटनारूप विषमालंकार है ॥३॥

भावार्थ—इस संसार में शक्तिशालियों की भी मृत्यु निश्चित है, यह मानकर सबको धर्म-कर्मों में मन लगाना चाहिए ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के महान् कर्मों का वर्णन किया गया है।

३२६. त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** शूरवीर परमात्मन्! **त्वं ह** आप ही **त्यत्** उस, आगे कहे जाने वाले महान् कर्म को करते हो। किस कर्म को, यह बताते हैं। **जायमानः** उपासक के हृदय में प्रकट होते हुए आप **अशत्रुभ्यः** जिनका आपके अतिरिक्त अन्य कोई विनाशक नहीं है ऐसे **सप्तभ्यः** काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर तथा दुर्भाषण इन सात राक्षसों को मारने के लिए, उनके **शत्रुः** शत्रु **अभवः** होते हो। आप ही **गूढे** कारण-भूत पंचभूतों के अन्दर छिपे हुए **द्यावापृथिवी** द्युलोक और पृथिवीलोक को **अन्वविन्दः** कार्यावस्था में लाते हो। इस प्रकार **विभुमद्भ्यः भुवनेभ्यः** वैभवयुक्त लोक-लोकान्तरों को पैदा करने के लिए, आप **रणम्**

१. ऋ० ८।९६।१६, अथ० २०।१३७।१०, उभयत्र ऋषिः तिरश्चीर्द्युतान आङ्गिरसो वा।

संग्राम **धाः** करते हो। अभिप्राय यह है कि जैसे संग्रामों में शूरता का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही शूरता का प्रयोग करके आपने प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा तथा मन सहित दस इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं से पंचभूत और पंचभूतों से द्यावापृथिवी आदि लोकलोकान्तरों को और प्रजाओं को उत्पन्न किया। उत्तरोत्तर सृष्टि के लिए प्रकृति आदि में जो विक्षोभ उत्पन्न किया जाता है उसी को यहाँ रण की संज्ञा दी है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा ही काम, क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं को नष्ट करता है। उसी ने प्रकृति के गर्भ से महत् आदि के क्रम से तरह-तरह की विचित्रताओं से युक्त सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि लोक-लोकान्तरों में विभक्त, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पति आदि से समृद्ध और पहाड़, झरने, नदी, तालाब, सागर आदि से अलंकृत सृष्टि उत्पन्न की है। इस कारण उसका गौरव-गान हमें मुक्त कण्ठ से करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमात्मा की मैं किसके समान स्तुति करता हूँ।

३२७. मेंडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्।
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **दुवस्युः** आपकी पूजा की चाह वाला मैं **वज्रिणम्** दुष्टों को दण्डित करने वाले, **भृष्टिमन्तम्** दीप्तिमान्, शत्रु को भून डालने वाले तेज से युक्त, **पुरुधस्मानम्** बहुतों के धारणकर्ता, **वृषभम्** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **स्थिरप्स्नुम्** स्थिर रूप वाले अर्थात् स्थिर गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त, **द्युक्षम्** कर्तव्याकर्तव्य का प्रकाश देने वाले, **वृत्रहणम्** पापों के विनाशक **त्वा** आपकी **मेंडिं न** भूमि को वर्षा से सींचने वाले अथवा विद्युद्गर्जना के आश्रयभूत बादल के समान अर्थात् जैसे वर्षा का इच्छुक कोई मनुष्य बादल की बार-बार प्रशंसा करता है, वैसे **गृणीषे** स्तुति करता हूँ। हे परमात्मन्! आप **अरीः** प्रजाओं को **तरुषीः** आपत्तियों को पार करने में अथवा शत्रु-विनाश में समर्थ **करोषि** कर देते हो ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'करोष्यर्यस्तरुषीः' इस कारणात्मक वाक्य से स्तुतिरूप कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास भी है ॥५॥

भावार्थ—जैसे वर्षा चाहने वाले किसान लोग वर्षक मेघ की पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले, सुख-समृद्धि की वर्षा करने वाले परमेश्वर की सबको प्रशंसा और उपासना करनी चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की स्तुति का विषय है।

३२८. प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥६॥[1]

पदार्थ—हे साथियो! **वः** तुम **महेवृधे** जो तेज के लिए मनुष्यों को बढ़ाता है ऐसे, **महे** पूजनीय इन्द्र जगदीश्वर के लिए **प्र भरध्वम्** पूजा का उपहार लाओ। **प्रचेतसे** श्रेष्ठ ज्ञान वाले उसके लिए **सुमतिम्**

१. ऋ० ७।३१।१०, अथ० २०।७३।३ उभयत्र 'महेवृधे' 'चर' इत्यस्य स्थाने महिवृधे' 'चरा' इति पाठः।

श्रेष्ठ स्तुति को **प्रकृणुध्वम्** श्रेष्ठ रूप से करो। हे इन्द्र परमात्मन्! **चर्षणिप्राः** मनुष्यों को पूर्ण करने वाले आप **पूर्वीः** श्रेष्ठ **विशः** प्रजाओं को **प्र चर** धन, धान्य, गुणों आदि से पूर्ण करने के लिए प्राप्त होवो ॥६॥

इस मन्त्र में 'महे, महे' में यमक अलंकार है। 'प्र' की पाँच बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और 'ध्वम्, ध्वम्' तथा 'चर, चर्' में छेकानुप्रास है।

भावार्थ—पूजा के बहुमूल्य उपहार से सत्कृत किया गया महामहिमाशाली जगदीश्वर स्तोताओं को विविध आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों से भरपूर कर देता है ॥६॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे इन्द्र को हम पुकारें।

३२९. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि ॥७॥[1]

पदार्थ—**अस्मिन्** इस **वाजसातौ** अन्न, धन, बल, विज्ञान आदि की प्राप्ति कराने वाले **भरे** संसार-समर, जीवन-संग्राम अथवा शत्रुओं के साथ युद्ध में हम **शुनम्** सदा-सुखी, सुख देने वाले और बढ़ाने वाले, **मघवानम्** प्रशस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, **नृतमम्** सबसे बड़े नायक, **शृण्वन्तम्** दीनों की प्रार्थना को सुनने वाले, **उग्रम्** ओजस्वी, **ऊतये** सज्जनों की रक्षार्थ **समत्सु** आन्तरिक एवं बाह्य देवासुर-संग्रामों में **वृत्राणि** काम, क्रोध आदि षड् रिपुओं को अथवा मानव-शत्रुओं को **घ्नन्तम्** विनष्ट करने वाले, **धनानि** आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों को **सञ्जितम्** जीतने और जिताने वाले **इन्द्रम्** विश्व के सम्राट् परमेश्वर को अथवा राष्ट्रनायक राजा को **हुवेम** पुकारें ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और परिकर अलंकार हैं ॥७॥

भावार्थ—जीवन-संग्रामों में मनुष्यों से सहायता के लिए पुकारा हुआ ब्रह्माण्ड का सम्राट् परमेश्वर उन्हें पुरुषार्थी बनाकर उनका नेतृत्व करता हुआ उन्हें सब संकटों से पार ले जाकर सुखी करता है। इसी प्रकार राष्ट्र का स्वामी राजा शत्रुओं द्वारा राष्ट्र के आक्रान्त हो जाने पर प्रजाओं का आह्वान सुनकर दुर्दान्त शत्रुओं को जीतकर, उनके धनों को छीनकर प्रजाओं की रक्षा करे ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि विद्वान् जन क्या करें।

३३०. उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥८॥[2]

पदार्थ—उपासक जन **श्रवस्या** यश-प्राप्ति की इच्छा से इन्द्र परमेश्वर के प्रति **ब्रह्माणि** स्तोत्रों को **उद् ऐरत उ** उच्चारण करते हैं। हे **वसिष्ठ** सद्गुणकर्मों में और विद्या में अतिशय निवास किए हुए विद्वन्! तू भी **समर्ये** जीवन-संग्राम में वा यज्ञ में **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा की **महय** पूजा कर। **यः** जिस परमात्मा ने **विश्वानि** सब भुवनों को **श्रवसा** यश से **आ ततान** विस्तीर्ण किया है, वह **ईवतः मम** मुझ पुरुषार्थी के **वचांसि** प्रार्थना-वचनों को **उपश्रोता** सुनने वाला हो ॥८॥

---

१. ऋ० ३।३०।२२; ३१।२२; ३२।१७; ३४।११; ३५।११; ३६।११; ३८।१०; ३९।९; ४३।८; ४८।५; ४९।५; ५०।५।१०।८९।१८ ऋषिः रेणुः, १०४।११ ऋषिः अष्टको वैश्वामित्रः। अथ० २०।११।११। सर्वत्र 'धनानि' इत्यत्र 'धनानाम्' इति पाठः।

२. ऋ० ७।२३।१, अथ० २०।१२।१, उभयत्र 'श्रवसा' इत्यत्र 'शवसा' इति पाठः।

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थी के ही वचनों को सुनता है, पौरुषरहित होकर केवल स्तुति करते रहने वाले के नहीं। जिसने सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब भुवनों को यश से प्रसिद्ध किया है वह मुझे भी यशस्वी बनाये, यह आकांक्षा सबको करनी चाहिए और उसके लिए प्रयत्न भी करना चाहिए ॥८॥

अगले मन्त्र में जलों में निहित चक्र का वर्णन है।

३३१. चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥९॥[1]

पदार्थ—**अप्सु** जलों में **अस्य** इस इन्द्र परमात्मा का अर्थात् उससे रचित **यत्** जो **चक्रम्** ऊपर चढ़ना और नीचे उतरना रूपी चक्र **आ निषत्तम्** स्थित है, **उत उ तत्** वह **अस्मै** इस संसार के लिए **मधु इत्** मधु को ही **चच्छद्यात्** प्रदान करता है। **यत्** जो **ऊधः** अन्तरिक्षरूपी गाय के ऊधस् के समान विद्यमान बादल **पृथिव्याम्** भूमि पर **अतिषितम्** वर्षा की धारों के रूप में छूटता है, उससे हे इन्द्र परमात्मन्! आप **गोषु** गायों में, और **ओषधीषु** ओषधियों में **पयः** क्रम से दूध और रस को **अदधाः** निहित करते हो ॥

इस जल के चक्र को अन्यत्र वेद में इस रूप में वर्णित किया गया है—"यह जल समानरूप से दिनों में कभी ऊपर जाता है और कभी नीचे आता है। बादल बरसकर भूमि को तृप्त करते हैं, और अग्नियाँ जल को भाप बनाकर आकाश को तृप्त करती हैं" ऋ० १।१६४।५१ ॥९॥

भावार्थ—पृथिवी के नदी, नद, समुद्र आदियों से पानी भाप बनकर आकाश में जाता है, वहाँ बादल के आकार में परिणत होकर वर्षा द्वारा फिर भूमण्डल पर आ जाता है। वही निर्मल जल गायों में दूध रूप में और वनस्पतियों में रस-रूप में बदल जाता है। परमेश्वर जलों में इस चक्र को पैदा कर सर्वत्र मधु बरसाता है, इसके लिए उसे सबको धन्यवाद देना चाहिए ॥९॥

इस दशति में इन्द्र द्वारा कृष्ण और वृत्र के वध तथा द्यावापृथिवी आदि के जन्म का वर्णन होने से, इन्द्र का आह्वान होने से, और उसके द्वारा जलों में निहित चक्र का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

॥५॥ अथ 'त्यमू षु वाजिनं' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः; २ भरद्वाजः; ३ वसुकृद् वासुक्रः विमदो वा; ४-६, ९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; ८ रेणुः; १० गोतमः ॥ देवता—१ तार्क्ष्यः; २-६, ८-१० इन्द्रः; ७ इन्द्रापर्वतौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की स्तुति, सेनापतित्व और शिल्प विषय का वर्णन है।

३३२. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥[2]

---

१. ऋ० १०।७३।९।

२. ऋ० १०।१७८।१ 'सहावानं' इति पाठः। अथ० ७।८५।१, ऋषिः अथर्वा, 'पृतनाजि' इति पाठः।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** सब अन्नों वा धनों के स्वामी, **देवजूतम्** विद्वान् योगीजनों को प्राप्त अथवा प्रकाशक सूर्य, चाँद आदि तथा मन, चक्षु, श्रोत्र आदि में व्याप्त, **सहोवानम्** साहसी, बलवान्, **रथानाम्** शरीररूप रथों के अथवा गतिशील पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों के **तरुतारम्** चलानेवाले, **अरिष्टनेमिम्** अप्रतिहत दण्डशक्ति वाले, **पृतनाजम्** काम, क्रोध आदि की सेनाओं को परे फेंकने वा जीतने वाले और सत्य, दया, उदारता आदि सद्गुणों की सेनाओं को प्राप्त कराने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी **तार्क्ष्यम्** विस्तीर्ण जगत् में निवास करने वाले, सकलभुवनव्यापी, प्राप्तव्य परमात्मा को **इह** अपने इस जीवन में **स्वस्तये** कल्याण के लिए **सु हुवेम** भलीभाँति पुकारें ।।

द्वितीय सेनापति के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** अन्न आदि सात्त्विक आहार करने वाले, बलवान्, संग्रामकारी, **देवजूतम्** राजा द्वारा युद्धार्थ प्रेरित, **सहोवानम्** क्षात्र-तेज से युक्त, **रथानाम्** युद्ध के विमानों को **तरुतारम्** उड़ाने वाले, **अरिष्टनेमिम्** अक्षत रथचक्र वाले, **पृतनाजम्** संग्राम में अपनी सेनाओं को भेजने वाले, तथा शत्रु-सेनाओं को उखाड़ फेंकने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी, आलस्यरहित **तार्क्ष्यम्** गरुड़ के समान आक्रमण करने वाले अथवा वायु के समान स्वपक्ष को जीवन देने वाले तथा परपक्ष का भञ्जन करने वाले सेनापति को **इह** इस संग्रामकाल में **स्वस्तये** राष्ट्र के उत्तम अस्तित्व के लिए **सु हुवेम** भली-भाँति पुकारें अथवा उत्साहित करें ।।

तृतीय वायु और विद्युत् के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** अतिशय वेगवान्, **देवजूतम्** शिल्पविद्या के वेत्ता कुशल शिल्पियों द्वारा यान आदियों में प्रेरित, **सहोवानम्** अतिशय बलयुक्त, **रथानाम्** समुद्र, पृथिवी और अन्तरिक्ष में चलने वाले वायु-यानों वा विद्युद्-यानों के **तरुतारम्** तराने या उड़ाने में साधनभूत, **पृतनाजम्** सांग्रामिक सेनाओं को देशान्तर में पहुँचाने में निमित्तभूत अथवा संग्राम को जीतने में साधनभूत, **आशुम्** यानों की तेज गति में निमित्तभूत, **तार्क्ष्यम्** अन्तरिक्षशायी वायु वा विद्युत् रूप अग्नि को **इह** इस शिल्पयज्ञ में **स्वस्तये** सुख के लिए **हुवेम** यान आदियों में प्रयुक्त करें ।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'तरु, तारं' में छेकानुप्रास और वकार, रेफ आदि की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।१।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि उपासना-यज्ञ में सकलजगद्व्यापी परमेश्वर का, राष्ट्रयज्ञ में गरुड़ के समान परपक्षाक्रान्ता सेनापति का और शिल्पयज्ञ में कलाकौशल के साधक वायु वा विद्युत् का ग्रहण और उपयोग करें ।।१।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा आह्वान करने योग्य हैं, यह इन्द्र नाम से दर्शाया गया है ।

३२३१२ ३२३२ ३१२ ३२३ २३१२
३३३. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
३२उ ३१ २३१र २र३२ ३२३१ २३ १२
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ।।२।।[1]

पदार्थ—मैं **त्रातारम्** आपत्तियों से त्राण करने वाले **इन्द्रम्** शत्रुविदारक जगदीश्वर वा राजा को, **अवितारम्** सुखादि के प्रदान द्वारा पालना करने वाले **इन्द्रम्** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजा को, **हवे हवे** प्रत्येक संग्राम में, प्रत्येक संकट में **सुहवम्** सरलता से पुकारने योग्य **शक्रम्** शक्तिशाली, **पुरुहूतम्** बहुत स्तुति किये गये अथवा बहुतों से बुलाये गये **इन्द्रम्** अविद्या, दुःख आदि के भञ्जक जगदीश्वर वा

१. ऋ० ६।४७।११, य० २०।५० उभयत्र ऋषिः गर्गः, 'ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः' इति चोत्तरार्धपाठः । अथ० ७।८६।१, ऋषिः अथर्वा स्वस्त्ययनकामः, 'स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु' इति चतुर्थः पादः ।

राजा को **नु** शीघ्र ही **हुवे** पुकारता हूँ । **सः** वह **मघवा** प्रशस्त धन वाला **इन्द्रः** जगदीश्वर वा राजा **इदम्** इस मेरे द्वारा दी जाती हुई **हविः** आत्मसमर्पण रूप अथवा राजकर रूप हवि को **वेतु** स्वीकार करे ।।२।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है, विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकरालंकार भी है । इन्द्र शब्द की चार बार पुनरुक्ति उसकी बहुक्षमता को तथा अन्यों से विलक्षण आह्वानयोग्यता को द्योतित करती है । निरर्थक 'तारमिन्द्रं' की दो बार, 'रमिन्द्रं' की तीन बार, 'मिन्द्र' की चार बार आवृत्ति होने से यमक अलंकार है । इसी प्रकार 'हवे, हवे, हवं, हवं हुवे, हवि' में वृत्त्यनुप्रास है । 'त्रातारम्, अवितारम्' में और 'इन्द्रम्, शक्रम्, पुरुहूतम्' में पुनरुक्तवदाभास है ।।२।।

भावार्थ—सबको चाहिए कि विपत्त्राता, शुभ पालनकर्त्ता, सुख से आह्वान किये जाने योग्य, अनेक जनों से वन्दित, शूर परमेश्वर तथा राजा का आत्मकल्याण और जनकल्याण के लिए वरण करें । साथ ही परमेश्वर को आत्म-समर्पण और राजा को कर-प्रदान भी नियम से करना चाहिए ।।२।।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमेश्वर और राजा का हम पूजन व सत्कार करें ।

३३४. यजामह इन्द्र वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यां३ विव्रतानाम् ।
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ।।३।।[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हम **वज्रदक्षिणम्** जिसका न्यायरूप दण्ड सदा जागरूक है ऐसे, **विव्रतानाम्** विविध कर्मों से युक्त **हरीणाम्** आकर्षणशक्ति वाले, गतिमय सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि लोकों के **रथ्यम्** रथी **इन्द्रम्** सर्वद्रष्टा परमात्मा की **यजामहे** पूजा करते हैं । वह **श्मश्रुभिः** सूर्य-किरणों द्वारा **प्र दोधुवत्** रोग आदियों को अतिशय पुनः पुनः प्रकंपित कर देता है, **ऊर्ध्वधा** सर्वोन्नत वह **सेनाभिः** सेनाओं के समान विद्यमान अपनी शक्तियों से **भयमानः** दुर्जनों को भयभीत करता हुआ **वि भुवत्** वैभवशाली बना हुआ है, और **राधसा** ऐश्वर्य से **वि** वैभवशाली बना हुआ है ।

द्वितीय राजा-प्रजा के पक्ष में । हम राष्ट्रवासी प्रजाजन **वज्रदक्षिणम्** दाहिने हाथ में वज्रतुल्य दृढ़ शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले, **विव्रतानाम्** विविध कर्मों वाले **हरीणाम्** अग्नि, वायु, विद्युत् और सूर्यकिरणों को **रथ्यम्** अग्नियानों, वायुयानों, विद्युत्यानों और सूर्यताप से चलने वाले यानों में प्रयुक्त करने वाले **इन्द्रम्** शूरवीर राजा वा सेनाध्यक्ष को **यजामहे** सत्कृत करते हैं । वह शत्रुओं की **श्मश्रुभिः दोधुवत्** मूछें नीची करता हुआ अर्थात् उनका गर्व चूर करता हुआ **ऊर्ध्वधा** उन्नत **भुवत्** होता है, तथा **सेनाभिः** अपनी दुर्दान्त सेनाओं से **भयमानः** शत्रुओं को भयभीत करता हुआ **वि भुवत्** विजयी होता है, और **राधसा** ऐश्वर्य से **वि** वैभवशाली होता है ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।३।।

भावार्थ—दुष्टों और पापों के प्रति दण्डधारी, न्यायकारी, सब लोकों को नियम से अपनी-अपनी परिधि पर और सूर्य के चारों ओर घुमाने वाला, शौर्य आदि गुणों में सबसे बढ़ा हुआ परमेश्वर जैसे सब जनों से पूजनीय है, वैसे ही अनेक शस्त्रास्त्रों से युक्त, राष्ट्र में विमानादि यानों का प्रबन्धकर्ता, सेनाओं द्वारा शत्रुओं को पराजित करने वाला सेनाध्यक्ष अथवा राजा भी सब प्रजाओं द्वारा सम्माननीय है ।।३।।

---

१. ऋ० १०।२३।१, 'प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा भूद् वि सेनाभिर्दयमानो विराधसा' इत्युत्तरार्द्धपाठः ।

पुनः वह परमेश्वर और राजा कैसा है यह कहते हैं।

३ २३ १ २३ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
३३५. सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
२ ३ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥४॥[1]

पदार्थ—हम **सत्राहणम्** सत्य से असत्य का खण्डन करने वाले, **दाधृषिम्** पापों व पापियों का अतिशय धर्षण करने वाले अथवा अत्यन्त प्रगल्भ, **तुम्रम्** शुभ कर्मों में प्रेरित करने वाले, **महाम्** महान्, **अपारम्** अपार अर्थात् अनन्त विद्या वा पराक्रम वाले, **वृषम्** सुखों की वर्षा करने वाले, **सुवज्रम्** उत्कृष्ट दण्डशक्ति वाले **इन्द्रम्** अधर्म, अविद्या आदि के विदारक परमात्मा वा राजा का **यजामहे** पूजन वा सत्कार करते हैं, **मघवा** ऐश्वर्यवान् **सुराधाः** उत्कृष्ट न्याय व धर्म रूप धन वाला **यः** जो परमात्मा वा राजा **वृत्रम्** विघ्नभूत शत्रु को **हन्ता** मारता है, **उत** और **वाजम्** अन्न, बल, विज्ञान आदि को **सनिता** बाँटता है तथा **मघानि** धनों को **दाता** देता है ॥४॥

इस मन्त्र में 'यजामहे' क्रियापद पूर्व मन्त्र से आया है। अर्थश्लेष और परिकर अलंकार है। 'न्ता, निता' और 'मघा, मघ' में छेकानुप्रास, तथा मकार, तकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—सब राष्ट्रवासी प्रजाजनों को चाहिए कि मन्त्रोक्त गुणों से विभूषित परमात्मा की पूजा और राजा का सत्कार करें ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और राजा की सहायता से हम क्या करें।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३३६. यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
३ २ ३ १र २र ३ १ ३ १ २ ३ १ २
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥५॥

पदार्थ—**यः मर्तः** जो मनुष्य **वनुष्यन्** क्रोध करता हुआ **उगणा वा** और सैन्यगणों अथवा आयुध गणों को तैयार किये हुए **मन्यमानः** अभिमान करता हुआ, अथवा **उगणा** अपनी शस्त्रास्त्रों से सज्जित सेनाओं को **मन्यमानः** बहुत मानता हुआ **तुरः** शीघ्रकारी यमराज भी होकर **नः** हमारी **अभिदाति** हिंसा पर उतारू होता है, हे **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन् वा राजन्। **तम्** उस मनुष्य को **त्वम्** आप **युधा** युद्ध से **शवसा वा** और बल से **क्षिधि** विनष्ट कर दो। हे **वृषमणः** बलवान् मन वाले परमात्मन् वा राजन्! **त्वोताः** आप से रक्षित हम, उसे **अभिस्याम** परास्त कर दें ॥५॥

भावार्थ—जो वैरी शत्रु विशाल सेना लेकर अपने बल का अभिमान करता हुआ सज्जनों को उद्विग्न करे उसे वे परमात्मा से पुरुषार्थ की प्रेरणा लेकर और राजा की सहायता से युद्ध में पराजित कर दें ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३३७. यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ॥६॥

१. ऋ० ४।१७।८।

पदार्थ—**प्रथम** राजा के पक्ष में। **वृत्रेषु** अविद्या, भ्रष्टाचार आदियों के व्याप्त हो जाने पर **स्पर्धमानाः** उन पर विजय पाना चाहते हुए **क्षितयः** प्रजाजन **यं हवन्ते** जिस जननायक को पुकारते हैं, **युक्तेषु** किन्हीं महान् कर्मों के प्रारम्भ करने पर **तुरयन्तः** कार्यसिद्धि के लिए शीघ्रता करते हुए प्रजाजन **यं हवन्ते** जिस कार्यसाधक को पुकारते हैं, **शूरसातौ** शूरों को विजयोपलब्धि कराने वाले संग्राम में **यं हवन्ते** जिस वीर को पुकारते हैं, **अपाम्** सरोवर, नहर आदियों के **उपज्मन्** निर्माण के लिए **यं हवन्ते** जिस राष्ट्रनिर्माता को पुकारते हैं, **विप्रासः** ज्ञानी ब्राह्मण लोग **यं वाजयन्ते** जिसे अपना परामर्श देकर बलवान् करते हैं, **सः** वह दुःखविदारक, सुखप्रदाता राजा **इन्द्रः** इन्द्र कहाता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **वृत्रेषु** योगमार्ग में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि विघ्नों के उपस्थित होने पर **स्पर्धमानाः** उन्हें जीतने की इच्छा वाले योगीजन **यं हवन्ते** जिस सहायक को पुकारते हैं, **युक्तेषु** इन्द्रिय, मन, प्राण आदियों के योग में लग जाने पर **तुरयन्तः** योगसिद्धि पाने के लिए शीघ्रता करते हुए योगीजन **यं हवन्ते** जिस सिद्धिप्रदाता को पुकारते हैं, **शूरसातौ** आन्तरिक देवासुर-संग्राम के उपस्थित होने पर **यं हवन्ते** जिस विजयप्रदाता को पुकारते हैं, **अपाम्** प्राणों के **उपज्मन्** उपरले-उपरले चक्र में चंक्रमण करने के निमित्त **यं हवन्ते** जिस योगक्रियाओं में सहायक को पुकारते हैं, **यम्** और जिसकी **विप्रासः** ज्ञानी योगीजन **वाजयन्ते** अर्चना करते हैं, **सः** वह धारणा-ध्यान-समाधि से प्राप्तव्य परमेश्वर **इन्द्रः** इन्द्र कहलाता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—वेदों में इन्द्र नाम से जिसका बहुत स्थानों पर वर्णन है वह विघ्नविदारक, आरम्भ किये कार्यों में सिद्धिप्रदायक, देवासुरसंग्रामों में विजयप्रदाता, जलधाराओं को प्रवाहित कराने वाला, ज्ञानीजनों की स्तुति का पात्र ब्रह्माण्ड में परमेश्वर तथा राष्ट्र में राजा है। उनकी यथायोग्य उपासना प्रार्थना और सत्कार से अभीष्ट लाभ सबको उनसे प्राप्त करने चाहिएँ ॥६॥

इस मन्त्र पर विवरणकार ने यह अपनी कल्पना से ही घड़ा हुआ इतिहास लिखा है कि इन्द्र के अत्यन्त भक्त होने के कारण इन्द्र का रूप धारण किये हुए वामदेव ऋषि को जब असुर पकड़कर मारने लगे तब वह इस मन्त्र को कह रहा है कि इन्द्र मैं नहीं हूँ, इन्द्र तो ऐसा-ऐसा है। इसी प्रकार का इतिहास 'स जनास इन्द्रः' इस प्रकार इन्द्र का परिचय देने वाले, गृत्समद ऋषि से दृष्ट ऋग्वेदीय द्वितीय मण्डल के १२वें सूक्त पर गृत्समद के नाम से किन्हीं लोगों ने कल्पित कर लिया था, जो सायण के ऋग्वेदभाष्य में उद्धृत है। यह सब प्रामाणिक नहीं है, किन्तु कथाकारों का लीलाविलास है।

अगले मन्त्र में देवता 'इन्द्र-पर्वत' हैं। इन नामों से जीवात्मा-प्राण के युगल की स्तुति की गयी है।

३३८. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्रापर्वता** जीवात्मा और प्राण! तुम दोनों **बृहता** महान् **रथेन** शरीर-रूप रथ द्वारा **सुवीराः** उत्तम वीर सन्तानों से अथवा वीर भावों से युक्त **वामीः** प्रशस्त वा संभजनीय **इषः** अभीष्ट आध्यात्मिक और भौतिक सम्पदाएँ **आ वहतम्** प्राप्त कराओ। हे **देवा** दिव्य गुण-कर्मों वाले जीवात्मा और प्राण! तुम दोनों **अध्वरेषु** शरीरधारणरूप यज्ञों में **हव्यानि** भोज्य, पेय आदि हवियों का **वीतम्**

१. ऋ० ३।५३।१।

आस्वादन करो। **गीर्भिः** वाणियों से, और **इडया** अन्न तथा गोदुग्ध आदि से **मदन्ता** तृप्त होते हुए **वर्द्धेथाम्** वृद्धि को प्राप्त करो ॥७॥

भावार्थ—जीवात्मा संचित कर्मों के फलभोग के लिए तथा नवीन कर्म करने के लिए मन, इन्द्रिय आदियों से युक्त प्राण के साथ सर्वश्रेष्ठ शरीर-रूप रथ में बैठता है। वे दोनों जीवात्मा और प्राण शरीर के माध्यम से उत्कृष्ट सन्तान और विविध दिव्य तथा भौतिक सम्पदा को प्राप्त कराने की योग्यता रखते हैं। यथायोग्य खाद्य, पेय, ज्ञान, कर्म, प्राणायाम आदि की हवि देकर उनकी शक्ति सबको बढ़ानी चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

३३९. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥[1]

पदार्थ—**इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर के लिए अर्थात् उसकी महिमा का गान करने के लिए **अनिशितसर्गाः** अतीक्ष्ण प्रयोग वाली अर्थात् मधुर **गिरः** मेरी स्तुतिवाणियाँ, प्रवृत्त हों। जो जगदीश्वर **सगरस्य** अन्तरिक्ष के **बुध्नात्** शीर्षस्थान से **अपः** मेघ-जलों को **प्रैरयत्** भूमि की ओर प्रेरित करता अर्थात् भूमि पर बरसाता है। **यः** जो **विष्वक्** विविध कर्मों में संलग्न होता हुआ अथवा विशेषरूप से सर्वान्तर्यामी होता हुआ **शचीभिः** अपने बुद्धिकौशल से व जगद्धारण की क्रियाओं से **पृथिवीम्** भूमि को **उत** और **द्याम्** द्यौ लोक को **तस्तम्भ** थामे हुए है, परस्पर सन्तुलित कर रहा है, **इव** जैसे **अक्षेण** रथ के बीच में पड़ी हुई कीली के द्वारा **चक्रियौ** दोनों रथचक्रों को रथचालक थामे रखता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा की ही यह विलक्षण महिमा है कि वह अन्तरिक्ष से वर्षा करता है और द्यावापृथिवी में परस्पर सामंजस्य स्थापित करता है ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र की मित्रता का विषय है।

३४०. आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू चिदर्णवाञ्जगम्याः।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ॥९॥[2]

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर! **सखायः** आपके सखा स्तोता लोग सदा ही **त्वा** आपको **सख्या** सखि-भाव से **आ ववृत्युः** स्वीकार करें। **तिरः** उनको प्राप्त होकर आप **पुरु चित्** बहुत अधिक **अर्णवान्** आनन्द के सागरों को **जगम्याः** प्राप्त कराओ। **वेधाः** स्तुति और पुरुषार्थ का कर्ता वह आपका सखा **अस्मिन् क्षये** इस घर में, गृहस्थाश्रम में **प्रतराम्** अत्यधिक **दीद्यानः** तेज और यश से प्रदीप्त होता हुआ **पितुः** अपने पिता के, वैसे ही तेजस्वी और यशस्वी **नपातम्** पौत्र को अर्थात् अपने पुत्र को **आदधीत** उत्पन्न करे ॥९॥

१. ऋ० १०।८९।४, 'प्रैरयत्', 'चक्रियौ' इत्यत्र क्रमेण 'प्रैरयं', 'चक्रिया' इति पाठः।

२. मन्त्रोऽयमृग्वेदे पाठान्तरेण यमयमीसंवादे ऋ० १०।१०।१ इत्यत्र पठितः। तत्रेदं यम्या यमं प्रति वचनम्। तत्र ऋषिका यमी, देवता च यमः। न तत्र 'इन्द्रेण' कश्चित् सम्बन्धः। एष तावत् तत्रत्यः पाठः—'ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः' इति। अथर्ववेदे १८।१।१ इत्यत्रापि स एव पाठः, तत्र ऋषिः अथर्वा, देवता च यमः।

भावार्थ—जो जगदीश्वर से मित्रता जोड़ता है उसे वह आनन्द-सागर में निमग्न कर देता है। जगदीश्वर का वह सखा शास्त्रोक्त विधि से गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ अपने अनुरूप तेजस्वी और यशस्वी पुत्र का पिता बनता है ॥९॥

इन्द्र देवता वाले भी अगले मन्त्र में इन्द्र को क्योंकि सत्य प्रिय है, अतः सत्य का विषय वर्णित है।

३४१. को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥१०॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में। **कः** कौन मनुष्य **अद्य** आज **शिमीवतः** कर्मवान्, आलस्यरहित, **भामिनः** तेजस्वी, **दुर्हृणायून्** दुष्पराजेय, **अप्सुवाहः** नदी की धाराओं के सदृश बाधाओं के बीच से भी वहन कर ले जाने वाले, **मयोभून्** सुखप्रापक **गाः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि रूप बैलों को **ऋतस्य** सत्य-रूप रथ के **धुरि** धुरे में **युङ्क्ते** जोड़ेगा। **एषाम्** गतिशील **एषाम्** इन पूर्वोक्त इन्द्रियादिरूप बैलों के **आसन्** मुख में **यः** जो मनुष्य **भृत्याम्** उन-उनके उत्कृष्ट ग्राह्यविषयरूप जीविकाद्रव्य को **ऋणधत्** वृद्धि के साथ प्रदान करेगा **सः** वह **जीवात्** प्रशस्त जीवन से युक्त होगा ॥

यहाँ 'सत्य के धुरे में' इस कथन से सत्य में रथ का आरोप ध्वनित होता है। सत्य के धुरे में सामान्य बैल क्योंकि नहीं जोड़े जा सकते, अतः आरोप के विषय बैलों में आरोप्यमाण इन्द्रियादि गृहीत होते हैं। इन्द्रियादि में बैलों का आरोप होने से ही उनके मुख की भी कल्पना कर ली गयी है। अतिशयोक्ति अलंकार है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। **कः** कौन मनुष्य **अद्य** आज, संकट के समय **शिमीवतः** कर्मशूर, **भामिनः** क्षात्र तेज से युक्त, **दुर्हृणायून्** दुष्पराजेय, **अप्सुवाहः** युद्धयात्रा में नदी, समुद्र आदि के जलों में युद्धपोत को खेकर ले जाने वाले, **मयोभून्** शत्रुओं को जीतकर राष्ट्रवासियों को सुख देने वाले **गाः** गतिशील सैनिकों को **ऋतस्य** राष्ट्ररूप यज्ञ के **धुरि** रक्षा के धुरे में **युङ्क्ते** नियुक्त करेगा? राजा ही नियुक्त करेगा यह अभिप्राय है। **आसन्नेषाम्** जिनके तरकस में बाण हैं अर्थात् जिन्होंने प्रचुर शस्त्रास्त्रों का संचय किया हुआ है ऐसे **एषाम्** इन सैनिकों के **यः** जो राजा **भृत्याम्** वेतन को **ऋणधत्** समय-समय पर बढ़ायेगा **सः** वह राजा **जीवात्** शत्रु-विजय करके प्रजाओं के साथ चिरकाल तक जीवित रहेगा ॥१०॥

इस मन्त्र में अध्यात्म और अधिराष्ट्र उभयविध अर्थ वाच्य होने से श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सत्य के ज्ञानार्थ तथा प्रचारार्थ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियों का यथोचित उपयोग मनुष्यों को करना चाहिए, और राष्ट्र के शासक राजा को चाहिए कि राष्ट्र के रक्षक सैनिकों का भरपूर वेतन-प्रदान आदि से सत्कार करे ॥१०॥

इस दशति में तार्क्ष्य नाम से परमेश्वर का स्मरण करने, इन्द्र-पर्वत के युगल की स्तुति पूर्वक इन्द्र का स्तवन करने, उसके सख्य की याचना करने, इन्द्रिय-रूप गौओं का महत्त्व वर्णन करने तथा राजा, सैनिक आदि अर्थों के भी सूचित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।

चतुर्थ प्रपाठक का प्रथम अर्ध समाप्त।

तृतीय अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० १।८४।१६ 'आसन्निषून् हृत्स्वसो' इति पाठः। अथ० १८।१।६ ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, पाठः ऋग्वेदवत्।

।।६।। अथ 'गायन्ति त्वा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ मधुच्छन्दाः; २ जेता माधुच्छन्दसः; ३,६ गोतमः; ४ अत्रिः; ५,८,९ तिरश्चीः; ७ काण्वो नीपातिथिः; १० शंयुर्बार्हस्पत्यः।। देवता—इन्द्रः।। छन्दः—अनुष्टुप्।। स्वरः—गान्धारः।।

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि इन्द्र की महिमा का सब गान करते हैं।

३४२. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत बुद्धिमान् तथा बहुत कर्मों को करने वाले परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! **गायत्रिणः** सामगान करने वाले गायक जन अथवा यज्ञ के उद्गाता नामक ऋत्विज् **त्वा** तेरा **गायन्ति** गान करते हैं। **अर्किणः** वेदमन्त्रार्थों का अध्ययन करने वाले जन अथवा पूजक होता और अध्वर्यु नामक ऋत्विज् **त्वा** तेरी **अर्चन्ति** स्तुति करते हैं। **ब्राह्मणाः** ब्रह्मोपासक ब्राह्मण अथवा यज्ञ के ब्रह्मा नामक ऋत्विज् **त्वा** तुझे **वंशम् इव** ध्वजदण्ड के समान **उद्येमिरे** ऊपर उठाते हैं, अर्थात् जैसे पताकाधारी लोग पताका के डण्डे को ऊँचा उठाकर आकाश में पताका को फहराते हैं, वैसे ही ब्राह्मण जन और यज्ञ के ब्रह्मा लोग तेरी कीर्ति को सर्वत्र फहराते हैं।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'गाय, गाय' में यमक है। द्वितीय पाद में अनुप्रास है।।१।।

भावार्थ—मनुष्यों को चहिए कि सांगोपांग वेदों को पढ़कर, यज्ञ आदि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक और सामगान सहित परमेश्वर की अर्चना करते हुए उसकी महिमा को गगन में ऊँची उठायी हुई, हवा से लहराती हुई ध्वजा के समान सर्वत्र प्रसारित करें।।१।।

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र की महिमा का विषय वर्णित है।

३४३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ।।२।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **विश्वाः** सब **गिरः** स्तुति-वाणियाँ वा वेद-वाणियाँ **समुद्रव्यचसम्** सागर और अन्तरिक्ष के समान व्याप्ति वाले, **रथीनाम्** रथवालों में **रथीतमम्** सबसे बढ़कर रथ वाले अर्थात् पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि अनेक रथसदृश गतिशील लोकों के सर्वोच्च स्वामी, **वाजानाम्** सब बलों के **पतिम्** अधीश्वर, **सत्पतिम्** सज्जनों, सद्गुणों व सदाचारों के रक्षक **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा का **अवीवृधन्** वर्धन अर्थात् महिमागान द्वारा प्रचार-प्रसार करती हैं।।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **विश्वाः** सब **गिरः** राष्ट्रवासी प्रजाजनों की वाणियाँ **समुद्रव्यचसम्** जलपोतों से सागर में और विमानों से अन्तरिक्ष में व्याप्त, **रथीनाम्** यान-स्वामियों में **रथीतमम्** भूयान, जलयान और विमानों के सबसे बड़े स्वामी, **वाजानाम्** दैहिक, मानसिक और आत्मिक बलों, अन्नों वा युद्धों के **पतिम्** अधीश्वर, **सत्पतिम्** सज्जनों वा सत्कर्मों के रक्षक **इन्द्रम्** शत्रुविदारक तथा सुखप्रद राजा को **अवीवृधन्** बढ़ायें, उत्साहित करें।।२।।

---

१. ऋ० १।१०।१, साम० १३४४।
२. ऋ० १।११।१। य० १२।५६, १७।६१ उभयोः ऋषिः सुतजेतृमधुच्छन्दाः; १५।६१ ऋषिः मधुच्छन्दाः। साम० ८२७।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'रथी, रथी' में लाटानुप्रास और 'पतिम्, पतिम्' में यमक है ॥२॥

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ और स्तोताओं की वाणियाँ परमेश्वर की ही महिमा का गान करती हैं। वैसे ही राष्ट्र में प्रजाओं की वाणियाँ प्रजावत्सल राजा की महिमा का गान करें ॥२॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि इन्द्र सोमरस का पान करे।

३१२ ३१ २३ २३१२ ३ १२
३४४. इ॒मामि॑न्द्र सु॒तं पि॑ब॒ ज्ये॑ष्ठ॒मम॑र्त्यं॒ मद॑म्।
३१२ ३क २र ३ १२ ३२३ १२
शु॒क्रस्य॑ त्वा॒भ्य॑क्षर॒न् धारा॑ ऋ॒तस्य॒ साद॑ने ॥३॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** अध्यात्मसम्पत्ति के प्रदाता परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! तुम **इमम्** इस **ज्येष्ठम्** अतिशय प्रशंसनीय, **अमर्त्यम्** दिव्य, **मदम्** स्तोता को आनन्द देने वाले **सुतम्** तैयार किये हुए हमारे श्रद्धारसरूप सोम का **पिब** पान करो। **ऋतस्य** ध्यान-यज्ञ के **सादने** सदनभूत हृदय में **शुक्रस्य** दीप्त, पवित्र श्रद्धारस की **धाराः** धाराएँ **त्वा अभि** तुम्हारे प्रति **अक्षरन्** बह रही हैं।

द्वितीय गुरु-शिष्य पक्ष में। शिष्य के प्रति यह आचार्य की उक्ति है। हे **इन्द्र** जिज्ञासु एवं विद्युत् के समान तीव्रबुद्धि वाले मेरे शिष्य! तू **इमम्** मेरे द्वारा दिये जाते हुए इस **ज्येष्ठम्** श्रेष्ठ, **अमर्त्यम्** चिर-स्थायी, **मदम्** तृप्तिप्रद, **सुतम्** अध्ययन-अध्यापन-विधि से निष्पादित ज्ञानरस को **पिब** पान कर, जिस ज्ञानरस को **शुक्रस्य** पवित्र **ऋतस्य** अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ के **सादने** सदन में, अर्थात् गुरुकुल में **धाराः** मेरी वाणियाँ **त्वा अभि** तेरे प्रति **अक्षरन्** सींच रही हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—सब लोग दुःखविदारक, आनन्द के सिन्धु परमेश्वर के प्रति श्रद्धा को हृदय में धारण कर उसकी उपासना करें और गुरुजन शिष्यों के प्रति प्रेम से प्रभावी शिक्षा-पद्धति द्वारा विद्या प्रदान करें ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से धन के दान की प्रार्थना की गयी है।

१२ ३२उ ३ १२
३४५. यदि॑न्द्र चित्र म इ॒ह नास्ति॑ त्वादा॑तमद्रिवः।
२३१ २ ३ १२
राध॒स्तन्नो॑ विदद्वस उभयाह॒स्त्या भ॑र ॥४॥[2]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **चित्र** अद्भुतगुणकर्मस्वभाव वाले, **अद्रिवः** वज्रधारी के समान दुष्कर्मों का दण्ड देने वाले **इन्द्र** जगदीश्वर! **यत्** जो आध्यात्मिक और भौतिक धन, हमारे कर्मों के परिपाक के कारण अथवा हमारी पौरुषहीनता के कारण **त्वादातम्** तेरे द्वारा काटा या रोका हुआ **मे** मुझे **इह** यहाँ **नास्ति** नहीं मिल रहा है, **तत् राधः** वह धन, हे **विदद्वसो** ज्ञात अथवा प्राप्त धन वाले परमेश्वर! तू **उभयाहस्ति** दोनों हाथों को प्रवृत्त करके **आ भर** मुझे प्रदान कर।

यहाँ निराकार भी परमेश्वर के विषय में दोनों हाथों से दान का वर्णन दान की प्रचुरता को द्योतित करने के लिए आलंकारिक जानना चाहिए।

---

१. ऋ० १।८४।४; साम० ६४६।

२. ऋ० ५।३९।१ 'म इह नास्ति' इत्यत्र 'मेहनास्ति' इति पाठः।

द्वितीय राजा-प्रजा के पक्ष में। दुर्भिक्ष, महामारी, नदियों में बाढ़ आदि विपत्तियों से पीड़ित प्रजा राजा से याचना कर रही है। हे **चित्र** अद्भुत दानी, **अद्रिवः** मेघों वाले सूर्य के समान राष्ट्र में धन आदि की वृष्टि करने वाले **इन्द्र** विपत्तियों के विदारक राजन्! **त्वादातम्** आपके द्वारा देय **यत्** जो धन **मे** मुझे **इह** इस संकटकाल में, अब तक **नास्ति** नहीं मिला है, **तत् राधः** वह धन, हे **विदद्वसो** धन का संचय किये हुए राजन्! आप **उभयाहस्ति** दोनों हाथों से भर-भर कर **आभर** मुझे दीजिए, देकर मुझ विपत्तिग्रस्त की सहायता कीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—आध्यात्मिक और भौतिक धन से रहित लोग पुरुषार्थ करते हुए यदि परमेश्वर से धन माँगते हैं, तो उसकी कृपा से उनके ऊपर धन की वर्षा अवश्य होती है। इसी प्रकार राजा को भी संकटग्रस्त प्रजाओं की रक्षा के लिए पुष्कल धन देकर उनकी सहायता अवश्य करनी चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र से धनों की प्रार्थना की गयी है।

३४६. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** भक्तवत्सल परमात्मन्! **यः** जो मनुष्य **त्वा** आपकी **सपर्यति** आराधना करता है, उस **तिरश्च्याः** आपको प्राप्त होकर पुरुषार्थ करने वाले अथवा लम्बे जटिल मार्ग को छोड़कर बाण के समान चीरते हुए आगे बढ़ते चले जाने वाले मनुष्य के **हवम्** आह्वान को, आप **श्रुधि** सुनिए अर्थात् पूर्ण कीजिए। साथ ही उसके लिए **गोमतः** प्रशस्त गाय, पृथिवी, वाणी आदि से युक्त **रायः** विद्या, आरोग्य, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य की **पूर्धि** पूर्ति कीजिए। आप **महान्** महान्, उदार हृदय वाले **असि** हैं ॥५॥

भावार्थ—जो श्रद्धावनत होकर परमेश्वर की पूजा करता है, उससे प्रेरणा लेकर पुरुषार्थ करता है और लम्बे मार्ग पर जाने से शक्ति तथा समय का व्यय न करके लक्ष्य के प्रति बाण के समान सीधा चलता चला जाता है, उसे सब सम्पत्तियाँ शीघ्र ही हस्तगत हो जाती हैं ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमपान के लिए पुकारा गया है।

३४७. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥६॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन्! **ते** तेरे लिए **सोमः** ज्ञान, उत्साह आदि का रस **असावि** मेरे द्वारा अभिषुत किया गया है। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **धृष्णो** कामादि शत्रुओं को परास्त करने वाले! **आ गहि** तू रसपान के लिए आ, अर्थात् अभिमुख हो। **इन्द्रियम्** ज्ञान की साधन-भूत मेरी मन, चक्षु आदि इन्द्रिय **रश्मिभिः** ज्ञान-प्रकाशों से **त्वा** तुझे **आ पृणक्तु** भरपूर करें, **सूर्यः** सूर्य **न** जैसे **रश्मिभिः** अपनी किरणों से **रजः** पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक को भरपूर करता है॥

अथवा, सोम से योगदर्शन १।४७ में प्रोक्त अध्यात्मप्रसाद अभिप्रेत है। इन्द्रिय से अभीष्ट है

१. ऋ० ८।६५।४, साम० ८८३।
२. ऋ० १।८४।१, साम० १०२८।

अध्यात्मप्रसाद में उत्पन्न, योग० १।४८ में प्रोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा। वह प्रज्ञा तुझ आत्मा को रश्मियों अर्थात् निर्बीजसमाधि के प्रकाशों से पूर्ण करे, यह आशय ग्रहण करना चाहिए ।।

द्वितीय—सेनाध्यक्ष आदि वीर मनुष्य के पक्ष में। हे **इन्द्र** वीर नरपुंगव सेनाध्यक्ष! **ते** तेरे लिए अर्थात् तेरे पीने के लिए, हम प्रजाजनों ने **सोमः** सोम आदि ओषधियों का रस **असावि** निचोड़ा है। उसके पानार्थ, हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **धृष्णो** शत्रुधर्षक वीर! तू **आ गहि** आ। **इन्द्रियम्** मनरूप आन्तरिक इन्द्रिय **त्वा** तुझे **रश्मिभिः** उत्साह की किरणों से **पृणक्तु** भर देवे, जैसे सूर्य अपनी किरणों से भूमण्डल आदि को भर देता है, इत्यादि शेष पूर्ववत् अर्थ जानना चाहिए ।।६।।

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ।।६।।

भावार्थ—सबको चाहिए कि अपने आत्मा को उद्बोधन देकर ज्ञान, कर्म, योगसिद्धि आदि का संचय करें। इसी प्रकार राष्ट्र के कर्णधार सेनापति आदि वीरता का संचय करके राष्ट्र की रक्षा करें ।।६।।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर का आह्वान किया गया है।

३४८. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।७।।[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगदीश्वर! आप **हरिभिः** अपनी अध्यात्म-प्रकाश की किरणों के साथ **कण्वस्य** मुझ मेधावी की **सुस्तुतिम्** शुभ स्तुति को **उप आयाहि** समीपता से प्राप्त कीजिए। आगे स्तोता अपने आत्मा को कहता है—हे **दिवावसो** दीप्तिधन के इच्छुक मेरे अन्तरात्मन्! तू **शासतः** शासक, **अमुष्य** चर्म-चक्षुओं से न दीखने वाले उस **दिवः** दीप्तिमान् परमात्मा के **दिवम्** प्रकाशक तेज को **यय** प्राप्त कर ।।७।।

इस मन्त्र में 'दिवो, दिवं, दिवा' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।।७।।

भावार्थ—यदि हमारी स्तुति हृदय से निकली है, तो परमेश्वर उसे सुनता ही है। हमें भी उसका सान्निध्य प्राप्त कर उसके तेज से तेजस्वी बनना चाहिए ।।७।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की स्तुति का विषय है।

३४९. आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः।
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।।८।।[2]

पदार्थ—हे **गिर्वणः** वाणियों से सेवनीय इन्द्र परमात्मन्! **सुतेषु** ज्ञान-कर्म-श्रद्धा रूप सोमरसों के अभिषुत हो जाने पर **गिरः** मेरी वाणियाँ **त्वा** तेरे पास **आ अस्थुः** आकर स्थित हो गयी हैं, **रथीः इव** जैसे रथ-स्वामी रथ पर स्थित होता है। वे मेरी वाणियाँ **त्वा अभि** तेरे अभिमुख होकर **समनूषत** भली-भाँति स्तुति कर रही हैं, **धेनवः गावः** दूध पिलाने वाली प्रीतियुक्त गौएँ **वत्सं न** जैसे बछड़े के अभिमुख होकर रंभाती हैं ।।८।।

---

१. ऋ० ८।३४।१, साम० १८०७।

२. ऋ० ८।९५।१, 'अभि त्वा समनूषतेन्द्र वत्सं न मातरः' इत्युत्तरार्धपाठः।

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि और अनुप्रास अलंकार है ॥८॥

भावार्थ—रथी जन जैसे रथ का आश्रय लेते हैं, वैसे स्तोताओं की वाणियाँ परमात्मा का आश्रय लें, और उसके सम्मुख हो ऐसे प्रेम से उसकी स्तुति करें जैसे गौएँ बछड़े को सम्मुख पाकर रंभाती हैं ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की स्तुति का विषय है।

३५०. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥९॥[1]

पदार्थ—हे साथियो! **एत उ** आओ, **नु** शीघ्र ही, तुम और हम मिलकर **शुद्धम् इन्द्रम्** पवित्र जगदीश्वर की **शुद्धेन साम्ना** पवित्र सामगान से **स्तवाम** स्तुति करें। **शुद्धैः** पवित्र **उक्थैः** स्तोत्रों से **वावृध्वांसम्** वृद्धि को प्राप्त हममें से प्रत्येक जन को **आशीर्वान्** आशीषों का अधिपति जगदीश्वर **शुद्धैः** पवित्र आशीर्वादों से **ममत्तु** आनन्दित करे ॥९॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में 'शुद्धं, शुद्धे' 'शुद्धैरु, शुद्धैरा' में छेकानुप्रास, और उत्तरार्ध में 'शुद्धै, शुद्धै' इन निरर्थकों की आवृत्ति में यमक अलंकार है। सम्पूर्ण मन्त्र में संयुक्ताक्षरों का वैशिष्ट्य है ॥९॥

भावार्थ—स्तोताओं के द्वारा शुद्ध सामगानों द्वारा प्रेम से स्तुति किया हुआ जगदीश्वर शुद्ध आशीर्वादों से उन्हें बढ़ाता और आनन्दित करता है ॥९॥

इस मन्त्र पर सायणाचार्य ने यह इतिहास प्रदर्शित किया है—"पहले कभी इन्द्र वृत्र आदि असुरों का वध करके ब्रह्महत्या आदि के दोष से स्वयं को अशुद्ध मानने लगा। उस दोष के परिहार के लिए इन्द्र ने ऋषियों से कहा कि तुम मुझ अपवित्र को अपने साम से शुद्ध कर दो। तब उन्होंने शोधक साम से और शस्त्रों से उसे परिशुद्ध किया। बाद में शुद्ध हुए उस इन्द्र के लिए याग आदि कर्म में सोम आदि हवियाँ भी दीं।" पर इस इतिहास में देवता भी, वध्य को भी मार कर, पाप से लिप्त होते हैं यह कल्पना की गयी है, जो बड़ी असंगत है।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की आनन्ददायकता का वर्णन है।

३५१. यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः ।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१०॥[2]

पदार्थ—**रयिन्तमः** अतिशय ऐश्वर्ययुक्त **यः** जो **वः** तुम्हारे लिए **रयिम्** ऐश्वर्य को देता है, और **द्युम्नवत्तमः** अतिशय तेजस्वी **यः** जो **द्युम्नैः** तेजों से, तुम्हें अलंकृत करता है, **सः** वह **सुतः** हृदय में प्रकट हुआ **सोमः** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोम ओषधि के समान रसागार परमेश्वर, हे **स्वधापते** अन्नों के स्वामी अर्थात् अन्नादि सांसारिक पदार्थों के भोक्ता **इन्द्र** विद्वन्! **ते** तुम्हारे लिए **मदः** आनन्द-दायक **अस्ति** है ॥१०॥

इस मन्त्र में 'रयिं, रयिं' में लाटानुप्रास अलंकार है। 'तमो, तमः' 'द्युम्नै, द्युम्न' में छेकानुप्रास है। य्, स्, त् और म् की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।९५।७, 'शुद्ध आशीर्वान्' इति पाठः। साम० १४०२।
२. ऋ० ६।४४।१। तत्र 'रयिं वो' इत्यत्र 'रयिवो' इति निरनुस्वारः समस्तः पाठः।

भावार्थ—हृदय में प्रत्यक्ष किया गया परमेश्वर योगी को समस्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस और आनन्द प्रदान करता है, अतः सबको यत्नपूर्वक उसका साक्षात्कार करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के महिमागान का वर्णन होने, उसके प्रति श्रद्धारस आदि का अर्पण करने, उससे ऐश्वर्य माँगने, उसका आह्वान होने तथा उसकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ॥
तृतीय अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥
यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

—०—

अथ चतुर्थोऽध्यायः

॥७॥ अथ 'प्रत्यस्मै पिपीषते' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भरद्वाजः; २ वामदेवः शाकपूतो वा; ३ प्रियमेधः; ४ प्रगाथः; ५ श्यावाश्व आत्रेयः; ६ शंयुः; ७ वामदेवः; ८ जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—१-४, ६, ८ इन्द्रः; ५ मरुतः; ७ दधिक्रावा अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर और आचार्य के प्रति मनुष्यों का कर्त्तव्य बताया गया है।

३५२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चाद्दध्वने नरः ॥१॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** जगदीश्वर के पक्ष में। हे नर! तू **पिपीषते** तेरी मित्रता के प्यासे, **विदुषे** सर्वज्ञ, **अरङ्गमाय** पर्याप्तरूप में धनादि प्राप्त कराने वाले, **जग्मये** सहायता के लिए सदा आगे बढ़ने वाले, और **नरः** मनुष्यों को **अ-पश्चा-दध्वने** पीछे न धकेलने वाले, प्रत्युत सदा विजयार्थ आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करने वाले इन्द्र जगदीश्वर के लिए **विश्वानि** अपनी सब मित्रताओं को **प्रति भर** भेंट कर।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। हे राजन् वा प्रजाजन! तुम **पिपीषते** गुरुकुल चलाने के लिए धनादि पदार्थों के प्यासे, **अरङ्गमाय** विद्या आदि में पारंगत, **जग्मये** क्रियाशील **अ-पश्चा-दध्वने** कभी पग न हटाने वाले, किन्तु सदा आगे बढ़ने वाले **विदुषे** विद्वान् आचार्य के लिए **विश्वानि** सब उत्तम धन आदियों को, और विद्याप्रदान तथा आचार-निर्माण के लिए **नरः** प्रतिभाशाली बालकों को **प्रतिभर** सौंपो ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—सब राजा-प्रजा आदि को चाहिए कि वे जगदीश्वर के साथ मित्रता करें और विद्वानों को धन, धान्य आदि से सत्कृत करके उन्हें विद्या तथा उपदेश देने के लिए निश्चिन्त कर दें ॥१॥

---

१. ऋ० ६।४२।१ 'अपश्चाद्दध्वने नरे' इति पाठः। साम० १४४०।

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा जनसमाज के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य बताया गया है।

३५३. आ नो वयोवयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम्।
महान्तं पूर्विणेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः ॥२॥

पदार्थ—हे मानव ! तू **नः** हम सबके **वयोवयःशयम्** अन्न-अन्न, आयु-आयु, प्राण-प्राण में विद्यमान, **महान्तम्** सर्वव्यापक होने से परिमाण में महान्, **गह्वरेष्ठाम्** हृदय-गुहा में प्रच्छन्न रूप से स्थित, **महान्तम्** गुणों में महान्, **पूर्विणेष्ठाम्** पूर्वजों से रचित भक्तिस्तोत्र, भक्तिकाव्य आदियों में वर्णित इन्द्र परमेश्वर को **आ** अध्यात्मयोग से प्राप्त कर, और **उग्रं वचः** 'मारो-काटो-छेदो-भेदो' इत्यादि हिंसा-उपद्रव से उत्पन्न होने वाले 'हाय, बड़ा कष्ट है, बड़ी सिर में पीड़ा है, कैसे जीवन धारण करें' आदि रोग के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले, और 'हाय भूखे हैं, प्यासे हैं, कोई भी हमें नहीं पूछता, अन्न का एक दाना मुख में डाल दो, पानी की एक बूंद से जीभ गीली कर दो' इत्यादि भूख-प्यास से उत्पन्न होने वाले उग्र वचनों को **अपावधीः** दूर कर ॥२॥

इस मन्त्र में 'वयो-वयः' में छेकानुप्रास तथा 'महान्तं' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि महामहिमाशाली जगदीश्वर की उपासना कर, उसका सर्वत्र प्रचार कर, जनजीवन से सब प्रकार के हाहाकार को समाप्त करके समाज, राष्ट्र और जगत् में शान्ति लायें ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है।

३५४. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥३॥[1]

पदार्थ—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ ! **ऊतये** सांसारिक दुःख, विघ्न आदियों से रक्षा के लिए, और **सुम्नाय** ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के लिए, हम **तुविकूर्मिम्** बहुत-से कर्मों के कर्ता, **ऋतीषहम्** शत्रु-सेनाओं के पराजयकर्ता, **सत्पतिम्** सदाचारियों के पालनकर्ता **त्वा** तुझ **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा वा राजा को **आवर्तयामसि** अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं, **यथा** जैसे **ऊतये** शत्रुओं से रक्षा के लिए और **सुम्नाय** यात्रा-सुख के लिए **तुविकूर्मिम्** व्यापार आदि द्वारा बहुत-से धनों को उत्पन्न करने में साधनभूत, **ऋतीषहम्** वायु, वर्षा आदि के आघात को सहने वाले, **सत्पतिम्** बैठे हुए श्रेष्ठ यात्रियों के पालन के साधनभूत **रथम्** भूयान, जलयान, विमान आदि को लोग प्रवृत्त करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥३॥

जैसे हवा, धूप, वर्षा आदि से बचाव के लिए और यात्रासुख के लिए रथ प्राप्तव्य होता है, वैसे ही रोग आदि से होने वाले दुःखों से त्राणार्थ और शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, वर्णाश्रमधर्म की प्रतिष्ठा, शान्तिस्थापना आदि द्वारा योगक्षेम के सुखप्रदानार्थ राजा को तथा त्रिविध तापों से त्राणार्थ और मोक्ष-सुख आदि के प्रदानार्थ परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए ॥३॥

---

१. ऋ० ८।६८।१ 'मिन्द्र शविष्ठ सत्पते' इति पाठः। साम० १७७१।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

३५५. स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥४॥[1]

पदार्थ—**महोनाम्** पूजनियों में भी **पूर्व्यः** पूज्यता में श्रेष्ठ, **वेनः** मेधावी और कमनीय **सः** वह परमैश्वर्यवान् इन्द्र जगदीश्वर **क्रतुभिः** सृष्टिसंचालन आदि कर्मों से **आनजे** व्यक्त होता है, अनुमान किया जाता है, **यस्य द्वारा** जिस जगदीश्वर के द्वारा **मनुः** मननशील **पिता** शरीर का पालक जीवात्मा **देवेषु** शरीरवर्ती मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि में **धियः** उन-उनकी क्रियाओं को **आनजे** प्राप्त कराता है ॥४॥

इस मन्त्र में नकार का अनुप्रास है, 'नजे' की आवृत्ति में यमक है ॥४॥

भावार्थ—संसार में दिखायी देने वाली सूर्यचन्द्रोदय, ऋतुचक्रप्रवर्तन आदि क्रियाएँ किसी कर्ता के बिना नहीं हो सकतीं, अतः परमात्मा का अनुमान कराती हैं। देह का स्वामी जीवात्मा भी परमात्मा की ही सहायता से देह में स्थित मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि में संकल्प, निश्चय, प्राणन, दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं को प्रवृत्त करता है ॥४॥

अगली ऋचा के 'मरुतः' देवता हैं। इसमें इन्द्रसहचारी मरुतों का शरीर में कार्य वर्णित किया गया है।

३५६. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥५॥

पदार्थ—**यदि** जिस समय **रथेषु** देहरूप रथों में **भ्राजमानाः** तेज से दीप्यमान **आशवः** शीघ्रगामी मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप शीर्षण्य प्राण **मदिरम्** आनन्दजनक **मधु** अपने-अपने विषयों संकल्प, अध्यवसाय, रूप, रस, गन्ध, शव्द, स्पर्श के मधुर रस को **पिबन्तः** पान करते हुए **आ वहन्ति** रथी जीवात्मा को जीवन-यात्रा कराते हैं, **तत्र** उस समय **श्रवांसि** यशों को **कृण्वते** उत्पन्न करते हैं ॥५॥

भावार्थ—देहरथ में नियुक्त मन, बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों का ही यह कार्य है कि वे जीवात्मा के ज्ञान में साधन बनकर उसे यशस्वी बनाते हैं ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्रपदवाच्य परमात्मा और राजा कैसा है।

३५७. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥६॥[2]

पदार्थ—हे प्रजाजनो! मैं **वः** तुम्हारे व अपने हितार्थ **त्यम् उ** उस, **अप्रहणम्** किसी से न मारे जा सकने योग्य अथवा अन्याय से किसी को न मारने वाले, **शवसः पतिम्** बल और सेना के अधिपति, **विश्वासाहम्** सब शत्रुओं वा विघ्नों को परास्त करने वाले, **नरम्** नेता, **शचिष्ठम्** अतिशय कर्मनिष्ठ, **विश्ववेदसम्** ब्रह्माण्ड वा राष्ट्र के सब घटनाचक्र को जानने वाले **इन्द्रम्** शूरवीर परमात्मा वा राजा की **गृणीषे** गुण-कर्मों के वर्णन द्वारा स्तुति करता हूँ ॥६॥

---

१. ऋ० ८।६३।१, 'महोनां' 'मनुः पिता' इत्यत्र क्रमेण 'महानां' 'मनुष्पिता' इति पाठः।

२. ऋ० ६।४४।४, 'मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्' इति चतुर्थः पादः।

भावार्थ—जो प्रजाओं का हित चाहते हैं उन मन्त्री, पुरोहित आदियों को चाहिए कि मन्त्रोक्त गुणों से अलंकृत जगदीश्वर का गुण-कर्मों के कीर्तन द्वारा और उसकी गरिमा के गान द्वारा सर्वत्र प्रचार करें और वैसे ही गुणी राजा को उसके गुणों के वर्णन द्वारा कर्त्तव्य के प्रति प्रोत्साहित करें ॥६॥

अगले मन्त्र का 'दधिक्रावा' अग्नि देवता है। इस नाम से परमात्मा, यज्ञाग्नि और राजा की स्तुति की गयी है।

३५८. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं **जिष्णोः** विजयशील तथा विजय प्रदान करने वाले, **अश्वस्य** सब शुभ गुणों में व्याप्त, **वाजिनः** बल और विज्ञान से युक्त **दधिक्राव्णः** धारक पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि लोकों को अपनी-अपनी धरी पर अथवा किसी पिण्ड के चारों ओर घुमाने वाले, अथवा स्तोत्र-धारकों, धर्म-धारकों वा सद्गुण-धारकों को कर्मयोगी बनाने वाले जगदीश्वर का **अकारिषम्** स्वागत करता हूँ। स्वागतवचन द्वारा सत्कृत वह जगदीश्वर **नः** हमारे **मुखा** मुखों को **सुरभि** सुगन्धित अर्थात् कटु-वचन, पर-निन्दा आदि से रहित मधुर सत्य-भाषण के सौरभ से सम्पन्न **करत्** करे, और **नः** हमारी **आयूंषि** आयुओं को **प्र तारिषत्** बढ़ाये।

द्वितीय यज्ञाग्नि के पक्ष में। मैं **जिष्णोः** रोग आदि पर विजय पाने वाले, **अश्वस्य** फैलने के स्वभाव वाले, **वाजिनः** हव्यान्नों से युक्त **दधिक्राव्णः** हवियों को धारण कर रूपान्तरित करके देशान्तर में पहुँचा देने वाले आहवनीय अग्नि का **अकारिषम्** यज्ञ में उपयोग करता हूँ, अर्थात् उसमें हवियों को होम करता हूँ। आहुति दिया हुआ वह यज्ञाग्नि **नः** हमारे **मुखा** मुख को, अर्थात् मुखवर्ती नासिका-प्रदेश को **सुरभि** सुगन्धित **करत्** कर दे, और **नः आयूंषि प्रतारिषत्** हम अग्निहोत्रियों के आयु के वर्षों को बढ़ाये। अभिप्राय यह है कि नियम से अग्निहोत्र करते हुए हम चिरञ्जीवी हों।

अग्नि में होमे हुए सुगन्धित हव्य से सुगन्धित हुआ वायु जब श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा फेफड़ों के अन्दर जाता है, तब रक्त को शुद्ध कर, उसमें जीवनदायक तत्त्व समाविष्ट करके, उसकी मलिनता को हरकर बाहर निकाल देता है। वेद में कहा भी है—'हे वायु, तू अपने साथ औषध अन्दर ला, जो मल है उसे बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू विद्वान् वैद्यों का दूत होकर विचरता है (ऋ० १०।१३७।३)"। एक अन्य मन्त्र में वैद्य कह रहा है—"हे रोगी! मैं हवि के द्वारा तुझे जीवन देने के लिए अज्ञात रोग से और राजयक्ष्मा से छुड़ा दूँगा। यदि तुझे गठिया रोग ने जकड़ लिया है, तो उससे भी वायु और अग्नि तुझे छुड़ा देंगे (ऋ० १०।१६१।१)"।

तृतीय राजा के पक्ष में। मैं **जिष्णोः** विजयशील **अश्वस्य** अश्व के समान राष्ट्र-रूप रथ को वहन करने वाले, **वाजिनः** अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त, बलवान् और युद्ध करने में समर्थ, **दधिक्राव्णः** बहुत-से लोगों तथा पदार्थों के धारक विमानादि यानों को चलवाने वाले राजा के **अकारिषम्** राजनियमों का पालन करता हूँ। **सः** वह राजा, सदाचारमार्ग में प्रवृत्त करके **नः** हम प्रजाजनों के **मुखा** मुखों को **सुरभि** यश के सौरभ से युक्त **करत्** करे, और **नः** हम प्रजाजनों की **आयूंषि** आयु के वर्षों को **प्रतारिषत्** बढ़ाये। भाव यह है कि आयुर्वेद के शिक्षण, चिकित्सा के सुप्रबन्ध, कृषि-व्यापार-पशुपालन के उत्कर्ष, हिंसा-उपद्रव आदि

---

१. ऋ० ४।३९।४, य० २३।३२ ऋषिः प्रजापतिः, अ० २०।१३७।३।

के निवारण, शत्रुओं के उच्छेद, इस प्रकार के सब उपायों द्वारा राष्ट्रवासियों को अकाल मृत्यु का ग्रास बनने से बचाये ।।७।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है; तृतीय-चतुर्थ पादों में अन्त्यानुप्रास भी है। दधिक्रावा, अश्व और वाजी इन सबके अश्ववाचक होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, किन्तु यौगिक अर्थ करने से पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ।।७।।

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति, अग्निहोत्र और राजनियमों के पालन द्वारा हमें यशःसौरभ और दीर्घायुष्य प्राप्त करना चाहिए ।।७।।

महीधर ने इस मन्त्र पर यजुर्वेदभाष्य में कात्यायन श्रौतसूत्र की अश्वमेधविधि का अनुसरण करते हुए यह लिखा है कि घोड़े के पास सोयी हुई यजमान की प्रथम परिणीत पत्नी महिषी को वहाँ से उठाकर अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता नामक ऋत्विज् इस मन्त्र को पढ़ें। साथ ही 'सुरभि नो मुखा करत्' की व्याख्या में लिखा है कि अश्लील भाषण से दुर्गन्ध को प्राप्त हुए मुखों को यज्ञ सुगन्धित कर दे। यह सब प्रलापमात्र है। कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा जो पहले तो अश्लील भाषण करके मुखों को दुर्गन्धयुक्त करे और फिर उसकी शुद्धि का उपाय खोजे ? 'कीचड़ लगाकर फिर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ को हाथ न लगाना ही अधिक अच्छा है' इस नीति का अनुसरण क्यों न किया जाये ?

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, सूर्य, राजा आदि की महिमा वर्णित है।

३५९. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ।।८।।[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **पुराम्** मन में दृढ़ हुई तमोगुण की नगरियों का **भिन्दुः** विदारक, **युवा** नित्य युवा रहने वाला अर्थात् अजर-अमर, **कविः** वेदकाव्य का कवि, अथवा क्रान्तदर्शी, **अमितौजाः** अपरिमित तेज वाला, **वज्री** न्याय-दण्ड को धारण करने वाला, **पुरुष्टुतः** बहुस्तुत **इन्द्रः** ब्रह्माण्ड का सम्राट् परमात्मा **विश्वस्य कर्मणः** सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के भ्रमण, ऋतु-निर्माण, नदी-प्रवाह, वर्षा, पाप-पुण्य का फल-प्रदान आदि सब कर्मों का **धर्ता** नियामक **अजायत** बना हुआ है ।।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। **पुराम्** शत्रु की नगरियों या किलेबन्दियों का **भिन्दुः** तोड़ने वाला, **युवा** तरुण, **कविः** राजनीतिशास्त्र का पण्डित व दूरदर्शी, **अमितौजाः** अपरिमित पराक्रम वाला, **वज्री** विविध शस्त्रास्त्रों का संग्रहकर्ता और उनके प्रयोग में कुशल, **पुरुष्टुतः** अनेकों प्रजाजनों से प्रशंसित **इन्द्रः** शूरवीर राजा वा सेनापति **विश्वस्य कर्मणः** सब राजकाज वा सेनासंगठन-कार्य का **धर्ता** भार उठाने वाला **अजायत** होता है।

तृतीय सूर्य के पक्ष में। **पुराम्** अन्धकार, बादल, बर्फ आदि नगरियों का **भिन्दुः** विदारणकर्ता, **युवा** पदार्थों को मिलाने और अलग करने वाला, **कविः** अपनी धुरी पर घूमने वाला, अथवा पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को अपने चारों ओर घुमाने वाला, **अमितौजाः** अपरिमित बल और प्रकाश वाला, **वज्री** किरणरूप वज्र वाला, **पुरुष्टुतः** बहुत-से खगोलज्योतिष को जानने वाले विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा वर्णन किया गया **इन्द्रः** सूर्य **विश्वस्य कर्मणः** सौरमण्डल में दिखायी देने वाले सब प्राकृतिक कर्मों का **धर्ता** धारक **अजायत** बना हुआ है ।।८।।

---

१. ऋ० १।११।४, साम० १२५०।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।८।।

भावार्थ—जैसे राष्ट्र का राजा सब राज्यकार्य का और सेनापति सेना के संगठनकार्य का नेता होता है, अथवा जैसे सूर्य सौरमण्डल का धारणकर्ता है, वैसे ही विविध लोक-लोकान्तरों के समष्टिरूप इस महान् ब्रह्माण्ड में विद्यमान सम्पूर्ण व्यवस्था का करने वाला राजाधिराज परमेश्वर है, यह सबको जानना चाहिए ।।८।।

इस दशति में इन्द्र की महिमा का वर्णन होने, उसके प्रति आत्मसमर्पण आदि की प्रेरणा होने तथा इन्द्र नाम से राजा, सेनापति, आचार्य आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
चतुर्थ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।।

।।८।। अथ 'प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३, ५ प्रियमेधः; २, १० वामदेवः; ४ मधुच्छन्दाः; ६ भरद्वाजः; ७ अत्रिः; ८ प्रस्कण्वः; ९ आप्त्यस्त्रितः ।। देवता—१-७ इन्द्रः; ८ उषाः; ९ विश्वे देवाः; १० ऋक्सामौ ।। छन्दः—अनुष्टुप् ।। स्वरः—गान्धारः ।।

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि स्तुति किया हुआ परमेश्वर क्या करता है ।

१२ ३ २३१२ ३१२ ३१ २
३६०. प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे ।
३ १ २ ३१२ ३२३ १ २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ।।१।।[1]

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम लोग **वन्दद्वीराय** वीरजनों से वन्दित **इन्दवे** तेजस्वी, स्नेह की वर्षा करने वाले और चन्द्रमा के समान आह्लादकारी इन्द्र परमात्मा के लिए **त्रिष्टुभम्** आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों सुखों को स्थिर कराने वाली अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीन से स्थिर होने वाली **इषम्** प्रीति और श्रद्धा को **प्र प्र** प्रकृष्टरूप से समर्पित करो, समर्पित करो । प्रीति और श्रद्धा से पूजित वह **मेधसातये** योगयज्ञ की पूर्णता के लिए **पुरन्ध्या** पूर्णता प्रदान करने वाली **धिया** ऋतम्भरा प्रज्ञा से **आ विवासति** सत्कृत अर्थात् संयुक्त करता है ।।१।।

भावार्थ—वीरजन भी अपनी विजय का कारण परमात्मा को ही मानते हुए जिस परमात्मा की बार-बार वन्दना करते हैं, उसकी सभी लोग प्रीति और श्रद्धा के साथ वन्दना क्यों न करें ।।१।।

अगले मन्त्र में इन्द्र के सहयोगियों के विषय में कहा गया है ।

३ १२ ३२३ २३२ ३२३१२
३६१. कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति ।
२ ३ २ ३१ २ ३२३१र २र ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ।।२।।

पदार्थ—**प्रथम** ब्रह्माण्ड के पक्ष में । विद्वान् लोग **यौ** जिन अग्नितत्त्व और सोमतत्त्व को **स्वर्विदः** प्रकाश वा आनन्द को प्राप्त कराने वाले **कश्यपस्य** सर्वद्रष्टा इन्द्र जगदीश्वर के **सयुजौ इति** सहयोगी **आहुः**

१. ऋ० ८।६९।१ 'वन्दद्' इत्यत्र 'मन्दद्' इति पाठः ।

कहते हैं, और **ययोः** जिनके **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम् आहुः** यज्ञरूप कहते हैं **तौ** उन अग्नि-तत्त्व और सोमतत्त्व को **निचाय्य** जानकर, हे मनुष्यो ! तुम **धीराः** पण्डित बनो ।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र होने से 'कश्यप' यहाँ इन्द्र का नाम है। वेद में उस इन्द्र के प्रधान सहचारी अग्नि और सोम हैं, क्योंकि अग्नि और सोम के साथ बहुत-से स्थलों में उसका वर्णन मिलता है। जैसे 'इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ऋ० १।२१।६', 'इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् ऋ० ७।९३।१ में अग्नि इन्द्र का सहचारी है और 'इन्द्रासोमा युवमस्माँ अविष्टम् ऋ० २।३०।६, 'इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् अथ० ८।४।१' में सोम इन्द्र का सहचारी है। एक मन्त्र में इन्द्र, अग्नि और सोम तीनों एक साथ मिलते हैं—'यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत' अथ० ६।५८।३ । निरुक्त में भी इन्द्र के सहचारी देवों में सर्वप्रथम अग्नि और सोम ही परिगणित हैं (निरु० ७।१०) । यह जगत् अग्नि और सोम से (आग्नेय तत्त्व और सौम्य तत्त्व) से ही बना है। वे ही प्रश्नोपनिषद् में रयि और प्राण नाम से वर्णित किये गये हैं। वहाँ कहा गया है कि कबन्धी कात्यायन ने भगवान् पिप्पलाद के पास जाकर प्रश्न किया कि भगवन्, ये प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न हो गई हैं ? उसे उन्होंने उत्तर दिया कि प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की कामना से तप किया और तप करके रयि और प्राण के जोड़े को पैदा किया, इस विचार से कि ये दोनों मिलकर बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न कर देंगे। वहीं पर प्राण और रयि को सूर्य-चन्द्र, उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्ल-कृष्ण पक्ष तथा अहोरात्र के रूप में वर्णित किया है। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है कि सूर्य आग्नेय है, चन्द्रमा सौम्य है; दिन आग्नेय है, रात्रि सौम्य है; शुक्लपक्ष आग्नेय है, कृष्णपक्ष सौम्य है (श० १।६।३।२४)। ये ही अग्नि-सोम इन्द्र के सहचररूप में प्रस्तुत मन्त्र में अभिप्रेत हैं, ऐसा समझना चाहिए। इन्द्र परमेश्वर इन्हीं के माध्यम से जगत् को उत्पन्न करता है और उसका संचालन करता है। इनका सब कर्म यज्ञरूप है, यह भी मन्त्र में कहा गया है। अन्यत्र भी वेद अग्नि और सोम की महिमा वर्णित करते हुए कहता है—हे शुभकर्मों वाले अग्नि और सोम, तुम दोनों ने आकाश में चमकीले पिण्डों को धारण किया है, तुम ही पर्वतों पर बर्फ जम जाने से रुकी हुई नदियों को बहाते हो। हे अग्नि और सोम, तुम दोनों ब्रह्म से वृद्धि पाकर यज्ञ के लिए विशाल लोक को उत्पन्न करते हो (ऋ० १।९३।५, ६)। जो लोग इन्द्र के सहचारी इन अग्नि और सोम का यह वेदप्रतिपादित महत्त्व जान लेते हैं, वे ही पण्डित हैं।

द्वितीय शरीर के पक्ष में। विद्वान् लोग **यौ** जिन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपानरूप अग्नि-सोम को **स्वर्विदः** विवेक-प्रकाश तथा आनन्द प्राप्त करने वाले **कश्यपस्य** ज्ञान के द्रष्टा जीवात्मारूप इन्द्र के **सयुजौ** सहयोगी **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपान के **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम्** ज्ञान-यज्ञ अथवा शरीरसंचालन-यज्ञ कहते हैं, [तौ] उन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपान को **निचाय्य** भलीभाँति जानकर, प्रयुक्त करके और सबल बनाकर, हे मनुष्यो, तुम **धीराः** ज्ञानबोध से युक्त अथवा शरीर-धारण में समर्थ होवो। अभिप्राय यह है कि बुद्धि और मन का सम्यक् उपयोग करके ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ज्ञान एकत्र करने में समर्थ होवो और प्राणायाम से प्राणापानों को वश करके शरीर-धारण में समर्थ होवो ॥

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। राजनीतिज्ञ लोग **यौ** जिन सेनाध्यक्ष और राज्यमन्त्री रूप अग्नि और सोम को **स्वर्विदः** प्रजाओं को सुख पहुँचाने वाले, **कश्यपस्य** राजपुरुषों के कार्य और प्रजा के सुख-दुःख के द्रष्टा राजा के **सयुजौ** सहायक **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन सेनाध्यक्ष तथा राजमन्त्री के **विश्वम् अपि**

सारे ही **व्रतम्** राज्यसंचालनरूप तथा शत्रुनिवारणरूप कर्म को **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञ का पूर्तिरूप **आहुः** कहते हैं, उनका **निचाय्य** सत्कार करके, हे प्रजाजनो, तुम **धीराः** धृत राष्ट्र वाले होवो।

चतुर्थ आदित्य और अहोरात्र के पक्ष में। विद्वान् लोग **यौ** जिन दिन-रात्रिरूप अग्नि और सोम को **स्वर्विदः** प्रकाश प्राप्त कराने वाले **कश्यपस्य** पदार्थों का दर्शन कराने वाले अथवा गतिमय पृथिव्यादि लोकों के रक्षक आदित्य के **सयुजौ** सहयोगी **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन दिन-रात्रि के **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम्** यज्ञात्मक अर्थात् परोपकारात्मक **आहुः** बताते हैं [तौ] उन दिन-रात्रि को **निचाय्य** जानकर, हे मनुष्यो! तुम भी **धीराः** परोपकार-बुद्धि से युक्त होवो ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ—परमेश्वर के सहचर अग्नितत्त्व और सोमतत्त्व को, जीवात्मा के सहचर मन और बुद्धि अथवा प्राण और अपान को, राजा के सहचर सेनाधीश और अमात्य को तथा सूर्य के सहचर दिन और रात्रि को भलीभाँति जानकर उनसे यथोचित लाभ सबको प्राप्त करने चाहिएँ ।।२।।

अगले मन्त्र में मनुष्यों को इन्द्र की अर्चनार्थ प्रेरित किया गया है।

३६२. अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **नरः** नेतृत्वशक्ति से युक्त स्त्री-पुरुषो! तुम **अर्चत** पूजा करो। हे **प्रियमेधासः** बुद्धि-प्रेमी जनो! **अर्चत** पूजा करो। **पुत्रकाः उत** तुम्हारे पुत्र-पुत्री भी **अर्चन्तु** पूजा करें। **पुरम् इत्** पूर्ति ही करने वाले, **धृष्णु** अन्तःशत्रुओं तथा विघ्नों के धर्षणकर्ता इन्द्र जगदीश्वर की **अर्चत** पूजा करो ।।३।।

इस मन्त्र में 'अर्चत' की पुनरुक्ति अधिकता, निरन्तरता तथा अवश्यकर्तव्यता को द्योतित करने के लिए है ।।३।।

भावार्थ—सब स्त्रीपुरुषों को चाहिए कि अपने पुत्र-पुत्री आदि परिवार सहित प्रातः-सायं नियम से परमेश्वर की पूजा किया करें। पूजा किया हुआ परमेश्वर पूजकों के मार्ग में आये शत्रुओं तथा विघ्नों को हटाकर उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भरपूर करता है ।।३।।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि किस प्रयोजन से कैसा स्तोत्र इन्द्र के लिए उच्चारण करना चाहिए।

३६३. उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ।।४।।[2]

पदार्थ—हमें पुत्र, स्त्री, मित्र आदियों सहित **पुरुनिष्षिधे** बहुतों को पाप-पंक से अथवा संकट से उबारने वाले **इन्द्राय** परम उपदेशक परमात्मा के लिए, ऐसा **उक्थम्** स्तोत्र **शंस्यम्** गान करना चाहिए, जो **वर्धनम्** हम स्तोताओं को बढ़ाने वाला हो, **यथा** जिससे **शक्रः** वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा **नः** हम स्तोताओं के **सुतेषु** पुत्रों को **सख्येषु च** और सखाओं को **रारणत्** अतिशय पुनः-पुनः प्रेरणात्मक उपदेश देता रहे ।।४।।

१. ऋ० ८।६९।८, अथ० २०।९२।५ उभयत्र 'नरः' इति नास्ति, 'पुरमित्' इत्यत्र च 'पुरं न' इति पाठः।
२. ऋ० १।१०।५।

भावार्थ—स्तुति किया हुआ परमेश्वर स्तोताजनों को और उनके स्तोता पुत्र, मित्र आदि को पुरुषार्थ आदि की शुभ प्रेरणा और सदुपदेश देकर उनकी उन्नति करता है ॥४॥

अगले मन्त्र में बलाधिपति परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है।

३६४. विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥५॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे इन्द्र जगदीश्वर! **विश्वानरस्य** सब जगत् के संचालक **अनानतस्य** कहीं भी न झुकने वाले अर्थात् पराजित न होने वाले **शवसः** बल के **पतिम्** अधीश्वर **वः** आपको **चर्षणीनाम्** मनुष्यों की **एवैः** सत्कामनाओं की पूर्तियों के लिए, और **रथानाम्** उनके शरीररूप रथों को **ऊती** लक्ष्य के प्रति प्रेरित करने तथा रक्षित करने के लिए, मैं **हुवे** पुकारता हूँ ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे राजन्! **विश्वानरस्य** सबसे आगे जाने वाली, **अनानतस्य** शत्रुओं के आगे न झुकने वाली अर्थात् उनसे पराजित न होने वाली **शवसः** सेना के **पतिम्** स्वामी **वः** आपको **चर्षणीनाम्** प्रजाजनों की **एवैः** महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रारब्ध कार्यों की पूर्ति के लिए, और **रथानाम्** विमानादि यानों को **ऊती** चलाने के लिए **हुवे** पुकारता हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जगदीश्वर ही जीवात्माओं को उनकी जीवनयात्रा के लिए कर्मानुसार उत्कृष्ट मानव-शरीररूप रथ प्रदान करता है। वैसे ही राजा राष्ट्र में प्रजाजनों की शीघ्र यात्रा के लिए विमानादि रथों का निर्माण कराये ॥५॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमेश्वर के ध्यान से क्या फल होता है।

३६५. स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तस्य शमतः।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥६॥[2]

पदार्थ—हे परम धीमान् इन्द्र परमेश्वर! **यः नरः** जो मनुष्य **मर्तस्य** मारने वाले, **शमतः** लौकिक शान्ति को तथा मोक्षरूप परमशान्ति को देने वाले, **दिवः** कमनीय **ते** आपके **धिया** ध्यान में मग्न होता है, **सः** वह, **सः घ** निश्चय से वही, **बृहतः** महान्, **दिवः** ज्योतिर्मय आपकी **ऊती** रक्षा से **अंहः न** पाप के समान **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को भी **तरति** पार कर लेता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य मरणधर्मा होने से 'मर्त्त' कहलाता है, वैसे ही जगदीश्वर मारने वाला होने से 'मर्त्त' है। वेद में कहा भी है—"जो मारता है, जो जिलाता है (अथ० १३।३।३)"। मारने वाला होने से उसके नाम मर्त्त, मृत्यु, शर्व और यम हैं, जन्म देने और प्राण प्रदान करने के कारण वह भव, जनिता, प्राण आदि कहाता है। उसके ध्यान से बल पाकर मनुष्य सब विघ्नों और समस्त शत्रुओं को पार कर सकता है ॥६॥

---

१. ऋ० ८।६८।४।

२. ऋ० ६।२।४, देवता अग्निः। "ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्तः शशमते। ऊती ष" इति पाठः।

अगले मन्त्र में इन्द्र से याचना की गयी है।

३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
३६६. विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
१ २ ३ २ १
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत ज्ञानी तथा बहुत-से कर्मों को करने वाले **इन्द्र** विश्वम्भर परमात्मन्! **विभोः ते** व्यापक आपके **राधसः** शम, दम, न्याय, सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक और चाँदी, सोना, हीरा, मोती, मणि, माणिक्य, विद्या, आरोग्य, यश, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक धन की **रातिः** देन **विभ्वी** बड़ी व्यापक है। **अथ** इस कारण, हे **विश्वचर्षणे** विश्वद्रष्टा! हे **सुदत्र** शुभ दानी जगदीश्वर! आप **नः** हमारे लिए **द्युम्नम्** आत्मिक तेज, भौतिक धन और उससे उत्पन्न होने वाले यश को **मंहय** प्रदान कीजिए॥

इस मन्त्र की राजा तथा आचार्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। व्यापक धन वाले राजा का धनदान व्यापक होता है, और व्यापक विद्या वाले आचार्य का विद्यादान व्यापक होता है। राजा गुप्तचर रूपी आँखों से सकलद्रष्टा होता है, और आचार्य अपने ज्ञान के बल से सकलद्रष्टा होता है॥७॥

इस मन्त्र में 'विभु परमात्मा की देन भी विभु है' इसमें समालंकार व्यङ्ग्य है, क्योंकि समालंकार वहाँ होता है जहाँ अनुरूप वस्तुओं के मिलन की प्रशंसा होती है॥७॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर, राजा और आचार्य धन, विद्या, तेज, यश आदि की प्रचुर वर्षा करते हैं, वे हमारे लिए भी इनकी धारा को प्रवाहित करें॥७॥

अगले मन्त्र का देवता उषा है। इसमें यह वर्णित है कि प्राकृतिक उषा के समान आध्यात्मिक उषा के प्रादुर्भाव होने पर कौन क्या करते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
३६७. वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि।
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥८॥[2]

जैसे प्रभात में सूर्योदय से पूर्व प्राची दिशा के आकाश में उषा प्रकाशित होती है, वैसे ही अध्यात्म-साधना में तत्पर योगियों के हृदयाकाश में परमात्मारूप सूर्य के उदय से पूर्व उसके आविर्भाव की द्योतक आत्मप्रभारूप उषा खिलती है; उसी को यहाँ उषा नाम से कहा गया है।

पदार्थ—हे **अर्जुनि** जनमानस में प्रकट होती हुई शुभ्र, सत्त्वगुणप्रधान अध्यात्म-प्रभा! **दिवः** आत्मलोक के **अन्तेभ्यः परि** प्रान्तों से **ते** तेरे **ऋतून् अनु** आगमनों पर **पतत्रिणः वयः चित्** पंखों वाले पक्षियों के समान **पतत्रिणः** उत्क्रमणशील, अर्थात् मूलाधार आदि निचले-निचले चक्रों से ऊपर-ऊपर के चक्रों में प्राण के उत्क्रमण के लिए प्रयत्न करने वाले योगीजन, और **द्विपात्** अपरा और परा विद्या रूप दो प्राप्तव्य पदार्थों वाले, अथवा ज्ञान और कर्म रूप दो गन्तव्य मार्गों वाले, अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस रूप दो गन्तव्य मार्गों वाले, और **चतुष्पात्** मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार इन अन्तःकरणचतुष्टयरूप साधनों वाले, अथवा क्रमशः सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य विषयों वाली मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा ये चार वृत्तियाँ जिनके

१. ऋ० ५।३८।१ 'विभोष्ट', 'अथा', 'द्युम्नं', 'सुदत्र', इत्यत्र क्रमेण 'उरोष्ट', 'अधा', 'द्युम्ना', 'सुक्षत्र' इति पाठः।
२. ऋ० १।४९।३।

चित्तप्रसादन के उपाय हैं वे, अथवा बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्ति-बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी ये चार प्राणायाम जिनके प्रकाशावरणक्षय के उपाय हैं वे, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थों वाले मनुष्य **प्रारन्** प्रगति में तत्पर हो जाते हैं ।।८।।

इस मन्त्र में 'वयः चित् पतत्रिणः' में श्लिष्टोपमालंकार है ।।८।।

भावार्थ—जैसे प्रभातकालीन प्राकृतिक उषा के खिलने पर पंखयुक्त पक्षी, दोपाये मनुष्य और चौपाये पशु नींद छोड़कर सचेष्ट और प्रयत्नशील होते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक उषा के प्रकट होने पर योगमार्ग में प्रवृत्त, आगे-आगे उत्क्रान्ति करने वाले, दो साधनों या चार साधनों वाले योगीजन अपने हृदय में और जन-मानस में अध्यात्म-सूर्य के उदय के लिए सचेष्ट हो जाते हैं ।।८।।

अगले मन्त्र के देवता 'विश्वेदेवाः' हैं। इसमें देवों के विषय में तीन प्रश्न उठाये गये हैं।

३६८. अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः ।
कद्ध ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः ।।९।।[1]

पदार्थ—हे **देवाः** अपने-अपने विषय के प्रकाशक ज्ञानेन्द्रियरूप देवो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** उर्ध्वस्थान सिर के **मध्ये** अन्दर **रोचने** रोचमान अपने-अपने गोलक में **आ स्थन** आकर स्थित हुए हो, अथवा, हे **देवाः** प्रकाशक सूर्यकिरणो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** द्युलोक के **मध्ये** बीच **रोचने** दीप्तिमान् सूर्य में **आ स्थन** आकर स्थित हो, अथवा, हे **देवाः** ज्ञान के प्रकाश से युक्त तथा ज्ञान के प्रकाशक विद्वानो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** कीर्ति से प्रकाशित राष्ट्र के **मध्ये** अन्दर **रोचने** यशस्वी पद पर **आ स्थन** नियुक्त हुए हो, उन तुमसे पूछता हूँ कि **कत्** क्या **वः** तुम्हारा **ऋतम्** सत्य है, **कत्** क्या **अमृतम्** अमरतत्त्व है, **का** और क्या **वः** तुम्हारी **प्रत्ना** पुरातन **आहुतिः** होमक्रिया है ? ।।९।।

भावार्थ—यहाँ उत्तर दिये बिना ही केवल प्रश्न करके जिज्ञासा उत्पन्न की गयी है कि इन प्रश्नों के उत्तर अपनी प्रतिभा से स्वयं दो। इन प्रश्नों के उत्तर ये हो सकते हैं। सिर में जो ज्ञानेन्द्रियरूप देव स्थित हैं उनका ऋत है जीवात्मा में सत्यज्ञान को पहुँचाना; उनका अमृत है वास्तविक इन्द्रियतत्त्व, जो देह के साथ इन्द्रिय-गोलकों के विनष्ट हो जाने पर भी मरता नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहता है; उनकी सनातन आहुति है शरीररक्षारूप यज्ञ में तथा ज्ञानप्रदानरूप यज्ञ में अपना होम करना। इसी प्रकार द्युलोकस्थ सूर्य में जो किरण-रूप देव स्थित हैं, उनका ऋत है वह सत्यनियम जिसके अनुसार प्रतिदिन सूर्योदय के साथ वे आकाश और भूमण्डल में व्याप्त होते हैं; उनका अमृत है शुद्ध मेघ-जल, जिसे वे समुद्र आदि से भाप बनाकर ऊपर ले जाते हैं; उनकी सनातन आहुति है मेघजल का पार्थिव अग्नि में होम करना, जिससे पृथिवी पर ओषधि, वनस्पति आदि उगती हैं और प्राणी जीवन धारण करते हैं, अथवा सब ग्रहोपग्रहों में अपना होम करना, जिससे पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में जो विद्या दान करने वाले विद्वान् लोग हैं उनका ऋत है वह सत्यनिष्ठा जिसका अनुसरण कर वे विद्यादान में दत्तचित्त होते हैं; उनका अमृत है वह ज्ञान जिसे वे सत्पात्रों को देते हैं; उनकी सनातन आहुति है अध्ययन-अध्यापन रूप यज्ञ में अपना होम करना, इत्यादि सुधी जनो को स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिए ।।९।।

१. १।१०५।५ ऋषिः त्रित आप्त्यः कुत्स आङ्गिरसो वा। 'अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वारोचने दिवः। कद्व ऋतं कदमृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी ।।' इति पाठः।

विवरणकार माधव ने यह देखकर कि इस ऋचा का ऋषि आप्त का पुत्र त्रित है और देवता 'विश्वेदेवाः' हैं, इस पर निम्नलिखित इतिहास लिखा है—"आप्त ऋषि के तीन पुत्र थे, एकत, द्वित और त्रित। उन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से यजमानों से गौएँ माँगीं और पा लीं। उन्हें लेकर वे घर चल पड़े। जब वे सरस्वती नदी के किनारे-किनारे जा रहे थे तब परले पार बैठे गवादक ने उन्हें देख लिया। वह उठा और सरस्वती के जलों को पार करके रात में उसने उनको डराया। जब वे डरकर भागे तब उनमें से त्रित घास-फूस और लताओं से ढके हुए एक निर्जल कुएँ में गिर पड़ा। कुएँ में गिरने का कारण अन्य कुछ लोग यह बताते हैं कि एकत और द्वित को कम गौएँ मिली थीं, त्रित को बहुत सारी मिल गयी थीं, इसलिए जान-बूझकर उन्होंने त्रित को कुएँ में धकेल दिया था। वहीं उसके मन में आया कि मैंने यज्ञ का संकल्प किया था, अब यदि बिना यज्ञ किये ही मर जाता हूँ तो मेरा कल्याण नहीं होगा, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि यहाँ कुएँ में पड़ा-पड़ा ही मैं सोम-पान कर लूँ। वह यह विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् ही उसने उसी कुएँ में एक लता उतरी हुई देखी। उसने उसे लेकर और यह सोम ही है ऐसा मन में निश्चय करके अन्य भी यज्ञ-साधनों का मन में संकल्प करके बजरी को सोम कूटने के सिल-बट्टे बनाकर उस लता को अभिषुत किया और अभिषुत करके देवों को पुकारा। पुकारे गये देवों को पुकारे जाने का कारण समझ में न आया, अतः वे आविग्न हो उठे। बृहस्पति ने भी पुकार को सुना और सुनकर वह देवों से बोला कि त्रित का यज्ञ है, वहाँ चलते हैं। तब वे सब देव वहाँ आये। उन्हें आया देखकर कुएँ से उद्धार की इच्छा वाले त्रित ने उनकी स्तुति की और उन्हें उपालम्भ दिया कि तुम्हारा सत्यासत्य का विवेक नष्ट हो गया है, तुम बड़े अकृतज्ञ हो कि मुझे इस कुएँ से बाहर नहीं निकालते हो। त्रित का उपालम्भ ही प्रस्तुत ऋचा में प्रकट किया गया है, इत्यादि।" यह सब कल्पना-कला का विलास है, वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं है, यह सुधी जन स्वयं ही समझ लें।

अगले मन्त्र का देवता 'ऋक्सामौ' है, इसमें ऋक् और साम के अध्ययन का विषय है।

३६९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥१०॥[1]

पदार्थ—हम **ऋचम्** ऋग्वेद का, और **साम** सामवेद का **यजामहे** अर्थज्ञानपूर्वक तथा गीतिज्ञान-पूर्वक अध्ययन करते हैं, और अध्यापन कराते हैं, **याभ्याम्** जिनसे अर्थात् जिनका अध्ययन-अध्यापन करके **कर्माणि** तदुक्त कर्मों को वेदपाठी लोग **कृण्वते** करते हैं। **ते** वे ऋग्वेद और सामवेद **सदसि** निवासगृह तथा सभागृह में **राजतः** शोभा पाते हैं, क्योंकि वहाँ उनका पाठ और गान किया जाता है। और वे **देवेषु** विद्वानों में **यज्ञम्** यज्ञ-भावना को **वक्षतः** प्राप्त कराते हैं ॥१०॥

भावार्थ—हमें चाहिए कि ऋग्वेद, सामवेद, सामयोनि ऋचा, ऋचा पर किया जाने वाला साम-गान यह सब योग्य गुरुओं से अर्थज्ञानपूर्वक पढ़कर घर में, सभा में और विभिन्न समारोहों के अवसरों पर सस्वर वेदपाठ और सामगान किया करें ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से और कश्यप नाम से इन्द्र का स्मरण करने से, उसकी अर्चनार्थ प्रेरणा होने से, उसके ध्यान का फल प्रतिपादित होने से, उसके दान की याचना होने से, दिव्य उषा का प्रभाव

१. अथ० ७।५४।१ ऋषिः ब्रह्मा, देवते ऋक्साम्नी। 'कृण्वते', 'वि ते' 'वक्षतः' इत्यत्र क्रमेण 'कुर्वते', 'एते', 'यच्छतः' इति पाठः।

वर्णित होने से और ऋक् तथा साम के अध्ययन का संकल्प वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व-दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
चतुर्थ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

॥६॥ अथ 'विश्वाः पृतना' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ रेभः; २ सुवेदाः शैलूषिः; ३ वामदेवः; ४, ७, ८ सव्य आङ्गिरसः, ५ विश्वामित्रः; ६ कृष्ण आङ्गिरसः; ९ भरद्वाजः; १० मेधातिथिः, ११ कुत्सः ॥ देवता—१-८, १०, ११ इन्द्रः; ९ द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—१-९, ११ जगती, १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णित है कि कैसे परमेश्वर और वीरपुरुष को लोग सम्राट् बनाते हैं ।

२ ३ १२ ३१२३ १२ ३१ २ ३१२ ३१ २ ३१२
३७०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
२ ३ १२ ३२ ३१२३१र २र ३१२ २ १२
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥[1]

पदार्थ—विश्वाः सब **पृतनाः** शत्रुसेनाओं को **अभिभूतरम्** अतिशय पराजित करने वाले, **वरे** उत्कृष्ट **स्थेमनि** स्थिरता में विद्यमान, **आ मुरीम्** चारों ओर प्रलयकर्ता अथवा विपदाओं के संहारक **उत** और **उग्रम्** प्रचण्ड, **ओजिष्ठम्** सबसे बढ़कर ओजस्वी, **तरसम्** तरने और तराने में समर्थ, **तरस्विनम्** अति बलवान् **इन्द्रम्** परमेश्वर वा वीरपुरुष को **नरः** प्रभुभक्त व राजभक्त लोग **सजूः** इकट्ठे मिलकर **ततक्षुः** स्तुतियों व उत्साह-वचनों से तीक्ष्ण करते हैं **च** और **राजसे** हृदय-साम्राज्य में वा राष्ट्र में राज्य करने के लिए और **क्रत्वे** कर्मयोग की प्रेरणा देने के लिए अथवा कर्म करने के लिए **जजनुः** सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'तरसं, तरस्विनम्' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, दुःख, दौर्मनस्य आदि की सेनाओं के पराजेता, अविचल, प्रलयकर्ता, अति ओजस्वी, तारक, बलिष्ठ परमात्मा को उपासकजन अपना हृदय-सम्राट् बनाते हैं, वैसे ही प्रजाजन शत्रुविजयी, दृढ़संकल्पवान्, विपत्तिविदारक, संकटों से तरने-तराने में समर्थ शूरवीर मनुष्य को उत्साहित करके राजा के पद पर अभिषिक्त करें ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर की महिमा का गान किया गया है ।

१२ ३१२३२उ ३ २उ ३ १र ३२३२
३७१. श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन् यद् दस्युं नर्यं विवेरपः ।
३२उ ३ १२३ १२३२३ १२३ १ २ ३१२
उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसाते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः ॥२॥[2]

---

१. ऋ० ८।९७।१०, अथ० २०।५४।१ उभयत्र 'नरः' इत्यत्र 'नरं', उत्तरार्धे च 'क्रत्वावरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्' इति पाठः । साम० ९३० ।

२. ऋ० १०।१४७।१, ऋषिः सुवेदाः शैरीषिः । 'दस्युं' इत्यत्र 'वृत्रं', उत्तरार्धे च 'उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनु रेजते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः' इति पाठः ।

पदार्थ—हे इन्द्र जगदीश्वर ! मैं **ते** तेरे **प्रथमाय** सर्वोत्कृष्ट **मन्यवे** तेज के प्रति **श्रत् दधामि** श्रद्धा करता हूँ, **यत्** क्योंकि, तू **दस्युम्** यज्ञादि कर्मों के विध्वंसक दुर्भिक्ष को अथवा रात्रि के अन्धकार को **अहन्** नष्ट करता है, **नर्यम्** मनुष्यों के हितकर रूप में **अपः** मेघ-जलों को **विवेः** भूमि पर बरसाता है, और **यत्** क्योंकि **उभे रोदसी** द्युलोक और पृथिवी-लोक दोनों **त्वा** तेरे **अनु धावताम्** पीछे-पीछे दौड़ते हैं । हे **अद्रिवः** प्रतापरूप वज्रवाले ! तेरे **शुष्मात्** बल से **पृथिवी चित्** अन्तरिक्ष भी **भ्यसाते** भय से काँपता है ।।२।।

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अन्धकार का निवारण होना, बादल से वर्षा होना, द्यावा-पृथिवी के मध्य में विद्यमान लोक-लोकान्तरों का नियन्त्रण होना, सूर्य और भूमि का परस्पर सामंजस्य होना इत्यादि जो कुछ भी व्यवस्था जगत् में दिखायी देती है उसका करने वाला जगदीश्वर ही है । इस-लिए हमें उसके प्रताप पर श्रद्धा करनी चाहिए ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है ।

३७२. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन् तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ।।३।।[1]

पदार्थ—हे प्रजाओ ! **विश्वाः** तुम सब **ओजसा** तेज और बल से **दिवः** सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नीहा-रिका आदि सहित समस्त खगोल के **पतिम्** स्वामी इन्द्र जगदीश्वर को **समेत** प्राप्त करो, **यः** जो **एकः इत्** एक ही है, और **जनानाम्** सब स्त्री-पुरुषों का **अतिथिः** अतिथि के समान पूज्य **भूः** है । **पूर्व्यः** पुरातन भी **सः** वह **नूतनम्** नवीन उत्पन्न जड़-चेतन जगत् को **आ जिगीषन्** जीत लेता है, क्योंकि वह पुराणपुरुष सर्वाधिक महिमा वाला है । **तम्** उस जगदीश्वर की ओर **एकः इत्** एक ही **वर्तनीः** मार्ग—अर्थात् अध्यात्ममार्ग, न कि भोगमार्ग **अनु वावृते** जाता है । उसी मार्ग पर चलकर उसे पाया जा सकता है ।।३।।

भावार्थ—अकेला भी परमेश्वर सब लोकों का अधिपति, सबसे अधिक पूज्य और महिमा में सबसे बड़ा है । उसे पाने के लिए एक धर्ममार्ग का ही आश्रय लेना चाहिए ।।३।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर के प्रति उद्गार प्रकट किये गये हैं ।

३७३. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः ।।४।।[2]

पदार्थ—हे **पुरुष्टुत** बहुत यशोगान किये गये अथवा बहुतों से यशोगान किये गये, **प्रभूवसो** समर्थ और निवासक **इन्द्र** जगदीश्वर ! **इमे** ये **ते** वे लब्धप्रतिष्ठ **वयम्** हम उपासक **ते** तुम्हारे हो गये हैं, **ये** जो **त्वा आरभ्य** तुम्हारा आश्रय लेकर **चरामसि** विचर रहे हैं । हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से संभजनीय भगवन् ! **त्वत् अन्यः** तुमसे भिन्न कोई भी **गिरः** हमारी स्तुतिवाणियों का **न हि** नहीं **सघत्** पात्र हो सकता है । **तत्** इस कारण तुम **नः वचः** हमारे स्तुतिवचन की **प्रति हर्य** कामना करो, **क्षोणीः इव** जैसे कोई राजा भूमियों की कामना करता है ।।४।।

---

१. अथ० ७।२१।१, समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् । स पूर्व्यो नूतनमाविवासात् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ।। इति पाठः ।

२. ऋ० १।५७।४, अथ० २०।१५।४ उभयत्र 'प्रति नो हर्य तद् वचः' इति पाठः । अथर्ववेदे ऋषिः गोतमः ।

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'गिर्, गिरः' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जो परमात्मा के साथ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हीं की स्तुतियों को वह सुनता है ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि वह जगदीश्वर और राजा कैसा है, जिसकी हम स्तुति करें।

३७४. चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥[1]

पदार्थ—**चर्षणीधृतम्** मनुष्यों के धारणकर्ता, **मघवानम्** प्रशस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय, **सुवृक्तिभिः** शुभ क्रियाओं से **वावृधानम्** वृद्ध, **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे गये, **अमर्त्यम्** अमर कीर्ति वाले, **दिवेदिवे** प्रतिदिन **जरमाणम्** सत्कर्मकर्ताओं की प्रशंसा करने वाले अथवा सत्कर्मों का उपदेश करने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर वा राजा को **बृहतीः** महान् **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा मेरी अपनी वाणियाँ **अभ्यनूषत** स्तुति अथवा प्रशंसा का विषय बनाती हैं ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है, विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर भी है ॥५॥

भावार्थ—जैसे सब मनुष्यों का धारणकर्ता, शुभकर्मा, अमरकीर्ति, सत्कर्मों का उपदेष्टा परमेश्वर सबसे स्तुति किया जाता है, वैसे ही उन गुणों से युक्त राजा भी प्रजाओं की प्रशंसा का पात्र बनता है ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की स्तुति का विषय है।

३७५. अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥६॥[2]

पदार्थ—**स्वर्युवः** विवेक-प्रकाश की कामना वाली, **सध्रीचीः** मिलकर उद्यम करने वाली, **उशतीः** प्रीतियुक्त **विश्वाः** सब **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **इन्द्रं वः** हृदयसम्राट् आप जगदीश्वर के **अच्छ** अभिमुख होकर **अनूषत** स्तुति कर रही हैं, और वे **ऊतये** रक्षा के लिए **मर्यं न शुन्ध्युम्** अग्नि के समान शोधक, **मघवानम** ऐश्वर्यवान्, ऐश्वर्यप्रदाता आपका **परिष्वजन्त** आलिंगन कर रही हैं, **जनयः** स्त्रियाँ **यथा पतिम्** जैसे पति का आलिंगन करती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि है ॥६॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अग्नि के सदृश हमारे हृदयों का शोधक और सद्विचाररूप ऐश्वर्यों का प्रदाता है, उसके प्रति सबको अपनी मतियाँ सदा प्रवृत्त करनी चाहिएँ ॥६॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि वाणियों द्वारा जगदीश्वर और राजा की सबको अर्चना करनी चाहिए।

३७६. अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्।
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥७॥[3]

---

१. ऋ० ३।५१।१।

२. ऋ० १०।४३।१, अथ० २०।१७।१।

३. ऋ० १।५१।१ 'मानुषं' इत्यत्र 'मानुषा' इति पाठः।

पदार्थ—**त्यम्** उस प्रसिद्ध, **मेषम्** सुखों से सींचने वाले, **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे गये, **ऋग्मियम्** अर्चना के योग्य, **वस्वः अर्णवम्** धन के समुद्र **इन्द्रम्** परमेश्वर वा राजा को **गीर्भिः** वाणियों से **मदत** हर्ष-युक्त करो। **यस्य** जिस परमेश्वर वा राजा की **द्यावः** दीप्तियाँ, तेजस्विताएँ **मानुषम्** मनुष्य का **न विचरन्ति** अपकार नहीं करतीं, उस **मंहिष्ठम्** अतिशय महान् व दाता **विप्रम्** मेधावी विद्वान् परमेश्वर व राजा को **भुजे** अपने पालन के लिए **अर्चत** पूजित वा सत्कृत करो ॥७॥

'वस्वः अर्णवम्' में समुद्रवाची अर्णव पद का लक्षणावृत्ति से निधि लक्ष्यार्थ होता है, निधि न कहकर अर्णव कहने में अतिशय धनवत्त्व व्यङ्ग्य है। इन्द्र में अर्णव का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे सुखवर्षक, ऐश्वर्य का पारावार, सबसे अधिक महान्, सबसे बड़ा दानी, मेधावी परमेश्वर सबसे पूजा करने योग्य है, वैसे ही इन गुणों से युक्त राजा प्रजाजनों से सत्कृत और प्रोत्साहित किये जाने योग्य है ॥७॥

विवरणकार माधव ने इस मन्त्र पर यह इतिहास लिखा है—"अङ्गिरा नामक ऋषि था। उसने इन्द्र को पुत्र रूप में पाने की याचना करते हुए आत्म-ध्यान किया। उसके योगैश्वर्य के बल से उसी ध्यान के फलस्वरूप उसे सव्य नाम से इन्द्र पुत्र रूप में प्राप्त हुआ। उसे इन्द्र मेष का रूप धारण करके हर ले गया। यह कथा देकर वे कहते हैं कि इसी इतिहास को बताने वाली प्रस्तुत ऋचा है, जिसमें मेषरूपधारी इन्द्र की स्तुति की गयी है।" किन्तु यह घटना वास्तविक नहीं है। मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस सव्य है, और मन्त्र में इन्द्र को मेष कहा गया है, यही देखकर उक्त कथा रच ली गयी है।

सायण ने पहले मेष शब्द को तुदादिगण की स्पर्धार्थक मिष धातु से निष्पन्न मानकर 'मेष' का यौगिक अर्थ 'शत्रुओं से स्पर्धा करने वाला' करके भी फिर वैकल्पिक रूप से यह इतिहास भी दे दिया है कि—कण्व का पुत्र मेधातिथि यज्ञ कर रहा था, तब इन्द्र मेष का रूप धरकर आया और उसने उसका सोमरस पी लिया। तब ऋषि ने उसे मेष कहा था, इसलिए अब भी इन्द्र को मेष कहते हैं। यह कथा भी काल्पनिक है, वास्तव में घटित किसी इतिहास का वर्णन इस मन्त्र में नहीं है, यह सुधीजन समझ लें॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर वा राजा की अर्चना का विषय है।

३७७. त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥[1]

पदार्थ—हे सखे! तू **त्यम्** उस प्रसिद्ध, **मेषम्** सुखों से सींचने वाले, **स्वर्विदम्** भूमि पर सूर्य के प्रकाश को अथवा राष्ट्र में बिजली के प्रकाश को प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर वा राजा की **सु महय** भली भाँति पूजा वा सत्कार कर, **यस्य** जिस जगदीश्वर वा राजा की **शतम्** सैंकड़ों जन **साकम्** साथ मिलकर **सुभुवः** उत्तम स्तुतियों को **ईरते** उच्चारण करते हैं। मैं भी **वाजम्** बलवान्, **हवनस्यदम्** आह्वान के प्रति तुरन्त पहुँचने वाले, **अत्यम्** निरन्तर कर्मशील **इन्द्रम्** जगदीश्वर वा राजा को **अवसे** रक्षा के लिए **सुवृक्तिभिः** शुभ स्तुतियों से **ववृत्याम्** अपनी ओर प्रवृत्त करूँ, **न** जैसे **वाजम्** वेगवान् **हवनस्यदम्** विजय-स्पर्धा में ले जाये जाने वाले **अत्यम्** निरन्तर चलने वाले **रथम्** विमानादि यान को **अवसे** देशान्तर में ले जाने के लिए **सुवृक्तिभिः** शोभन क्रियाओं अथवा यन्त्र-कलाओं से, चलने के लिए प्रवृत्त करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमा अलंकार है ॥८॥

---

१. ऋ० १।५२।१ 'सुभुवः', 'रथमिन्द्रं' इत्यत्र क्रमेण 'सुभ्वः', 'रथमेन्द्रं' इति पाठः।

भावार्थ—जैसे देशान्तर में जाने के लिए निरन्तर चल सकने वाले रथ को प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही रक्षा प्राप्त करने के लिए निरन्तर कर्मशील परमेश्वर वा राजा को अपनी ओर प्रवृत्त करना चाहिए ॥८॥

अगले मन्त्र के देवता द्यावापृथिवी हैं। इसमें कैसे द्युलोक और भूलोक किस प्रकार धृत हैं यह वर्णन है।

३७८. घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥९॥[1]

पदार्थ—**घृतवती** दीप्ति वाले और जल वाले, **भुवनानाम्** सब लोकों के **अभिश्रिया** शोभा-जनक, **उर्वी** बहुत-से पदार्थों से युक्त, **पृथ्वी** विस्तीर्ण, **मधुदुघे** मधुर आदि रसों से भरने वाले, **सुपेशसा** उत्कृष्ट सुवर्ण वा उत्कृष्ट रूप-रंग से युक्त, **अजरे** अजीर्ण, अच्छिन्न **भूरिरेतसा** बहुत वीर्य व जल को उत्पन्न करने वाले **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूमिलोक **वरुणस्य** श्रेष्ठ जगदीश्वर, सूर्य वा वायु के **धर्मणा** आकर्षण, धारण आदि गुण से **विष्कभिते** विशेष रूप से धृत हैं ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि भूगोलविद्या और खगोलविद्या को भलीभाँति जानकर सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदियों से तथा पृथिवी से यथायोग्य लाभ प्राप्त करें। वरुण परमेश्वर ही सूर्य, वायु आदि के द्वारा सब लोकों को आकर्षण, धारण आदि से स्थिर किये हुए है, इसलिए उसे भी कभी नहीं भूलना चाहिए ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की महिमा का वर्णन है।

३७९. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१०॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** जगत्पति परमात्मन्! **यत्** जो आप **उषाः इव** प्रभात में खिलने वाली उषा के समान **उभे रोदसी** द्युलोक-भूलोक दोनों को अथवा आत्मा और शरीर दोनों को **आपप्राथ** प्रकाश से पूर्ण कर रहे हो अथवा यश से प्रसिद्ध कर रहे हो, उन **महीनां महान्तम्** महत्त्वशालियों में भी महत्त्वशाली, **चर्षणीनां सम्राजम्** मनुष्यों के सम्राट् **त्वा** आपको **देवी जनित्री** प्रकाशक दिव्य ऋतम्भरा प्रज्ञा **अजीजनत्** योगी के हृदय में प्रकाशित करती है, **भद्रा जनित्री** आविर्भाव करने वाली श्रेष्ठ विवेकख्याति **अजीजनत्** योगसाधक के हृदय में आविर्भूत करती है॥ जनन से यहाँ प्रकाशन और आविर्भाव अभिप्रेत हैं, उत्पत्ति नहीं, क्योंकि परमेश्वर अनादि है॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** राजन्! **यत्** जो आप **उषाः इव** उषा के समान **उभे रोदसी आपप्राथ** भूमि-आकाश दोनों को अपने यश से पूर्ण किये हुए हो, अथवा राष्ट्रवासी स्त्रियों-पुरुषों दोनों को

---

१. ऋ० ६।७०।१, य० ३४।४५।
२. ऋ० १०।१३४।१ ऋषिः मान्धाता यौवनाश्वः। साम० १०९०।

विद्या के प्रकाश से पूर्ण कर रहे हो, उन **महीनां महान्तम्** महत्त्वशालियों में भी महत्त्वशाली, और **चर्षणीनाम् सम्राजम्** प्रजाओं के सम्राट् **त्वा** आपको **देवी जनित्री** दिव्य गुणों वाली माता ने **अजीजनत्** पैदा किया है; **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठ माता ने **अजीजनत्** पैदा किया है; इसी कारण आप इतने गुणी और भद्र हो ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलङ्कार हैं। पुनरुक्ति जननी और जन्य के गौरवाधिक्य को सूचित कर रही है। 'महा, मही' में छेकानुप्रास और 'जनित्र्यजीजनत्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—उषा जैसे भूमि-आकाश को अपने प्रकाश से परिपूर्ण करती है, वैसे जगदीश्वर उन्हें स्वरचित अग्नि, सूर्य, विद्युत्, चन्द्र, नक्षत्र आदियों के प्रकाश से और राजा प्रजारंजन से पैदा की हुई अपनी धवल कीर्ति से परिपूर्ण करता है ॥१०॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य के गुण-कर्मों का वर्णन किया गया है।

३८०. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि ॥११॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे मनुष्यो ! तुम **मन्दिने** आनन्दयुक्त तथा आनन्दप्रदाता इन्द्र जगदीश्वर के लिए **पितुमत्** श्रद्धारूप रस से युक्त **वचः** स्तुतिवचन को **प्र अर्चत** प्रेरित करो, **यः** जो जगदीश्वर **ऋजिश्वना** सीधी जाने वाली किरणों से युक्त सूर्य के द्वारा **कृष्णगर्भाः** अन्धकारपूर्ण रात्रियों को **निरहन्** नष्ट करता है। आओ, **अवस्यवः** रक्षा की कामना वाले हम-तुम **वृषणम्** बादल से वर्षा करने वाले अथवा सुखों के वर्षक, **वज्रदक्षिणम्** न्यायदण्ड जिसके प्रताप को बढ़ाने वाला है ऐसे, **मरुत्वन्तम्** प्रशस्त प्राणों वाले इन्द्र जगदीश्वर को **सख्याय** मित्रता के लिए **हुवेमहि** पुकारें ॥

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में। हे सहपाठियो ! तुम **मन्दिने** आनन्ददाता तथा विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य के लिए **पितुमत्** उत्कृष्ट अन्न सहित **वचः** आदरपूर्ण प्रियवचन **प्र अर्चत** उच्चारण करो, **यः** जो आचार्य **ऋजिश्वना** सरल शिक्षापद्धति से **कृष्णगर्भाः** काला अज्ञान जिनके गर्भ में है ऐसी अविद्या-रात्रियों को **निरहन्** नष्ट करता है। **अवस्यवः** विद्या की तृप्ति को चाहने वाले हम-तुम **वृषणम्** सद्गुणों की वर्षा करने वाले, **वज्रदक्षिणम्** कुपथ से हटाने वाला है विद्यादान जिसका ऐसे, और **मरुत्वन्तम्** विद्या-यज्ञ के ऋत्विज् प्रशस्त विद्वान् अध्यापक जिसके पास हैं ऐसे आचार्य को **सख्याय** मैत्री के लिए **हुवेमहि** स्वीकार करें ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥११॥

भावार्थ—अहो, परमेश्वर हमारे प्रति कैसी मित्रता का निर्वाह करता है ! सर्वत्र व्याप्त हुई रात्रि के अन्धकार को निवारण करने और वर्षा करने में क्या हम जैसों का सामर्थ्य हो सकता है ? वही हमारे उपकार के लिए इस प्रकार के विविध कर्मों को विना हमसे कोई शुल्क लिये कर रहा है। गुरु का भी हमारे प्रति कैसा महान् उपकार है, जो समस्त अविद्या-रात्रि को हटाकर ज्ञान की वर्षा से हमारी अन्तःकरण की भूमि को सरस करता है ! इसलिए परमेश्वर और गुरु का हमें सर्वात्मना पूजन और सत्कार करना चाहिए ॥११॥

इस मन्त्र पर भरतस्वामी ने यह इतिहास लिखा है कि यह गर्भस्राविणी उपनिषद् है। कृष्ण

---

१. ऋ० १।१०१।१, 'हुवेमहि' इत्यत्र 'हवामहे' इति पाठः।

नाम का एक असुर था, उस कृष्ण से गर्भवती हुई उसकी भार्याओं को इन्द्र ने गर्भ नष्ट करने के लिए मार डाला था। ऋजिश्वा नामक राजर्षि कृष्णासुर का शत्रु था, उसके हितार्थ ही इन्द्र ने कृष्णासुर का भी वध कर दिया और उसके पुत्र भी उत्पन्न न हों इस हेतु से उसकी गर्भवती भार्याओं का भी वध कर दिया। सायण ने भी अपने भाष्य में ऐसा ही इतिहास लिखा है। किन्तु यह कल्पना का विलासमात्र है, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। सत्यव्रत सामश्रमी ने सायण की व्याख्या को अरुचिकर मानते हुए टिप्पणी दी है कि—"यहाँ विवरणकार का व्याख्यान अधिक उत्कृष्ट है, जिसने आधिदैविक अर्थ करते हुए लिखा है कि 'कृष्णगर्भाः' का तात्पर्य है काले मेघ में गर्भरूप से रहने वाले जल, जिन्हें इन्द्र उनमें से निकालकर बरसा देता है। 'निरहन्' में हन् धातु अन्तर्णीतण्यर्थ है, जिसका अर्थ निकालना या नीचे गिरा देना है।"

इस दशति में इन्द्र की महिमा वर्णित होने, उसके स्तोत्र गाने के लिए प्रेरणा होने, द्यावापृथिवी के भी उसी के धर्म से धृत होने तथा इन्द्र नाम से राजा के भी कर्तव्य का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥१०॥ अथ 'इन्द्र सुतेषु सोमेषु' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ नारदः; २,३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ४ पर्वतः; ५-७, १० विश्वमना वैयश्वः; ८ नृमेधः; ९ गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है।

३८१. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली दुःखविदारक जगदीश्वर! **सोमेषु** हमारे ज्ञानरस, कर्मरस और श्रद्धारस के **सुतेषु** अभिषुत होने पर, आप **उक्थ्यम्** प्रशंसायोग्य **क्रतुम्** हमारे जीवनयज्ञ को **पुनीषे** पवित्र करते हो। **सः** वह आप **वृधस्य** समृद्ध **दक्षस्य** बल के **विदे** प्राप्त कराने के लिए **महान् हि** निश्चय ही महान् हो ॥१॥

भावार्थ—जो ज्ञानी और कर्मण्य होता हुआ परमेश्वर की उपासना करता है, उसके जीवन को वह कल्मषरहित करके उसे आत्मबल प्रदान करता है ॥१॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा गाने के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

३८२. तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥२॥[2]

---

१. ऋ० ८।१३।१ "इन्द्रः सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीत उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षसो महान् हि षः ॥" इति पाठः। साम० ७४६।

२. ऋ० ८।१५।१, अथ० २०।६१।४; २०।६२।८ सर्वत्र 'तमु अभि' इत्यत्र 'तम्बभि' इति पाठः।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **तम् उ** उसी **पुरुस्तुतम्** बहुत अधिक कीर्तिगान किये गये, **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे गये जगदीश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **प्र गायत** भलीभाँति स्तुतिगीत गाओ। **तविषम्** महान् **इन्द्रम्** उस परमैश्वर्यशाली जगत्पति की **गीर्भिः** वेदवाणियों से **आ विवासत** आराधना करो ।।२।।

भावार्थ—अनेकों ऋषि, महर्षि, राजा आदियों से स्तुति और पूजा किये गये महान् विश्वम्भर की हमें भी क्यों नहीं स्तुति और पूजा करनी चाहिए ? ।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन है।

३८३. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **अद्रिवः** अविनश्वर आत्मा से अनुप्राणित मानव ! **ते** तेरे लिए **तम्** उस प्रसिद्ध, **मदम्** आनन्ददाता, **वृषणम्** अन्न, धन, जल, बल, प्रकाश, विद्या आदि की वर्षा करने वाले, **पृक्षु** आन्तरिक और बाह्य देवासुर-संग्रामों में **सासहिम्** अतिशय रूप से शत्रुओं को परास्त करने वाले, **उ** और **लोककृत्नुम्** पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों के रचयिता अथवा विवेक का आलोक प्रदान करने वाले, **हरिश्रियम्** हरण-शील अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, प्राण, विद्युत् आदियों में शोभा तथा क्रियाशक्ति को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर का, हम **गृणीमसि** उपदेश करते हैं ।।३।।

भावार्थ—विद्वानों को चाहिए कि वे विविध पदार्थों और सद्गुणों के वर्षक, सुखदाता, संग्रामों में विजय दिलाने वाले, लोकलोकान्तरों के रचयिता, विवेकप्रदाता, सब पदार्थों में सौन्दर्य एवं शोभा के आधानकर्ता परमेश्वर का प्रजाजनों के कल्याणार्थ उपदेश किया करें, जिससे वे उसकी महिमा को जान-कर, उसकी पूजा कर, उससे प्रेरणा लेकर पुरुषार्थी बनें ।।३।।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

३८४. यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ।।४।।[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगत् के धारणकर्ता परमात्मन् ! **यत्** क्योंकि, आपने **विष्णवि** सूर्य में अथवा आत्मा में **सोमम्** तेजरूप अथवा ज्ञानरूप सोम को निहित किया है, **यत् वा** और क्योंकि, आपने, **घ** निश्चय ही **आप्त्ये** प्राप्तव्य **त्रिते** पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तीनों स्थानों में व्याप्त होने वाले अग्नि में अथवा मन में **सोमम्** दाहकगुणरूप अथवा संकल्परूप सोम को निहित किया है, **यद् वा** और क्योंकि **मरुत्सु** पवनों में अथवा प्राणों में **सोमम्** जीवनप्रदानरूप सोम को निहित किया है, इसलिए आप **मन्दसे** यशस्वी हैं। आप हमें भी **इन्दुभिः** पूर्वोक्त तेज, ज्ञान, दोषदाहकत्व, संकल्प एवं जीवनप्रदान रूप सोमों से **सम्** संयुक्त कीजिए ।।४।।

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य, अग्नि, वायु आदियों में और जीवात्मा, मन, प्राण आदियों में जो-जो उन-उनके विशिष्ट गुण निहित किये हैं, वे ही उनके सोमरस कहाते हैं। उन गुणों से हम भी संयुक्त हों ।।४।।

---

१. ऋ० ८।१५।४, अथ० २०।६१।१ उभयत्र 'पृक्षु' इत्यस्य स्थाने 'पृत्सु' इति पाठः। साम० ८८०।

२. ऋ० ८।१२।१६, अथ० २०।१११।१।

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार माधव ने त्रित और आप्त्य ये पृथक्-पृथक् दो ऐतिहासिक ऋषियों के नाम माने हैं। भरतस्वामी के मत में आप्त का पुत्र कोई त्रित है। सायण के अनुसार आपः का पुत्र त्रित नाम का राजर्षि है। इनका पारस्परिक विरोध ही ऐतिहासिक पक्ष के अप्रामाण्य को प्रमाणित कर रहा है।

अगले मन्त्र में अध्वर्यु को सम्बोधित किया गया है।

३८५. एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः।
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** यज्ञ-निष्पादन के इच्छुक मानव! तू समाज, राष्ट्र और जगत् में **मधोः अन्धसः** मधुर ज्ञान-कर्म-उपासनारूप सोम के **मदिन्तरम्** अतिशय तृप्तिकारक रस को **इत्** निश्चय ही **आसिञ्च उ** सींच। **एव हि** इसी प्रकार **वीरः** वीर, **सदावृधः** सदा समृद्ध वह इन्द्र परमेश्वर **स्तवते** स्तुति किया जाता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर की स्तुति का यही मार्ग है कि स्तोता मधुरातिमधुर ज्ञान, कर्म, उपासना के रस को जगत् में प्रवाहित करे। सदा समृद्ध, पूर्णकाम परमेश्वर पत्र, पुष्प, फल आदि का उपहार नहीं चाहता ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोममिश्रित मधु समर्पित करने की प्रेरणा की गयी है।

३८६. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥[2]

पदार्थ—हे मनुष्यो! तुम **इन्द्राय** परमैश्वर्ययुक्त जगत्पति परमात्मा के लिए **इन्दुम्** ज्ञान-कम-रूप सोमरस को **आ सिञ्चत** सींचो, समर्पित करो। वह **सोम्यम्** ज्ञान-कर्म-रूप सोम से युक्त **मधु** उपासनारूप मधु को **पिबाति** पीता है। इस प्रकार पूजा किया हुआ वह, पूजक को **महित्वना** अपनी महिमा से **राधांसि** सफलताएँ **चोदयते** प्रदान करता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे यज्ञ में सोमरस को मधु में मिलाकर होम करते हैं, वैसे ही हमें अपने ज्ञान-कर्मरूप सोमरस को उपासनारूप मधु में मिलाकर परमेश्वर के प्रति उसका होम करना चाहिए। उससे वह अपने उपासक को बल प्रदान करके उसे सफलता की सीढ़ी पर चढ़ा देता है ॥६॥

अगले मन्त्र में सखाओं को इन्द्र परमेश्वर की स्तुति के लिए बुलाया जा रहा है।

३८७. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥[3]

---

१. ऋ० ८।२४।१६ 'मधोर्', 'सिञ्चाध्वर्यो', 'वीर', इत्यत्र क्रमेण 'मध्वो', 'सिञ्च वाध्वर्यो', 'वीरः' इति पाठः। अथ० २०।६४।४ 'वीर' इत्येव पाठः, शिष्टम् ऋग्वेदवत्। साम० १६८४।

२. ऋ० ८।२४।१३, 'प्र राधांसि चोदयते' इत्यत्र 'प्र राधसा चोदयाते' इति पाठः। साम० १५०६।

३. ऋ० ८।२४।१६। अथ० २०।६५।१ 'सखायः स्तोम्यं' इत्यत्र 'सखाय स्तोम्यं' इति पाठः।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! तुम **नु** शीघ्र ही **एत उ** आओ। हम-तुम मिलकर **स्तोम्यम्** स्तुति के योग्य, **नरम्** नेता, **इन्द्रम्** राजाधिराज परमेश्वर की **स्तवाम** उपासना करें, **यः** जो **एकः-इत्** अकेला ही **विश्वाः कृष्टीः** सब मानवी प्रजाओं से **अध्यस्ति** महिमा में अधिक है ॥७॥

भावार्थ—जो अकेला होता हुआ भी करोड़ों-करोड़ों की संख्याओं में विद्यमान मनुष्यों से महिमा में अधिक है, उसी सकल ब्रह्माण्ड के अधीश्वर की सबको स्तुति और आराधना करनी चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को सामगान के लिए प्रेरित किया गया है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
३८८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥[1]

पदार्थ—हे मित्रो ! तुम **विप्राय** विशेषरूप से क्षतिपूर्ति करने वाले अथवा ब्राह्मण के समान श्रेष्ठ ज्ञान का उपदेश करने वाले, **बृहते** महान्, **ब्रह्मकृते** वेदकाव्य के रचयिता, **विपश्चिते** सकल विद्याओं में पारंगत, **पनस्यवे** दूसरों की प्रशंसा और कीर्ति चाहने वाले **इन्द्राय** राजराजेश्वर परब्रह्म परमेश्वर के लिए **बृहत्** बहुत अधिक **साम गायत** सामगान करो ॥८॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त गुण-कर्म-स्वभाव वाले, महामहिमाशाली, विराड् ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर की सस्वर सामगान की विधि से सबको उपासना करनी चाहिए ॥८॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के धन-प्रदाता रूप का वर्णन है।

२उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३८९. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥[2]

पदार्थ—**यः** जो **एकः इत्** एक ही है, और जो **दाशुषे मर्त्याय** अपना धन दूसरों के हित के लिए जिसने दान कर दिया है ऐसे मनुष्य को **वसु** धन **विदयते** विशेष रूप से प्रदान करता है, **अङ्ग** हे भाई ! वह **ईशानः** सकल ब्रह्माण्ड का अधीश्वर **अप्रतिष्कुतः** किसी से प्रतिकार न किया जा सकने वाला अथवा कभी न लड़खड़ाने वाला **इन्द्रः** इन्द्र नामक परमेश्वर है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर एक ही है, उसके बराबर या उससे अधिक अन्य कोई नहीं है। धनदाता वह परोपकारार्थ धन का दान करने वाले को अधिकाधिक धन प्रदान करता है ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को स्तोत्र अर्पित करने के लिए सखाओं को बुलाया जा रहा है।

१ २ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २
३९०. सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥[3]

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! आओ, हम-तुम मिलकर **वज्रिणे** दुष्टों वा दुष्टवृत्तियों के प्रति दण्ड-धारी **इन्द्राय** जगत् के शासक परमात्मा के लिए **ब्रह्म** स्तोत्र को **आ शिषामहे** इच्छापूर्वक समर्पित करें।

---

१. ऋ० ८।९८।१, अथ० २०।६२।५। उभयत्र 'ब्रह्मकृते' इत्यत्र धर्मकृते' इति पाठः। साम० १०२५।
२. ऋ० १।८४।७, अथ० २०।६३।४, साम० १३४१।
३. ऋ० ८।२४।१ 'शिषामहि' इति पाठः। अथ० १८।१।३७, ऋषिः अथर्वा।

आगे प्रत्यक्ष स्तुति है—हे परमात्मन् ! **नृतमाय** वरिष्ठ नेता, **धृष्णवे** पापों को धर्षण करने वाले, **वः** आपके लिए **सु स्तेषु उ** मैं भलीभाँति स्तुति करता हूँ ।।१०।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि परस्पर मिलकर सार्वजनिक रूप से राजराजेश्वर परमात्मा के लिए उसके महिमागानसम्बन्धी स्तुतिगीत गायें ।।१०।।

इस दशति में इन्द्र जगदीश्वर के महिमागानपूर्वक उसके प्रति स्तोत्र अर्पित करने की प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।
यह चतुर्थ प्रपाठक समाप्त हुआ ।।
चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।।

—०—

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

।।१।। अथ 'गृणे तदिन्द्र' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रगाथः; २ भरद्वाजः; ३ नृमेधः; ४ पर्वतः; ५,७ इरिम्बिठिः; ६ विश्वमनाः; ८ वसिष्ठः । देवता—१-४, ६, ८ इन्द्रः; ५,७ आदित्याः । छन्दः—१-७ उष्णिक्; ८ त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् । स्वरः—१-७ ऋषभः; ८ गान्धारः ।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के बल की प्रशंसा की गयी है ।

३९१. गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये ।
यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** विघ्नों के विदारणकर्ता परमात्मन् ! मैं **देवतातये** उपासना-यज्ञ की पूर्ति के लिए, **ते** आपके **उपमाम्** सबके उपमानभूत, **तत्** उस सर्वविदित **शवः** बल की **गृणे** प्रशंसा करता हूँ, **यत्** क्योंकि, हे **शचीपते** अतिशय कर्मशूर परमेश ! आप **ओजसा** अपने तेजोयुक्त बल से **वृत्रम्** पाप के अन्धकार को अथवा योगसाधना के बीच में आये व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन आदि विघ्नसमूह को **हंसि** विनष्ट कर देते हो ।।१।।

भावार्थ—परमात्मा के बल की प्रशंसा से स्वयं भी बलवान् होकर जीवनमार्ग में अथवा योग-मार्ग में आये हुए सब विघ्नों और शत्रुओं को विनष्ट कर हम परमसिद्धि को प्राप्त करें ।।१।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के वीरतापूर्ण कर्म की प्रशंसा करते हुए उसका आह्वान किया गया है ।

३९२. यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ।।२।।[2]

१. ऋ० ८।६२।८, गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये । यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।। इति पाठः, छन्दः बृहती ।

२. ऋ० ६।४३।१ 'रन्धयन्' इत्यत्र 'रन्धयः' इति पाठः ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन् ! **यस्य** जिस पुरुषार्थमिश्रित भक्तिरूप सोमरस के **मदे** हर्ष में **दिवोदासाय** मन आदि को प्रकाश देने वाले जीवात्मा की सहायता के लिए, आप **शम्बरम्** योगमार्ग में आये आनन्द और शान्ति के आच्छादक विघ्नसमूह को **रन्धयन्** विनष्ट करते हुए **त्यत्** प्रसिद्ध वीर कर्म को करते हो, **अयं सः** यह वह **सोमः** पुरुषार्थमिश्रित भक्तिरस **ते** आपके लिए **सुतः** अभिषुत है, उसका **पिब** पान करो ॥२॥

भावार्थ—पुरुषार्थपूर्ण भक्ति से आराधना किया गया परमेश्वर योगसाधक के मार्ग में आये हुए सब विघ्नों का निराकरण करके योगसिद्धि प्रदान करता है ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की महिमा वर्णित की गयी है।

३९३. एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥[1]

पदार्थ—हे **प्रिय** प्रिय, **सत्राजित्** सत्य से असत्य पर विजय पाने वाले, **अगोह्य** छिपाये न जा सकने वाले, किन्तु प्रकट हो जाने वाले **इन्द्र** परमात्मन् ! आप **नः** हमारे समीप **आ गधि** आओ। आप **गिरिः न** पर्वत के सदृश **विश्वतः पृथुः** सबसे विशाल और **दिवः पतिः** सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि से जगमगाते हुए जगत् के अधिपति हो ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ—चर्म-चक्षुओं से अदृश्य भी परमेश्वर संसार में दिखायी देने वाले अपने सत्य नियमों से और योगाभ्यासों से सबके सम्मुख प्रकट हो जाता है। आकाश को चूमने वाले विस्तीर्ण पहाड़ के समान विशाल, सर्वव्यापक, सब ज्योतिष्मान् पदार्थों को ज्योति देने वाला वह सब जनों से उपासना करने योग्य है ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और सेनाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया है।

३९४. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि न्या३त्रिणं तमीमहे ॥४॥[2]

पदार्थ—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन्, जीवात्मन् वा सेनाध्यक्ष ! **यः** जो आप **सोमपातमः** अतिशय वीररस का पान करने वाले हो, उन आपका **मदः** वीरताजनित हर्ष **चेतति** सदा जागता रहता है। आप **येन** अपने जिस पराक्रम से **अत्रिणम्** भक्षक शत्रु को **निहंसि** निःशेष रूप से विनष्ट कर देते हो **तम्** उस पराक्रम की, हम भी आपसे **ईमहे** याचना करते हैं ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे वीर परमात्मा और जीवात्मा वीररस से उत्साहित होकर सब कामक्रोधादिरूप, विघ्नरूप और पापरूप भक्षक राक्षसों को विनष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र में वीर सेनापति सब

---

१. ऋ० ८।९८।४, अथ० २०।६४।१। उभयत्र 'प्रियः सत्राजिदगोह्यः' इति पाठः। साम० १२४७।

२. ऋ० ८।१२।१, अथ० २०।६३।७।

आक्रान्ता रिपुओं को अपने पराक्रम से दण्डित करे। वैसा वीररस और पराक्रम सब प्रजाजनों को भी प्राप्त करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र के आदित्य देवता हैं। इसमें दीर्घतर आयु की प्रार्थना की गयी है।

३९५. तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।
आदित्यासः समहसः कृणोतन ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **समहसः** तेजस्वी **आदित्यासः** आदित्य के समान ज्ञानप्रकाश से भासमान ब्रह्मवित् ब्राह्मणो! अथवा हे मेरे प्राणो! तुम **तुचे** सन्तान के लिए, **तुनाय** धन के लिए और **जीवसे** उत्कृष्ट जीवन के लिए **तत्** उस, अन्य प्राणियों से विलक्षण **नः आयुः** हमारी आयु को **द्राघीयः** अधिक लम्बी **सु कृणोतन** सुचारु रूप से कर दो ॥

सन्तान दो प्रकार की होती है, भौतिक और मानस। पुत्र, पुत्री आदि भौतिक तथा नवीन ज्ञान-विज्ञानादि मानस सन्तान कहलाती है। धन भी द्विविध होता है, भौतिक और आध्यात्मिक। चाँदी, सोना, कपड़ा, धान्य, मुद्रा आदि भौतिक धन तथा अहिंसा, सत्य, न्याय, योगसिद्धि आदि आध्यात्मिक धन कहाता है। उत्कृष्ट जीवन भी दो प्रकार का होता है, बाह्य और आध्यात्मिक। भौतिक सुख-सम्पदा आदि से पूर्ण जीवन बाह्य और अध्यात्म-पथ का पथिक जीवन आध्यात्मिक कहाता है। यह सब हमारे लिए सुलभ हो, एतदर्थ लम्बी आयु की प्रार्थना की गयी है ॥५॥

इस मन्त्र में 'तुना, तन' में छेकानुप्रास अलंकार है। त्, स् और न् की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥५॥

भावार्थ—प्राणायाम से और विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा उपदेश किये गये मार्ग का अनुसरण करने से हमारी आयु अधिक लम्बी हो सकती है। अधिक लम्बी आयु प्राप्त कर अपनी रुचि के अनुसार प्रेय-मार्ग या श्रेय-मार्ग में हमें पग रखना चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से इन्द्र की महिमा का वर्णन है।

३९६. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्।
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **वज्रहस्त** शस्त्रास्त्रपाणि वीर राजन् या सेनापति, अथवा शस्त्रास्त्रधारी वीरपुरुष के समान पाप आदि विघ्नों का दलन करने में समर्थ पराक्रमशाली परमात्मन्! **शुन्ध्युः** राष्ट्र के अथवा मन के शोधक आप **निर्ऋतीनाम्** पापों, कुनीतियों, कष्टों, अकाल मृत्युओं अथवा शत्रुसेनाओं के **अहरहः** प्रति-दिन **परिवृजम्** परिहार को **वेत्थ हि** निश्चय ही जानते हो, **शुन्ध्युः** शोधक सूर्य **अहरहः** प्रतिदिन **परिपदाम् इव** जैसे चारों ओर व्याप्त अन्धकारों या रोगों का परिहार करना जानता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥६॥

---

१. ऋ० ८।१८।१८ 'तुनाय' इत्यत्र 'तनाय' इति पाठः।
२. ऋ० ८।२४।२४, अथ० २०।६६।३।

भावार्थ—जैसे शोधक सूर्य तमोजाल, रोग, मालिन्य आदियों को दूर करता है, वैसे ही परमेश्वर संसार के पाप, कुनीति, कष्ट आदि का विनाश करता है। उसी प्रकार राजा और सेनापति को भी चाहिए कि राष्ट्र से पाप, दुराचार, अकालमृत्यु, शत्रुसेना आदियों का प्रयत्न से निवारण करे ॥६॥

अगले मन्त्र के आदित्य देवता हैं। उनसे कष्ट आदि के निवारण की प्रार्थना की गयी है।

३९७. अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **आदित्यासः** शरीरस्थ प्राणो, राष्ट्रस्थ क्षत्रिय राजपुरुषो अथवा आदित्य ब्रह्मचारियो ! तुम शरीर, समाज और राष्ट्र से **अमीवाम्** रोग को **अप** दूर करो, **स्रिधम्** हिंसावृत्ति, शत्रुकृत हिंसा और हिंसक को **अप** दूर करो, तथा **दुर्मतिम्** कुमति को **अप सेधत** दूर करो। साथ ही **नः** हमें **अंहसः** पाप से **युयोतन** पृथक् करो ॥७॥

भावार्थ—प्राणायाम से, क्षत्रिय राजपुरुषों के कर्तव्यपालन से और आदित्य ब्रह्मचारियों के प्रयत्न से राष्ट्र से यथायोग्य रोग, हिंसावृत्तियाँ, शत्रुकृत हिंसा-उपद्रव आदि तथा पाप दूर किये जा सकते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में सोमपानार्थ इन्द्र का आह्वान किया गया है।

३९८. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥८॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** राष्ट्र के पक्ष में। हे **हर्यश्व** वेगवान् घोड़ों के स्वामी **इन्द्र** शत्रुविदारक सेनापति वा राजन् ! तुम **सोमम्** सोमादि ओषधियों के वीरताप्रदायक रस को **पिब** पान करो, वह रस **त्वा** तुम्हें **मन्दतु** उत्साहित करे। **यम्** जिस रस को, **सोतुः** रथचालक की **बाहुभ्याम्** बाहुओं से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अर्वा न** घोड़े के समान, **सोतुः** रस निकालने वाले के **बाहुभ्याम्** हाथों से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अद्रिः** सिलबट्टे रूप साधन ने **ते** तुम्हारे लिए **सुषाव** कूट-पीस कर अभिषुत किया है ॥

द्वितीय अध्यात्म पक्ष में। हे **हर्यश्व** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों के स्वामी **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **सोमम्** ज्ञानरस और कर्मरस को **पिब** पान कर, वह ज्ञान और कर्म का रस **त्वा** तुझे **मन्दतु** आनन्दित करे, **यम्** जिस ज्ञान और कर्म के रस को **सोतुः** रथ-प्रेरक सारथि की **बाहुभ्याम्** बाहुओं से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अर्वा न** घोड़े की तरह **सुयतः** सुनियन्त्रित **अद्रिः** विदीर्ण न होने वाले तेरे मन ने **ते** तेरे लिए **सुषाव** उत्पन्न किया है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥८॥

भावार्थ—पुष्टिप्रद सोमादि ओषधियों का रस पीकर राष्ट्र के सैनिक, सेनापति और राजा सुवीर होकर शत्रुओं को पराजित करें। इसी प्रकार राष्ट्र के सब स्त्री-पुरुष मन के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित ज्ञान-रस का तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा अर्जित कर्म-रस का पान कर परम ज्ञानी और परम पुरुषार्थी होते हुए ऐहिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष को सिद्ध करें ॥८॥

---

१. ऋ० ८।१८।१०।

२. ऋ० ७।२२।१, अथ० २०।११७।१, साम० ९२७।

इस दशति में इन्द्र के बल-पराक्रम का वर्णन होने से, इन्द्र से सम्बद्ध आदित्यों से दीर्घायु-प्राप्ति तथा रोग, दुर्मति आदि के दूरीकरण की याचना होने से और सोमपानार्थ इन्द्र का आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।

चतुर्थ अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त ।।

।।२।। अथ 'अभ्रातृव्यो अना' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-६, ९, १० सौभरिः; ७, ८ नृमेधः । देवता—१, २, ४, ५, ७-१० इन्द्रः; ३, ६ मरुतः ।। छन्दः—ककुप् ।। स्वरः—ऋषभः ।।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र के शत्रु-रहित होने आदि का वर्णन है ।

३९९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधेदापित्वमिच्छसे ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता परमात्मन् ! तुम **सनात्** सनातन काल से **जनुषा** स्वभावतः **अभ्रातृव्यः** शत्रु-रहित, **अना** नेता-रहित और **अनापिः** अबन्धु **असि** हो । **युधा इत्** युद्ध से ही **आपित्वम्** बन्धुत्व को **इच्छसे** चाहते हो, अर्थात् जो आन्तरिक तथा बाह्य देवासुरसंग्रामों में विजयी होता है, उसी के तुम बन्धु होते हो ।।१।।

इस मन्त्र में अना, मना, सना में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । 'त्वम, त्वमि' में छेकानुप्रास है ।।१।।

भावार्थ—जिससे शत्रुता ठानने का कोई साहस नहीं करता और जिसका नेतृत्व करने वाला कोई नहीं है, वह महान् जगदीश्वर पुरुषार्थियों का ही बन्धु बनता है, अकर्मण्यों का नहीं ।।१।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की दानशीलता का वर्णन है ।

४००. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।।२।।[2]

पदार्थ—**यः** जो इन्द्र जगदीश्वर **पुरा** पहले, सृष्टि के आदि में **इदम्-इदम्** इस सब अग्नि, सूर्य, वायु, विद्युत्, बादल, नदी, सागर, चाँदी, सोना आदि **वस्यः** अतिशय निवासक पदार्थ-समूह को **नः** हमारे-तुम्हारे लिए **आ निनाय** लाया था, **तम् उ** उसी **इन्द्रम्** जगदीश्वर की, हे **सखायः** मित्रो ! मैं **वः** तुम्हारी और अपनी **ऊतये** रक्षा के लिए **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ।।२।।

भावार्थ—अनेक बहुमूल्य पदार्थ निःशुल्क ही सबको देने वाले ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर की सबको कृतज्ञतापूर्वक आराधना करनी चाहिए ।।२।।

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं । उन्हें सम्बोधन करके कहा गया है ।

४०१. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यवः ।
दृढा चिद्यमयिष्णवः ।।३।।[3]

---

१. ऋ० ८।२१।१३, अथ० २०।११४।१, साम० १३८९ ।
२. ऋ० ८।२१।९ 'व स्तुषे' इत्यत्र 'वः स्तुषे' इति पाठः । अथ० २०।१४।३; ६२।३ ।
३. ऋ० ८।२०।१ 'दृढा चिद्यमयिष्णवः' इत्यत्र 'स्थिरा चिन्नमयिष्णवः' इति पाठः ।

पदार्थ—प्रथम सैनिकों के पक्ष में। युद्ध उपस्थित होने पर राष्ट्र के सैनिकों को पुकारा जा रहा है। हे **प्रस्थावानः** रण-प्रस्थान करने वाले वीर सैनिको ! तुम शत्रुओं से युद्ध करने के लिए **आ गन्त** आओ, न आकर **मा रिषण्यत** राष्ट्र की क्षति मत करो। हे **समन्यवः** मन्युवालो ! हे **दृढा चित्** दृढ रिपुदलों को भी **यमयिष्णवः** रोकने में समर्थ वीरो ! तुम **मा अपस्थात** युद्ध से अलग मत रहो ॥

द्वितीय प्राणों के पक्ष में। पूरक-कुम्भक-रेचक आदि की विधि से प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ योगसाधक प्राणों को सम्बोधन कर रहा है। हे **प्रस्थावानः** प्राणायाम के लिए प्रस्थित मेरे प्राणो ! तुम **आ गन्त** रेचक प्राणायाम से बाहर जाकर पूरक प्राणायाम के द्वारा पुनः अन्दर आओ, **मा रिषण्यत** हमारे स्वास्थ्य की हानि मत करो। हे **समन्यवः** तेजस्वी प्राणो ! **दृढा चित्** दृढ़ता से शरीर में बद्ध भी रोग, मलिनता आदियों को **यमयिष्णवः** दूर करने में समर्थ प्राणो ! तुम **मा अपस्थात** शरीर से बाहर ही स्थित मत हो जाओ, किन्तु पूरक, कुम्भक, रेचक और स्तम्भवृत्ति के व्यापारों द्वारा मेरी प्राणसिद्धि कराओ। भाव यह है कि हम प्राणायाम से विरत न होकर नियम से उसके अभ्यास द्वारा प्रकाश के आवरण का क्षय करके धारणाओं में मन की योग्यता सम्पादित करें ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—शत्रुओं से राष्ट्र के आक्रान्त हो जाने पर वीर योद्धाओं को चाहिए कि शत्रुओं को दिशाओं में इधर-उधर भगाकर या धराशायी करके राष्ट्र की कीर्ति को दिग्दिगन्त में फैलायें। इसी प्रकार रोग, मलिनता आदि से शरीर के आक्रान्त होने पर प्राण पूरक, कुम्भक आदि के क्रम से शरीर के स्वास्थ्य का विस्तार कर आयु को लम्बा करें ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा आदि का आह्वान किया गया है।

४०२. आ याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते।
सोमं सोमपते पिब ॥४॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **अश्वपते** घोड़ों के अथवा अश्व नाम से प्रसिद्ध अग्नि, बादल आदि के अधीश्वर, **गोपते** गाय पशुओं के अथवा सूर्यकिरणों के अधीश्वर, **उर्वरापते** उपजाऊ भूमियों के अधीश्वर इन्द्र परमात्मन् ! **अयम्** यह आप **इन्दवे** आनन्दरस के प्रवाह के लिए **आ याहि** आओ, मेरे हृदय में प्रकट होवो। हे **सोमपते** मेरे मनरूप चन्द्रमा के अधीश्वर ! आप **सोमम्** मेरे श्रद्धारस को **पिब** पान करो ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे **अश्वपते** इन्द्रिय रूप घोड़ों के स्वामी, **गोपते** वाणियों और प्राणों के स्वामी, **उर्वरापते** ऋद्धि-सिद्धि की उपजाऊ बुद्धि के स्वामी मेरे अन्तरात्मन् ! **अयम्** यह तू **इन्दवे** परमेश्वरोपासना का आनन्द पाने के लिए **आ याहि** तैयार हो। हे **सोमपते** मन के स्वामी ! तू **सोमम्** ब्रह्मानन्द-रस को **पिब** पान कर ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, 'पते' की आवृत्ति में लाटानुप्रास और 'सोम' की आवृत्ति में यमक है ॥४॥

भावार्थ—जो जीवात्मा शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि का तथा ज्ञान, कर्म आदि का अधिष्ठाता है, उसे चाहिए कि नित्य जगदीश्वर की उपासना से ब्रह्मानन्द-रस को प्राप्त करे ॥४॥

१. ऋ० ८।२१।३ 'आ याह्ययमिन्दवे' इत्यत्र 'आयाहीम इन्दवो' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि इन्द्र को सहायक पाकर हम क्या करें।

४०३. त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि ।
संस्थे जनस्य गोमतः ।।५।।[1]

पदार्थ—हे **वृषभ** मनोरथों को पूर्ण करने वाले परमात्मन् ! **गोमतः जनस्य** ज्ञान-किरणों अथवा अध्यात्म-किरणों से युक्त आत्मा के **संस्थे** उपासना-यज्ञ में अथवा देवासुरसंग्राम में **श्वसन्तम्** हमारी हिंसा करने के लिए तैयार व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि तथा दुःख, दौर्मनस्य आदि विघ्न-समूह का **त्वया ह स्वित्** तुझ ही **युजा** सहायक के द्वारा, हम **प्रति ब्रुवीमहि** प्रतिकार करें।

राज-प्रजा पक्ष में भी योजना करनी चाहिए। गोपालक प्रजाजनों की गौओं को चुराने का यदि कोई प्रयत्न करे, तो राजकीय सहायता से युद्ध में उसका प्रतिकार करना उचित है ।।५।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।५।।

भावार्थ—अध्यात्म-प्रकाश से युक्त आत्मा को जो पुनः मोहान्धकार में डालना चाहते हैं उनका परमेश्वर की सहायता से बलपूर्वक प्रतिरोध करना चाहिए। इसी प्रकार गो-सेवकों की गायों का वध करने की जो चेष्टा करते हैं उन पर राजदण्ड और प्रजादण्ड गिराना चाहिए ।।५।।

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं। मरुतों के सबन्धुत्व का वर्णन है।

४०४. गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।
रिहते ककुभो मिथः ।।६।।[2]

पदार्थ—हे **समन्यवः** तेजस्वी **गावः** स्तोता ब्राह्मणो ! **सजात्येन** समान जाति वाला होने से **मरुतः** क्षत्रिय योद्धाजन **चिद् घ** निश्चय ही **सबन्धवः** तुम्हारे सबन्धु हैं, जो **मिथः** परस्पर मिलकर, युद्ध में **ककुभः** दिशाओं को **रिहते** व्याप्त करते हैं, अर्थात् सब दिशाओं में फैलकर शत्रु के साथ लड़कर राष्ट्र की रक्षा करते हैं। अथवा जो क्षत्रिय **मिथः** तुम ब्राह्मणों के साथ मिलकर **ककुभः** ककुप् छन्दों वाली प्रस्तुत दशति की ऋचाओं का **रिहते** पाठ तथा अर्थज्ञानपूर्वक आस्वादन करते हैं।[2]

प्रस्तुत दशति में ककुब् उष्णिक् छन्द है, जिसमें प्रथम और तृतीय पाद आठ-आठ अक्षर के तथा मध्य का द्वितीय पाद बारह अक्षर का होता है ।।६।।

भावार्थ—स्तोता ब्राह्मण और रक्षक क्षत्रिय दोनों ही राष्ट्र के अनिवार्य अंग हैं। जैसे ब्राह्मण विद्यादान से क्षत्रियों का उपकार करते हैं, वैसे ही युद्ध उपस्थित होने पर क्षत्रिय लोग दिशाओं को व्याप्त कर, शत्रुओं को पराजित कर ब्राह्मणों का उपकार करते हैं। इसलिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों को राष्ट्र में भ्रातृभाव से रहना चाहिए ।।६।।

---

१. ऋ० ८।२१।११।
२. ऋ० ८।२०।२१।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम द्वारा परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

४०५. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
आ वीरं पृतनासहम् ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत ज्ञानी, बहुत कर्मों को करने वाले, **विचर्षणे** विशेष द्रष्टा **इन्द्र** वीर, परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजन्! **त्वम्** आप **नः** हमें **ओजः** ब्रह्मवर्चस, और **नृम्णम्** धन **आभर** प्रदान कीजिए। साथ ही **पृतनासहम्** शत्रुसेनाओं को पराजित करने वाला **वीरम्** वीर योद्धा **आभर** प्रदान कीजिए ॥७॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और राजा के प्रयत्न से हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, शूरवीर क्षत्रिय और धनी वैश्य उत्पन्न हों। और सब प्रजाजन भी बलवान्, धनवान् तथा वीर पुत्रों वाले हों ॥७॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है।

४०६. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे।
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से संसेवनीय **इन्द्र** परमधनी परमेश्वर! **अध हि** इस समय, हम **कामे** मनोरथों की पूर्ति हेतु **त्वा** आपको **उप ईमहे** समीपता से प्राप्त करते हैं, तथा **ससृग्महे** आपसे संसर्ग करते हैं, **उदा इव** जैसे जलमार्ग से **ग्मन्तः** जाते हुए लोग **उदभिः** जलों से संसर्ग को प्राप्त करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'महे' की आवृत्ति में यमक और 'उदे, उद' में छेकानुप्रास है ॥८॥

भावार्थ—जैसे नदी के कम गहराई वाले जल को पैरों से चलकर और गहरे जल को तैरकर पार करते हुए लोग जल के संसर्ग को प्राप्त होते हैं और गीले हो जाते हैं, वैसे ही परमेश्वर के समीप पहुँच हम उससे संसृष्ट होकर उसके संसर्ग द्वारा प्राप्त आनन्दरस से सराबोर हो जाएँ ॥८॥

अगले मन्त्र में पक्षी के दृष्टान्त से परमेश्वर की स्तुति का विषय वर्णित है।

४०७. सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे।
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥९॥[3]

पदार्थ—हे **इन्द्र** मधुवर्षक परमेश्वर! **वयः यथा** पक्षियों के समान अर्थात् जैसे जलचर पक्षी जलाशय में एकत्र होते हैं वैसे, हम **ते** आपके **गोश्रीते** गोदुग्ध के समान पवित्र अन्तःप्रकाश से मिश्रित,

---

१. ऋ० ८।९८।१०, अथ० २०।१०८।१। उभयत्र 'भर, पृतनासहम्' एतयोः स्थाने क्रमेण 'भरँ, पृतनाषहम्' इति पाठः। साम० ११६९।

२. ऋ० ८।९८।७, अथ० २०।१००।१ उभयत्र 'काम ईमहे ससृग्महे' इत्यत्र 'कामान् महः ससृज्महे' इति 'ग्मन्त' इत्यत्र च 'यन्त' इति पाठः। साम० ७१०।

३. ऋ० ८।२१।५, ऋषिः सोभरिः काण्वः।

मदिरे हर्षजनक, **विवक्षणे** मुक्ति प्राप्त कराने वाले **मधौ** आनन्द रूप सोमरस में **सीदन्तः** समवेत होकर बैठते हुए **त्वाम् अभि** आपको लक्ष्य करके **नोनुमः** अतिशय पुनः पुनः स्तुति करते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जल-पक्षी जैसे जल के ऊपर मिलकर बैठते हैं और क्रें-क्रें करते हैं, वैसे ही प्रेमरसघन परमात्मा के आनन्दरस में समवेत होकर उसके उपासक लोग उसे लक्ष्य कर पुनः पुनः स्तुतिगीत गाते हैं। जैसे सोमरस में गाय का दूध मिलाया जाता है, वैसे ही परमात्मा के आनन्दरस में दिव्यप्रकाश का संमिश्रण है, यह जानना चाहिए ॥९॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर, आचार्य वा वैद्य का आह्वान किया गया है।

४०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः।
वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥१०॥[1]

पदार्थ—हे **अपूर्व्य** अपूर्व गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **वज्रिन्** शस्त्रधारी के समान दोषनाशक परमेश्वर आचार्य वा वैद्यराज ! **कच्चित्** किसी **स्थूरं न** स्थूल गढ़े आदि के समान **स्थूरम्** मन, चक्षु आदि के स्थूल छिद्र को **भरन्तः** भरना चाहते हुए **अवस्यवः** रक्षा के इच्छुक **वयम्** हम **चित्रम्** पूज्य **त्वाम्** आपको **हवामहे** पुकारते हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालङ्कार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे विशाल निर्जल अन्धे कुएँ आदि को भरना चाहते हुए लोग सहायक मित्रों को बुलाते हैं, वैसे ही मन, चक्षु आदियों के रोगरूप या अशक्तिरूप छिद्र को भरने के लिए परमेश्वर, आचार्य वा वैद्य की सहायता पानी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र का महत्त्व वर्णित होने से, उसकी स्तुति होने से, उसका आह्वान होने से और उससे बल-धन आदि की याचना होने से तथा इन्द्र नाम से राजा, आचार्य, वैद्य आदि के भी कर्त्तव्य का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

पंचम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।

चतुर्थ अध्याय में छठा खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'या इन्द्रेण' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-८ गोतमः; ९ त्रितः; १० अवस्युः ॥ देवता—१-८ इन्द्रः; ९ विश्वेदेवाः; १० अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रथम मन्त्र में आत्मिक और राष्ट्रिय स्वराज्य की आकांक्षा की गयी है।

४०९. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥[2]

---

१. ऋ० ८।२१।१, ऋषिः सोभरिः काण्वः। अ० २०।१४।१ ऋषिः सौभरिः। उभयत्र 'वज्रिन्' इत्यत्र 'वाजे' इति पाठः। साम० ७०८।

२. ऋ० १।८४।१०, अथ० २०।१०९।१ उभयत्र 'मधोः', 'शोभथा' अनयोः स्थाने क्रमेण 'मध्वः', 'शोभसे' इति पाठः। साम० १००५।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्मपक्ष में। **गौर्यः** सात्त्विक चित्तवृत्तियाँ **इत्था** सचमुच **वि-सुवतः** ब्रह्मानन्द को विशेष रूप से अभिषुत करने वाले जीवात्मा से **स्वादोः** स्वादु, **मधोः** मधुर ब्रह्मानन्द-रस का **पिबन्ति** पान करती हैं, **वृष्णा** आनन्दवर्षक **इन्द्रेण** जीवात्मा के **सयावरीः** साथ गति करने वाली **वस्वीः** सद्गुणों की निवासक **याः** जो चित्तवृत्तियाँ **स्वराज्यम् अनु** आत्मिक स्वराज्य के अनुकूल होकर **शोभथा** शुभ प्रकार से **मदन्ति** हृष्ट होती हैं।

द्वितीय राष्ट्रपक्ष में। **गौर्यः** उद्यम वाली सेनाएँ **इत्था** सत्य ही **वि-सुवतः** विशेषरूप से वीरता की प्रेरणा देने वाले सेनापति से **स्वादोः** स्वादु **मधोः** मधुर वीररस का **पिबन्ति** पान करती हैं, **वृष्णा** शस्त्रास्त्रवर्षक **इन्द्रेण** शत्रुविदारक सेनापति के **सयावरीः** साथ युद्ध में प्रयाण करने वाली **वस्वीः** अपनी शूरता से राष्ट्र की निवासक **याः** जो सेनाएँ **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य स्थापित करके **शोभथा** शोभा के साथ **मदन्ति** विजयोल्लास मनाती हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे जीवात्माओं को परमात्मा के साथ मेल करके ब्रह्मानन्द को अभिषुत कर, मन, प्राण, इन्द्रिय आदियों के साथ स्वराज्य की अर्चना करनी चाहिए, वैसे ही सेनाओं को शूरता प्राप्त कर सेनापति के साथ सहयोग करके विजय प्राप्त कर स्वराज्य को बढ़ाना चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र में शरीर और राष्ट्रभूमि से शत्रु को बाहर निकाल देने का विषय है।

४१०. इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥[1]

पदार्थ—**इत्था हि** सचमुच **सोमः** ब्रह्मानन्दरस अथवा वीररस **इत्** निश्चय ही **मदः** हर्षकारी होता है, उससे **ब्रह्म** जीवात्मा वा राजा **वर्धनम्** उन्नति **चकार** करता है। उससे अनुप्राणित होकर हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **वज्रिन्** दुष्टताओं वा दुष्टों पर वज्र-प्रहार करने वाले जीवात्मन् वा राजन्! तू **स्वराज्यम्** स्व-राज्य की **अनु अर्चन्** अनुकूल अर्चना करता हुआ **ओजसा** अपने बल द्वारा **पृथिव्याः** शरीर से अर्थात् शरीर-वर्ती मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों से तथा राष्ट्रभूमि से **अहिम्** दुःसंकल्पादिरूप, पापरूप, रोगादिरूप, लुटेरे-चोर-ठग आदि रूप और शत्रुरूप असुर को **निःशशाः** बाहर निकाल दे ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा ब्रह्मानन्द-रस और वीर-रस का पान कर शरीर और राष्ट्र के शत्रुओं को निःशेष करके वाणी के निर्घोष तथा दुन्दुभिघोष के साथ स्वराज्य की अर्चना करें ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सेनापति का युद्ध में विजय के लिए आह्वान किया गया है।

४११. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥[2]

---

१. ऋ० १।८०।१ 'मदो' इत्यत्र 'मदे' इति पाठः।
२. ऋ० १।८१।१, अथ० २०।५६।१। उभयत्र 'षूतिमर्भे' इत्यस्य स्थाने 'षूतेमर्भे' इति पाठः। साम० १००२।

पदार्थ—**वृत्रहा** शत्रुहन्ता **इन्द्रः** वीर परमात्मा, जीवात्मा, राजा वा सेनापति **मदाय** हर्ष प्रदान के लिए, और **शवसे** बल के कर्म करने के लिए **नृभिः** मनुष्यों द्वारा **वावृधे** बढ़ाया या प्रोत्साहित किया जाता है। **तम् इत्** उसी **ऊतिम्** रक्षक को **महत्सु आजिषु** बड़े युद्धों में, और **अर्भे** छोटे युद्ध में, हम **हवामहे** पुकारते हैं। **सः** वह **वाजेषु** युद्धों में **नः** हमारी **प्र अविषत्** उत्तमता से रक्षा करे ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—आनन्द, आत्मबल और शारीरिक बल को पाने के लिए परमात्मा को स्तुति से, जीवात्मा को उत्कृष्ट उद्बोधन से तथा राजा और सेनापति को जयकार से हर्षित करना चाहिए। साधारण या विकट आन्तरिक और बाह्य देवासुरसंग्राम में वे ही हमारे सहायक होते हैं ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सेनापति के शौर्य की प्रशंसा की गयी है।

४१२. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **अद्रिवः** मेघयुक्त अन्तरिक्ष के तुल्य विद्यमान अर्थात् मेघयुक्त अन्तरिक्ष जैसे जल बरसाता है वैसे सुख बरसाने वाले, **वज्रिन्** शत्रुओं को दण्ड देने वाले **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन्, राजन् और सेनापते! **तुभ्यम् इत्** तेरा ही **अ-नुत्तम्** शत्रुओं से अप्रतिहत **वीर्यम्** शौर्य है। **यत्** जो, तू **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य के अनुकूल **अर्चन्** कर्म करता हुआ **त्यम्** उस कुख्यात **मायिनम्** छलादिदोषयुक्त, **मृगम्** पशुतुल्य शत्रु को **मायया** कौशल से **अवधीः** मार गिराता है, **त्यत्** वह कर्म **तव** तेरा ही है, अन्य कोई उस कर्म को नहीं कर सकता ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा को स्मरण कर और जीवात्मा, राजा तथा सेनापति को उद्बोधन देकर, उनके द्वारा समस्त आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का उन्मूलन करके सबको आत्मा और राष्ट्र के स्वराज्य का उपभोग करना चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा, राजा तथा सेनापति को विजयार्थ प्रोत्साहित किया जा रहा है।

४१३. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** जीवात्मन्, राजन् वा सेनापते! तू **प्रेहि** आगे बढ़, **अभीहि** आक्रमण कर, **धृष्णुहि** शत्रुओं का पराभव कर। **ते** तेरे **वज्रः** वज्रतुल्य शत्रुविनाश-सामर्थ्य का अथवा शस्त्रास्त्र-समूह का **न नियंसते** अवरोध या प्रतिकार नहीं किया जा सकता। **ते** तेरा **शवः** बल **नृम्णं हि** तेरे लिए धनरूप है। तू **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य के अनुकूल **अर्चन्** कर्म करता हुआ, **वृत्रम्** पाप एवं शत्रु को **हनः** विनष्ट कर दे, **अपः** शत्रु से प्रतिरुद्ध सत्कर्मसमूह को **जयाः** जीत ले ॥५॥

---

१. ऋ० १।८०।७ 'तव त्यत्' इत्यत्र 'तमु त्वं' इति पाठः।
२. ऋ० १।८०।३।

इस मन्त्र में वीर रस है, श्लेषालंकार है, अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का योग होने से दीपक भी है ॥५॥

भावार्थ--मनुष्य का आत्मा, राजा और सेनाध्यक्ष जब अपनी शत्रुओं से दुर्दमनीय महान् शक्ति को पहचान लेते हैं, तब सब आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को धूल में मिलाकर निश्चय ही विजयी होते हैं ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

४१४. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् ।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधाऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥६॥[1]

पदार्थ—**यत्** जब **आजयः** देवासुरसंग्राम **उदीरते** उपस्थित होते हैं, तब **धृष्णवे** जो शत्रु का पराजय कर सकता है उसे ही **धनम्** ऐश्वर्य **धीयते** मिलता है । इसलिए हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन्, सेनापति अथवा राजन् ! तुम **मदच्युता** शत्रुओं के मद को चूर करने वाले **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को अथवा युद्धरथ को चलाने के साधनभूत जल-अग्नि रूप या वायु-विद्युत् रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** कार्य में नियुक्त करो । **कम्** किसी को अर्थात् शत्रुजन को **हनः** विनष्ट करो, **कम्** किसी को अर्थात् मित्रजन को **वसौ** ऐश्वर्य में **दधः** स्थापित करो । **अस्मान्** दिव्य कर्मों में संलग्न हम धार्मिक लोगों को **वसौ** ऐश्वर्य में **दधः** स्थापित करो ॥६॥

भावार्थ—आन्तरिक अथवा बाह्य देवासुरसंग्रामों के उपस्थित होने पर सबको चाहिए कि असुरों को पराजित कर, देवों को उत्साहित कर विजयश्री और दिव्य तथा भौतिक सम्पदा प्राप्त करें ॥६॥

इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने इस प्रकार इतिहास दर्शाया है—"रहूगण का पुत्र गोतम कुरु-सृञ्जय राजाओं का पुरोहित था । उन राजाओं का शत्रुओं के साथ युद्ध होने पर उस ऋषि ने इस मन्त्र से इन्द्र की स्तुति करके स्वपक्ष वालों के विजय की प्रार्थना की थी ।" रहूगण का पुत्र गोतम इस मन्त्र का द्रष्टा ऋषि है । उसके विषय का ही यह इतिहास जानना चाहिए ।

अगले मन्त्र में विद्वानों के सत्कार, उनके उपदेश के श्रवण, तदनुकूल आचरण आदि का विषय है ।

४१५. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥७॥[2]

पदार्थ—**विप्राः** इन विद्वान् अतिथियों ने **अक्षन्** भोजन कर लिया है, **अमीमदन्त हि** निश्चय ही ये तृप्त हो गये हैं । **प्रियाः** इन प्रिय अतिथियों ने **अव अधूषत** मुझ आतिथ्यकर्ता के दोषों को प्रकम्पित कर दिया है । **स्वभानवः** स्वकीय तेज से युक्त इन्होंने **नविष्ठया मती** नवीनतम मति के द्वारा **अस्तोषत** स्वस्ति का आशीर्वाद दिया है । अब, **इन्द्र** हे मेरे आत्मन्, तू **नु** शीघ्र ही **ते हरी** अपने ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** नियुक्त कर अर्थात् विद्वान् अतिथियों के उपदेश पर मनन, चिन्तन और आचरण करने का प्रयत्न कर ॥७॥

---

१. ऋ० १।८१।३, अथ० २०।५६।३ । उभयत्र 'धनम्', 'युङ्क्ष्वा' अनयोः स्थाने क्रमेण 'धना', 'युक्ष्वा' इति पाठः । साम० १००४ ।

२. ऋ० १।८२।२; य० ३।५१ । अथ० १८।४।६१, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'प्रिया' इत्यत्र 'प्रियाँ' इति पाठः ।

इस मन्त्र में अक्षन्, अमीमदन्त, अधूषत, अस्तोषत इन अनेक क्रियाओं में एक कर्तृकारक के योग के कारण दीपक अलंकार है। 'षत' की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—गृहस्थों से सत्कार पाये हुए अतिथि जन अपने बहुमूल्य उपदेश से उन्हें कृतार्थ करें, और गृहस्थ जन प्रयत्नपूर्वक उसके अनुकूल आचरण करें ॥७॥

इस मन्त्र के यजुर्वेदभाष्य में उवट और महीधर ने कात्यायनश्रौतसूत्र का अनुसरण करते हुए यह व्याख्या की है कि पितृयज्ञ कर्म में जो पितर आये हैं उन्होंने हमारे दिये हुए हविरूप अन्न को खा लिया है और वे तृप्त हो गये हैं आदि। इस विषय में यह जान लेना चाहिए कि मृत पितरों को भोजन देना आदि वेदसम्मत नहीं है।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, अपने अन्तरात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

४१६. उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथा इव।
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी ॥८॥[1]

पदार्थ—हे **मघवन्** ऐश्वर्यशाली, दानशील परमेश्वर, मेरे अन्तरात्मा अथवा राजन्! तुम **गिरः** मेरी वाणियों को **सु उप-उ शृणुहि** भलीभाँति समीपता के साथ सुनो। **अतथाः इव** जैसे पहले मेरे अनुकूल थे उसके विपरीत **मा** मत होवो। तुम **कदा** कब **नः** हमें **सूनृतावतः** प्रिय-सत्य वाणियों से युक्त, वेदवाणियों से युक्त, आध्यात्मिक उषा से युक्त तथा आवश्यक भोज्य पदार्थों से युक्त **इत्** निश्चय ही **करः** करोगे? क्यों तुम **अर्थयासे इत्** माँगते ही जा रहे हो, देते नहीं? हे **इन्द्र** शक्तिशाली मेरे अन्तरात्मा! तुम **नु** शीघ्र ही **ते** अपने **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **योज** सक्रिय करो तथा श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म के उपार्जन द्वारा समृद्ध होवो। और, हे **इन्द्र** परमात्मन्! तुम **ते** अपने **हरी** ऋक्-सामों को **नु** शीघ्र ही **योज** हमारे आत्मा में प्रेरित करो, जिससे सर्वविध ज्ञान और साम-संगीत से सम्पन्न होकर हम उत्कर्ष प्राप्त करें। और, हे **इन्द्र** राजन्! तुम, हमारे समीप आने के लिए **ते** अपने **हरी** जल-अग्नि, वायु-विद्युत् आदि को **योज** विमान आदि रथों में नियुक्त करो और हमारे समीप आकर हमें अपनी सहायता का भागी करो ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—सर्वैश्वर्यवान्, सफलताप्रदायक परमेश्वर का आह्वान करके तथा अपने अन्तरात्मा और राष्ट्र के राजा को उद्बोधन देकर हम समस्त अभीष्टों को प्राप्त कर सकते हैं ॥८॥

अगले मन्त्र के विश्वेदेवाः देवता हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र आदि की गति के प्रसङ्ग से इन्द्र की महिमा वर्णित है।

४१७. चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥९॥[2]

पदार्थ—**चन्द्रमाः** चन्द्रमा **अप्सु अन्तः** अन्तरिक्ष के मध्य में, और **सुपर्णः** किरणरूप सुन्दर पंखों वाला सूर्य **दिवि** द्युलोक में **आ धावते** चारो ओर दौड़ रहा है, अर्थात् चन्द्रमा अपनी धुरी पर घूमने के

---

१. ऋ० १।८२।१, 'यदा नः सूनृतावतः कर आदर्थयास इद्' इति पाठः।

२. ऋ० १।१०५।१ ऋषिः आप्त्यस्त्रित आङ्गिरसः कुत्सो वा। य० ३३।९०, 'रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं हरिरेति कनिक्रदत्' इत्युत्तरार्धः। अथ० १८।४।८९, ऋषिः अथर्वा, देवता चन्द्रमाः।

साथ-साथ पृथिवी और सूर्य के चारों ओर भी घूम रहा है, तथा सूर्य केवल अपनी धुरी पर घूम रहा है, इस बात को सब जानते हैं, किन्तु हे **हिरण्यनेमयः** स्वर्णिम चक्रों वाले **विद्युतः** विद्योतमान चन्द्र, सूर्य, विद्युत् आदियो ! **वः** तुम्हारे **पदम्** गतिप्रदाता को, कोई भी **न विन्दन्ति** नहीं जानते हैं। हे **रोदसी** स्त्रीपुरुषो अथवा राजा-प्रजाओ ! तुम **मे** मेरी **अस्य** इस बात को **वित्तम्** समझो। अभिप्राय यह है कि उस इन्द्र परमात्मा को साक्षात्कार करने का तुम प्रयत्न करो, जिसकी गति से यह सब-कुछ गतिमान् बना है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्राकृतिक पदार्थों के गति, प्रकाश आदि विषयक ज्ञान से ही सन्तोष नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे भी जानना चाहिए जो इन पदार्थों को पैदा करने वाला, इन्हें गति, प्रकाश आदि प्रदान करने वाला और इनकी व्यवस्था करने वाला है ॥९॥

इस ऋचा की व्याख्या में विवरणकार माधव ने त्रित विषयक वही इतिहास लिखा है जो पूर्व संख्या ३६८ के मन्त्र पर प्रदर्शित किया जा चुका है। भरत स्वामी ने भिन्न इतिहास दिखाया है—"एकत, द्वित और त्रित ये तीनों आप्त के पुत्र थे। वे जब यज्ञ कराकर, गौएँ लेकर लौट रहे थे, तब मरुस्थल में प्यास से व्याकुल होकर, वहाँ एक कुएँ को देखकर वहीं रुक गये और कुएँ में उतरने का विचार करने लगे। पहले त्रित कुएँ में उतर गया। शेष दोनों को बाहर ही पानी मिल गया और वे पानी पीकर तृप्त हो गये तथा कुएँ को एक चक्र से बन्द करके गौएँ लेकर चलते बने। इधर कुएँ में बन्द पड़ा हुआ त्रित देवों की स्तुति करने लगा। वह कुआँ निर्जल था, जिसमें त्रित प्यास से व्याकुल होकर उतरा था। वहीं पड़ा-पड़ा वह रात्रि में चन्द्रमा को देखकर विलाप करने लगा कि चन्द्रमा पानी में स्थित हुआ अन्तरिक्ष में दौड़ रहा है आदि। किसी तरह मेरी प्यास बुझ जाए, इसलिए उसका विलाप है। वह कहता है कि हे आकाश और भूमि, तुम मेरे इस संकट को जानो।"

यहाँ माधव और भरत स्वामी के इतिहासों में अन्तर ही उनके कल्पनाप्रसूत होने में प्रमाण है।

अगले मन्त्र के देवता अश्विनौ हैं। इसमें शरीर-रथ और शिल्प-रथ का विषय वर्णित है।

४१८. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥१०॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** शरीर-रथ के पक्ष में। हे **अश्विनौ** परमात्मन् और जीवात्मन् ! **प्रियतमम्** सर्वाधिक प्रिय, **वृषणम्** बलवान्, **वसुवाहनम्** वासक इन्द्रियों द्वारा वहन किये जाने वाले **रथम्** शरीररूप रथ को **प्रति** लक्ष्य करके **स्तोता** स्तुतिकर्ता **ऋषिः** तत्त्वार्थद्रष्टा विद्वान् **स्तोमेभिः** तुम्हारे स्तोत्रगानों के साथ **वाम्** तुमसे **प्रतिभूषति** याचना कर रहा है, अर्थात् मैं याचना कर रहा हूँ। हे **माध्वी** मधुर परमात्मन् और जीवात्मन् ! तुम **मम** मेरे **हवम्** आह्वान को **प्रतिश्रुतम्** सुनो। भाव यह है कि मैं आगामी जन्म में मानवशरीर ही प्राप्त करूँ, पशु, पक्षी, सरकने वाले जन्तु, स्थावर आदि का शरीर नहीं ॥

द्वितीय शिल्प-रथ के पक्ष में। हे **अश्विनौ** रथों के निर्माता और चालक शिल्पिजनो ! **प्रियतमम्** अतिशय प्रिय, **वृषणम्** शत्रुसेना के ऊपर शस्त्रास्त्रों की वर्षा के साधनभूत, **वसुवाहनम्** धन-धान्य आदि को देशान्तर में पहुँचाने वाले **रथम्** विमानादि यान को **वाम्** तुम्हारा **स्तोता** प्रशंसक **ऋषिः** विद्वान् मनुष्य **स्तोमेभिः** देशान्तर में ले जाये जाने वाले पदार्थ-समूहों से **प्रतिभूषति** अलंकृत करता है। हे **माध्वी** मधुर गति की विद्या को जानने वाले शिल्पी जनो ! तुम **मम** मेरी **हवम्** विमानादि यानों के निर्माण करने तथा उन्हें चलाने विषयक पुकार को **प्रति श्रुतम्** पूर्ण करो ॥१०॥

१. ऋ० ५।७५।१ 'स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेन प्रतिभूषति' इत्युत्तरार्धपाठः। साम० १७४३।

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ।।१०।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को ऐसे कर्म करने चाहिएँ, जिससे पुनर्जन्म में मानवशरीर ही प्राप्त हो। इसी प्रकार राष्ट्र में शिल्पविद्या की उन्नति से वेगवान् भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान बनवाने चाहिएँ और देशान्तरगमन, व्यापार, युद्ध आदि में उनका प्रयोग करना चाहिए ।।१०।।

इस दशति में इन्द्र की सहयोगिनी गौरियों का, इन्द्र के स्वराज्य का, उसके आह्वान, उद्बोधन और स्तवन का, चन्द्र-सूर्य आदि की गतियों के तत्कर्तृक होने का और उसके द्वारा दातव्य रथ का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ।।

पंचम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।

चतुर्थ अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।।

।।४।। अथ 'आ ते अग्न' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७ वसुश्रुतः; २, ४ विमदः; ३ सत्यश्रवाः; ५, ६ गोतमः; ८ अंहोमुग् वामदेव्यः ।। देवता—१, २, ७ अग्निः; ३ उषाः; ४ सोमः; ५, ६ इन्द्रः; ८ विश्वेदेवाः ।। छन्दः—१-७ पङ्क्तिः, ८ उपरिष्टाद् बृहती ।। स्वरः—१-७ पञ्चमः, ८ मध्यमः ।।

प्रथम दो ऋचाओं का अग्नि देवता है। इस मन्त्र में अग्नि परमेश्वर के दिव्य प्रकाश की याचना है।

४१९. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ।।१।।[1]

पदार्थ—हे **देव** सर्वप्रकाशक **अग्ने** अन्तर्यामी जगदीश्वर ! हम **ते** तेरे **द्युमन्तम्** दीप्तिमान्, **अजरम्** कभी जीर्ण न होने वाले प्रकाश को **आ इधीमहि** हृदय में प्रदीप्त करें। **यत्** जो **ते** तेरी **स्या** वह प्रसिद्ध **पनीयसी** अतिशय स्तुतियोग्य **समित्** दीप्ति **द्यवि** सूर्य में **दीदयति** प्रकाशित है, उस **इषम्** व्याप्त दीप्ति को **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं को भी **आ भर** प्रदान कर ।।१।।

भावार्थ—जो कुछ भी प्रकाशमान अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, तारे आदि भूमि पर और आकाश में विद्यमान हैं, वे सब परमात्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। उस प्रकाश से सब मनुष्यों को अपना आत्मा भी प्रकाशित करना चाहिए ।।१।।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे गुण वाले अग्नि परमेश्वर को हम वरते हैं।

४२०. अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ।।२।।[2]

पदार्थ—हम लोग **न** इस समय **होतारम्** सुख आदि के दाता, **शीरम्** सर्वत्र शयन करने वाले, सर्वव्यापक, **पावकशोचिषम्** पवित्रताकारक दीप्ति वाले **त्वा अग्निम्** आप अग्रनायक परमेश्वर को **स्व-**

---

१. ऋ० ५।६।४। अथ० १८।४।८८ ऋषिः अथर्वा, 'आ ते अग्न', 'यद्ध स्या', 'द्यवीषं' इत्यत्र क्रमेण 'आ त्वाग्न', 'यद् घ सा', 'द्यवि। इषं' इति पाठः। साम० १०२२।

२. ऋ० १०।२१।१, ऋषिः विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद् वा वासुक्रः। 'यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे' इत्युत्तरार्धपाठः।

वृक्तिभिः अपनी सूक्तियों अथवा क्रियाओं से **आ वृणीमहे** वरते हैं। हम **वः मदे** आपके प्राप्त कराये हुए आनन्द में **वि** उत्कर्ष को प्राप्त करें। आप **यज्ञेषु** ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पञ्च यज्ञों में तथा अन्य विविध परोपकार-रूप यज्ञों में **स्तीर्णबर्हिषम्** जिसने आसन बिछाया है अर्थात् उन यज्ञों को करने में जो प्रवृत्त हुआ है उसे **विवक्षसे** विशेष रूप से उन्नत कर देते हो ॥२॥

भावार्थ—परम आनन्द के प्रदाता, सर्वत्र व्यापक, अपने तेज से मनों को पवित्र करने वाले, महान् परमेश्वर का सब यज्ञकर्ताओं को भौतिक अग्नि के समान वरण करना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र का उषा देवता है। इसमें उषा से बोध प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है।

४२१. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥[1]

पदार्थ—हे **उषः** प्राकृतिक उषा के समान मेरे आत्मलोक में उदित होती हुई अध्यात्मप्रभा! **दिवित्मती** विवेकख्याति को प्रदीप्त करने वाले गुणों से युक्त तू **नः** हमें **अद्य** आज **महे राये** योगसिद्धिरूप महान् ऐश्वर्य के लिए **बोधय** बोध प्रदान कर, **यथा** जैसे हे **सुजाते** शुभ जन्म वाली, **अश्वसूनृते** व्यापक प्रिय दिव्य वाणी वाली उषा! तू **सत्यश्रवसि** सत्य यश वाले **वाय्ये** विस्तार योग्य जीवन में, हमें **अबोधयः** बोध प्रदान करती रही है ॥३॥

भावार्थ—जैसे प्रभातदीप्ति रूप उषा सबको निद्रा से जगाती है, वैसे ही आध्यात्मिक उषा हमें जागृति और प्रबोध प्रदान करे ॥३॥

अगले मन्त्र का सोम देवता है। उससे याचना की गयी है।

४२२. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा गावो न यवसे विवक्षसे ॥४॥[2]

पदार्थ—हे सोम! हे रसागार परमात्मन्! आप **नः** हमारे लिए **भद्रम्** श्रेष्ठ **मनः** मनोबल, **दक्षम्** शारीरिक बल, **उत** और **क्रतुम्** प्रज्ञान तथा कर्म **अपि वातय** प्राप्त कराओ। **अथ** और **ते** आपके अपने **अन्धसः** शान्तिरस के **सख्ये** सखित्व में, तथा **वः** आपके अपने **मदे** आनन्द में, हमें **वि रण** विशेष रूप से रमाओ, **गावः न** जैसे गौएँ **यवसे** घास में रमती हैं। हे सोम परमात्मन्! आप **विवक्षसे** महान् हो ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से मनुष्य आत्मा, मन, बुद्धि आदि के बल को और आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं ॥४॥

---

१. ऋ० ५।७९।१, साम० १७४०।

२. ऋ० १०।२५।१ ऋषिः विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद् वा वासुक्रः। 'अथा', 'रणा' इत्यत्र क्रमेण 'अधा' 'रणन्' इति पाठः। केवलं पूर्वार्द्धः ऋ० १०।२०।१ इत्यत्रापि दृश्यते।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और सेनापति का कर्म वर्णित है ।

४२३. ऋत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः ।
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥५॥[1]

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में । **ऋत्वा** दिव्य प्रज्ञा और जगत् के धारण आदि कर्म से **महान्** महान्, **भीमः** नियम तोड़ने वालों के लिए भयंकर वह इन्द्र परमेश्वर **अनु स्वधम्** अपनी धारणशक्ति के अनुरूप **शवः** बलवान् सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि को **आ वावृते** घुमा रहा है । **ऋष्वः** लोकलोकान्तरों को अपनी-अपनी कक्षाओं में गति कराने वाला, **शिप्री** जगत् का विस्तारक, **हरिवान्** अकर्मण्यता आदि दोषों को हरने के सामर्थ्य वाला वह **श्रिये** ऐश्वर्यप्रदानार्थ **उपाकयोः** परस्पर सम्बद्ध **हस्तयोः** मनुष्य के हाथों में **आयसम्** दृढ़ **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूह को **आ दधे** थमाता है ॥

द्वितीय सेनापति के पक्ष में । **ऋत्वा** शत्रुवध आदि कर्म से **महान्** महान्, **भीमः** दुष्टों के लिए भयंकर इन्द्र अर्थात् वीर सेनापति **अनुस्वधम्** पौष्टिक अन्न के भक्षण के अनुरूप, अपने शरीर में **शवः** बल **आ वावृते** उत्पन्न करता है । **ऋष्वः** गतिमान्, कर्मण्य, **शिप्री** शत्रुओं में आक्रोश या हाहाकार पैदा करने वाला, **हरिवान्** प्रशस्त घोड़ों अथवा हरणसाधन विमानादि यानों वाला वह **श्रिये** विजयश्री प्राप्त करने के लिए **उपाकयोः** निकट पहुँचे शत्रुदलों के ऊपर प्रहारार्थ **हस्तयोः** हाथों में **आयसम्** लोहे के बने, अथवा लोहे जैसे दृढ़ **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूह को **नि दधे** धारण करता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अकर्मण्य लोगों के भी हृदय में वीरता का संचार करके उनके हाथों में शस्त्रास्त्र ग्रहण करा देता है, वैसे ही सेनापति अपने हाथों में शत्रु का वध करने में समर्थ दृढ़ शस्त्रास्त्रों को धारण कर, शत्रुओं पर प्रहार करके उन्हें पराजित करे ॥५॥

अगले मन्त्र में मानवदेहरूप रथ को कौन प्राप्त करता है इसका वर्णन है ।

४२४. स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम् ।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी ॥६॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! **स घ** वही मनुष्य **तम्** उस श्रेष्ठ, **वृषणम्** बलवान्, **गोविदम्** इन्द्रियरूप बैलों से युक्त **रथम्** मानव-शरीर-रूप रथ का **अधितिष्ठाति** अधिष्ठाता बनता है, **यः** जो **हारियोजनम्** प्राणयुक्त मानव-शरीर को प्रदान करने में समर्थ **पात्रम्** सत्कर्मों के कोष को **पूर्णम्** भरा हुआ **चिकेतति** जान लेता है । इसलिए, हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **ते हरी** अपने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को **नु** शीघ्र ही **योज** नियुक्त कर, अर्थात् पुनर्जन्म में मनुष्य-शरीर प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों से सत्य ज्ञान प्राप्त कर और कर्मेन्द्रियों से उत्कृष्ट कर्म कर ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस जन्म में मानवदेह प्राप्त कराने योग्य सत्कर्मों को करता है, वही अगले जन्म में मानवदेह प्राप्त करता है, यह जानकर सब मनुष्यों को श्रेष्ठ ही कर्म करने चाहिएँ ॥६॥

---

१. ऋ० १।८१।४, 'वावृते' इत्यत्र 'वावृधे' इति पाठः ।
२. ऋ० १।८२।४ 'मिन्द्रा' इत्यत्र 'मिन्द्र' इति पाठः ।

अगले मन्त्र का अग्नि देवता है। सब परमेश्वर से ही शक्ति ग्रहण करते हैं, इस विषय का वर्णन है।

४२५. अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑।
अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥७॥[1]

पदार्थ—मैं **तम् अग्निम्** उस अग्रनायक एवं अग्नि के समान प्रकाशमान और प्रकाशक परमेश्वर की **मन्ये** अर्चना करता हूँ, **यः** जो **वसुः** सबका निवास-प्रदाता है, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **धेनवः** वाणियाँ **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाती हैं, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **आशवः** शीघ्रगामी **अर्वन्तः** प्राण **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाते हैं, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **नित्यासः** अनादि और अनन्त **वाजिनः** बलवान् आत्माएँ **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाती हैं। हे परमात्मन्! तू **स्तोतृभ्यः** तेरे गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करनेवालों के लिए **इषम्** अभीष्ट पदार्थों व अभीष्ट गुणों के समूह को **आ भर** प्रदान कर ॥७॥

इस मन्त्र में अग्नि परमेश्वर में 'अस्त' (गृह) का आरोप होने से रूपकालंकार है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा के पास से ही सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि और आत्मा, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण आदि अपनी-अपनी क्रियाशक्ति पाते हैं। वही स्तोताओं के मनोरथों को पूर्ण करता है ॥७॥

अगले मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः है। इसमें मित्र, वरुण और अर्यमा के अनुग्रह का फल वर्णित है।

४२६. न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति द्विषः ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **देवासः** विद्वानो! **तं मर्त्यम्** उस मनुष्य को **न अंहः** न अपराध, **न दुरितम्** न पाप **अष्ट** प्राप्त होता है, **यम्** जिसे **सजोषसः** समान प्रीति वाले, परस्पर सामंजस्य रखने वाले, **अर्यमा** मन, सूर्य वा न्यायाधीश, **मित्रः** प्राण, वायु वा मित्र और **वरुणः** आत्मा, चन्द्रमा वा राजा **द्विषः** विपत्ति, विघ्नसमूह वा शत्रुसंघ से **अति नयति** पार कर देते हैं ॥८॥

भावार्थ—शरीर में, जड़ जगत् में, समाज में और राष्ट्र में क्रमशः जो मन, प्राण आदि, जो सूर्य आदि, जो श्रेष्ठ मित्र आदि और जो राजा आदि मुख्य हैं, उनकी रक्षा प्राप्त करके मनुष्य पापों और शत्रुओं को पराजित कर सकते हैं ॥८॥

इस दशति में इन्द्र के तथा इन्द्र से सम्बद्ध अग्नि, उषा, सोम, मित्र, वरुण और अर्यमा के गुण-कर्म वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० ५।६।१, य० १५।४१ ऋषिः परमेष्ठी; साम० १७३७।
२. ऋ० १०।१२६।१, ऋषिः कुल्मलबर्हिषः शैलूषिः अंहोमुग् वा वामदेव्यः। 'नयति' इत्यत्र 'नयन्ति' इति पाठः।

॥५॥ अथ 'परि प्र धन्वेन्द्राय' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३-५, १० धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः; २, ६ त्र्यरुणत्रसदस्यू; ७ वसिष्ठः; ८, ९ वामदेवः ॥ देवता—१-६, १० पवमानः; ७ मरुतः; ८ अग्निः; ९ वाजिनां स्तुतिः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पङ्क्तिः; २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप्पिपीलिकमध्या; ८ पदपङ्क्तिः; ९ पुर उष्णिक् ॥ स्वरः—१, ३-५, ७, ८, १० पञ्चमः; २, ६ गान्धारः; ९ ऋषभः ॥

आदि की छः ऋचाओं का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

४२७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **सोम** रसागार एवं शान्तिमय जगदीश्वर ! **स्वादुः** मधुर आप, मेरे **इन्द्राय** आत्मा के लिए, **मित्राय** मित्रभूत मन के लिए, **पूष्णे** पोषक प्राण के लिए और **भगाय** सेवनीय बुद्धितत्त्व के लिए **परि प्र धन्व** सब ओर से माधुर्य और शान्ति को क्षरित करो ॥१॥

भावार्थ—रसागार और शान्त परमेश्वर ही हमें रसमय और शान्तिप्रिय कर सकता है ॥१॥

अगले मन्त्र में अपने अन्तरात्मा और वीरपुरुष को वीरकर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है।

४२८. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥[2]

पदार्थ—हे वीररसमय मेरे अन्तरात्मन् अथवा वीर पुरुष ! तू **वाजसातये** संग्राम के लिए अर्थात् शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिए **उ सु** भलीभाँति **परि प्र धन्व** चारों ओर प्रयाण कर, **सक्षणिः** हिंसक होकर तू **वृत्राणि** आच्छादक पापों पर **परि** चारों ओर से आक्रमण कर। **ऋणयाः** ऋणों को चुकाने वाला होकर तू **द्विषः** लोभ आदि द्वेषियों को **तरध्यै** पार करने के लिए **नः** हमें **ईरसे** प्रेरित कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि लोभवृत्तियों को छोड़कर ऋण समय पर चुकायें और वीरता-पूर्वक शत्रुओं को पराजित करें ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की जा रही है।

४२९. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥३॥[3]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **सोम** सब जगत् के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! आप **महान्** महान् हो, **समुद्रः** रस के पारावार हो, **देवानाम्** प्रकाशक विद्वानों के, सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-अग्नि आदियों के और ज्ञानेन्द्रिय-मन-बुद्धि आदियों के **पिता** पालनकर्ता हो। आप **विश्वा धाम** सब स्थानों को वा हृदय-धामों को **अभि पवस्व** व्याप्त करके पवित्र करो ॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१।

२. ऋ० ९।११०।१ 'ईरसे' इत्यत्र 'ईयसे' इति पाठः। साम० १३६४।

३. ऋ० ९।१०९।४, साम० १२४१।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **सोम** चन्द्रमा के समान आह्लादक प्रजारञ्जक राजन् ! आप **महान्** गुणों और कर्मों में महान् हो, **समुद्रः** प्रेमरस, शौर्य और सम्पदाओं के सागर हो, **देवानाम्** दानादि गुणों से युक्त प्रजाजनों के **पिता** पालक हो। आप **विश्वा धाम** राष्ट्र के शिक्षा, न्याय, कृषि, व्यापार, उद्योग, सेना आदि सब विभागों में **अभि** पहुँचकर **पवस्व** उन्हें निर्दोष और पवित्र करो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है और सोमपदवाच्य परमात्मा और राजा में समुद्र का आरोप होने से रूपकालंकार भी है ॥३॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सबके हृदयों को पवित्र करता है, वैसे ही राजा राष्ट्र के सब विभागों को भ्रष्टाचार से रहित तथा पवित्र करे ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

१२ ३२उ ३ २ ३ २ ३ २ ३१र २र
४३०. पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर और राजन् ! **अश्वः न** अग्नि, बादल वा सूर्य के समान **निक्तः** शुद्ध, शुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वाले और **वाजी** बलवान् आप **महे** महान् **दक्षाय** बल के लिए तथा **धनाय** धन के लिए **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार तथा अर्थश्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान राजा भी स्वयं शुद्ध आचरण वाला होकर सबके आचरण को पवित्र करे। वही बल और धन सबका उपकारक होता है, जो पवित्रता के साथ तथा पवित्र साधनों से कमाया जाता है ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर और राजा का विषय है।

१ २ ३ २३१२ ३ २३१ २ ३१र र २र
४३१. इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥५॥[2]

पदार्थ—**चारुः** रमणीय, **कविः** दूरदर्शी, मेधावी, **इन्दुः** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोम ओषधि के समान रसागार, शान्ति के सौम्य प्रकाश से प्रदीप्त करने वाला परमेश्वर और राजा **मदाय** आनन्द उत्पन्न करने के लिए, और **भगाय** ऐश्वर्य उत्पन्न करने के लिए **अपाम्** प्राणों के वा जल के समान शान्त प्रजाओं के **उपस्थे** मध्य में स्थित होकर **पविष्ट** पवित्रता देवे ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान राजा भी चारुदर्शन, विवेकी, क्रान्तदर्शी, चन्द्रमा के समान मधुर, प्रेमरस तथा वीररस से परिप्लुत, परमानन्द और धन का दाता, पवित्र एवं पवित्रतादायक होवे ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा, जीवात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है।

२३ १ २ ३१ २३ १२ ३१ २ ३१२
४३२. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥[3]

---

१. ऋ० ९।१०९।१०, 'महे' इत्यत्र 'क्रत्वे' इति पाठः। साम० १३३२।
२. ऋ० ९।१०९।१३।
३. ऋ० ९।११०।२; साम० १३६६।

पदार्थ—हे **सोम** परमात्मन्, जीवात्मन् वा राजन् ! **सुतम्** अभिषिक्त किये हुए **त्वा** तुम्हारा **अनु** अनुगमन करके, हम **महे** महान् **समर्यराज्ये** देवासुरसंग्राम में कुशल दिव्य भावों व वीर क्षत्रियों के राज्य में **मदामसि हि** निश्चय ही आनन्द लाभ करते हैं। हे **पवमान** पवित्रकर्ता देव ! तुम **वाजान् अभि** हमें बल, विज्ञान वा ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिए **प्र गाहसे** प्रकृष्ट रूप से आलोडित करते हो अर्थात् आलोडित करके क्रियाशील बना देते हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और वीर मनुष्य को राजा के पद पर अभिषिक्त करके संग्राम-कुशल वीरभावों व वीरजनों के राज्य में निवास करते हुए हम देवासुरसंग्राम में विजय और उत्कर्ष पायें ॥६॥

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं। प्राणों और योद्धाओं के विषय में प्रश्न उठाते हुए कहा गया है।

४३३. क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वाः ॥७॥[1]

पदार्थ—**के ईम्** कौन ये **व्यक्ताः** प्रकाशमान, **नरः** नेता, **सनीडाः** समान आश्रय वाले, **रुद्रस्य मर्याः** रुद्र के पुत्र कहे जाने वाले, **अथ** और **स्वश्वाः** उत्तम घोड़ों वाले हैं ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर इस प्रकार है—

प्रथम प्राणों के पक्ष में। ये **व्यक्ताः** विशेष गति वाले, **नरः** शरीर के नेता, **सनीडाः** शरीर-रूप समान गृह में निवास करने वाले, **रुद्रस्य मर्याः** रुद्र नामक मुख्य प्राण के सहचर, **स्वश्वाः** इन्द्रियरूप उत्तम घोड़ों वाले, **मरुतः** प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं॥ **द्वितीय** सैनिकों के पक्ष में। ये **व्यक्ताः** कन्धों पर बन्दूकें, पैरों में पादत्राण, छातियों पर सोने के तमगे, भुजाओं में विद्युत्-यन्त्र, शिरों पर शिरस्त्राण इन परिचायक चिह्नों से व्यक्त होते हुए, **सनीडाः** समान राष्ट्ररूप गृह में निवास करने वाले, **रुद्रस्य मर्याः** शत्रुओं को रुलाने वाले सेनापति के मनुष्य, **स्वश्वाः** उत्तम घोड़ों पर सवार अथवा उत्तम अग्नि, विद्युत् आदि को युद्ध-रथ में प्रयुक्त करने वाले **मरुतः** राष्ट्र के वीर सैनिक हैं ॥७॥

इस मन्त्र में प्रश्न में ही उत्तर समाविष्ट होने से गूढ़ोत्तर नामक प्रहेलिकालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे शरीर-रूप गृह में व्यवस्थापूर्वक अपना-अपना स्थान बाँटकर विभिन्न अंगों में आश्रय लेने वाले प्राण शरीर की रक्षा करते हैं, वैसे ही राष्ट्र में निवास करने वाले वीर सैनिक राष्ट्र की रक्षा करते हैं, इस कारण शरीर में प्राणों का और राष्ट्र में सैनिकों का उत्तम खाद्य, पेय आदि से सत्कार करना चाहिए ॥७॥

अगले मन्त्र का अग्नि देवता है। इसमें यह विषय है कि कैसे परमात्मा की हम पूजा करें।

४३४. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनेता प्रकाशक परमेश्वर ! **अश्वं न** घोड़े के समान, और **क्रतुं न** रचयिता शिल्पी के समान **भद्रम्** कल्याणकर्ता, **हृदिस्पृशम्** हृदय को स्पर्श करने वाले **तम्** उस जगत्प्रसिद्ध तुझको

---

१. ऋ० ७।५६।१।
२. ऋ० ४।१०।१; य० १५।४४; १७।७७ ऋषिः परमेष्ठी। साम० १७७७।

अद्य आज **ते ओहैः** तुझे हमारी ओर लाने वाले **स्तोमैः** स्तोत्रों से **ऋध्याम** पूजित करें ।।८।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।८।।

भावार्थ—जैसे घोड़ा देशान्तर को जाने में साधन बनकर और शिल्पी विविध यन्त्रकला आदि का निर्माण करके हमारा हित करता है, वैसे ही परमेश्वर हमें उन्नति की ओर ले जाकर और हमारे लिए सूर्य, चन्द्र, वायु, फल, मूल आदि विविध वस्तुओं का निर्माण कर हमारा हितकर्ता होता है ।।८।।

अगले मन्त्र में वाजियों की स्तुति का विषय है ।

४३५. आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन् देवस्य सवितुः सवम् ।
स्वर्गाँ अर्वन्तो जयत ।।९।।

पदार्थ—**वाजिनः** ज्ञानवान् लोग **वाजम्** बल को, और **देवस्य** प्रकाशक **सवितुः** प्रेरक परमात्मा की **सवम्** प्रेरणा को **आ अग्मन्** प्राप्त करते हैं। हे **मर्याः** मनुष्यो ! तुम भी **आविः** अपने आत्मा में बल और परमात्मा की प्रेरणा को प्रकट करो । हे **अर्वन्तः** उद्योगी मनुष्यो ! तुम **स्वर्गान्** सुखमय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास लोकों को तथा मुक्तिलोकों को **जयत** जीत लो ।।९।।

इस मन्त्र में 'अर्वन्तः' शब्द के प्रयोग से 'जैसे घोड़े संग्राम को जीत लेते हैं' यह उपमालंकार ध्वनित होता है । 'वाजं, वाजि' तथा 'सवि, सव' में छेकानुप्रास और वकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।९।।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि आत्मबल का संचय करके और परमात्मा से सत्प्रेरणा लेकर, शुभ कर्म करके लौकिक तथा पारलौकिक सुख को प्राप्त करें ।।९।।

अगले मन्त्र का पवमान सोम देवता है । सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

४३६. पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनुपूर्व्यः ।।१०।।[1]

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **द्युम्नी** यशस्वी, **अवीनां महान्** बहुत-सी भूमियों से भी अधिक महान्, **पूर्व्यः** सनातन, **सुधारः** आनन्दरस की उत्तम धारों सहित आप **पवस्व** मेरे हृदय में परिस्रुत हों ।।१०।।

भावार्थ—समाहित मन से निरन्तर उपासना किया गया रसनिधि परमेश्वर आनन्द की बौछारों के साथ हृदय में बरसता है ।।१०।।

इस दशति में सोम नाम से परमात्मा की रसमयता का वर्णन करके उससे आनन्दरस और पवित्रता की याचना होने से, अग्नि नाम से उसके तेजोमय रूप का वर्णन होने से, और मरुतों के नाम से प्राणादि का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पञ्चमी दशति समाप्त ।
प्रथम अर्ध समाप्त हुआ ।
चतुर्थ अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ।।

---

१. ऋ० ९।१०९।७, 'महाँ अवीनामनु' इत्यत्र 'महामवीनामनु' इति पाठः ।

॥६॥ अथ 'विश्वतोदावन्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ५, ६, ८-१० वामदेवः; ३, ४ अवस्युः; ७ संवर्तः ॥ देवता—१-५, ८-१० इन्द्रः; ६ विश्वेदेवाः; ७ उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा पंक्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र से धनादि की याचना की गयी है।

४३७. विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥१॥

पदार्थ—हे **विश्वतोदावन्** सब ओर दान करने वाले परमात्मन् वा राजन्! आप **विश्वतः** सब ओर से **नः** हमारे लिए **आ भर** विद्या, धन, बल आदि लाइए, **यम्** जिन **शविष्ठम्** बलिष्ठ **त्वा** आपसे, हम **ईमहे** याचना कर रहे हैं ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थ-श्लेष अलंकार, तथा 'विश्वतो' की आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर हमारे लिए वेदज्ञान, आत्मबल, देहबल तथा सूर्य, वायु, पृथिवी, सुवर्ण आदि धन देता है, वैसे ही राजा भी राष्ट्र में निरक्षरों को विद्या, निर्बलों को बल और निर्धनों को धन प्रदान करे ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा का वर्णन किया गया है।

४३८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥२॥[1]

पदार्थ—**एषः** यह मेरे द्वारा अनुभव किया जाता हुआ परमेश्वर **ब्रह्मा** ज्ञान, गुण, कर्म आदि से सर्वतोवृद्ध होने के कारण ब्रह्मा कहलाता है, **यः ऋत्वियः** जिसकी पूजा की ऋतु सदा ही रहती है, और जो **इन्द्रो नाम श्रुतः** इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, उसकी मैं **गृणे** स्तुति करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर सब दृष्टियों से वृद्ध, सब दृष्टियों से भद्र और सब ऋतुओं में उपासनीय है ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के पूजन वा सत्कार का विषय है।

४३९. ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥३॥[2]

पदार्थ—**ब्रह्माणः** आस्तिक तथा देशभक्त लोग **अर्कैः** वेदमन्त्रों से **इन्द्रम्** विघ्नविदारक परमेश्वर वा राजा को **महयन्तः** पूजित वा सत्कृत करते हुए **अहये हन्तवै** सर्प के समान कुटिल गति वाले विघ्न-समूह, पाप वा शत्रु को नष्ट करने के लिए **उ** निश्चय ही **अवर्द्धयन्** अपने हृदय में वा राष्ट्र में बढ़ाते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर योगमार्ग में आये विघ्नों का, अन्तःकरण और समाज में प्रसार पाये पापरूप शत्रुओं का तथा दुष्टों का संहार करता है, वैसे ही राजा को चाहिए कि राष्ट्र की उन्नति के लिए शत्रुओं का विनाश करे ॥३॥

---

१. साम० १७६८।

२. ऋ० ५।३१।४ उत्तरार्धः।

अगले मन्त्र में इन्द्र के रथ और वज्र के रचे जाने का विषय है।

४४०. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम् ॥४॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में। हे **पुरुहूत** बहुतों से गुणकीर्तन किये गये जीवात्मन्! **ते** तेरे लिए **अनवः** प्राण **अश्वाय** शीघ्रगमनार्थ **रथम्** शरीररूप रथ को **तक्षुः** रचते हैं, **त्वष्टा** जगत् का शिल्पी परमेश्वर **द्युमन्तम्** तेजोमय **वज्रम्** वाणी रूप वज्र को, रचता है। उस यशोमय शरीर-रथ से जीवनयात्रा करता हुआ तू वाणीरूप वज्र से पाखण्डियों का खण्डन कर॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **पुरुहूत** बहुत-से प्रजाजनों द्वारा सत्कृत अखण्ड ऐश्वर्य वाले राजन्! **ते** आपके लिए **अनवः** शिल्पी मनुष्य **अश्वाय** शीघ्रगमनार्थ **रथम्** यात्रा के तथा युद्ध के साधनभूत भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलने वाले यान-समूह को **तक्षुः** रचें, **त्वष्टा** शस्त्रास्त्रों का निर्माता शिल्पी **द्युमन्तम्** चमचमाते हुए **वज्रम्** शस्त्रास्त्र-समूह को रचे। इस प्रकार रथ, शस्त्रास्त्र आदि युद्धसाधनों से युक्त होकर आप शत्रुओं को पराजित कर प्रजा को सुखी करें॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥४॥

भावार्थ—जैसे जीवात्मा शरीर-रथ पर स्थित होकर वाणीरूप वज्र से कुतर्कों को खण्डित करता हुआ सत्यपक्ष की रक्षा करता है, वैसे ही राजा भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान में बैठकर वज्र से शत्रुओं का उच्छेद कर राष्ट्र की रक्षा करे॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि धनादि को कौन प्राप्त करता है।

४४१. शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥५॥

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मा रूपी इन्द्र! **शम्** सुख, शान्ति, **पदम्** उच्च पद, **मघम्** आध्यात्मिक और भौतिक धन **रयीषिणे** ऐश्वर्यप्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा वाले को ही मिलता है। **अव्रतः** व्रतरहित और अकर्मण्य मनुष्य **कामम्** किसी उच्च आकांक्षा को **न हिनोति** नहीं प्राप्त होता, और **न** न ही **रयिम्** ऐश्वर्य को **स्पृशत्** स्पर्श कर पाता है॥५॥

भावार्थ—धन, सुख, शान्ति और राजा, मन्त्री, न्यायाधीश आदि के उच्च पद एवं मोक्षपद को जो पाना चाहते हैं, उन्हें उसके लिए तीव्र महत्त्वाकांक्षा मन में धारण करके उसकी प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए॥५॥

अगले मन्त्र में 'विश्वेदेवाः' देवता हैं। उनकी पवित्रता का वर्णन किया गया है।

४४२. सदा गावः विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

पदार्थ—**सदा** हमेशा **विश्वधायसः** सबको अपना रस पिलाने वाली **गावः** धेनुएँ, सूर्यकिरणें और वेदवाणियाँ **शुचयः** पवित्र और पवित्रताकारक होती हैं। **सदा** हमेशा **देवाः** दान करने, प्रकाशित होने, प्रकाशित करने आदि गुण वाले सदाचारी विद्वान् लोग **अरेपसः** निर्दोष एवं पवित्र होते हैं॥६॥

भावार्थ—सब स्त्री-पुरुषों को गौओं, सूर्यकिरणों, वेदवाणियों और विद्वानों के समान सदा निर्दोष और पवित्र रहना चाहिए॥६॥

---

१. एतं चतुर्थं मन्त्रं पूर्वार्द्धं विधाय तृतीयं मन्त्रं चोत्तरार्धं कृत्वा ऋग्वेदस्य ५।३१।४ मन्त्रो निष्पद्यते, यत्र 'तक्षुस्' इत्यस्य स्थाने 'तक्षन्' इति पाठः। अवस्युरात्रेयः ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः।

अगले मन्त्र का देवता उषा है। उषा के नाम से जगन्माता का आह्वान किया गया है।

४४३. आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥७॥[1]

पदार्थ—हे उषा के समान तेजोमयी जगन्माता! तू **वनसा सह** अपने संभजनीय तेज के साथ **आ याहि** आ, मेरे हृदय में प्रादुर्भूत हो, **यत्** जब **गावः** वेदरूपिणी गौएँ **ऊधभिः** ज्ञानरस से भरे मन्त्र रूप ऊधसों के साथ **वर्तनिम्** मेरे आत्मारूप दोहनगृह में **सचन्त** पहुँचें ॥७॥

इस मन्त्र में उपमानों द्वारा उपमेयों के निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—उषा का प्रादुर्भाव होने पर जैसे घड़े के समान विशाल ऊधस वाली गौएँ दूध देने के लिए दोहनगृह को प्राप्त होती हैं, वैसे ही जगन्माता के प्रादुर्भूत होने पर ज्ञानरस से पूर्ण वेदरूपिणी गौएँ अपना ज्ञान रूप दूध देने के लिए स्तोता के आत्मा में पहुँचती हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर को सम्बोधन किया गया है।

४४४. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** मधु बरसाने वाले जगदीश्वर! हम **ते** तुझे **धीमहे** अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं। तेरे **मधुमति** मधुर **प्रक्षे** आनन्द के झरने में **क्षियन्तः** निवास करते हुए, हम **रयिम्** आनन्द रूप धन को **पुष्येम** परिपुष्ट करें ॥८॥

भावार्थ—जगदीश्वर की उपासना से उसके आनन्द के झरने में अपने-आप को नहलाते हुए हम धन्य हों ॥८॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की आराधना का फल वर्णित है।

४४५. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥९॥[3]

पदार्थ—**स्वर्काः** उत्तम स्तुति करने वाले, अथवा उत्तम विधि से वेदमन्त्रों का उच्चारण करने वाले **मरुतः** ऋत्विज् लोग **अर्कम्** अर्चनीय परमेश्वर की **अर्चन्ति** पूजा करते हैं। **श्रुतः** वेदों में प्रसिद्ध अथवा सुना गया, **युवा** सदा युवा, युवा के समान असीम बल वाला **सः** वह **इन्द्रः** परमेश्वर, उन्हें **आ स्तोभति** सहारा देता है ॥९॥

इस मन्त्र में अनुप्रास अलंकार है, साथ ही परस्पर उपकार करने रूप वस्तु से परिवृत्ति अलंकार व्यंग्य है ॥९॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदमन्त्रों के गानपूर्वक परमात्मा की आराधना करते हैं, उन्हें वह अक्षय अवलम्ब देकर अनुगृहीत करता है ॥९॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है।

४४६. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥१०॥[4]

---

१. ऋ० १०।१७२।१।
२. साम० १११५।
३. साम० १११४।
४. साम० १११३।

पदार्थ—हे मित्रो ! **वः** तुम **वृत्रहन्तमाय** सबसे बढ़कर पाप, अज्ञान आदि के विनाशक, **विप्राय** विद्वान्, मेधावी **इन्द्राय** वीर परमेश्वर के लिए **गाथम्** स्तोत्र को **गायत** गाओ, **यम्** जिस स्तोत्र को, वह **जुजोषते** प्रीतिपूर्वक सेवन करता है ॥१०॥

भावार्थ—सामस्तोत्रों से परमेश्वर की आराधना करके उससे पुरुषार्थ, पापविनाश और धारणावती बुद्धि की प्रेरणा सबको लेनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के गुणवर्णनपूर्वक उसकी स्तुति की प्रेरणा होने से, उसके रथ और वज्र का वर्णन होने से, उससे सम्बद्ध वाणियों, गायों, किरणों और विद्वानों की पवित्रता का वर्णन होने से, उससे सम्बद्ध उषा का आह्वान होने से और उसकी अर्चना का फल वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।
चतुर्थ अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

॥७॥ अथ 'अचेत्यग्नि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३, ४, ७, ६, १० वामदेवः; २ बन्धुः; ५ संवर्तः; ६ भुवन आप्त्यः; ८ भरद्वाजः । देवता—१, २, ३ अग्निः; ४, ८, १० इन्द्रः; ५ उषाः; ६, ७, ९ विश्वेदेवाः । छन्दः— १, ३, ४, ७ द्विपदा गायत्री; २, ५, ६ द्विपदा पङ्क्तिः; ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप्; १० एकपदा गायत्री । स्वरः— १, ३, ४, ७, १० षड्जः; २, ५, ६ पञ्चमः; ८, ९ धैवतः ॥

आदि की तीन ऋचाएँ अग्नि देवता की हैं। प्रथम ऋचा में अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन है।

४४७. अ॒चे॑त्य॒ग्नि॒श्चि॒कि॑ति॒र्ह॒व्य॒वा॒ड्‌ न सु॒मद्र॑थः ॥१॥[1]

पदार्थ—**अग्निः** अग्रनेता परमेश्वर **अचेति** हमसे जान लिया या अनुभव कर लिया गया है, जो **चिकितिः** सर्वज्ञ, तथा **सुमद्रथः** श्रेष्ठ विमानादि रथों में प्रयुक्त किये जाने वाले **हव्यवाड् न** विद्युत् रूप अग्नि के समान **सुमद्रथः** श्रेष्ठ शरीर-रथों को या वेगवान् सूर्य, चन्द्र, भूगोल आदियों को रचने वाला है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा का सबको साक्षात्कार करना चाहिए, वैसे ही विद्युतरूप अग्नि को भी जानना चाहिए और उसे जानकर समाचार भेजने, विमानादि यानों को चलाने आदि के कार्य सिद्ध करने चाहिएँ ॥१॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम द्वारा परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

४४८. अ॒ग्ने॒ त्वं नो॒ अ॒न्त॑म उ॒त त्रा॒ता शि॒वो भु॑वो वरू॒थ्यः॑ ॥२॥[2]

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् वा राजन् ! **त्वम्** आप **नः** हमारे **अन्तमः** समीपतम **उत**

१. ऋ० ८।५६।५ पूर्वार्द्धः । यजुर्वेदे ३।२५, १५।४८, २५।४७ इत्यत्र पूर्वभागत्वेन प्राप्यते, यत्र ऋषिः क्रमेण सुबन्धुः, परमेष्ठी, गोतमश्च । सर्वत्र 'भुवो' इत्यत्र 'भवा' इति पाठः ।
२. ऋ० ५।२४।१, ऋषयः बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ।

और **त्राता** विपत्तियों से त्राणकर्ता, **शिवः** कल्याणकारी तथा **वरूथ्यः** वरणीय एवं घरों के लिए हितकर **भुवः** होवो ॥२॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर हमारे निकटतम, विघ्न-विद्वेष-पाप आदि से त्राण करने वाला, मंगलकारी और शरीररूप गृहों का हितकर्ता होता है, वैसे ही निर्वाचन-पद्धति से चुना हुआ राजा प्रजाओं के समीपतम होकर विपत्तियों से बचाने वाला, सुखशान्ति देने वाला और आवासगृहों के निर्माणार्थ धनादि देने वाला हो ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम से परमेश्वर और राजा की महिमा वर्णित है ।

४४९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥३॥

पदार्थ—**भगः न** सेवनीय सूर्य के समान **चित्रः** अद्भुत गुण, कर्म, स्वभाव वाला **अग्निः** अग्रनेता परमेश्वर वा राजा **महोनाम्** तेजस्वी वा महत्त्वाकांक्षी जनों के **रत्नम्** रमणीय ऐश्वर्य को **दधाति** परिपुष्ट करता है ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थ—जो स्वयं महत्त्वाकांक्षी वा तेजस्वी नहीं हैं, उनकी परमात्मा वा राजा भी भला क्या सहायता करेंगे !

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है । उससे प्रार्थना की गयी है ।

४५०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदि वेह नूनम् ॥४॥

पदार्थ—हे **इन्द्र** सबको सहायता प्रदान करने वाले जगदीश्वर ! आप **विश्वस्य** सबको **प्र स्तोभ** भली भाँति अवलम्ब दो, **पुरो वा सन्** चाहे आप प्रत्यक्ष सामने विद्यमान होवो, **यदि वा** अथवा चाहे **नूनम्** परोक्ष विद्यमान होवो ॥४॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष, सदा ही परमेश्वर हमें अवलम्ब देता है । यद्यपि वह सदा सबके समक्ष ही है, तो भी जैसे दिनौंधी रोग से ग्रस्त लोग सांसारिक पदार्थों को नहीं देख पाते हैं, वैसे ही अज्ञान से ग्रस्त हम जब उसे नहीं देख पाते, तब वह परोक्ष कहलाता है ॥४॥

अगले मन्त्र का देवता उषा है । उषा के महत्त्व का वर्णन है ।

४५१. उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥५॥[1]

पदार्थ—जैसे **उषाः** प्रभातकालीन प्राकृतिक उषा **स्वसुः** अपनी बहिन रात्रि के **तमः** अन्धकार को **अप** हटा देती है, और **सुजातता** अपने श्रेष्ठ जन्म से **वर्तनिम्** मार्ग को **सं वर्तयति** प्रकाशित कर देती है, वैसे ही **उषाः** योगशास्त्र में प्रसिद्ध आत्मख्याति **स्वसुः** आत्मा में राग, द्वेष आदि को प्रक्षिप्त करने वाली अविद्या के **तमः** तामसिक प्रभाव को **अप** दूर कर देती है और **सुजातता** अपने शुभ जन्म से **वर्तनिम्** साधक के योगमार्ग को **सं वर्तयति** अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित कर देती है ॥५॥

---

१. ऋ० १०।१७२।४। अथ० १६।१२।१ पूर्वार्द्धः, ऋषिः वसिष्ठः।

भावार्थ—जो मनुष्य अविद्यारूप रात्रि को दूर करके विवेकख्यातिरूप उषा के प्रकाश को प्राप्त करते हैं, वे मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं ॥५॥

अगले दो मन्त्रों के देवता 'विश्वेदेवाः' हैं। इस मन्त्र में भुवनों के प्रसाधन का विषय वर्णित है।

४५२. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥६॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्मपक्ष में। हम, **इन्द्रः च** तथा द्रष्टा हमारा जीवात्मा, **विश्वेदेवाः च** और ज्ञान के साधन सब मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ **इमा भुवना** इन अन्नमय, प्राणमय आदि कोश रूप सब भुवनों को **कम्** सुखपूर्वक **सीषधेम** प्रसाधित करें॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हम प्रजाजन, **इन्द्रः च** और वीर राजनीतिज्ञ राजा, **विश्वेदेवाः च** और सब विद्वान् राजसभासद्, मिलकर **इमा भुवना** राष्ट्र के इन सब नगरों को **कम्** सुखपूर्वक **सीषधेम** अलंकृत और समृद्ध करें॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि की सहायता से शरीर के और राजा, मन्त्री, सभासदों आदि की सहायता से राष्ट्र के उत्कर्ष को भलीभाँति सिद्ध कर सब लोग सफल जन्म वाले हों ॥६॥

अगले मन्त्र में सब विद्वानों तथा इन्द्र के दानों की प्रार्थना है।

४५३. वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥७॥[2]

पदार्थ—हे सब विद्वानो तथा हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर, जीवात्मन् वा राजन्! **त्वत्** तेरे पास से **रातयः** दान **वि यन्तु** विविध दिशाओं में जाएँ, **यथा** जैसे **पथः** राजमार्ग से **स्रुतयः** छोटे-छोटे मार्ग विविध दिशाओं में जाते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर, जीवात्मा और राजा से धन, धर्म, सत्य, अहिंसा, न्याय, विद्या, दया, उदारता, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य आदि दानों को प्राप्त करके हम श्रेष्ठ नागरिक बनें ॥७॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। उससे धनादि की आकांक्षा की गयी है।

४५४. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥८॥[3]

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन्, जीवात्मन् अथवा राजन्! हम **अया** इस देह से अथवा इस बुद्धि से **देवहितम्** विद्वानों वा इन्द्रियों के लिए हितकर **वाजम्** धन, बल और विज्ञान को **सनेम** प्राप्त करें, और **सुवीराः** उत्तम वीर पुत्रों सहित, हम **शतहिमाः** सौ वर्ष **मदेम** आनन्द लाभ करते रहें ॥८॥

भावार्थ—वही धन, बल और विज्ञान श्रेष्ठ होता है, जो परोपकार में प्रयुक्त हो। उसे पाकर कम से कम सौ वर्ष जीने वाले सब स्त्री-पुरुष होवें ॥८॥

---

१. ऋ० १०।१५७।१, ऋषिः भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः। 'सीषधामेन्द्रश्च' इति पाठः। य० २५।४६ इत्यत्र, अथ० २०।६३।१, २०।१२४।४ इत्यत्र च पूर्वभागरूपेण प्राप्यते।

२. साम० १७७०।

३. ऋ० ६।१७।१५। अथर्ववेदेऽपि १९।१२।१; २०।६३।३, २०।१२४।६ इत्यत्र उत्तरार्द्धत्वेन प्राप्यते।

अगले मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः हैं। इसमें यह विषय है कि इन्द्र, मित्र और वरुण हमारे लिए क्या करें।

४५९. ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ॥९॥

पदार्थ—प्रथम परमात्मा आदि के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! आप, **मित्रः** सूर्य और **वरुणः** वायु, मिलकर **ऊर्जा** रस से **इडाः** भूमियों को **पिन्वत** सींचो। हे इन्द्र परमात्मन्! आप **नः** हमारे लिए **पीवरीम्** प्रचुर **इषम्** धान्य-सम्पत्ति को **कृणुहि** उत्पन्न करो, जिससे हम दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित न हों ॥

द्वितीय शरीर के पक्ष में। हे **इन्द्र** मेरे जीवात्मन्! तू, **मित्रः** प्राण और **वरुणः** अपान मिलकर **ऊर्जा** बल के साथ **इडाः** मधुर वाणियों को **पिन्वत** प्रेरित करो। हे इन्द्र जीवात्मन्! तू **नः** हमारे लिए **पीवरीम्** प्रचुर **इषम्** ज्ञान-सम्पदा को **कृणुहि** उत्पन्न कर ॥

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** ऐश्वर्यवान् राजन्! आप, **मित्रः** राजमन्त्री, और **वरुणः** सेनापति, मिलकर **ऊर्जा** अन्न के साथ **इडाः** भूमियों और गौओं को **पिन्वत** बहुतायत से प्रदान करो। हे इन्द्र राजन्! आप **इषम्** प्रजा को **पीवरीम्** समृद्ध **कृणुहि** करो ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—परत्मात्मा, जीवात्मा और राजा मन, बुद्धि, प्राण, अपान, सूर्य, वायु, सचिव, सेनापति आदियों के साथ मिलकर भोज्य, पेय, बल, वाणी, भूमि, गाय आदि सम्पदाओं से हमें समृद्ध करें ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के महत्त्व का वर्णन है।

४६०. इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥१०॥[1]

पदार्थ—**इन्द्रः** परब्रह्म परमेश्वर **विश्वस्य** सकल ब्रह्माण्ड का, **इन्द्रः** अखण्ड जीवात्मा **विश्वस्य** सकल शरीर का, और **इन्द्रः** प्रजाओं से निर्वाचित राजा **विश्वस्य** सकल राष्ट्र का **राजति** सम्राट् है ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और राजा को अपने-अपने क्षेत्र का सम्राट् मानकर उनसे यथा-योग्य लाभ प्राप्त करने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में अग्नि और इन्द्र नामों से परमात्मा, राजा आदि के गुण-कर्मों का वर्णन होने से, उषा नाम से प्राकृतिक और आध्यात्मिक उषा का वर्णन होने से, और ब्रह्माण्ड, शरीर तथा राष्ट्र में सब देवों के कर्तृत्व आदि का निरूपण होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

---

१. य० ३६।८, 'शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' इत्यधिकम्। ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः, छन्दः द्विपाद् विराड् गायत्री।

॥८॥ अथ 'त्रिकद्रुकेषु' इत्याद्याया दशतेः **ऋषयः**—१, १० गृत्समदः; २ घोर आङ्गिरसः;
३, ५, ९ परुच्छेपः; ४ रेभः; ६ एवयामरुत्; ७ अनानतः पारुच्छेपिः; ८ नकुलः ॥
देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः; २ सूर्यः; ५ विश्वेदेवाः; ६ मरुतः; ७ पवमानः;
८ सविता; ९ अग्निः ॥ **छन्दः**—१, १० अष्टिः; २, ४, ६ जगती;
३, ५, ७-९ अत्यष्टिः; (८, १० अतिशक्वरी वा) ॥ **स्वरः**—
१, १० मध्यमः; २, ४, ६ निषादः; ३, ५, ७-९ गान्धारः;
(८, १० पञ्चमो वा) ॥

प्रथम मन्त्र में सूर्य और चन्द्रमा के सम्बन्ध-वर्णन-पूर्वक गुरु के समीप से ज्ञानरसरूप सोम के पान का विषय है ।

४५७. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशम् ।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥[1]

पदार्थ—प्रथम सूर्य-चन्द्र के पक्ष में । **त्रिकद्रुकेषु** वायु, बिजली और बादल रूप तीन पदार्थों से युक्त अन्तरिक्षभागों में **महिषः** महान्, **तुविशुष्मः** बहुत बलवान् सूर्यरूप इन्द्र **यवाशिरम्** संयुक्त-वियुक्त होने वाली सूर्यकिरणों से पूर्णता को प्राप्त होने वाले **सोमम्** चन्द्रमा को **तृम्पत्** तृप्ति प्रदान करता है, और चन्द्रमा **विष्णुना** उस व्याप्तिमान् सूर्य से **सुतम्** उत्पन्न किये किरणसमूह को **यथावशम्** यथेच्छ **अपिबत्** पान करता है । **सः** वह चन्द्रमा में प्रविष्ट सूर्यकिरणसमूह **ईम्** इस चन्द्रमा को **महि** महान् **कर्म** प्राण-प्रदान, चान्द्र मासों के निर्माण आदि कार्य **कर्तवे** करने के लिए **ममाद** हर्षित करता है । **सः** वह **देवः** प्रकाशमान **सत्यः** सत्य नियम वाला **इन्दुः** चन्द्रमा **एनम्** इस **देवम्** प्रकाशक **सत्यम्** सत्य नियमों वाले **इन्द्रम्** सूर्य का **सश्चत्** सेवन करता रहता है ॥

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में । **त्रिकद्रुकेषु** ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड रूप तीन सवनों वाले शिक्षायज्ञों में **महिषः** महान्, **तुविशुष्मः** विद्यार्थी का अतिशय प्रतिभा-बल से युक्त आत्मा **तृम्पत्** तृप्ति लाभ करता हुआ **विष्णुना** व्याप्त विद्या वाले आचार्य से **सुतम्** अभिषुत, **यवाशिरम्** व्रतपालनरूप कर्मों से परिपक्व **सोमम्** ज्ञान रस को **यथावशम्** यथेच्छ **अपिबत्** पान करता है । **सः** पान किया हुआ वह ज्ञान-रस **महाम्** विद्या में महान्, **उरुम्** विशाल हृष्टपुष्ट शरीर वाले, **ईम्** विद्यार्थी के इस आत्मा को **महि** महान् **कर्म** समाजसुधार आदि कर्म **कर्तवे** करने के लिए **ममाद** हर्षित करता है । **देवः** दिव्यगुणयुक्त, **सत्यः** सत्य **सः** वह **इन्दुः** विद्यारस **देवम्** दिव्य गुण वाले **सत्यम्** सत्यप्रिय **इन्द्रम्** आत्मा को **सक्षत्** निरन्तर प्राप्त होता रहता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'देवो, देवं' में छेकानुप्रास और 'सत्य, सत्य' में यमक है ॥१॥

भावार्थ—विद्यार्थी का आत्मा गुरु के पास से ज्ञानरस का पान करके वैसे ही महान् कर्म करने योग्य हो जाता है, जैसे चन्द्रमा सूर्य के पास से प्रकाश का पान कर प्राणप्रदान आदि महान् कर्मों को करता है ॥१॥

---

१. ऋ० २।२२।१, अथ० २०।९५।१ । उभयत्र 'तृम्पत्', 'सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्' अस्य स्थाने क्रमेण 'तृपत्', 'सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः' इति पाठः । साम० १४८६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं सूर्यचन्द्रविषये व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र का देवता सूर्य है। आदित्य, परमेश्वर और आचार्य का वर्णन है।

४५८. अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म।
ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ।।२।।[1]

पदार्थ—**अयम्** यह सूर्य, परमेश्वर वा आचार्य **सहस्रम्** अकेला भी सहस्र के तुल्य, **आनवः** मनुष्यों के लिए हितकर, **दृशः** द्रष्टा अथवा दर्शन कराने वाला, **कवीनाम्** मेधावी विद्वानों का **मतिः** मतिप्रदाता, और **विधर्म ज्योतिः** विशेष धारक प्रकाश से युक्त है। **ब्रध्नः** महान् यह सूर्य, परमेश्वर वा आचार्य **समीचीः** सम्यक् गति वाली, **अरेपसः** निर्मल **उषसः** उषाओं को अथवा ज्ञानदीप्तियों को **समैरयत्** भलीभाँति प्रेरित करता है, जिससे **स्वसरे** उज्ज्वल दिन अथवा दिन के समान उज्ज्वल विवेक के प्रकट हो जाने पर **सचेतसः** सहृदय जन **मन्युमन्तः** तेजयुक्त अथवा ब्रह्मवर्चस्वी होकर **गोः** किरणसमूह के अथवा वेदवाणी के **चिताः** ज्ञाता हो जाते हैं ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। मतिः और ज्योतिः के अर्थ लक्षणा द्वारा क्रमशः मतिप्रदाता और ज्योतिष्मान् होते हैं। 'तिर्, तिर्', 'समी, समै' और 'चेत, चिता' में छेकानुप्रास तथा सकार, रेफ व तकार की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।।२।।

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रकाशवती उषाओं को प्रेरित करता है, वैसे ही परमात्मा और आचार्य मनुष्यों में विद्या एवं विवेक की कान्तियों को उत्पन्न करते हैं ।।२।।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और आचार्य का आह्वान किया गया है।

४५९. एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः।
हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ।।३।।[2]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् एवं विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य! **अयम्** यह आप **नः अच्छ** हमारे प्रति **उप आ याहि** आइये, **परावतः न** जैसे कोई दूरदेश से आता है, और **सत्पतिः** श्रेष्ठ गृहपति **विदथान् इव** जैसे यज्ञों में आता है, और **सत्पतिः** सज्जनों का पालक **राजा** राजा **अस्ता इव** जैसे राजदरबार में आता है। **प्रयस्वन्तः** प्रयत्नवान् हम **त्वा** आपको **सुतेषु** आनन्द-रसों, वीर-रसों और विद्या-रसों के निमित्त से **आ हवामहे** बुलाते हैं। **पुत्रासः न** जैसे पुत्र **पितरम्** पिता को **वाजसातये** अन्नादि की प्राप्ति के लिए बुलाते हैं, वैसे ही **मंहिष्ठम्** धन, बल, विद्या आदि के अतिशय दानी आपको, हम **वाजसातये** धन, बल, विद्या आदि की प्राप्ति के लिए बुलाते हैं ।।३।।

इस मन्त्र में चार उपमाएँ हैं। 'सत्पति' और 'वाजसातये' की एक-एक बार आवृत्ति में यमक अलंकार है ।।३।।

भावार्थ—जगदीश्वर और गुरुजन जिसके अनुकूल होते हैं, वह सब विपत्तियों को पार करके उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है ।।३।।

---

१. अथ० ७।२२।१, २। ऋषिः ब्रह्मा, देवता ब्रध्नः। अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ।।१।। ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्। अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ।।२।। इति पाठः।

२. ऋ० १।१३०।१, 'रस्ता', 'त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा' इत्यत्र क्रमेण 'रस्तं', 'त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा' इति पाठः।

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य को लक्ष्य करके कहा गया है ।

४६०. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥[1]

पदार्थ—मैं **तम्** उस प्रसिद्ध **मघवानम्** ऐश्वर्यवान्, **उग्रम्** अन्यायों और अन्यायियों के प्रति उग्र, **सत्रा दधानम्** सत्य को धारण करने वाले, **अप्रतिष्कुतम्** शत्रुओं से प्रतिरुद्ध न होने वाले **इन्द्रम्** परमात्मा, राजा वा आचार्य से **भूरि** अनेकानेक **श्रवांसि** यशों की **जोहवीमि** बार-बार याचना करता हूँ । **मंहिष्ठः** अतिशय दानी, **यज्ञियः** पूजा वा सत्कार के योग्य वह **गीर्भिः** उपदेशवाणियों के साथ **आ ववर्त** हमारे अभिमुख होवे । **वज्री** अविद्या-अन्याय आदि पर, हिंसा-असत्य-तस्करी आदि पर और हिंसकों पर वज्र उठाने वाला वह **राये** ऐश्वर्य के लिए **विश्वा नः** हम सबको **सुपथा** सुपथ से **कृणोतु** ले चले ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर, राजा और आचार्य जिन पर अनुग्रह करते हैं, वे सन्मार्ग पर चलने वाले और यशस्वी होते हैं ॥४॥

अगले मन्त्र के विश्वेदेवाः देवता हैं । इसमें परमात्मा, जीवात्मा, मन, प्राण, अग्नि, सूर्य, वायु एवं बिजली का विषय है ।

४६१. अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध
आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे ।
यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे ।
अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छ न धीतयः ॥५॥[2]

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म पक्ष में । **अस्तु श्रौषट्** हमारी प्रार्थना सुनी जाए, अर्थात् हमारी कामनाएं पूर्ण हों । मैं **अग्निम्** अग्रनायक परमात्मा को **पुरः दधे** सम्मुख स्थापित करता हूँ । हम सब **त्यत्** उस अति उपयोगी **दिव्यं शर्धः** प्रकाशपूर्ण आत्म-बल का **नु** शीघ्र ही **आ वृणीमहे** उपयोग करते हैं । **इन्द्रवायू** मन और प्राण का **वृणीमहे** उपयोग करते हैं । **यत् ह** जब वे मन और प्राण **नाभा** केन्द्रभूत हृदय-प्रदेश में **सन्दाय** स्वयं को बाँधकर **नव्यसे** अतिशय प्रशंसनीय **विवस्वते** अज्ञानान्धकार के निवारक आत्मा के लिए **क्राणा** उच्च संकल्प, प्राणवशीकरण आदि कर्म को करने वाले होते हैं, **अध** तब **नूनम्** अवश्य ही **धीतयः** धारणा, ध्यान, समाधियाँ **उप प्रयन्ति** योगी के समीप आ जाती हैं, सिद्ध हो जाती हैं, **न** जिस प्रकार **धीतयः** अंगुलियाँ **देवान् अच्छ** माता, पिता, अतिथि आदि विद्वानों को 'नमस्ते' करने के लिए **उप प्रयन्ति** तत्पर होती हैं ॥

द्वितीय अधिदैवत पक्ष में । **अस्तु श्रौषट्** मेरा वचन सुना जाए । मैं **अग्निम्** भौतिक आग का **धिया** बुद्धि या कर्मकौशल से **पुरः दधे** शिल्पादि कर्मों में उपयोग लेता हूँ । हम सभी **त्यत्** उस **दिव्यम्** द्युलोक में विद्यमान **शर्धः** बलवान् सूर्य का **नु** शीघ्र ही **आ वृणीमहे** शिल्पकर्म में उपयोग करते हैं । **इन्द्र-**

१. ऋ० ८।९७।१३, अथ० २०।५५।१ । उभयत्र 'भूरि' इति नास्ति, 'ववर्त राये' इत्यत्र च 'ववर्तद्राये' इति पाठः ।
२. ऋ० १।१३९।१, 'आ नु तच्छर्धो', 'यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी । अध प्र सू न उप यन्तु' इति पाठः ।

वायू विद्युत् और वायु का **वृणीमहे** उपयोग करते हैं । **यद् ह** जब वे विद्युत् और वायु **नाभा** केन्द्रभूत अन्तरिक्ष में **सन्दाय** पृथिवी आदि लोकों को आकर्षण-गुण से बाँधकर **नव्यसे** हर ऋतु में नवीन रूप में प्रकट होने वाले **विवस्वते** अन्धकार-निवारक सूर्य के चारों ओर **ऋाणा** परिक्रमा कराते हैं, **अध** तब **नूनम्** निश्चय ही **धीतयः** सूर्य-किरणें **उप प्रयन्ति** उन पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त होती हैं । शेष पूर्ववत् ।।५।।

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार है । 'वृणीमह, वृणीमहे' में लाटानुप्रास और 'धीतयो, धीतयः' में यमक है ।।५।।

भावार्थ—जैसे शिल्पविद्या की उन्नति से अग्नि, सूर्य, बिजली और वायु को यन्त्र, यान आदियों में भलीभाँति प्रयुक्त करके मनुष्य महान् सुख प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही योगविद्या की उन्नति से जीवात्मा, मन, प्राण एवं इन्द्रियों के सामंजस्य द्वारा योगसमाधि और मोक्ष प्राप्त किये जा सकते हैं ।।५।।

अगले मन्त्र के देवता 'मरुतः' हैं । इसमें विष्णु और मरुतों की सहायता से आत्मिक और राष्ट्रिय उत्कर्ष पाने की प्रेरणा है ।

४६२. प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत् ।
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ।।६।।[1]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में । हे साथियो ! **महे** महान्, **मरुत्वते** प्राणयुक्त **विष्णवे** सारे शरीर में व्याप्त क्रिया वाले अपने जीवात्मा के प्रोत्साहनार्थ **वः** तुम्हारी **मतयः** बुद्धियाँ वा वाणियाँ **प्र यन्तु** प्रवृत्त हों, जो जीवात्मा **गिरिजाः** पर्वत-सदृश शरीर में जन्मा हुआ और **एवयामरुत्** वेगवान् प्राण वाला है । **यज्यवे** शरीर-संचालन रूप यज्ञ के कर्ता, **सुखादये** रोग आदियों को पूर्णतः खा जाने वाले **तवसे** शरीर से वृद्धिशील, **भन्ददिष्टये** सुखजनक शतायुष्य रूप इष्टि को करने वाले, **धुनिव्रताय** शारीरिक और मानसिक दोषों को कंपित करने वाले कर्म से युक्त **शवसे** बलवान् **शर्धाय** प्राणबल को पाने के लिए भी, तुम्हारी बुद्धियाँ वा वाणियाँ **प्र प्र यन्तु** प्रकृष्ट रूप से प्रवृत्त हों ।।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । हे राष्ट्रवासियो ! **महे** महान्, **मरुत्वते** प्रशस्त योद्धा सैनिकों से युक्त, **विष्णवे** यानों द्वारा जल, स्थल, अन्तरिक्ष तीनों स्थानों में व्याप्त होने वाले राजा के लिए **वः** तुम्हारी **मतयः** वाणियाँ **प्र यन्तु** प्रवृत्त हों, जो राजा **गिरिजाः** पर्वततुल्य सर्वोच्च पद पर अभिषिक्त और **एवयामरुत्** वेगवान् सैनिकों वाला है । और, **यज्यवे** राष्ट्ररक्षा-रूप यज्ञ के अनुष्ठाता, **सुखादये** उत्कृष्ट पादत्राणों और हस्तत्राणों से युक्त, **तवसे** गतिमान्, कर्मण्य, **भन्ददिष्टये** संग्रामरूप यज्ञ से सुख पाने वाले, **धुनिव्रताय** शत्रुप्रकम्पक कर्मों वाले, **शवसे** बलवान् **शर्धाय** वीर योद्धाओं के सैन्य के लिए भी, तुम्हारी वाणियाँ **प्र प्र यन्तु** अतिशय प्रवृत्त हों, अर्थात् तुम राजा की तथा उसके सैन्यगण की प्रशंसा करो और उन्हें उत्तम उद्बोधन दो ।।६।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।६।।

भावार्थ—मनुष्य जब प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक दोषों को जलाकर आत्मिक बल बढ़ाते हैं, तब सब सिद्धियाँ उन्हें हस्तगत हो जाती हैं । वैसे ही राष्ट्र के वीर सैनिक सब शत्रुओं को कँपा कर जब राजा के बल को बढ़ाते हैं, तब राष्ट्र में सब उन्नतियाँ भासित होने लगती हैं ।।६।।

---

१. ऋ० ५।८७।१ ।

अगले मन्त्र का देवता पवमान सोम है। सूर्य के उपमान से आत्मा का वर्णन किया गया है।

४६३. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ।।७।।[1]

पदार्थ—यह सोम अर्थात् इन्द्रियों को कर्मों में प्रेरित करने वाला आत्मा **अया** इस **हरिण्या** हृदय-हारिणी **रुचा** तेजस्विता से **पुनानः** पवित्रता देता हुआ **सयुग्वभिः** साथ नियुक्त होने वाले प्राणों के साथ मिलकर **विश्वा द्वेषांसि** सब द्वेषी विघ्नों अथवा काम, क्रोध आदि छहों रिपुओं को **तरति** पार कर लेता है, **सूरः न** जैसे सूर्य **सयुग्वभिः** सहयोगी किरणों से **विश्वा द्वेषांसि** सब शत्रुभूत अन्धकारों को **तरति** पार करता है। **पृष्ठस्य** प्रकाशसेचक आत्मारूप सोम की **धारा** प्रकाश-धारा **रोचते** भासित होती है। **अरुषः** तेज से आरोचमान **हरिः** पापहारी तू आत्मारूप सोम **पुनानः** मन, बुद्धि आदि को पवित्र करता है, **यत्** जबकि तू **ऋक्वभिः** प्रशस्तस्तुतियुक्त कर्मों के साथ, और **ऋक्वभिः** प्रशंसनीय **सप्तास्यैः** पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सप्तमुख प्राणों के साथ **विश्वा रूपा** सब रूपधारी मनुष्यों को **परियासि** प्राप्त होता है।

यहाँ 'सूरो न सयुग्वभिः' द्वारा सूर्य को उपमान बनाने से शेष मन्त्र सूर्य के पक्ष में भी घटता है। कैसा सूर्य ? जो **अया** इस **हरिण्या** तमोहारिणी **रुचा** दीप्ति से **पुनानः** भूमि को पवित्र करता हुआ **सयुग्वभिः** सहयोगी किरणों से **विश्वा द्वेषांसि** सब द्वेषकारी अन्धकार, रोग आदियों को **तरति** निवारण करता है, **पृष्ठस्य** वृष्टिकर्ता जिस सूर्य की **धारा** प्रकाशधारा या वृष्टिधारा **रोचते** चमकती है, जो **अरुषः** तेजस्वी रूप वाला **हरिः** आकर्षण-बल से पृथिवी आदि लोकों का धारणकर्ता सूर्य **पुनानः** पवित्रता देता है, **यत्** जबकि **सप्तास्येभिः** सात मुखों अर्थात् रंगों वाली **ऋक्वभिः** प्रशंसनीय किरणों से **विश्वा रूपाणि** सब रूपवान् वस्तुओं को **परियाति** प्राप्त होता है ।।७।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। 'सयुग्वभिः' और 'ऋक्वभिः' की एक-एक बार आवृत्ति में यमक है ।।७।।

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से रोग, मलिनता आदि को दूर कर समस्त भूमण्डल को पवित्र करता है, वैसे ही मनुष्यों का आत्मा सब पाप, द्वेष आदि कल्मषों को दूर कर जीवन को पवित्र करे ।।७।।

अगले मन्त्र का देवता सविता है। सविता नाम से परमेश्वर, राजा और सूर्य का वर्णन किया गया है।

४६४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतु-
मर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्।

---

१. ऋ० ९।१११।१, 'स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः', 'धारा सुतस्य रोचते', 'परियात्यृक्वभिः' इति पाठः। साम १५९०।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥८॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं **त्यम्** उस प्रसिद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **ओण्योः** द्यावा-पृथिवी के अथवा वाणी और मन के **देवम्** प्रकाशक, **कविक्रतुम्** क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा वाले अथवा बुद्धिपूर्ण कर्मों वाले, **सत्यसवम्** सत्य ऐश्वर्य वाले अथवा सत्य प्रेरणा वाले, **रत्नधाम्** रमणीय लोकों के धारणकर्ता, **प्रियम्** प्रिय, **मतिम्** ज्ञानी **सवितारम्** जगदुत्पादक परमेश्वर की **अभि अर्चामि** अभिमुख होकर पूजा करता हूँ। **यस्य** जिस परमेश्वर की **ऊर्ध्वा** उत्कृष्ट **अमतिः भाः** आत्मदीप्ति **अदिद्युतत्** उपासकों को आत्मिक प्रकाश देती है, उसके **सवीमनि** अनुशासन में, हम होवें। **हिरण्यपाणिः** ज्योतियों को व्यवहार में लाने वाले, **सुक्रतुः** उत्तम प्रज्ञा व कर्मों वाले उस परमेश्वर ने **कृपा** अपनी कृपा से **स्वः** ज्योतिष्मान् सूर्य को **अमिमीत** बनाया है ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। मैं प्रजाजन **त्यम्** उस विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **ओण्योः** स्त्री-पुरुषों को **देवम्** विद्या आदि से प्रकाशित करने वाले, **कविक्रतुम्** बुद्धिपूर्ण कर्मों वाले, **सत्यसवम्** सत्य ज्ञान वाले, **रत्नधाम्** रमणीय धनों को प्रदान करने वाले, **प्रियम्** प्रिय, **मतिम्** विचारशील, **सवितारम्** सदाचार के प्रेरक राजा का **अभि अर्चामि** सत्कार करता हूँ। **यस्य** जिस राजा का **ऊर्ध्वा** उच्च **अमतिः** सर्वाधिक तेजस्वी रूप, और जिसकी **भाः** यश की कान्ति **अदिद्युतत्** अन्यों को भी तेजस्वी और यशस्वी करते हैं, उसके **सवीमनि** अनुशासन में, हम रहें। **हिरण्यपाणिः** सुवर्ण आदि धन को दानार्थ हाथ में ग्रहण करने वाला, **सुक्रतुः** शुभ कर्मों वाला वह राजा **कृपा** अपने सामर्थ्य से, राष्ट्र में **स्वः** सुख को **अमिमीत** रचता है ॥

तृतीय सूर्य के पक्ष में। मैं **त्यम्** उस सुदूरस्थ, **ओण्योः** भूमि-आकाश के **देवम्** प्रकाशक, **कविक्रतुम्** मेधावियों के कर्मों के सदृश भूमण्डल-धारण, ऋतुचक्रप्रवर्तन आदि कर्मों को करने वाले, **सत्यसवम्** जल को ऊपर-नीचे ले जाने वाले, **रत्नधाम्** सोना, चाँदी, हीरे, मोती आदि रत्नों को भूमि में स्थापित करने वाले, **प्रियम्** तृप्तिप्रदाता, **मतिम्** ज्ञान में साधन बनने वाले **सवितारम्** सूर्य की **अभि अर्चामि** स्तुति करता हूँ, अर्थात् उसके गुण-कर्मों का वर्णन करता हूँ। **यस्य** जिस सूर्य की **अमतिः भाः** रूपवती प्रभा **सवीमनि** उत्पन्न भूमण्डल पर **अदिद्युतत्** सब पदार्थों को प्रकाशित करती है, वह **हिरण्यपाणिः** सुनहरी किरणों वाला, **सुक्रतुः** उत्तम कर्मों वाला सूर्य **कृपा** अपने सामर्थ्य से **स्वः** प्रकाश को **अमिमीत** उत्पन्न करता है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—अनुपम गुण-कर्म-स्वभाव वाले परमेश्वर की पूजा करके, राजा का सत्कार करके और सूर्य का उपयोग करके प्रजाएँ सुख प्राप्त करती हैं ॥८॥

अगले मन्त्र का देवता अग्नि है। परमेश्वर की महिमा का वर्णन है।

४६९. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं
सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।

---

१. अथ० ७।१४।१, २ ऋषिः अथर्वा, द्वयोः ऋचोः पृथक् पृथग् अनुष्टुप् छन्दः। 'कृपा' इत्यत्र 'कृपात्' इति पाठः। य० ४।२५, 'मतिम्' इत्यस्यानन्तरं 'कविम्' इति, अन्ते च 'प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनु प्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि' इत्यधिकः पाठः।

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥९॥[1]

पदार्थ—मैं **होतारम्** सृष्ट्युत्पत्ति और प्रलय के कर्ता, **वसोः** धन के **दास्वन्तम्** दाता, **सहसः सूनुम्** बल के प्रेरक, **जातवेदसम्** प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, सर्वान्तर्यामी, **विप्रं न** विद्वान् के समान **जातवेदसम्** उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता **अग्निम्** अग्रनेता परमेश्वर की **मन्ये** पूजा करता हूँ। **देवः** स्वयं प्रकाशित तथा अन्यों का प्रकाशक **यः** जो परमेश्वर **ऊर्ध्वया** उन्नत, **देवाच्या** सूर्य, चन्द्र आदि देवों के प्रति गयी हुई **कृपा** अपनी शक्ति से **स्वध्वरः** उत्कृष्ट सृष्टि-यज्ञ को चला रहा है, वही **आजुह्वानस्य** अग्नि में आहुत किये जाते हुए, **शुक्रशोचिषः** उज्ज्वल दीप्ति वाले **घृतस्य** घृत की **विभ्राष्टिम्** प्रदीप्ति में भी **अनु** अनुप्रविष्ट है, अर्थात् अग्नि का प्रदीप्त होना आदि क्रियाएँ भी परमेश्वर के ही सामर्थ्य से हो रही हैं, जैसाकि उपनिषद् में भी कहा है 'उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक रहा है' (श्वेता० ६।१४) ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'जातवेदसम्' की पुनरुक्ति में यमक और 'देवो, देवा' में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—अग्नि में घृत की आहुति देने से जो प्रभा होती है, वह धन, बल, ज्ञान आदि के प्रदाता, सृष्टि के व्यवस्थापक जगदीश्वर की ही प्रभा की ओर निर्देश करती है ॥९॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। उसके लोकोपकारक कार्यों का वर्णन है।

४६६. तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यो देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नपः।
भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम् ॥१०॥[2]

पदार्थ—हे **नृतो** पृथिवी आदि लोकों को नचाने वाले **इन्द्र** जगदीश्वर! **तव** तुम्हारा **त्यत्** वह प्रसिद्ध, **नर्यम्** नरों का हितकर, **प्रथमम्** श्रेष्ठ, **पूर्व्यम्** पूर्वकाल से चला आ रहा **अपः** कर्म **प्रवाच्यम्** प्रशंसनीय है, **यः** जो तुम **देवस्य** प्रकाशक सूर्य के **शवसा** बल से **असु** प्राण को **रिणन्** प्रेरित करना चाहते हुए, **अपः** अन्तरिक्ष में स्थित जलों को **प्रारिणाः** वर्षा द्वारा नीचे गिराते हो, और **विश्वम्** सब **अदेवम्** अप्रकाश के कारणभूत भौतिक और मानसिक अन्धकार को **ओजसा** बल से **अभिभुवः** परास्त करते हो। आगे परोक्षकृत वर्णन है—**शतक्रतुः** अनन्त प्रज्ञा वाला और अनन्त कर्मों वाला वह जगदीश्वर **ऊर्जम्** बल तथा प्राण को **विदेत्** प्राप्त कराये, **इषम्** इच्छासिद्धि को **विदेत्** प्राप्त कराये ॥१०॥

इस मन्त्र में 'रिणा, रिण', 'देव, देव', 'विदेदू, विदेदि' में छेकानुप्रास अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—परमेश्वर ही सूर्य द्वारा पृथिवी आदि लोकों को नचाता हुआ सूर्य के चारों ओर तथा अपनी धुरी पर घुमाता है। वही जैसे अन्तरिक्ष में रुके हुए जलों को बरसाता है, वैसे ही आत्मलोक में रुकी हुई आनन्द-धाराओं को मनोभूमि पर प्रवाहित करता है। वही जैसे विशाल अन्धकार को विदीर्ण

---

१. ऋ० १।१२७।१, य० १५।४७, अथ० २०।६७।३। सर्वत्र 'वसोः', 'शुक्रशोचिष' इत्यत्र 'वसुं', 'वष्टि शोचिषा' इति पाठः। यजुर्वेदे ऋषिः परमेष्ठी।

२. ऋ० २।२२।४, 'यद् देवस्य', 'असुं', 'भुवद् विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्' इति भेदः।

कर भौतिक प्रकाश को उत्पन्न करता है, वैसे ही मन की भूमि पर व्याप्त तमोगुण के जाल को विच्छिन्न करके आत्म-प्रकाश को प्रकट करता है ।।१०।।

इस दशति में सूर्य, पवमान, हरि, सविता, अग्नि, विष्णु नामों से जगदीश्वर आदि के गुण-कर्मों का वर्णन होने से तथा 'विश्वे देवाः' और मरुतों का आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त । चतुर्थ अध्याय में द्वादश खण्ड समाप्त ।
यह चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेनाचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्द-सरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा समाप्तिमगात् ।।

अथ पावमानं काण्डं पर्व वा

ऐन्द्र काण्ड अथवा पर्व की व्याख्या करके अब पावमान पर्व या काण्ड की व्याख्या आरम्भ की जाती है। पावमान पर्व या काण्ड में कुल ११९ मन्त्र हैं, और सभी का देवता पवमान सोम है। पवमान देवता होने से ही इसका नाम 'पावमान' रखा गया है। जैसे अग्नि देवता प्रमुख रूप से तेज एवं प्रकाश का प्रतीक है, और इन्द्र देवता मुख्यतः ऐश्वर्य एवं वीरता का प्रतीक है, वैसे ही पवमान सोम पवित्रता समस्वरता, शान्ति एवं आनन्द का प्रतीक है।

सोम शब्द का प्रचलित अर्थ सोम ओषधि अथवा चन्द्रमा है। यास्काचार्य लिखते हैं—"सोम एक ओषधि होती है। 'सोम' शब्द निचोड़ने अर्थ वाली 'षुञ्' धातु से निष्पन्न होता है। सोम ओषधि को सोम इस कारण कहते हैं, क्योंकि उसे निचोड़कर उसका रस निकाला जाता है। गौण रूप से इसका वर्णन वेदों में बहुत हुआ है, किन्तु प्रधानतया वर्णन बहुत कम पाया जाता है। उदाहरण रूप में हम यहाँ पवमान सोम देवता की ऋचाओं में से कुछ उद्धृत कर रहे हैं। एक ऋचा यह है—स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥ ऋ० ९।१।१। इसका अर्थ स्पष्ट है—'हे सोम, तू स्वादिष्ठ और मदिष्ठ धारा के साथ प्रवाहित हो, तू इन्द्र के पीने के लिए अभिषुत किया गया है। एक दूसरी ऋचा इस प्रकार है, जो चन्द्रमा के पक्ष में भी घटती है और सोम ओषधि के पक्ष में भी—सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ ऋ० १०।८५।३। इस ऋचा का अधियज्ञ अर्थ यह है कि पीने वाला तो उसी को सोमरस समझ लेता है जो बिना ही यज्ञविधि के ओषधि को कूट-पीसकर, निचोड़कर तैयार कर लिया जाता है, किन्तु ब्रह्मा लोग जिसे सोमरस समझते हैं उसे कोई भी अयाज्ञिक खा-पी नहीं सकता, अर्थात् ब्रह्मा लोग तो उसे ही सोमरस मानते हैं जो यज्ञविधिपूर्वक तैयार होता है। इस ऋचा का अधिदैवत अर्थ इस प्रकार है—सोमपायी याज्ञिक मनुष्य तो केवल उसे सोम मानता है जो यज्ञविधिपूर्वक सोमलता को कूट-पीसकर तैयार किया जाता है, पर ज्ञानी जन जिस चन्द्रमा को सोम समझते हैं उसे सूर्यदेव के अतिरिक्त अन्य कोई खा-पी नहीं सकता। निम्नलिखित एक अन्य ऋचा भी है जो चन्द्रमा तथा सोमरस दोनों पक्षों में चरितार्थ होती है—यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ ऋ० १०।८५।५। चन्द्र-पक्ष में इसका अर्थ यह है कि हे देव, हे प्रकाशमान चन्द्र! जब तुझे कृष्णपक्ष में सूर्य-रश्मियाँ पी लेती हैं, तब तू शुक्लपक्ष आने पर पुनः बढ़ जाता है। वायु तुझ चन्द्रमा का रक्षक है, और तू चान्द्र वर्षों एवं चान्द्र मासों का निर्माणकर्ता है। सोमलता के पक्ष में लता के पत्तों की दृष्टि से कहा गया है कि हे सोमलता, जब कृष्णपक्ष में तेरे पत्ते एक-एक करके गिर जाते हैं, तब भी शुक्लपक्ष में तू पुनः पत्तों से पूर्ण हो जाती है, वायु तुझ सोमलता का रक्षक है, और तू अपने रूपविशेषों से चान्द्र वर्षों एवं चान्द्र मासों को भी सूचित करने वाली है (निरु० ११।२-४)॥"

इस प्रकार निरुक्त के मत में स्वादिगणी 'षुञ् अभिभवे' धातु से सोम शब्द सिद्ध होता है। सोम ओषधि को याज्ञिक लोग रस निकालकर रिक्त करते हैं और सोम चन्द्रमा को सूर्य एक-एक कला कम करके रिक्त करता है। इस कारण सोम ओषधि और चन्द्रमा दोनों सोम कहाते हैं। इस प्रकरण में निरुक्तकार ने एक महत्त्वपूर्ण संकेत भी किया है, वह यह कि ओषधिवाचक सोम शब्द प्रधान देवता रूप से वेदों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में यद्यपि सोम देवता वाली या पवमान सोम देवता वाली हज़ार से भी अधिक ऋचाएँ हैं, तथापि निरुक्तकार की दृष्टि से वे प्रायः सोमओषधि-परक या चन्द्रमा-परक नहीं हैं, किन्तु कोई अन्य ही अर्थ प्रकरण का ध्यान रखते हुए वहाँ समझा जाना चाहिए।

उणादि कोश में 'सु' धातु से 'अर्तिस्तुसुहुसृवृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उ० १।१४०) सूत्र द्वारा मन् प्रत्यय करके सोम शब्द सिद्ध किया गया है। उस सूत्र में पठित 'सु' धातु से 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' भ्वादि तथा अदादि, और 'षुञ् अभिषवे' स्वादि ग्रहण की जा सकती हैं। तदनुसार जो उत्पन्न करता है, जो ऐश्वर्य का हेतु होता है या जो निचोड़ा जाता है, वह सोम है। उणादिकोश की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने सोम का यह व्याख्यान किया है कि जो ऐश्वर्य का हेतु होता है उस कपूर या चन्द्रमा को सोम कहते हैं। यद्यपि उणादि सूत्र में उकारान्त 'सु' धातु ही पठित है, तो भी 'षू प्रेरणे' तुदादि तथा 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' अदादि धातुओं से भी मन् प्रत्यय करके सोम शब्द की सिद्धि की जाती है।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सोम शब्द के जो अर्थ प्रतिपादित किये हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. जो चराचर जगत् को उत्पन्न करता है वह जगदीश्वर। य० ३।५६
२. ज़िससे रस निकाले जाते हैं वह ओषधिराज सोम। य० ३।५६
३. सोमविद्या का सम्पादक विद्वान्। य० ४।३७
४. शुभ कर्मों एवं गुणों में प्रेरक परमेश्वर या विद्वान्। ऋ० १।९१।३
५. सकल ऐश्वर्यों से समृद्ध, सौम्यगुणसम्पन्न राजा। य० ७।२१, ८।५०
६. बहुत सुख का उत्पादक वायु। ऋ० १।९१।५
७. चन्द्रमा। ऋ० ३।६२।१४
८. सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष। य० १७।४०
९. सौम्यगुणसम्पन्न सभ्य जन। ऋ० ४।१७।६

इस पावमान काण्ड में पारमार्थिक दृष्टि से सोम शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा है। इसमें वर्णित अनेक अर्थ केवल परमात्मा में ही घटित होते हैं। यथा, 'सोम द्युलोक का उत्पादक है, पृथिवी का उत्पादक है, अग्नि का उत्पादक है, सूर्य का उत्पादक है (साम०, ५३६), सोम सम्पूर्ण भूमा का पति है, उसने द्यावापृथिवी दोनों को प्रकाशित किया है (साम, ५४६), सोम दिनों को, उषाओं को और द्युलोक या सूर्य को पार करने वाला है (साम०, ५५९), हे सोम! तूने काली और लाल रक्तनाडियों में चमकीले रक्त को स्थित किया है, (साम०, ५९५), 'प्रजापति ही सोम है' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है (श० ५।१।३।७)।

परमात्मा के पास से धारा रूप में प्रवाहित होता हुआ ब्रह्मानन्द-रस[1] भी सोम कहाता है, क्योंकि वेद में इस प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं कि—'अभिषुत सोमरस की धारा से आनन्दित हुआ उपासक तर जाता है, उन्नति की ओर दौड़ने लगता है' (साम०, ५००), 'हे सोम! तू अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने के लिए धारारूप में प्रवाहित हो' (साम० ५२२)।

१. योगी श्री अरविन्द की व्याख्यानुसार दिव्य आनन्द (Divine Beatitude) ही सोम है।

परमात्मा एवं ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त सत्य, श्री, सौम्य ज्योति, मन, प्राण, रेतस्, यश, ब्रह्म-वर्चस आदि भी परमार्थ दृष्टि में सोम शब्द के वाच्यार्थ होते हैं। इसमें निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं—'सत्य, श्री और ज्योति सोम है (श० ५।१।२।१०), 'जो मन है, वही यह चन्द्र या सोम है (श० १०।३।३।७), प्राण ही सोम है (तां० ब्रा० ९।९।१।५), रेतस् सोम है (कौ० ब्रा० १३।७), यश सोम है (श० ४।२।४।९), तेजस्वी ब्रह्मवर्चस ही सोम है (मै० १।६।८)।

व्यावहारिक दृष्टि से सोम ओषधि, सोम ओषधि का रस, चन्द्रमा, वर्ष, राजा, ब्राह्मण, यजमान, सेनापति इत्यादि सोम शब्द के वाच्यार्थ होते हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—'सोम ओषधियों का राजा है (गो० उ० १।१७),' 'पहाड़ों पर सोम उगता है (श० ३।३।४।७), 'रस सोम कहाता है (श० ७।३।१।३)', 'चन्द्रमा ही सोम राजा है (काठ० ११।३)', 'वर्ष ही पितृमान् सोम है (तै० ब्रा० १।६।८।२)', 'वर्ष ही सोम राजा है (कौ० ७।१०)', 'राजा ही सोम है (श० १४।४।३।१२)', 'ब्राह्मण ही सोम है (तां० ब्रा० २३।१६।५), 'यह यजमान ही सोम है (तै० ब्रा० १।३।३।५)', 'सेनापति सोम शत्रुओं से अपहृत गौओं को छुड़ाना चाहता हुआ रथों के आगे-आगे चलता है, यह देख इसकी सेना उत्साहित होती है (साम० ५३३)'।

सोम के सम्बन्ध में वैदिक वर्णनों में यह भी मिलता है कि सोम 'अद्रियों' से अभिषुत होकर 'अवि के वारों' (बालों) से पवित्र किया जाता हुआ कलश में पहुँचता है। इस विषय में निम्न वर्णन द्रष्टव्य हैं—'वह अभिषुत होकर कलश में प्रवेश करता है (साम०, ४८९)', 'हे अध्वर्यु ! तू अद्रियों से अभिषुत सोम को छाननी (पवित्र) में ला (साम०, ४९९)', 'हे सोम ! तू अद्रियों से अभिषुत किया जाता हुआ अवि के वारों में से छनकर पार होता है (साम०, ५१३)', 'हे सोम ! जागरूक और प्रिय तू 'अवि के वारों' से पवित्र किया जाता है (साम० ५१९)', 'सहस्र धारों वाला होकर सोम 'अवि की छन्नी' में से पार होता है (साम० ५२०)', 'हे सोम ! जब पवित्र किया गया तू 'अवि की छन्नी' में से छनकर पार होता है, तब तेरी मधुर धाराएँ छूटती हैं (साम० ५३४)', 'इन्दु नामक स्वादु सोम 'अवि के वार' को पार करके कलश में स्थित हो (साम० ५३५)', 'हरि नामक सोम, जो सूर्य का जनयिता है, बह रहा है और जैसे घोड़ा द्रुममय रथ को प्राप्त होता है, वैसे ही द्रोणकलश को प्राप्त हो रहा है (साम० ५३८),' 'सिन्धुओं का प्राण सोम कल-कल शब्द करता हुआ कलशों में पहुँचा है (साम०, ५५९)', 'पवित्र किया जाता हुआ या पवित्रता देता हुआ सोम 'अवि के वार' में से गुजरता है (साम० ५६२)', 'हे सोम ! मधुमान् तू हमारे कलश में आकर स्थित हो (साम० ५७१)', 'पवित्रता देता हुआ सोम लहर के साथ 'अवि के वार' की ओर दौड़ रहा है (साम० ५७२)', 'यह धारा रूप में अभिषुत, अतिशय आनन्ददायक सोम 'अवि के वारों' में से छनकर बह रहा है (साम० ५८४)'।

सोम ओषधि के पक्ष में 'अद्रि' सिल-बट्टे हैं, जिनसे कूटा, निचोड़ा और अभिषुत किया जाता हुआ सोम दशापवित्र (भेड़ के बालों से बनी छन्नी) में से छनता हुआ द्रोणकलश (लकड़ी के कुण्डों) में पहुँचता है। अध्यात्मपक्ष में आनन्द-रस का अगार परमेश्वर-रूप सोम ध्यान-रूप अद्रियों (सिल-बट्टों) से अभिषुत होकर शुद्ध-चित्तवृत्ति-रूप दशापवित्रों से छाना जाकर आत्मा-रूप द्रोणकलश में प्रवेश करता है, अथवा ज्ञान-रूप सोम ज्ञानेन्द्रिय-रूप अद्रियों (सिल-बट्टों) से अभिषुत होकर मन-बुद्धि-रूप दशापवित्रों से शोधित होकर आत्मा-रूप द्रोणकलश में जाता है। वेद में सोम शब्द का मुख्य अर्थ सोम ओषधि नहीं है, यह वेद स्वयं ही उद्घोषित करता हुआ कहता है कि—"जिसे ब्रह्मज्ञानी लोग सोम समझते हैं, उसे कोई खा-पी नहीं सकता है (ऋ० १०।८५।३)।

इस पावमान काण्ड की व्याख्या में पवमान सोम से परमात्मा-परक अथवा ब्रह्मानन्द-परक अर्थ प्रदर्शित किया जाएगा, सोम-ओषधि-परक अथवा राजा, सेनापति आदि परक अर्थ का तो कहीं-कहीं ही संकेत किया जाएगा।

अथ पञ्चमोऽध्याय:

॥६॥ अथ 'उच्चा ते जात' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ४ अमहीयुः; २ मधुच्छन्दाः; ३ भृगुर्वारुणिः; ५ त्रितः; ६ कश्यपः; ७ जमदग्निः; ८ दृढच्युत आगस्त्यः; ९, १० काश्यपोऽसितः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में ऊपर से नीचे की ओर सोम का प्रवाह वर्णित है।

४६७. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद् भूम्या ददे।
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१॥[1]

पदार्थ—हे पवमान सोम! पवित्रकर्ता रसागार परमेश्वर! **ते** तेरा **अन्धसः** आनन्दरस का **जातम्** समूह **उच्चा** उच्च है, **दिवि सत्** प्रकाशमान आनन्दमय कोश में विद्यमान उसको **भूमि** भूमि अर्थात् भूमि पर स्थित मनुष्य **आददे** ग्रहण करता है। उस आनन्दरस से **उग्रं शर्म** तीव्र कल्याण, और **महि श्रवः** महान् यश, प्राप्त होता है ॥१॥

भावार्थ—जैसे ऊपर अन्तरिक्ष में विद्यमान बादल के रस को अथवा चन्द्रमा की चाँदनी के रस को ग्रहण कर भूमि सस्यश्यामला हो जाती है, वैसे ही उच्च आनन्दमय कोश में अभिषुत होते हुए ब्रह्मानन्द-रस का पान कर सामान्य मनुष्य कृतार्थ हो जाता है ॥१॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि वह सोम अपनी धारा से हमें पवित्र करे।

४६८. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥[2]

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर! तुम **स्वादिष्ठया** स्वादिष्ठ, **मदिष्ठया** अतिशय हर्षप्रद **धारया** आनन्दधारा से **पवस्व** हमें पवित्र करो। तुम **इन्द्राय** मेरे आत्मा के **पातवे** पान के लिए **सुतः** अभिषुत हो ॥२॥

भावार्थ—अपने अन्तःकरण में बहती हुई पवित्रतासम्पादिनी आनन्द-रस की सरिता को अनुभव करता हुआ उपासक कह रहा है कि परमात्मा-रूप सोम से अभिषुत होता हुआ ब्रह्मानन्द-रस इसी प्रकार मेरे आत्मा के पानार्थ निरन्तर धारा-रूप में प्रवाहित होता रहे ॥२॥

१. ऋ० ९।६१।१० 'सद्' इत्यत्र 'षद्' इति पाठः। य० २६।१६ ऋषिः महीयवः। साम० ६७२।
२. ऋ० ९।१।१, य० २६।२५, साम० ६८९।

अगले मन्त्र में पुनः सोमरस के धाराप्रवाह का आह्वान है।

४६९. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
विश्वा दधान ओजसा ॥३॥[1]

पदार्थ—हे परमात्म-सोम! **वृषा** अध्यात्म-संपत्ति की वर्षा करने वाला तू **धारया** धारा-रूप में **पवस्व** प्रवाहित हो, **मरुत्वते च** और प्राणों के सहचर आत्मा के लिए **मत्सरः** आनन्ददायक हो। **ओजसा** अपने ओज से **विश्वा** सब आत्मा, मन, बुद्धि आदियों को **दधानः** धारण करने वाला बन ॥३॥

भावार्थ—जब प्राणायाम-साधन और ध्यान के द्वारा रसनिधि परमेश्वर से धारारूप में आनन्द-रस का सन्दोह प्रस्तुत होता है, तब शरीर-राज्य के आत्मा, मन, बुद्धि आदि सभी अंग तृप्त हो जाते हैं ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम से प्रार्थना की गयी है।

४७०. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा।
देवावीरघशंसहा ॥४॥[2]

पदार्थ—हे पवित्रतादायक परमात्म-सोम! **यः ते** जो तेरा **वरेण्यः** वरणीय **मदः** आनन्द-रस है, **तेन अन्धसा** उस रस के साथ **पवस्व** प्रवाहित हो, और प्रवाहित होकर **देवावीः** सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के द्वारा मन, इन्द्रिय आदि देवों का रक्षक, तथा **अघशंसहा** पापप्रशंसक भावों का विनाशक बन ॥४॥

भावार्थ—रसनिधि परमात्मा की उपासना से जो आनन्दरस प्राप्त होता है, उससे शरीर के सब मन, इन्द्रियाँ आदि कुटिल मार्ग को छोड़कर सरलगामी बन जाते हैं और पापप्रशंसक भाव पराजित हो जाते हैं ॥४॥

अगले मन्त्र में आनन्द-रस के झरने का वर्णन है।

४७१. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥५॥[3]

पदार्थ—**तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीन वाणियाँ **उदीरते** उठ रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो **धेनवः** नवप्रसूत दुधारू **गावः** गौएँ **मिमन्ति** बछड़ों के प्रति रंभा रही हों। **हरिः** कल्मषहारी, आनन्दमय सोमरस का झरना **कनिक्रदत्** झर-झर शब्द करता हुआ **एति** उपासकों की मनोभूमि पर झर रहा है ॥५॥

इस मन्त्र में व्यंग्योत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और अनुप्रास अलंकार हैं ॥५॥

भावार्थ—परमात्मा की आराधना में लीन जन पुनः पुनः ऋग्, यजुः, साम रूप वाणियों का उच्चारण कर रहे हैं, मानो बछड़ों के प्रति प्रेम में भरी हुई धेनुएँ रंभा रही हों। उपासकों की मनोभूमियाँ

१. ऋ० ९।६५।१० ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। साम० ८०३।
२. ऋ० ९।६१।१९, साम० ८१५।
३. ऋ० ९।३३।४, साम० ८६९।

रसनिधि परमात्मा के पास से प्रस्तुत आनन्दरस के झरने में नहा रही हैं। अहो, कैसा आनन्दमय वातावरण है ।।५।।

अगले मन्त्र में इन्दु नाम से परमात्मा-रूप सोम का आह्वान है।

४७२. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य योनिमासदम् ।।६।।[1]

पदार्थ—हे **इन्दो** चन्द्रमा के सदृश आह्लादक, रस से आर्द्र करने वाले रसनिधि परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** अतिशय मधुर आप **मरुत्वते इन्द्राय** प्राणयुक्त मेरे आत्मा के लाभार्थ, **अर्कस्य** उपासक उस आत्मा के **योनिम्** निवासगृह हृदय में **पवस्व** प्राप्त हों ।।६।।

भावार्थ—समाधि-दशा में रसागार परमेश्वर से प्रवाहित होता हुआ आनन्द-संदोह हृदय में व्याप्त होकर उपासक जीव का महान् कल्याण करता है ।।६।।

अगले मन्त्र में आनन्दरस का वर्णन है।

४७३. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
श्येनो न योनिमासदत् ।।७।।[2]

पदार्थ—**गिरिष्ठाः** पर्वत पर स्थित, **दक्षः** बलप्रद **अंशुः** सोम ओषधि, जैसे **अप्सु** जलों में **असावि** अभिषुत की जाती है, वैसे ही **गिरिष्ठाः** पर्वत के समान उन्नत परब्रह्म में स्थित, **दक्षः** आत्मबल को बढ़ाने वाला **अंशुः** आनन्द-रस **मदाय** हर्ष के लिए **अप्सु** मेरे प्राणों वा कर्मों में **असावि** मेरे द्वारा अभिषुत किया गया है। **श्येनः न** बाज पक्षी, जैसे **योनिम्** अपने घोंसले को प्राप्त होता है, वैसे ही यह आनन्दरस **योनिम्** मेरे हृदय-गृह में **आ असदत्** आकर स्थित हो गया है ।।७।।

इस मन्त्र में पूर्वार्द्ध में श्लिष्ट व्यङ्ग्योपमा तथा उत्तरार्ध में वाच्योपमा अलंकार है ।।७।।

भावार्थ—जैसे बाज आदि पक्षी सायंकाल अपने आवासभूत वृक्ष पर आ जाते हैं, वैसे ही परब्रह्म के पास से झरता हुआ आनन्द-रस हृदय-प्रदेश में आता है। और जैसे सोमलता का सोमरस वसतीवरी नामक पात्र में स्थित जल में अभिषुत किया जाता है, वैसे ही आनन्द-रस स्तोता के प्राणों और कर्मों में अभिषुत होता है ।।७।।

अगले मन्त्र में आनन्दरस के झरने की प्रार्थना है।

४७४. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ।।८।।[3]

---

१. ऋ० ९।६४।२२ 'अर्कस्य' इत्यत्र 'ऋतस्य' इति पाठः। साम० १०७६।

२. ऋ० ९।६२।४, साम० १००८।

३. ऋ० ९।२५।१, साम० ९१९।

पदार्थ—हे **हरे** उन्नति की ओर ले जाने वाले रसागार परब्रह्म ! **दक्षसाधनः** बल के साधक आप **देवेभ्यः पीतये** विद्वानों द्वारा पान के लिए **पवस्व** आनन्दरस को परिस्रुत करो। उन विद्वानों के **मरुद्भ्यः** प्राणों के लिए तथा **वायवे** गतिशील मन के लिए **मदः** तृप्तिप्रदाता होवो ॥८॥

भावार्थ—परब्रह्म के पास से जो आनन्द-रस झरता है वह साधक की ऊर्ध्वयात्रा में सहायक होता है, और उस रस से उसका मन, बुद्धि, प्राण आदि सब-कुछ परमतृप्ति को पा लेता है ॥८॥

अगले मन्त्र में आनन्दरस के प्रवाह का वर्णन है।

४७५. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्।
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥[1]

पदार्थ—**गिरिष्ठाः** पर्वत पर उत्पन्न **सोमः** सोम ओषधि, जैसे **स्वानः** निचोड़ने पर **पवित्रे** दशा-पवित्र में क्षरित होती है, वैसे ही **गिरिष्ठाः** पर्वत के समान उन्नत परब्रह्म में स्थित और **स्वानः** वहाँ से अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** आनन्दरस **पवित्रे** पवित्र हृदय में **अक्षरत्** क्षरित हो रहा है। हे रसागार परमात्मन् ! तुम **मदेषु** आनन्दरसों के क्षरित होने पर **सर्वधाः** सर्वात्मना धारणकर्ता **असि** होते हो ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषमूलक वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जब रसनिधि परमात्मा से आनन्दरस हृदय में प्रस्रुत होता है, तब रस से संतृप्त योगी पूर्णतः धृत हो जाता है ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम की रस द्वारा व्याप्ति का वर्णन है।

४७६. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः।
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥[2]

पदार्थ—**नप्त्योः हितः** द्यावापृथिवी अथवा प्राणापानों का हितकर, **कविः** क्रान्तद्रष्टा, **कविक्रतुः** बुद्धिपूर्ण कर्मों वाला रसागार सोम परमात्मा **स्वानैः** अभिषुत किये जाते हुए आनन्द-रसों के साथ **दिवः** द्योतमान जीवात्मा के **प्रिया वयांसि** प्रिय मन, बुद्धि, आदि लोकों में **परि याति** व्याप्त हो जाता है ॥१०॥

भावार्थ—रसनिधि परमात्मा का दिव्य आनन्द जब आत्मा में व्याप्त होता है, तब आत्मा से सम्बद्ध सब मन, बुद्धि आदि मानो हर्ष से नाच उठते हैं ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा रूप पवमान सोम का तथा उसके आनन्दरस का वर्णन होने से और पूर्व दशति में भी इन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवमान आदि नामों से परमात्मा का ही वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीयार्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० ९।१८।१ ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा। 'परिसुवानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षाः' इति पाठः। साम० १०९३।

२. ऋ० ८।९।१, ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा। 'सुवानो याति' इति पाठः। साम० ९३५।

॥१०॥ अथ 'प्र सोमासो मदच्युतः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्यावाश्वः; २ त्रितः, ३, ८ अमहीयुः; ४ भृगुः; ५, ६ कश्यपः; निध्रुविः काश्यपः; ९, १० काश्यपोऽसितः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में दिव्य आनन्दरसों का वर्णन है।

४७७. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्।
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥[1]

पदार्थ—**सुताः** रसागार परमात्मा से अभिषुत, **मदच्युतः** उत्साहवर्षी **सोमासः** दिव्य आनन्द-रस **मघोनाम्** हम ऐश्वर्यवानों के **श्रवसे** यश के लिए **विदथे** हमारे जीवन-यज्ञ में **प्र अक्रमुः** व्याप्त हो रहे हैं ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा के साथ योग से जो दिव्य आनन्दरस प्राप्त होता है वह मानव के सम्पूर्ण जीवन-यज्ञ में व्याप्त होकर उसे यशस्वी बनाता है ॥१॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि दिव्य आनन्दरस की तरंगें क्या करती हैं।

४७८. प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः।
वनानि महिषा इव ॥२॥[2]

पदार्थ—**ऊर्मयः** तरंगरूप, **विपश्चितः** बुद्धिवर्धक, **सोमासः** परमात्मा से प्रस्रुत आनन्दरस **अपः** कर्मों को **प्र नयन्ते** उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित कर देते हैं, **वनानि** अन्तरिक्षस्थ जलों को **महिषाः इव** जैसे माध्यमिक देवगण पवन **प्र नयन्ते** वेग से प्रेरित करते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—योगियों का योग सिद्ध हो जाने पर दिव्य आनन्दरस की तरंगों से उनके कर्म भी परम उत्कृष्ट हो जाते हैं ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

४७९. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥३॥[3]

पदार्थ—हे **इन्दो** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोमवल्ली के समान रसागार परमात्मन्! **वृषा** बादल के समान वर्षा करने वाले आप **सुतः** हृदय में अभिषुत होकर **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए। **जने**

---

१. ऋ० ९।३२।१, 'मघोनाम्' इत्यत्र 'मघोनः' इति पाठः। साम० ७६९।
२. ऋ० ९।३३।१ 'ऽपां न यन्त्यूर्मयः' इति पाठः। साम० ७६४।
३. ऋ० ९।६१।२८, साम० ७७८।

जनसमाज में **नः** हमें **यशसः** यशस्वी **कृधि** कीजिए। **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को, और काम-क्रोधादि की द्वेषकर्त्री सेनाओं को **अप जहि** विनष्ट कीजिए ॥३॥

भावार्थ—परब्रह्मरूप सोम से प्रवाहित होती हुई दिव्य आनन्द की धाराएँ योगसाधकों को यशस्वी और शत्रुरहित कर देती हैं ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का आह्वान किया गया है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४८०. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।
१ २ ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **पवमान** पवित्रता देने वाले रसागार परमात्मन्! आप **हि** क्योंकि **भानुना** अपने तेज से **वृषा** आनन्द-रस की वृष्टि करने वाले **असि** हो, इसलिए **द्युमन्तम्** देदीप्यमान, **स्वर्दृशम्** मोक्षसुख को दर्शाने वाले **त्वा** आपको, हम **हवामहे** पुकारते हैं ॥४॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने तेज से जल की वर्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर आनन्द-रस का वर्षक होता है। उस रसनिधि, रसवर्षक, तेजस्वी, तेज-वर्द्धक, आनन्दमय, मोक्षानन्द का दर्शन कराने वाले परमेश्वर की सबको उपासना करनी चाहिए ॥४॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
४८१. इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः।
३ १र २र ३ १ २
सृजदश्वं रथीरिव ॥५॥[2]

पदार्थ—**चेतनः** चेतना प्रदान करने वाला, **कवीनां प्रियः** मेधावियों का प्रिय, **मतिः** ज्ञाता, **इन्दुः** चन्द्रमा के समान आह्लादक, सोमलता के समान रसागार परमेश्वर **पविष्ट** अन्तःकरण को पवित्र करता है, और **अश्वम्** प्राण को **सृजत्** ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित कर देता है, **रथीः इव** जैसे सारथि **अश्वम्** रथ में नियुक्त घोड़े को **सृजत्** चलने के लिए प्रेरित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमात्मा-रूप सोम योगी के चित्त को पवित्र करके उसके प्राणों को योगसिद्धियों के प्राप्त्यर्थ ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित कर देता है ॥५॥

अगले मन्त्र में भक्तिरस को अभिषुत करने का प्रयोजन वर्णित है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
४८२. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया।
३ १ २ ३ १र २र
शुक्रासो वीरयाशवः ॥६॥[3]

पदार्थ—**वाजिनः** सबल, **शुक्रासः** पवित्र, **आशवः** वेगवान् **सोमासः** प्रभु-भक्ति के रस **गव्या** अन्तःप्रकाश-प्राप्ति की इच्छा से, **अश्वया** प्राणों की ऊर्ध्वप्रेरणा की इच्छा से, और **वीरया** वीरता-प्राप्ति की इच्छा से **प्र असृक्षत** मेरे द्वारा प्रवाहित किये गये हैं ॥६॥

---

१. ऋ० ९।६५।४, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। 'स्वर्दृशम्' इत्यत्र 'स्वाध्यः' इति पाठः। साम० ७८४।

२. ऋ० ९।६४।१०, 'मतिः' इत्यत्र 'मती' इति पाठः।

३. ऋ० ९।६४।४, साम० १०३४।

भावार्थ—अन्तःकरण में भगवद्भक्ति के रस को प्रवाहित करने से अन्तःप्रकाश की स्फूर्ति, प्राणों का ऊर्ध्वारोहण और दिव्यकर्मों में उत्साह पैदा होता है ।।६।।

अगले मन्त्र में परमात्मारूप सोम से प्रार्थना की गयी है।

४८३. पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमा रोह धर्मणा ।।७।।[1]

पदार्थ—हे पवमान सोम ! हे पवित्रताकारी रसागार परब्रह्म ! **देवः** दिव्यगुण वाले आप **आयुषक्** उपासक मनुष्यों में समवेत होकर **पवस्व** प्रस्तुत होवो, आनन्द-रस को प्रवाहित करो । **ते मदः** आपका आनन्द-रस **इन्द्रम्** आत्मा को **गच्छतु** प्राप्त हो । आप **धर्मणा** अपने धारक बल से **वायुम्** मेरे प्राण पर **आरोह** आरूढ़ होवो, अर्थात् मेरे प्राण भी आपकी तरंग से तरंगित हों ।।७।।

भावार्थ—परमात्मा-रूप सोम से झरा हुआ आनन्द-रस तभी प्रभावकारी होता है, जब वह आत्मा, प्राण आदि में पूर्णतः व्याप जाता है ।।७।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्राप्त ज्योति का वर्णन है ।

४८४. पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ।।८।।[2]

पदार्थ—**पवमानः** पवित्रतादायक सोम परमेश्वर **दिवः** आकाश की **चित्रम्** चित्र-विचित्र **तन्यतुं न** विद्युत् के समान **बृहत्** विस्तीर्ण **वैश्वानरम्** विश्व का नेतृत्व करने वाली **ज्योतिः** दिव्य ज्योति को **अजीजनत्** उत्पन्न कर देता है ।।८।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।८।।

भावार्थ—ईश्वर की आराधना से हृदय में विद्युत् के समान अद्भुत ज्योति परिस्फुरित हो जाती है, जिससे मनुष्य विवेकख्याति प्राप्त कर लेता है ।।८।।

अगले मन्त्र में आनन्द-रसों का वर्णन है ।

४८५. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
मधो अर्षन्ति धारया ।।९।।[3]

पदार्थ—हे **मधो** मधुर आनन्द से भरपूर सोम परमात्मन् ! **बर्हणा** श्रेष्ठ **गिरा** स्तुति वाणी के द्वारा **स्वानासः** आपसे झरते हुए **इन्दवः** आनन्द-रस **मदाय** मेरे उत्साह के लिए **धारया** धारा रूप में **परि अर्षन्ति** मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर रहे हैं ।।९।।

भावार्थ—भक्ति में लीन मन से स्तोता जन जब परमात्मा की आराधना करते हैं, तब उन्हें परम आनन्द की अनुभूति होती है ।।९।।

---

१. ऋ० ९।६३।२२, 'देवायुषगिन्द्रं' इति पाठः । साम० १२३५ ।
२. ऋ० ९।६१।१६ । साम० ८८९ ।
३. ऋ० ९।१०।४, 'स्वानास', 'मधो' इत्यत्र 'सुवानास', 'सुता' इति पाठः । साम० ११२२ ।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के साथ तरंगों के झूले में झूलना वर्णित है।

४८६. परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः ।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥१०॥[1]

पदार्थ—**कविः** वेदकाव्य का कर्ता, काव्यजनित आनन्द से तरंगित हृदय वाला सोम परमेश्वर **सिन्धोः** आनन्दसागर की **ऊर्मौ** लहरों पर **अधिश्रितः** स्थित हुआ **पुरुस्पृहम्** अतिप्रिय **कारुम्** स्तुतिकर्ता जीव को **बिभ्रत्** अपने साथ धारण किये हुए **परि प्रासिष्यदत्** आनन्द की लहरों पर झूला झूल रहा है ॥१०॥

वस्तुतः परमात्मा का झूले आदि से सम्बन्ध न होने के कारण यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सच्चिदानन्दस्वरूप रसमय परमेश्वर अपने सहचर मुझ जीवात्मा का मानो हाथ पकड़े हुए आनन्द-सागर की लहरों पर झूल रहा है। अहो, उसके साथ कैसा पहले कभी अनुभव में न आया हुआ सुख मैं अनुभव कर रहा हूँ। सचमुच, कृतकृत्य हो गया हूँ। मैंने जीवन की सफलता पा ली है ॥१०॥

इस दशति में भी रसागार सोम परमेश्वर का तथा तज्जनित आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीयार्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।

यह पंचम प्रपाठक समाप्त हुआ ॥

पंचम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त।

—०—

अथ षष्ठः प्रपाठकः

॥१॥ तत्र 'उपो षु जातमप्तुरम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ८, ९ अमहीयुः; २ बृहन्मतिः आङ्गिरसः; ३ जमदग्निः; ४ प्रभूवसुः; मेध्यातिथिः; ६, ७ निध्रुविः काश्यपः; १० उचथ्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि विद्वान् लोग कैसे परमेश्वर का अवलम्ब लेते हैं।

४८७. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥१॥[2]

पदार्थ—**सु जातम्** सुप्रसिद्ध, **अप्तुरम्** कर्म करने में शीघ्रतायुक्त, **भङ्गम्** दुःखों के भंजक, **गोभिः परिष्कृतम्** प्रकाश-किरणों से अलंकृत अर्थात् तेजस्वी **इन्दुम्** चाँद के समान आह्लादक, रस से आर्द्र करने

१. ऋ० ९।१४।१, 'कारुं' इत्यत्र 'कारं' इति पाठः।
२. ऋ० ९।६१।१३, साम० ७६२।

वाले तथा सोम ओषधि के समान रसमय परमात्मा को **देवाः** विद्वान् लोग **उप उ अयासिषुः** निकटता से प्राप्त करते हैं ॥१॥

भावार्थ—जो परमेश्वर प्रसिद्ध कीर्ति वाला, जगत् की उत्पत्ति, धारण आदि क्रियाओं को करने वाला, दुःखियों का दुःख दूर करने वाला, दिव्य तेजों से अलंकृत, अपने शान्तिदायक आनन्द-रस में स्नान कराने वाला, चन्द्रमा के समान सुन्दर और सोमलता के समान रस से पूर्ण है, उसकी सबको उपासना करनी चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का वर्णन है।

४८८. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥२॥[1]

पदार्थ—**पुनानः** मन को पवित्र करता हुआ **विचर्षणिः** सर्वद्रष्टा परमेश्वर **विश्वाः मृधः** काम, क्रोध आदियों की सब संग्रामकारिणी सेनाओं पर अथवा समस्त हिंसावृत्तियों पर **अभि अक्रमीत्** आक्रमण कर देता है। उस **विप्रम्** मेधावी परमेश्वर को, उपासक जन **धीतिभिः** ध्यानों के द्वारा **शुम्भन्ति** अपने हृदय के अन्दर शोभित करते हैं ॥२॥

भावार्थ—ध्यान किया हुआ परमेश्वर साधक के मार्ग में विघ्नभूत सब आसुरी सेनाओं को पराजित कर चित्त को पवित्र करता है ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा सब शोभाओं को प्रदान करता है।

४८९. आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः ।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥३॥[2]

पदार्थ—**सुतः** अभिषुत किया हुआ अर्थात् ध्यान द्वारा प्रकट किया हुआ, **कलशम्** हृदय-रूप द्रोणकलश में **आविशन्** प्रवेश करता हुआ, **विश्वाः** समस्त **श्रियः** शोभाओं को अथवा सद्गुणरूप ऐश्वर्यों को **अर्षन्** प्राप्त कराता हुआ **इन्दुः** चन्द्रमा के समान सौम्य कान्ति वाला और सोम ओषधि के समान रस से परिपूर्ण परमेश्वर **इन्द्राय** जीवात्मा की उन्नति के लिए **धीयते** संमुख स्थापित किया जाता है ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा में ध्यान लगाने से जीवात्मा सब प्रकार का उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर की आराधना से स्तोता कैसा बल प्राप्त कर लेता है।

४९०. असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।
कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत् ॥४॥[3]

पदार्थ—**चम्वोः** आत्मा और बुद्धिरूप अधिषवणफलकों में **सुतः** अभिषुत अर्थात् ध्यान द्वारा प्रकटीकृत रसनिधि परमेश्वर **पवित्रे** दशापवित्र के तुल्य पवित्र हृदय में **असर्जि** छोड़ा जाता है, **रथ्यः यथा**

१. ऋ० ९।४०।१, साम० ९२४।
२. ऋ० ९।६२।१९, 'शूरो न गोषु तिष्ठति' इति तृतीयः पादः।
३. ऋ० ९।३६।१।

जैसे रथ में नियुक्त घोड़ा मार्ग में छोड़ा जाता है। उससे **वाजी** बलवान् हुआ उपासक **कार्ष्मन्** योग-मार्ग में **न्यक्रमीत्** सब विघ्नों को पार कर लेता है, जैसे **वाजी** बलवान् सेनापति **कार्ष्मन्** युद्ध में **न्यक्रमीत्** शत्रु-सेनाओं को परास्त करता है ।।४।।

इस मन्त्र में पूर्वार्द्ध में श्रौति उपमा और उत्तरार्द्ध में श्लेषमूलक लुप्तोपमा है ।।४।।

भावार्थ—जब हृदय में सोम परमात्मा अवतीर्ण होता है, तब मनुष्य सभी विघ्न-बाधाओं को क्षण-भर में ही परास्त कर लेता है ।।४।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा से प्राप्त आनन्द-रस क्या करते हैं।

४९१. प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ।।५।।[1]

पदार्थ—**यत्** जब **गावः न** सूर्य-किरणों के समान **भूर्णयः** धारण-पोषण करने वाले, **त्वेषाः** दीप्तिमान्, **अयासः** क्रियाशील आनन्द-रस रूपी सोम **प्र अक्रमुः** पराक्रम दिखाते हैं, तब **त्वचम्** आवरण डालने वाली **कृष्णाम्** तमोगुण की काली रात्रि को **घ्नन्तः** नष्ट कर देते हैं ।।५।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।५।।

भावार्थ—ब्रह्मानन्द-रूप रसों को जब योगी जन पान कर लेते हैं, तब सभी मोह-निशाएँ उनके मार्ग से हट जाती हैं ।।५।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

४९२. अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः ।
नुदस्वादेवयुं जनम् ।।६।।[2]

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर! आप **मृधः** संग्रामकारी काम, क्रोध आदि रिपुओं को **अपघ्नन्** विनष्ट करते हुए **पवसे** हमें पवित्र करते हो। **क्रतुवित्** बुद्धि और कर्म दोनों प्राप्त कराने वाले, **मत्सरः** आनन्द-प्रदाता आप **अदेवयुम्** दिव्य गुणों की कामना न करने वाले **जनम्** मनुष्य को **नुदस्व** दिव्य गुण प्राप्त करने के लिए प्रेरित करो ।।६।।

भावार्थ—आनन्द-रस के खजाने परमेश्वर की सत्प्रेरणा से अपावन भी पावन और अदिव्य भी दिव्यगुणी हो जाते हैं ।।६।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से तेज की धारा माँगी गयी है।

४९३. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ।।७।।[3]

पदार्थ—हे तेज-रूप रस के भण्डार परमेश्वर! आप **अया** इस **धारया** तेज की धारा के साथ

---

१. ऋ० ९।४१।१, 'यद्' इत्यत्र 'ये' इति पाठः। साम० ८९२।

२. ऋ० ९।६३।२४, साम० १२३७।

३. ऋ० ९।६१।२२।

पवस्व हमें प्राप्त हों, **यया** जिस तेज की धारा से, आपने **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयः** चमकाया है। आप **मानुषीः अपः** सब मानव प्रजाओं को **हिन्वानः** तेज से तृप्त करो ।।७।।

भावार्थ—जो परमेश्वर तेज से सूर्य, अग्नि, बिजली आदियों को चमकाता है, उसके दिये हुए तेज से सब मनुष्य तेजस्वी होवें ।।७।।

अगले मन्त्र में पापरूप वृत्र के वध का विषय है।

**४९४. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
वव्रिवांसं महीरपः ।।८।।**[1]

पदार्थ—हे वीर-रस के भण्डार सोम परमेश्वर ! **सः** वह प्रसिद्ध आप, हमारे पास **पवस्व** अपनी रक्षा-शक्ति के साथ आओ, **यः** जो आप **महीः अपः** बड़ी धर्मरूप धाराओं को **वव्रिवांसम्** वरण करने वाले **इन्द्रम्** जीवात्मा को **वृत्राय हन्तवे** अधर्म, पाप आदि के विनाशार्थ **आविथ** प्राप्त होते हो ।।८।।

भावार्थ—देवासुरसंग्राम में विजय पाने के लिए परमेश्वर से प्रेरणा पाकर पुरुषार्थ करना चाहिए ।।८।।

सोमरस से तृप्त हुआ मनुष्य क्या करे यह कहते हैं।

**४९५. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ।।९।।**[2]

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस वा वीररस के भंडार परमात्मन् ! आप **अया वीती** इस रीति से **परिस्रव** उपासकों के अन्तःकरण में प्रवाहित होवो, कि **यः** जो उपासक **ते मदेषु** आपसे उत्पन्न किये गये हर्षों में **आ** मग्न हो, वह **नव नवतीः** निन्यानवे वृत्रों को **अवाहन्** विनष्ट कर सके।

मनुष्य की औसत आयु वेद के अनुसार सौ वर्ष है। उसमें से नौ या दस मास क्योंकि माता के गर्भ में बीत जाते हैं, इसलिए शेष लगभग निन्यानवे वर्ष वह जीता है। उन निन्यानवे वर्षों में आने वाले विघ्न निन्यानवे वृत्र कहाते हैं। सोमजनित आनन्द एवं वीरत्व से तृप्त होकर मनुष्य उन सब वृत्रों का संहार करने में समर्थ हो, यह भाव है ।।९।।

भावार्थ—परमेश्वर से झरा हुआ आनन्दरस वा वीररस स्तोता को ऐसा आह्लादित कर देता है कि वह जीवन में आने वाले सभी विघ्नों वा शत्रुओं का संहार कर सकता है ।।९।।

परमात्मा-रूप सोम क्या-क्या प्रदान करे, यह कहते हैं।

**४९६. परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा ।
स्वानो अर्ष पवित्र आ ।।१०।।**[3]

पदार्थ—हे सोम ! हे रसागार परमात्मन् ! **द्युक्षम्** दीप्ति के निवासक **रयिम्** दिव्य ऐश्वर्य को **सनत्** देते हुए, और **अन्धसा** आनन्द-रस के साथ **नः** हमारे लिए **वाजम्** आत्म-बल को **भरत्** लाते हुए,

१. ऋ० ९।६१।२२।

२. ऋ० ९।६१।१, साम० १२१०।

३. ऋ० ९।५२।१, 'द्युक्षं सनद् रयिं', 'स्वानो', इत्यत्र क्रमेण 'द्युक्षः सनद्रयिः', 'सुवानो' इति पाठः।

स्वानः झरते हुए, आप **पवित्रे** दशापवित्र के तुल्य पवित्र हृदय में **आ अर्ष** आओ ॥१०॥

भावार्थ—उपासक के हृदय में परमात्मा से झरा हुआ आनन्द-रस अनुपम ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस और आत्मबल आदि प्रदान करता है ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा-रूप सोम और उससे झरे हुए आनन्द, वीरता आदि के रस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
पञ्चम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'अचिक्रदद् वृषा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ मेधातिथिः; २, ७ भृगुः; ३ उचथ्यः; ४ अवत्सारः; ५ निध्रुविः काश्यपः; ६, १० असितः; ८, ६ कश्यपो मारीचः; ११ कविः; १२ जमदग्निः; १३ अयास्य आङ्गिरसः; १४ अमहीयुः ॥
देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
४९७. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः ।
१र २र
सं सूर्येण दिद्युते ॥१॥[1]

पदार्थ—**वृषा** मनोरथों को पूर्ण करने वाला, **हरिः** पापहारी सोम परमेश्वर, सबके हृदयों में स्थित हुआ **अचिक्रदत्** शब्द कर रहा है अर्थात् उपदेश व सत्प्रेरणा दे रहा है। **महान्** महान् वह **मित्रः न** मित्र के समान **दर्शतः** दर्शनीय है। वही **सूर्येण** सूर्य से **सम्** संगत हुआ **दिद्युते** प्रकाशित हो रहा है। कहा भी है—'जो वह आदित्य में पुरुष है, वह मैं ही हूँ', य० ४०।१७ ॥१॥

इस मन्त्र में 'अचिक्रदत् वृषा' यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से 'वर्षा करने वाला बादल गर्ज रहा है' यह दूसरा अर्थ भी सूचित होकर बादल और सोम परमात्मा में उपमानोपमेयभाव को ध्वनित कर रहा है, इसलिए उपमाध्वनि है। 'मित्रो न दर्शतः' में वाच्या पूर्णोपमा है ॥१॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मदर्शी लोग हैं वे सूर्य, पर्जन्य आदि में परमेश्वर के ही दर्शन करते हैं, क्योंकि ताप, प्रकाश, जल बरसाने आदि की सब शक्ति उसी की दी हुई है ॥१॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से बल की प्रार्थना है।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४९८. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
२ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२॥[2]

पदार्थ—हे पवमान सोम, हे पवित्रतादायक आनन्दरसमय परमात्मन्! हम **ते** आपके **मयोभुवम्** सुखदायक, **वह्निम्** लक्ष्य की ओर ले जाने वाले, **पान्तम्** रक्षक, **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य **दक्षम्** बल को **अद्य** आज **आ वृणीमहे** स्वीकार करते हैं ॥२॥

१. ऋ० ९।२।६, य० ३८।२२ ऋषिः दीर्घतमाः, 'सं सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः' इति पाठः, परोष्णिक् छन्दः। साम० १०४२।

२. ऋ० ९।६५।२८, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। साम० ११३७।

भावार्थ—परमात्मा से जो बल और शुभकर्मों में उत्साह प्राप्त होता है, उससे सुख, लक्ष्यपूर्ति और रक्षा की वृद्धि होती है ।।२।।

अगले मन्त्र में अध्वर्यु को प्रेरित किया गया है ।

४९९. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय ।
पुनाहीन्द्राय पातवे ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** यज्ञविधि के निष्पादक अध्वर्यु नामक ऋत्विज् के समान ज्ञानयज्ञ को निष्पन्न करने वाले मानव ! तू **अद्रिभिः** सिलबट्टों के सदृश ज्ञानेन्द्रियों से **सुतम्** अभिषुत **सोमम्** सोम ओषधि के रस के सदृश ज्ञानरस को **पवित्रे** दशापवित्र के सदृश मन में **आ नय** ला, उस ज्ञान-रूप सोम-रस को **इन्द्राय पातवे** जीवात्मा के पान के लिए **पुनाहि** मनन द्वारा शुद्ध कर ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेष से अभिहित भौतिक सोमपरक द्वितीय अर्थ उपमान-भाव में परिणत हो रहा है ।।३।।

भावार्थ—जैसे यज्ञ में पीसने के साधन सिल-बट्टों से अभिषुत सोम दशापवित्र द्वारा छानकर ही पिया और पिलाया जाता है, वैसे ही ज्ञानार्जन की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों से अर्जित ज्ञान को मन से मनन द्वारा शुद्ध करना चाहिए ।।३।।

अब सोम के धाराप्रवाह से क्या फल प्राप्त होता है, यह कहते हैं ।

५००. तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत् स मन्दी धावति ।।४।।[2]

पदार्थ—**सुतस्य** आचार्य के अथवा परमात्मा के पास से अभिषुत **अन्धसः** ज्ञान और कर्म के रस की अथवा आनन्द-रस की **धारा** धारा से **मन्दी** तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःख, विघ्न, विपत्ति आदि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** ऐहलौकिक लक्ष्य की ओर वेग से अग्रसर होने लगता है । **मन्दी** ज्ञान और कर्म के रस वा आनन्दरस की धारा से तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःखादि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** पारलौकिक लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होने लगता है ।।४।।

इस मन्त्र में 'तरत् स मन्दी धावति' की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ।।४।।

भावार्थ—गुरु के पास से प्राप्त ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के रस से तथा परमात्मा के पास से प्राप्त आनन्दरस से तृप्त होकर मनुष्य समस्त ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उन्नति करने में समर्थ हो जाता है ।।४।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा तथा आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

५०१. आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम् ।
अस्मे श्रवांसि धारय ।।५।।[3]

---

१. ऋ० ९।५१।१ 'आ सृज', 'पुनीहीन्द्राय' इति पाठः । य० २०।३१ देवता इन्द्रः, ऋषिः प्रजापतिः, 'पुनीहीन्द्राय' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।५८।१, साम० १०५७ ।

३. ऋ० ९।६३।१ ।

पदार्थ—हे **सोम** सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर अथवा विद्वन् आचार्य ! आप हमारे लिए **सहस्रिणम्** सहस्रों की संख्या वाले अथवा प्रचुर, **सुवीर्यम्** शुभ बल से युक्त **रयिम्** ऐश्वर्य को अथवा विद्याधन को **आ पवस्व** प्रवाहित कीजिए, और **अस्मे** हममें **श्रवांसि** यशों को **धारय** स्थापित कीजिए ।।५।।

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से हम धन, धान्य, सुवर्ण आदि और सत्य, न्याय, बल, वीर्य आदि सब प्रकार के अपार ऐश्वर्य को तथा आचार्य की कृपा से अपार सद्विद्या एवं सदाचार के धन को प्राप्त करें, जिससे हमारी अधिकाधिक कीर्ति सर्वत्र फैले ।।५।।

अब यह वर्णन है कि परमात्मा की सहायता से मनुष्य क्या प्राप्त कर लेते हैं।

१२ ३ १ २ ३ १२ ३१र २र
५०२. अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
३ १ २ ३ १२
रुचे जनन्त सूर्यम् ।।६।।[1]

पदार्थ—सोम परमात्मा की सहायता से **प्रत्नासः** ज्ञान की दृष्टि से पुरातन अर्थात् ज्ञानवृद्ध मनुष्य **नवीयः** नवीनतर **पदम्** राजमन्त्री, न्यायाधीश आदि के पद को अथवा मोक्षपद को **अनु अक्रमुः** अनुकूलतापूर्वक प्राप्त कर लेते हैं, और **रुचे** प्रकाश के लिए, वे **सूर्यम्** विद्या के सूर्य को अथवा अध्यात्म के सूर्य को **जनन्त** प्रकट कर देते हैं ।।६।।

इस मन्त्र में 'बूढ़े जीर्ण लोग नवीन पद को प्राप्त करते हैं' में नवीन पद की प्राप्ति के हेतु के अभाव में भी उसकी प्राप्ति का वर्णन होने से विभावनालंकार ध्वनित हो रहा है। 'मनुष्य सूर्य को उत्पन्न करते हैं' में मनुष्यों द्वारा सूर्य का उत्पन्न किया जाना असम्भव होने से सूर्य की विद्या-प्रकाश अथवा अध्यात्म-प्रकाश में लक्षणा है ।।६।।

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से मनुष्य सांसारिक उच्च से उच्च पद को और परम मुक्तिपद को भी प्राप्त करने तथा राष्ट्र और जगत् में ज्ञान-विज्ञान एवं सदाचार के सूर्य को प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं ।।६।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा तथा वानप्रस्थ मनुष्य का आह्वान किया गया है।

१ २ ३ १२३ १र २र ३ १ २
५०३. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
२३ २ ३ २ ३ २
सीदन् योनौ वनेष्वा ।।७।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **सोम** रस के भंडार परमात्मन् ! **वनेषु** वनों में, वन के लता-कुंज आदियों में, और **योनौ** नगरस्थ घरों में, सर्वत्र **सीदन्** विराजमान होते हुए **द्युमत्तमः** अतिशय तेजस्वी आप **रोरुवत्** उपदेश करते हुए **द्रोणानि अभि** हमारे हृदय-रूप द्रोण-कलशों में **अर्ष** आइए।

द्वितीय वानप्रस्थ के पक्ष में। हे **सोम** विद्वन् वानप्रस्थ ! **वनेषु** वनों में **योनौ** वृक्ष-मूल रूप घर में **आसीदन्** निवास करते हुए, **द्युमत्तमः** अतिशय तेजस्वी आप **रोरुवत्** पुनः पुनः उपदेश करने की इच्छा रखते हुए **द्रोणानि अभि** गृहस्थों से आयोजित यज्ञों में **अर्ष** आइए ।।७।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।।७।।

भावार्थ—जैसे वनों में उगने वाला सोम वहाँ से लाया जाकर दशापवित्र से छाना जाता हुआ

---

१. ऋ० ९।२३।२, ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा।
२. ऋ० ९।६५।१९, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। 'सीदञ्छ्येनो न योनिमा' इति तृतीयः पादः।

शब्द के साथ द्रोण-कलश में आता है और जैसे रसनिधि परमेश्वर उपदेश देता हुआ स्तोताओं के हृदय में प्रकट होता है, वैसे ही वानप्रस्थ मनुष्य नगरवासियों से आयोजित यज्ञों में उपदेशार्थ आये ।।७।।

अगले मन्त्र में सोम जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है ।

५०४. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दध्रिषे ।।८।।[1]

पदार्थ—हे **सोम** रसनिधि जगदीश्वर ! **द्युमान्** तेजस्वी आप **वृषा** तेज के वर्षक सूर्य के समान **असि** हो, हे **देव** दान आदि गुणों से युक्त ! **वृषव्रतः** सद्‌गुण आदि की वृष्टि करने वाले आप **वृषा** वर्षा करने वाले बादल के समान हो । **वृषा** धर्म की वर्षा करने वाले आप **धर्माणि** धर्म कर्मों को **दध्रिषे** धारण करते हो ।।८।।

इस मन्त्र में 'वृषा' की आवृत्ति में यमक अलंकार है । 'वृषा असि' में लुप्तोपमा है ।।८।।

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर सूर्य और बादल के समान वर्षक होकर धन, धर्म, तेज, शान्ति, सुख आदि की वर्षा से उपासक को कृतार्थ करता है ।।८।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

५०५. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
इन्दो रुचाभि गा इहि ।।९।।[2]

पदार्थ—हे **इन्दो** रस के भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लाददायक परब्रह्म परमेश्वर! **मनीषिभिः** चिन्तनशील हम उपासकों द्वारा **मृज्यमानः** स्तुतियों से अलंकृत किये जाते हुए आप **इषे** इच्छासिद्धि के लिए **धारया** आनन्द की धारा के साथ **पवस्व** हमारे अन्तःकरण में प्रवाहित होवो । आप **रुचा** तेज के साथ **गाः अभि** हम स्तोताओं के प्रति **इहि** आओ ।।९।।

भावार्थ—स्तोताओं से उपासना किया गया रसनिधि परमेश्वर आनन्दरस से उन्हें तृप्त करता है ।।९।।

अगले मन्त्र में पुनः सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

५०६. मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
अव्या वारेभिरस्मयुः ।।१०।।[3]

पदार्थ—हे **सोम** सोम ओषधि के समान रसागार परमेश्वर ! **वृषा** आनन्द के वर्षक, **देवयुः** हमें दिव्य गुण प्रदान करने के इच्छुक, **अस्मयुः** हमसे प्रीति करने वाले आप **अव्याः वारेभिः** भेड़ों के बालों से

१. ऋ० ९।६४।१, 'दध्रिषे' इत्यत्र 'दधिषे' इति पाठः । साम० ७८१ ।
२. ऋ० ९।६४।१३, साम० ८४१ ।
३. ऋ० ९।६।१ ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा । 'अव्यो वारेष्वस्मयुः' इति पाठः ।

निर्मित दशापवित्रों के सदृश हमारे मन के सात्त्विक भावों के माध्यम से **मन्द्रया धारया** आनन्दप्रद धारा के साथ **पवस्व** द्रोणकलश के तुल्य हमारे हृदय-कलश में परिस्रुत होवो ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सोम ओषधि का रस भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्र से छनकर द्रोणपात्र में धारारूप से गिरता है, वैसे ही परमेश्वर मन के सात्त्विक भावों के माध्यम से आनन्द-धारा के साथ स्तोता के हृदय-कलश में प्रकट होता है ॥१०॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा क्या करता है, यह वर्णित है।

५०७. अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः ।
मन्दान इद् वृषायसे ॥११॥[1]

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर ! **महान् सन्** महान् होते हुए आप **अया** इस **सुकृत्यया** स्तुति-गान रूप शुभ क्रिया से **अभ्यवर्द्धथाः** हृदय में वृद्धि को प्राप्त हो गये हो। आप **मन्दानः** आनन्द प्रदान करते हुए **इत्** सचमुच **वृषायसे** वृष्टिकर्ता बादल के समान आचरण करते हो, अर्थात् जैसे बादल जल बरसाता हुआ सब प्राणियों को और ओषधि-वनस्पति आदियों को तृप्त करता है, वैसे ही आप आनन्द की वर्षा करके हमें तृप्त करते हो ॥११॥

भावार्थ—जैसे-जैसे स्तोता स्तुतिगान से परमेश्वर को आराधना करता है, वैसे-वैसे परमेश्वर आनन्द की वृष्टि से उसे प्रसन्न करता है ॥११॥

कैसा परमात्मा क्या करता है, यह अगले मन्त्र में कहा है।

५०८. अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति ।
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥१२॥[2]

पदार्थ—**सः** वह पूर्ववर्णित **विचर्षणिः** विशेष द्रष्टा, **हितः** सबका हितकर्ता **अयम्** यह रसनिधि परमेश्वर **पवमानः** अन्तःकरण को शुद्ध करता हुआ **बृहत्** महान् **आप्यम्** बन्धुत्व को **हिन्वानः** निर्वाह करता हुआ **चेतति** बोध दे रहा है ॥१२॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर अन्तःकरण को शुद्ध करके, जीवों को जागरूक करके बन्धुत्व का निर्वाह करता है ॥१२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का आह्वान किया गया है।

५०९. प्र न इन्दो महे तु न ऊर्मिं न विभ्रदर्षसि ।
अभि देवाँ अयास्यः ॥१३॥[3]

---

१. ऋ० ९।४७।१, 'अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत। मन्दान उद्वृषायसे' ॥ इति पाठः।
२. ऋ० ९।६२।१०
३. ऋ० ९।४४।१ 'प्र ण इन्दो महे तने' इति प्रथमः पादः।

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्द-रस से आर्द्र करने वाले रस के सागर परमात्मन् ! **अयास्यः** प्राणप्रिय तू **ऊर्मि न** मानो लहर को **बिभ्रत्** धारण करता हुआ **नः** हमारी **महे** वृद्धि के लिए **तु** शीघ्र ही **देवान् नः अभि** हम विद्वान् उपासकों को लक्ष्य करके **अर्षसि** प्राप्त हो ।।१३।।

इस मन्त्र में 'ऊर्मि न बिभ्रत्' में उत्प्रेक्षालंकार है ।।१३।।

भावार्थ—उपासना किया गया प्राणप्रिय परमेश्वर अपने प्यारे उपासक को मानो आनन्द की तरंगों से आप्लावित कर देता है ।।१३।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का कर्म वर्णित है ।

३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
५१०. अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः ।
२ ३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ।।१४।।[1]

पदार्थ—**सोमः** पवित्र रस का भण्डार परमेश्वर **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **निष्कृतम्** संस्कृत किये हुए हृदय रूप घर में **गच्छन्** जाता हुआ, **मृधः** संग्रामकर्ता पापरूप शत्रुओं को **अपघ्नन्** विध्वस्त करता हुआ, और **अराव्णः** अदानशील स्वार्थभावों को **अप** विनष्ट करता हुआ **पवते** पवित्रता प्रदान करता है ।।१४।।

भावार्थ—जब पवित्रतादायक आनन्दरस की धार को प्रवाहित करता हुआ सोम परमेश्वर साधक के हृदय में प्रकट होता है तब उसका हृदय सब वासनाओं से रहित और स्वार्थवृत्ति से विहीन होकर पवित्र हो जाता है ।।१४।।

इस दशति में सोम परमात्मा तथा उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दरसधारा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
पंचम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।।

।।३।। अथ 'पुनानः सोम' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—भरद्वाजः कश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः इति सप्त ।। देवता—पवमानः सोमः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
५११. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ।।१।।[2]

पदार्थ—हे **सोम** पवित्र रस के भण्डार परमात्मन् ! आप **धारया** अपनी आनन्द-धारा से **पुनानः** पवित्रता लाते हुए, **अपः** कर्म को **वसानः** आच्छादित अर्थात् प्रभावित करते हुए **अर्षसि** उपासकों के हृदय में व्याप्त होते हो । **रत्नधाः** रमणीय गुणरूप रत्नों के प्रदाता आप **ऋतस्य** सत्य के **योनिम्** गृहरूप जीवात्मा

१. ऋ० ९।६१।२५, साम० १२१३ ।
२. ऋ० ९।१०७।४ 'देवो' इत्यत्र 'देव' इति पाठः । साम० ६७५

को **आ सीदसि** प्राप्त होते हो। आप **उत्सः** आनन्द के झरने, **देवः** विद्या, सुख आदि के प्रदाता और **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय हो ॥१॥

भावार्थ—पवित्र परमेश्वर अपने उपासकों के हृदयों और कर्मों को पवित्र करता हुआ, उनके आत्मा में निवास करता हुआ, उन्हें आनन्द के झरने में स्नान कराता हुआ, ज्योति से प्रदीप्त करता हुआ यशस्वी बनाता है ॥१॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को सोम के सेचनार्थ प्रेरित किया गया है।

५१२. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥२॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के रस के पक्ष में। हे मनुष्यो! **यः सोमः** जो सोमरस **उत्तमम्** उत्तम **हविः** हव्य अथवा भोज्य है, उस **सुतम्** अभिषुत सोमरस को **इतः** इस यज्ञवेदि से अथवा भोजनालय से **परि सिञ्चत** यज्ञाग्नि अथवा जाठराग्नि में चारों ओर सींचो। **नर्यः** मनुष्यों का हितकर्ता **यः** जो सोमरस **दधन्वान्** यजमान को अथवा पीने वाले को धारण करता है, और जिस **सोमम्** सोमरस को अभिषोता **अद्रिभिः** यज्ञिय सिलबट्टों से, तीव्रता कम करने के लिए **अप्सु अन्तः** जलों के अन्दर **आ सुषाव** अभिषुत करता है ॥

द्वितीय अध्यात्मपक्ष में। हे मनुष्यो! **यः सोमः** जो भक्तिरस, उपासनायज्ञ में **उत्तमं हविः** उत्कृष्टतम हवि है, उस **सुतम्** अभिषुत भक्तिरस को, तुम **इतः** इस हृदय से **परि सिञ्चत** चारों ओर प्रवाहित करो, **नर्यः** मनुष्यों का हितकर्ता **यः** जो भक्तिरस, **दधन्वान्** उपासक को धारण करता है, और जिस **सोमम्** भक्तिरस को, उपासनायज्ञ का यजमान आत्मा **अद्रिभिः** ध्यानरूप सिलबट्टों से **अप्सु अन्तः** प्राणों के अन्दर **आ सुषाव** अभिषुत करता है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे बाह्य यज्ञ में अथवा भोजन में सोम ओषधि का रस सिलबट्टों द्वारा अभिषुत करके जलों में मिलाया जाता है, वैसे ही अध्यात्मयज्ञ में भक्तिरस को ध्यानरूप सिलबट्टों से अभिषुत करके अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा को सम्बोधन किया गया है।

५१३. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥३॥[2]

पदार्थ—हे **सोम** परमात्मरूप सोम! **अद्रिभिः** ध्यानरूप यज्ञिय सिलबट्टों से **आ स्वानः** अभिषुत होता हुआ तू **अव्यया वाराणि तिरः** भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्रों के समान शुद्धचित्तवृत्तियों से छनकर क्षरित होता है। शुद्ध चित्तवृत्तिरूप दशापवित्रों से क्षरित **हरिः** दुःख पाप आदि का हर्ता वह रसागार परमेश्वर, **चम्वोः** अधिषवणफलकों के तुल्य बुद्धि और मन में **विशत्** प्रवेश करता है, **जनः न** जैसे

१. ऋ० ९।१०७।१, य० १९।२ ऋषिः भारद्वाजः, साम० १३१३।
२. ऋ० ९।१०७।१० 'स्वानो, दध्रिषे' इत्यत्र क्रमेण 'सुवानो, दधिषे' इति पाठः। साम० १६८९

मनुष्य **पुरि** नगरी में प्रवेश करता है। तदनन्तर हे परमात्म-सोम ! तू **वनेषु** प्राणों में **सदः** स्थिति को **दध्रिषे** धारण करता है ।।३।।

इस मन्त्र में 'जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः' में उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ—जैसे यज्ञिय सिलबट्टों से अभिषुत, भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्रों द्वारा क्षारित सोमलता का रस द्रोणकलशों में प्रविष्ट होकर जल से मिल जाता है, वैसे ही आनन्दरसागार परमेश्वर जब ध्यानों द्वारा अभिषुत, शुद्ध चित्तवृत्तियों से क्षारित और बुद्धि तथा आत्मा में प्रविष्ट होकर प्राणों में अभिव्याप्त हो जाता है, तभी साधक की उपासना सफल होती है ।।३।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा को प्रेरणा दी गयी है।

५१४. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ।।४।।[1]

पदार्थ—हे **सोम** जीवात्मन् ! **देववीतये** दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए, तू **अर्णसा** जल से **सिन्धुः न** महानदी के समान **अर्णसा** ज्ञानरस से **प्र पिप्ये** वृद्धि को प्राप्त कर। **अंशोः** बादल के **पयसा** जल से **मदिरः न** हर्ष को प्राप्त किसान के समान **जागृविः** जागरूक होकर **मधुश्चुतम्** आनन्द को प्रवाहित करने वाले **कोशम्** आनन्दरस के खजाने परमात्मा के **अच्छ** अभिमुख हो। जैसे किसान जागरूक होकर धान्यरूप मधु के उत्पादक खेत के अभिमुख होता है, यह अभिप्राय है ।।४।।

इस मन्त्र में 'सिन्धुर्न' और 'मदिरो न' इस प्रकार दो उपमाओं की संसृष्टि है ।।४।।

भावार्थ—जैसे बड़ी नदी वर्षा के जल से बढ़ जाती है, वैसे ही मनुष्य ज्ञानरस से बढ़े। जैसे वर्षा से तृप्त किसान जागरूक रहकर खेत से फसल प्राप्त करने का यत्न करता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञानरस से तृप्त होकर निरन्तर जागरूक रहकर भक्ति द्वारा परमात्मा के पास से आनन्दरस पाने का प्रयत्न करे ।।४।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोमरस अथवा आनन्दरस किस प्रकार प्रवाहित होता है।

५१५. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ।।५।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** सोमरस के पक्ष में। **सोतृभिः** सोम-रस निचोड़ने वाले मनुष्यों से **अवीनां स्नुभिः** भेड़ों के बालों से निर्मित ऊँचे उठाये दशापवित्रों द्वारा **अधिष्वाणः** अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** सोम ओषधि का रस **अश्वया इव** घोड़ी के समान **हरिता** वेगवती **धारया** धारा के साथ **याति** द्रोणकलश में जाता है, **मन्द्रया** हर्षकारिणी **धारया** धारा के साथ **याति** द्रोणकलश में जाता है ।।

द्वितीय अध्यात्मपक्ष में। **सोतृभिः** परमात्मा के पास से आनन्दरस को अभिषुत करने वाले उपासकों से **अवीनां स्नुभिः** भेड़ों के बालों से निर्मित ऊपर उठाये दशापवित्रों के तुल्य मन की समुन्नत

---

१. ऋ० ९।१०७।१२, साम० ७६७।
२. ऋ० ९।१०७।८ 'ष्वाणः' इत्यत्र 'षुवाणः' इति पाठः। साम० ९९७

सात्त्विक वृत्तियों द्वारा **अधिष्वाणः** अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** आनन्दरस **अश्वया इव** घोड़ी के समान **हरिता** वेगवती **धारया** धारा के साथ **याति** आत्मा को प्राप्त होता है, **मन्द्रया** हर्षकारिणी **धारया** धारा के साथ **याति** आत्मा में पहुँचता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं। 'याति धारया' की पुनरावृत्ति में लाटानुप्रास है ॥५॥

भावार्थ—उपासक लोग जब तल्लीन मन से परमात्मा का ध्यान करते हैं, तब अपने आत्मा के अन्दर दिव्य आनन्द के धाराप्रवाह का अनुभव करते हैं ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के सखित्व की याचना है।

५१६. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि ॥६॥[1]

पदार्थ—हे **सोम** चन्द्रमा के समान आह्लादक तथा सोम ओषधि के समान रसागार **इन्दो** रस से आर्द्र करने वाले परमात्मन्! **अहम्** मैं उपासक **तव सख्ये** तेरी मित्रता में **दिवेदिवे** प्रतिदिन **रारण** रमूं। हे **बभ्रो** भरणपोषणकर्ता परमेश! **पुरूणि** बहुत-से काम, क्रोध आदि राक्षस **माम्** मुझ तेरे उपासक को **नि अव चरन्ति** उद्विग्न कर रहे हैं, **परिधीन्** घेरने वाले **तान्** उन राक्षसों को **अति इहि** पराजित कर दो ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की मित्रता से मनुष्य सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, असत्य, अन्याय आदि शत्रुओं को पराजित कर उन्नति के मार्ग में प्रवृत्त होता है ॥६॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि उपासना किया हुआ परमेश्वर क्या करता है।

५१७. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥७॥[2]

पदार्थ—हे **सुहस्त्य** उत्तम ऐश्वर्यों वाले रसागार सोम परमात्मन्! **मृज्यमानः** स्तुतियों से अलंकृत किये जाते हुए आप **समुद्रे** उपासक के हृदयान्तरिक्ष में **वाचम्** सत्प्रेरणारूप वाणी को **इन्वसि** प्रेरित करते हो। हे **पवमान** पवित्रता देने वाले जगदीश्वर! आप **बहुलम्** बहुत सारे **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य अथवा बहुतों से चाहने योग्य **पिशङ्गं रयिम्** पीले धन सुवर्ण को अथवा तेज से युक्त आध्यात्मिक धन सत्य, अहिंसा आदि को **अभ्यर्षसि** प्रदान करते हो ॥७॥

इस मन्त्र में द्वितीय और चतुर्थ पादों में अन्त्यानुप्रास अलंकार है, पवर्ग जिनके बाद आता है ऐसे अनेक अनुस्वारों के सहप्रयोग में वृत्त्यनुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—सबके हृदय में स्थित परमेश्वर दिव्य सन्देश निरन्तर देता रहता है, वही जीवन को पवित्र करता हुआ तेजोमय आध्यात्मिक और भौतिक धन भी प्रदान करता है ॥७॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१९, साम० ९२२।
२. ऋ० ९।१०७।२१ 'सुहस्त्या' इत्यत्र 'सुहस्त्य' इति पाठः।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन कहाँ आनन्दरस को प्रवाहित करते हैं।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५१८. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥८॥[1]

पदार्थ—मनीषिणः मनन करने वाले, **मत्सरासः** उल्लासयुक्त, **मदच्युतः** आनन्द बहाने वाले **सोमासः** ब्रह्मानन्दरूप सोमरस का पान किये हुए **आयवः** मनुष्य **समुद्रस्य विष्टपे अधि** राष्ट्ररूप अन्तरिक्ष के लोक में अर्थात् राष्ट्रवासी जनों में **मद्यम्** उल्लासजनक **मदम्** ब्रह्मानन्द-रस को **पवन्ते** प्रवाहित करते हैं ॥८॥

भावार्थ—स्वयं ब्रह्मानन्द-रस में मग्न योगी जन अन्यों को भी ब्रह्मानन्द-रस में मग्न क्यों न करें ? ॥८॥

अगले मन्त्र में सोम जीवात्मा को उद्बोधित किया गया है।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
५१९. पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः।
१र २र ३ १ २ ३ १ २
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः ॥९॥[2]

पदार्थ—हे **अङ्गिरस्तम** अतिशय तेजस्वी **सोम** मेरे अन्तरात्मन्! **जागृविः** जागरूक, **अव्याः वारैः** भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्रों के सदृश बुद्धि के तर्कों से **परि पुनानः** असत्य के त्याग तथा सत्य के स्वीकार द्वारा स्वयं को पवित्र करता हुआ **प्रियः** सबका प्रिय **त्वम्** तू **विप्रः** ज्ञानी **अभवः** हो गया है। वह तू **नः** हमारे **यज्ञम्** जीवन-यज्ञ को **मध्वा** माधुर्य से **मिमिक्ष** सींचने का प्रयत्न कर ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि वे जागरूक, पवित्र, सबके प्रिय, ज्ञानी, तेजस्वी और मधुर व्यवहार करने वाले होवें ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि सोम परमात्मा किसके लिए झरता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५२०. इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः।
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥१०॥[3]

पदार्थ—मदः तृप्ति देने वाला, **सुतः** ध्यानरूपी सिलबट्टों से अभिषुत **सोमः** रसनिधि परमात्मा **मरुत्वते** प्राण से सहचरित **इन्द्राय** आत्मा के लिए **पवते** झरता है। **सहस्रधारः** अनेकों आनन्दधाराओं से युक्त वह **अव्यम् अति** पार्थिव अन्नमय कोश को पार कर प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में **अर्षति** पहुँचता है। **तम् ई** उसे **आयवः** मनुष्य **मृजन्ति** भक्तिपुष्पों से अलंकृत करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—रसागार परमेश्वर ध्यानी, भक्तिपरायण जीवात्मा को आनन्द के झरने में स्नान कराता है ॥१०॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१४, 'विष्टपे मदच्युतः' इत्यत्र क्रमेण 'विसृपि, स्वर्विदः' इति पाठः। साम० ८५६।
२. ऋ० ९।१०७।६, 'जागृविरव्या, अभवोऽङ्गिरस्तम, णः' इत्यत्र क्रमेण 'जागृविरव्यो, अभवोऽङ्गिरस्तमः, नः' इति पाठः।
३. ऋ० ९।१०७।१७।

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

५२१. पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥[1]

पदार्थ—हे **सोम** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजन्! **वाजसातमः** ऐश्वर्यों के अतिशय दानी आप **विश्वानि** सब **वार्या** वरणीय ऐश्वर्यों को **अभिपवस्व** प्राप्त कराइये। **त्वम्** आप **समुद्रः** परमेश्वरोचित वा राजोचित बल, वीर्य आदि के समुद्र हो। आप **प्रथमे** श्रेष्ठ **विधर्मन्** विशिष्ट जगद्धारण-यज्ञ में वा प्रजा-पालन-यज्ञ में **देवेभ्यः** विद्वानों के लिए **मत्सरः** आनन्ददायक होवो ॥११॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर जगत् में सब ऐश्वर्यों को देने वाला है, वैसे राष्ट्र में राजा प्रजाओं को ऐश्वर्य प्रदान करे ॥११॥

अगले मन्त्र में ज्ञानरसों की प्राप्ति का वर्णन है।

५२२. पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च ॥१२॥[2]

पदार्थ—**पवमानाः** पवित्रता देते हुए ये ज्ञानरूप सोमरस **धारया** धारा रूप में **पवित्रम् अति** पवित्र हृदयरूप दशापवित्र में से छनकर **असृक्षत** आत्मारूप द्रोणकलश में छोड़े जा रहे हैं। **मरुत्वन्तः** प्राणों से युक्त, **मत्सरासः** तृप्तिप्रदाता, **इन्द्रियाः** आत्मा रूप इन्द्र से सेवित, **हयाः** प्राप्त होने वाले ये ज्ञानरस **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **प्रयांसि च** और आनन्दरसों को **अभि** बरसाते हैं ॥१२॥

भावार्थ—मन और प्राण से पवित्र किये गये ज्ञानरस जब आत्मा को प्राप्त होते हैं, तब मेधा और आनन्द के बरसाने वाले होते हैं ॥१२॥

इस दशति में भी सोम परमात्मा और उससे प्राप्त आनन्दधारा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'प्र तु द्रव' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ९ उशना काव्यः; २ वृषगणो वासिष्ठः; ३, ७ पराशरः शाक्त्यः; ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणः; ५, १० प्रतर्दनो दैवोदासिः; ८ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा को उद्बोधन दिया गया है।

५२३. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥१॥[3]

---

१. ऋ० ९।१०७।२३ "पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या। त्वं समुद्रं प्रथमो विधारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥' इति पाठः।

२. ऋ० ९।७।१२५।

३. ऋ० ९।८७।१, साम० ६७७।

पदार्थ—हे आत्मन् ! तू **तु** शीघ्र ही **प्र द्रव** उत्कृष्ट दिशा में दौड़, **कोशम्** आनन्दमय कोश में **परि निषीद** व्याप्त होकर स्थित हो, **नृभिः** आगे ले जाने वाले अपने पौरुषों से **पुनानः** मन, बुद्धि आदि को पवित्र करता हुआ **वाजम् अभि** देवासुरसंग्राम में **अर्ष** असुरों के पराजय के लिए जा । **वाजिनम्** ज्ञानवान् **त्वा** तुझे **मर्जयन्तः** सद्गुणों से अलंकृत करते हुए **रशनाभिः** यम-नियम की रस्सियों से नियन्त्रित करके, शिक्षक योगी जन **बर्हिः अच्छ** परब्रह्म के प्रति **नयन्ति** प्रेरित कर रहे हैं, **न** जैसे **वाजिनम्** बलवान् **अश्वम्** घोड़े को **मर्जयन्तः** साफ या अलंकृत करते हुए योद्धा लोग **रशनाभिः** लगामों से नियन्त्रित करके **बर्हिः अच्छ** संग्राम में **नयन्ति** ले जाते हैं ।।१।।

इस मन्त्र में उत्तरार्ध में श्लिष्टोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़े को योद्धा लोग लगामों से नियन्त्रित करके युद्ध में ले जाते हैं, वैसे ही योग-प्रशिक्षक लोग मनुष्य के आत्मा को यम, नियम आदि योग-साधनों से नियन्त्रित करके परब्रह्म के प्रति ले जाएँ ।।१।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोम परमात्मा क्या करता है ।

५२४. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ।।२।।[1]

पदार्थ—**काव्यम्** काव्य का **प्र ब्रुवाणः** प्रवचन करते हुए **उशना इव** धर्मेच्छु विद्वान् के समान **काव्यम्** वेदरूप काव्य का **प्र ब्रुवाणः** उपदेश करता हुआ **देवः** दान आदि गुणों से युक्त सोम परमात्मा **देवानाम्** प्रकाशक अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थों के तथा इन्द्रियों के **जनिम** उत्पत्ति-प्रकार को **प्र विवक्ति** वेद द्वारा भलीभाँति बतलाता है । **महिव्रतः** महान् कर्मों वाला, **शुचिबन्धुः** पवित्रात्मा जनों से बन्धुत्व स्थापित करने वाला, **पावकः** मनुष्यों को पवित्र करने वाला वह जगदीश्वर **रेभन्** गर्जते हुए **वराहः** मेघ के समान **रेभन्** उद्बोधन के शब्द बोलता हुआ **पदा** गन्तव्य सत्पात्र जनों के पास **अभ्येति** पहुँचता है ।।२।।

इस मन्त्र में 'उशनेव' में वाच्योपमा और 'वराहः' में लुप्तोपमा अलंकार है । 'देवो-देवा' में छेकानुप्रास है ।।२।।

भावार्थ—जैसे सोमरस धारापात शब्द करता हुआ पात्रों में जाता है, और जैसे मेघ गर्जना करता हुआ भूमि पर बरसता है, वैसे ही सौम्य परमेश्वर जीभ के बिना भी सत्कर्मों का उपदेश करता हुआ स्तोता जनों के पास पहुँचता है ।।२।।

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा, जीवात्मा और आचार्य का वर्णन है ।

५२५. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ।।३।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **वह्निः** जगत् का वहनकर्ता सोम परमेश्वर **तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीन वाणियों का **प्र ईरयति** प्रजाओं के कल्याणार्थ उपदेश करता है । वही **ऋतस्य**

१. ऋ० ९।९७।७, साम० १११६।
२. ऋ० ९।९७।३४, साम० ८५९

सत्यमय यज्ञ के **धीतिम्** धारण की, और **ब्रह्मणः** ज्ञान के **मनीषाम्** मनन की **प्र ईरयति** प्रेरणा करता है। **गावः** पृथिवी आदि लोक अथवा सूर्यकिरण **गोपतिम्** अपने स्वामी के विषय में **पृच्छमानाः** मानो पूछते हुए **यन्ति** चले जा रहे हैं—अर्थात् मानो यह पूछ रहे हैं कि कौन हमारा स्वामी है, जो हमें संचालित करता है। इसी प्रकार **मतयः** मेरी स्तुतियाँ **वावशानाः** अतिशय पुनः-पुनः चाह रखती हुई **सोमम्** रसागार परमात्मा को **यन्ति** प्राप्त हो रही हैं ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। **वह्निः** शरीर का वहनकर्ता जीवात्मा **तिस्रः वाचः** ज्ञानरूप में, विचाररूप में तथा जिह्वा के कण्ठ तालु आदि के संयोग से जन्य शब्दरूप में विद्यमान त्रिविध वाणियों को **प्र ईरयति** प्रकट करता है। वही **ऋतस्य** सत्य के **धीतिम्** धारण को, और **ब्रह्मणः** उपार्जित ज्ञान के **मनीषाम्** मनन को करता है। **गावः** मन-सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **पृच्छमानाः** मानो कर्तव्याकर्तव्य को पूछती हुई **गोपतिम्** इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के पास **यन्ति** पहुँचती हैं। **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **वावशानाः** निश्चय में साधन बनना चाहती हुई **सोमम्** ज्ञाता आत्मा के पास **यन्ति** पहुँच रही हैं ॥

तृतीय आचार्य के पक्ष में। **वह्निः** ज्ञान का वाहक आचार्य, शिष्य के लिए **तिस्रः वाचः** त्रिविध ज्ञान-कर्म-उपासना की प्रतिपादक, अथवा सत्त्व-रजस्-तमस् की प्रतिपादक, अथवा सृष्टि-स्थिति-प्रलय की प्रतिपादक, अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की प्रतिपादक, अथवा धर्म-अर्थ-काम की प्रतिपादक वाणियों का **प्र ईरयति** उच्चारण करता है। वही **ऋतस्य** सत्य के **धीतिम्** धारण को, और **ब्रह्मणः** ब्रह्म की अथवा मोक्ष की **मनीषाम्** प्रज्ञा को **प्र ईरयति** देता है। **गावः** मेरी वाणियाँ **पृच्छमानाः** ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न पूछती हुई **गोपतिम्** वाचस्पति आचार्य को **यन्ति** प्राप्त होती हैं। **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **वावशानाः** ज्ञानोद्घाटन को चाहती हुई **सोमम्** ज्ञानरस के अगार, सौम्य आचार्य को **यन्ति** प्राप्त होती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। प्रथम दो पक्षों में 'गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ॥३॥

भावार्थ—वाणियों के प्रेरक, सत्य वा यज्ञ को धारण कराने वाले, ज्ञान के प्रदाता और मन-बुद्धि आदियों के संस्कर्ता परमेश्वर, जीवात्मा तथा गुरु का सदा सेवन एवं सत्कार करना चाहिए ॥३॥

अगले मन्त्र में आत्मा और परमात्मा का विषय वर्णित है।

८२६. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥४॥[1]

पदार्थ—**अस्य** इस सौम्य ज्योति वाले सोम परमात्मा की **प्रेषा** प्रेरणा से, और **हेमना** ज्योति से **पूयमानः** पवित्र किया जाता हुआ **देवः** द्युतिमान् आत्मा **देवेभिः** मनसहित ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर **रसम्** आनन्द को **समपृक्त** अपने अन्दर संपृक्त करता है। **सुतः** ध्यान द्वारा अभिषुत परमात्मरूप सोम **रेभन्** कर्तव्य का उपदेश करता हुआ **पवित्रम्** पवित्र मन में **पर्येति** पहुँचता है, **इव** जैसे **होता** होता नामक ऋत्विज् **पशुमन्ति** पशु-युक्त **मिता** निर्मित **सद्म** गो-सदनों में दूध, घृत आदि लाने के लिए जाता है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—उपासकों के अन्तःकरण में प्रकट हुआ परमेश्वर उन्हें पवित्र और तेजस्वी बना देता है ॥४॥

---

१. ऋ० ९।९७।१, साम० १३९९।

अगले मन्त्र में परमात्मा के सर्वजनकत्व का वर्णन है।

५२७. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ।।५।।[1]

पदार्थ—**सोमः** सर्वोत्पादक, रसागार और चन्द्रमा के समान कमनीय परमेश्वर **पवते** हृदयों को पवित्र करता है, जो **मतीनाम्** बुद्धियों का **जनिता** उत्पादक है, **दिवः** द्युलोक का तथा मनोमय कोश का **जनिता** उत्पादक है, **पृथिव्याः** भूलोक का तथा अन्नमयकोश का **जनिता** उत्पादक है, **अग्नेः** आग का तथा वाणी का **जनिता** उत्पादक है, **सूर्यस्य** सूर्य का तथा चक्षु का **जनिता** उत्पादक है, **इन्द्रस्य** वायु का तथा प्राणमयकोश का **जनिता** उत्पादक है, **उत** और **विष्णोः** यज्ञ का **जनिता** उत्पादक है ।।५।।

इस मन्त्र में पुनः-पुनः 'जनिता' कहने से यह सूचित होता है कि इसी प्रकार अन्य भी अनेक पदार्थों का जनिता है। लाटानुप्रास अलंकार है। कुवलयानन्द का अनुसरण करने पर आवृत्तिदीपक अलंकार है।।५।।

भावार्थ—सर्वोत्पादक परमात्मा ने ही ब्रह्माण्ड के सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् आदि और शरीर-पिण्ड के प्राण, मन, बुद्धि, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि रचे हैं, क्योंकि उनकी रचना करना किसी मनुष्य के सामर्थ्य में नहीं है ।।५।।

अगले मन्त्र में कैसा परमात्मा क्या करता है इसका वर्णन है।

५२८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः ।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ।।६।।[2]

पदार्थ—**त्रिपृष्ठम्** ऋग्-यजुः-साम रूप, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप, अग्नि-वायु-आदित्य रूप, सत्त्व-रजस्-तमस् रूप और मन-प्राण-आत्मा रूप तीन पृष्ठों वाले, **वृषणम्** सुख आदि के वर्षक, **वयोधाम्** आयु प्रदान करने वाले, **अङ्गोषिणम्** अंग-अंग में निवास करने वाले अथवा स्तुति-योग्य परमात्मा का **वाणीः** वेदवाणियाँ **अभि अवावशन्त** गान करती हैं। **वरुणः न** सूर्य के समान **वना** तेज की किरणों को **वसानः** धारण करता हुआ वह परमात्मा **रत्नधाः** रत्नप्रदाता **सिन्धुः** समुद्र के समान **वार्याणि** वरणीय भौतिक एवं आध्यात्मिक रत्नों को **वि दयते** विशेष रूप से प्रदान करता है ।।६।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।६।।

भावार्थ—सूर्य के समान तेजों का और समुद्र के समान रत्नों का भण्डार परमेश्वर तेजों तथा रत्नों को प्रदान कर सबको समृद्ध करता है ।।६।।

अगले मन्त्र में सोम नाम से मेघ और परमात्मा का वर्णन है।

५२९. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ।।७।।[3]

---

१. ऋ० ९।९६।५, साम० ९४३ ।

२. ऋ० ९।९०।२ 'मङ्गोषिण' 'सिन्धुर्' इत्यत्र क्रमेण 'माङ्गूषाणा' 'सिन्धून्' इति पाठः। साम १४०८।

३. ऋ० ९।९७।४० 'गोपाः', 'स्वानो अद्रिः' अत्र क्रमेण 'राजा', 'सुवान इन्दुः' इति पाठः। साम० १२५३।

पदार्थ—**प्रथम** मेघ के पक्ष में। **समुद्रः** जलों का पारावार मेघ **प्रथमे** श्रेष्ठ **विधर्मन्** विशेष धारण-कर्ता अन्तरिक्ष में **अक्रान्** व्याप्त होता है। **प्रजाः** वृक्ष, वनस्पति आदि रूप प्रजाओं को **जनयन्** उत्पन्न करता हुआ वह **भुवनस्य** भूतल का **गोपाः** रक्षक होता है। **वृषा** वर्षा करने वाला, **स्वानः** स्नान कराता हुआ **अद्रिः** मेघरूप **सोमः** सोम **पवित्रे** पवित्र **अव्ये** पार्थिव **सानौ अधि** पर्वत-शिखर पर **बृहत्** बहुत **वावृधे** वृद्धि को प्राप्त करता है॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **समुद्रः** शक्ति का पारावार परमेश्वर **प्रथमे** श्रेष्ठ, **विधर्मन्** विशेष रूप से जड़-चेतन के धारक ब्रह्माण्ड में **अक्रान्** व्याप्त है, **प्रजाः** जड़-चेतन प्रजाओं को **जनयन्** जन्म देता हुआ वह **भुवनस्य** जगत् का **गोपाः** रक्षक है। **वृषा** सद्गुणों की अथवा अन्तरिक्षस्थ जलों की वर्षा करने वाला, **स्वानः** सत्कर्मों में प्रेरित करता हुआ, **अद्रिः** अविनश्वर **सोमः** वह परमात्मा **पवित्रे** पवित्र **अव्ये** अव्यय अर्थात् अविनाशी **सानौ अधि** उन्नत जीवात्मा में **बृहत्** बहुत **वावृधे** महिमा को प्राप्त है, क्योंकि जीवात्मा द्वारा किये जाने वाले महान् कार्यों में उसी की महिमा दृष्टिगोचर होती है॥७॥

इस मन्त्र में मेघ और परमेश्वर दो अर्थों का वर्णन होने से श्लेषालंकार है। दोनों अर्थों का उपमानोपमेयभाव भी ध्वनित हो रहा है॥७॥

भावार्थ—जैसे अगाध जलराशि वाला मेघ अन्तरिक्ष में व्याप्त होता है, वैसे परमेश्वर सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जैसे मेघ बरसकर वृक्ष, वनस्पति आदियों को उत्पन्न करता है, वैसे परमेश्वर जड़-चेतन सब पदार्थों को उत्पन्न करता है। जैसे मेघ भूतल का रक्षक है, वैसे परमेश्वर सब भुवनों का रक्षक है। जैसे मेघ पर्वतों के शिखरों पर विस्तार प्राप्त करता है, वैसे परमेश्वर मनुष्यों के आत्माओं में॥७॥

अगले मन्त्र में हरि नाम से सोम ओषधि और परमात्मा का वर्णन है।

५३०. कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः॥८॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के पक्ष में। **हरिः** हरे रंग का सोम **आ सृज्यमानः** द्रोणकलश में छोड़ा जाता हुआ **कनिक्रन्ति** शब्द करता है। **वनस्य** जंगल के **जठरे** मध्य में **सीदन्** स्थित वह **पुनानः** वायुमण्डल को पवित्र करता है। **नृभिः** यज्ञ के नेता ऋत्विजों से **यतः** पकड़ा हुआ वह सोम **गाम्** गोदुग्ध को **निर्णिजम्** अपने संयोग से पुष्ट **कृणुते** करता है। **अतः** इस कारण, हे यजमानो! तुम **स्वधाभिः** हवि-रूप अन्नों के साथ, सोमयाग के प्रति **मतिम्** बुद्धि **जनयत** उत्पन्न करो, अर्थात् सोमयाग के निष्पादन में रुचि लो॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **हरिः** पापहारी परमेश्वर **आसृज्यमानः** मनुष्य के जीवात्मा के साथ संयुक्त होता हुआ **कनिक्रन्ति** कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करता है। **वनस्य** चाहनेयोग्य अपने मित्र उपासक मनुष्य के **जठरे** हृदय के अन्दर **सीदन्** बैठा हुआ वह **पुनानः** पवित्रता देता रहता है। **नृभिः** उपासक जनों से **यतः** हृदय में नियत किया हुआ वह **गाम्** इन्द्रिय-समूह को **निर्णिजम्** शुद्ध **कृणुते** करता है। **अतः** इस कारण, हे मनुष्यो! तुम **स्वधाभिः** आत्मसमर्पणों के साथ, उस परमेश्वर के प्रति **मतिम्** स्तुति **जनयत** प्रकट करो॥८॥

---

१. ऋ० ९।९५।१ 'निर्णिजं गा अतो मतीर्जनयत' इति पाठः।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। उपमानोपमेयभाव गम्य है ।।८।।

भावार्थ—जैसे द्रोणकलश में पड़ता हुआ सोम टप-टप शब्द करता है, वैसे ही मनुष्यों के आत्मा में उपस्थित परमेश्वर कर्तव्य का उपदेश करता है। जैसे गोदूध से मिलकर सोम उस दूध को पुष्ट करता है, वैसे हृदय में निगृहीत किया परमेश्वर इन्द्रियों को पुष्ट और निर्मल करता है। अतः परमेश्वर के प्रति सबको स्तुतिगीत गाने चाहिएँ ।।८।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के आनन्दरस का वर्णन है।

५३१. एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात् ।।९।।[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! **वृष्णः ते** तुझ वर्षक का **एषः** यह **स्यः** वह प्रसिद्ध, **वृषा** शक्तिवर्षक, **मधुमान्** मधुर **सोमः** आनन्दरस **पवित्रे** मेरे पवित्र हृदयरूप द्रोणकलश में **परि अक्षाः** झर रहा है। **सहस्रदाः** सहस्र गुणों का प्रदाता, **शतदाः** शत बलों का प्रदाता, **भूरिदावा** बहुत से लाभों को देने वाला, **वाजी** वेगवान् आनन्दरस-रूप सोम **शश्वत्तमम्** सनातन **बर्हिः** आत्मा रूप दर्भपात्र में **आ अस्थात्** आकर स्थित हो गया है ।।९।।

इस मन्त्र में 'तुझ वृषा का रस भी वृषा है', इस प्रकार योग्य समागम की सूचना होने से समालंकार ध्वनित होता है। 'वृषा, वृष्' में छेकानुप्रास है। 'दा' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।९।।

भावार्थ—जैसे मधुर रस से भरा सोम पवित्र द्रोणकलश में क्षरित होता है, वैसे ही परमेश्वर का मधुर आनन्दरस हृदय-रूप द्रोणकलश में झरता है। जैसे सोमरस बहुशक्तिप्रद होता है, वैसे ही आनन्दरस भी ।।९।।

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम को कहा जा रहा है।

५३२. पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ।।१०।।[2]

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमात्मन्! **मधुमान्** मधुर आनन्द से युक्त, **ऋतावा** सत्यमय आप **पवस्व** हमारे प्रति झरो अथवा हमें पवित्र करो। **अपः** हमारे कर्मों को **वसानः** आच्छादित करते हुए आप **अव्ये** अविनाशी **सानौ** उन्नत आत्मा में **अधि** अधिरोहण करो। **मदिन्तमः** अतिशय आनन्दमय, **मत्सरः** आनन्दप्रद, **इन्द्रपानः** जीवात्मा से पान किये जाने योग्य आप **घृतवन्ति** तेजोमय **द्रोणानि** इन्द्रिय, मन, प्राण रूप द्रोणकलशों में **अवरोह** अवरोहण करो ।।१०।।

भावार्थ—यहाँ श्लेष से सोम ओषधि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। परमात्मा सोम ओषधि के सदृश मधुर रस का भण्डार है। जैसे सोम ओषधि का रस जलों से मिलकर भेड़ के बालों से बने दशापवित्र में परिस्रुत होकर द्रोणकलशों में जाता है, वैसे ही परमात्मा हमारे कर्मों से संसृष्ट होकर आत्मा में परिस्रुत हो इन्द्रिय, मन, प्राण रूप द्रोणकलशों में अवरोहण करता है ।।१०।।

१. ऋ० ९।८७।४, 'वृष्णः', 'सहस्रदाः शतदा' इत्यत्र क्रमेण 'वृष्णे' 'सहस्रसाः, शतसा' इति पाठः।
२. ऋ० ९।९६।१३ 'घृतवन्ति रोह' इत्यत्र 'घृतवान्ति सीद' इति पाठः।

इस दशति में भी सोम परमात्मा तथा उससे अभिषुत आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक, प्रथम अर्ध में चतुर्थ दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त॥

॥५॥ अथ 'प्र सेनानीः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रतर्दनः; २, १० पराशरः शाक्त्यः; ३ इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः; ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः, ५ मृडीको वासिष्ठः; ६ नोधा गौतमः; ७ कण्वो घौरः; ८ मन्युर्वासिष्ठः; ९ कुत्स आङ्गिरसः; ११ कश्यपो मारीचः; १२ प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—पवमानः सोमः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का सेनानी रूप में वर्णन है।

५३३. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥१॥[1]

पदार्थ—**सेनानीः** देवजनों का सेनापति **शूरः** शूरवीर सोम नामक परमेश्वर **गव्यन्** दिव्य प्रकाश-किरणों को प्राप्त कराना चाहता हुआ **रथानाम्** शरीररथारोही जीवात्मारूप योद्धाओं के **अग्रे** आगे-आगे **प्र एति** चलता है, इस कारण **अस्य** इसकी **सेना** देवसेना **हर्षते** प्रमुदित एवं उत्साहित होती है। **सखिभ्यः** अपने सखा उपासकों के लिए **इन्द्रहवान्** सेनापति के प्रति की गयी पुकारों को **भद्रान्** भद्र **कृण्वन्** करता हुआ, अर्थात् उपासकों की पुकारों को सफल करता हुआ **सोमः** वीररसपूर्ण परमेश्वर **रभसानि** बल, वेग आदियों को **वस्त्रा** वस्त्रों के समान **आदत्ते** ग्रहण करता है, अर्थात् जैसे कोई वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही वीर परमेश्चर अपने सेनापतित्व का निर्वाह करने के लिए बल, वेग आदि को धारण करता है॥१॥

इस मन्त्र में वीररस है। सोम परमात्मा में सेनानीत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है॥१॥

भावार्थ—जैसे कोई शूर सेनापति वीरोचित वस्त्रों को धारण कर रथारोही योद्धाओं के आगे-आगे चलता हुआ उन्हें प्रोत्साहित करता है और अपनी सेना को हर्षित करता है, वैसे ही परमेश्वर वीरोचित बल, वेग आदि को धारण करता हुआ मानसिक देवासुरसंग्राम में मानो सेनानी बनकर दुर्विचाररूप शत्रुओं का संहार करने के लिए और दिव्य विचारों को बढ़ाने के लिए देवजनों को समुत्साहित करता है॥१॥

अगले मन्त्र में पवमान सोम का कार्य वर्णित किया गया है।

५३४. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः॥२॥[2]

पदार्थ—हे सोम! हे रसमय परमात्मन्! **ते** तेरी **मधुमतीः** मधुर **धाराः** धाराएँ **प्र असृग्रन्** प्रवाहित होती हैं, **यत्** जब **पूतः** पवित्र तू **अव्यम्** पार्थिव अर्थात् अन्नमय **वारम्** कोश को **अत्येषि** अतिक्रान्त

१. ऋ० ९।९६।१।
२. ऋ० ९।९७।३१ 'वारान् यत्पूतो अत्येष्यव्यान्' इति 'जज्ञानः सूर्यमपिन्वो अर्कैः' इति च पाठः।

करता है अर्थात् अन्नमयकोश को पार कर क्रमशः प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमयकोश को भी पार करता हुआ जब तू आनन्दमयकोश में अधिष्ठित हो जाता है तब तेरी मधुर आनन्दधाराएँ शरीर, प्राण, मन और आत्मा में प्रवाहित होने लगती हैं। हे **पवमान** पवित्रकारी जगदीश्वर! तू **गोनाम्** पृथिव्यादि लोकों के तुल्य इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा के **धाम** धाम को **पवसे** पवित्र करता है और **सूर्यम्** आकाशवर्ती सूर्य के समान अध्यात्मप्रकाश के सूर्य को **जनयन्** उत्पन्न करता हुआ, उसकी **अर्कैः** किरणों से **अपिन्वः** उपासक के आत्मा को सींचता है, अर्थात् उपासक के आत्मा को अध्यात्मसूर्य की किरणों से अतिशय भरकर शान्ति प्रदान करता है ॥२॥

भावार्थ—जैसे सोमरस जब भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्र में से पार होता है तब उसकी मधुर धाराएँ द्रोणकलश की ओर बहती हैं, वैसे ही जब परमेश्वर अन्नमय आदि कोशों को पार कर आनन्दमय कोश में अधिष्ठित हो जाता है, तब उसकी मधुर आनन्दधाराएँ शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा के धामों को आप्लावित कर देती हैं ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम के प्रति मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

१ २ ३क २र ३१र २र ३१र २र
५३८. प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय।
३१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः ॥३॥[1]

पदार्थ—प्रथम सोम ओषधि के पक्ष में। हे साथियो! तुम **प्र गायत** वेदमन्त्रों का गान करो। हम **देवान्** यज्ञ में आये हुए विद्वानों को **अभ्यर्चाम** सत्कृत करें। तुम **महते** महान् **धनाय** यज्ञफल-रूप धन के लिए **सोमम्** सोम ओषधि के रस को **हिनोत** प्रेरित करो। **स्वादुः** स्वादु सोमरस **अव्यम्** भेड़ के बालों से बने हुए **वारम्** दशापवित्र में से **अति पवताम्** छनकर पार हो। **देवः** द्युतिमान्, वह **इन्दुः** सोमरस **कलशम्** द्रोणकलश में **आ सीदतु** आकर स्थित हो।

द्वितीय—परमात्मा के पक्ष में। हे उपासको! तुम **प्र गायत** रसागार सोम परमात्मा को लक्ष्य करके गीत गाओ। तुम और हम मिलकर हृदय में आये हुए **देवान्** सत्य, अहिंसा आदि दिव्य गुणों को **अभ्यर्चाम** सत्कृत करें। तुम **महते** महान् **धनाय** दिव्य-धन की प्राप्ति के लिए **सोमम्** रसागार परमेश्वर को **हिनोत** अपने अन्तःकरण में प्रेरित करो। **स्वादुः** मधुर रस वाला वह परमेश्वर **अव्यं वारम्** पार्थिव अन्नमय कोश को **अति** पार करके **पवताम्** प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों में प्रवाहित हो। **देवः** दानादिगुणविशिष्ट वह **इन्दुः** रस से आर्द्र करने वाला परमेश्वर **कलशम्** सोलह कलाओं से युक्त आत्मा को **आ सीदतु** प्राप्त हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे यजमान लोग सोमलता को यज्ञिय सिल-बट्टों पर पीसकर, रस को दशापवित्रों से छानकर, मधुर सोमरस को द्रोणकलशों में भरते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के आराधक लोग मधुर ब्रह्मानन्द-रस को आत्मा-रूप कलश में प्रविष्ट करायें ॥३॥

---

१. ऋ० ९।९७।४ 'स्वादुः पवाते अति वारमव्यया सीदाति कलशं देवयुर्नः' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का वर्णन है।

५३६. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत्।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥[1]

पदार्थ—**रोदस्योः** द्यावापृथिवी का **जनिता** उत्पादक और **हिन्वानः** द्यावापृथिवी को गति देता हुआ सर्वप्रेरक सोम परमात्मा **वाजम्** आत्मबल को **सनिषन्** देना चाहता हुआ **प्र अयासीत्** प्रवृत्त होता है, **रथः न** जैसे रथ, मानो **वाजम्** अन्न को **सनिषन्** देने के लिए **प्र अयासीत्** चलता है। वह **इन्द्रम्** जीवात्मा के प्रति **गच्छन्** जाता हुआ, उसके **आयुधा** हथियारों को अर्थात् शम, दम आदि शत्रुपराजय के साधनों को **सं शिशानः** भलीभाँति तीक्ष्ण करता हुआ **विश्वा वसु** सब आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को **हस्तयोः** उसके हाथों में **आदधानः** थमा देता है ॥४॥

इस मन्त्र में 'रथो न वाजम्' आदि में श्लिष्टोपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—रथ जैसे प्रचुर अन्नादि की प्राप्ति का साधन बनता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा के लिए प्रचुर बल, वेग आदि की प्राप्ति का साधन बनता है ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कब स्तोताजन जीवात्मा को परमात्मा में ले जाते हैं।

५३७. तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं द्युक्षोरनीके।
आदीमायन् वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥[2]

पदार्थ—**यदि** जब **वेनतः** कामना करने वाले अर्थात् संकल्पवान् **मनसः** मन की **वाक्** संकल्परूप वाणी, स्तोता को **ज्येष्ठस्य** सबसे महान् परमात्मा के **धर्मन्** धर्म में अर्थात् गुण-समूह में, और **द्युक्षोः** दीप्ति के निवासक उस परमात्मा के **अनीके** समीप **तक्षत्** करती है, **आत्** उसके अनन्तर ही **आ वावशानाः** अतिशय पुनः-पुनः प्रीति करते हुए **गावः** स्तोता जन **ईम्** इस **वरम्** वरणीय वा श्रेष्ठ, **जुष्टम्** प्रिय **पतिम्** शरीर के पालनकर्ता अथवा स्वामी **इन्दुम्** तेजोमय अथवा चन्द्रतुल्य जीवात्मा को **कलशे** सोलह कलाओं से युक्त परमात्मा रूप द्रोणकलश में **आयन्** पहुँचाते हैं ॥५॥

भावार्थ—मन का संकल्प सहायक होने पर ही जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि कब जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करता है।

५३८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥[3]

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के पक्ष में। **धीरस्य** बुद्धिमान् यजमान के **साकमुक्षः** साथ मिलकर सोमरस को निचोड़ने वाली, **धनुत्रीः** प्रेरक, **दश** दस **धीतयः** अंगुलियाँ, जब सोमरस को **मर्जयन्ति** शुद्ध

---

१. ऋ० ९।९०।१ 'सनिषन्' इत्यत्र 'सनिष्यन्' इति पाठः।

२. ऋ० ९।९७।१२ 'ज्येष्ठस्य वा धर्मणि क्षोरनीके' इति पाठः।

३. ऋ० ९।९३।१, साम० १४१८।

करती हैं, तब **सूर्यस्य** सूर्य का **जाः** पुत्र **हरिः** हरे रंग का सोमरस **पर्यद्रवत्** चारों ओर फैल जाता है। **न** जैसे **वाजी** वेगवान् **अत्यः** घोड़ा **द्रोणम्** लकड़ी से बने रथ को **ननक्षे** व्याप्त करता है अर्थात् रथ में नियुक्त होता है, वैसे ही सोमरस **द्रोणम्** द्रोणकलश में **ननक्षे** व्याप्त होता है ।।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **धीरस्य** ध्यान में स्थित योगी की **साकमुक्षः** साथ मिलकर ज्ञानों और कर्मों से सींचने वाली, **स्वसारः** बहिनों के समान परस्पर सहायता करने वाली, **धनुत्रीः** प्रेरक **दश** दस **धीतयः** यम-नियम-भावनाएँ, जब **मर्जयन्त** आत्मा को शुद्ध करती हैं, तब **सूर्यस्य** परमात्मा का **जाः** पुत्र **हरिः** उन्नति के मार्ग पर जाने वाला आत्मा **पर्यद्रवत्** क्रियाशील हो जाता है, और **न** जैसे **वाजी** वेगवान् **अत्यः** घोड़ा **द्रोणम्** लकड़ी से बने रथ को **ननक्षे** प्राप्त करता है, अर्थात् उसमें जुड़ता है, वैसे ही वह आत्मा **द्रोणम्** क्रियाशील परमात्मा-रूप द्रोणकलश को **ननक्षे** प्राप्त कर लेता है ।।६।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी' में श्लिष्टोपमा है। सकार-धकार-नकार तथा रेफ की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।६।।

भावार्थ—अंगुलियों से परिशुद्ध सोमरस जैसे द्रोणकलश को प्राप्त करता है, वैसे ही यम-नियम की भावनाओं से परिशुद्ध हुआ जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करता है ।।६।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा कब क्या करता है, इसका वर्णन है।

५३९. अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः।
अपो वृणानः पवते कवीयान् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ।।७।।[1]

पदार्थ—**यत्** जब **अस्मिन्** इस सोमनामक परमात्मा में **धियः** उपासक की ध्यानवृत्तियाँ **अधि स्पर्धन्ते** मानो 'मैं पहले प्रवेश करूँ—मैं पहले प्रवेश करूँ' इस प्रकार स्पर्धा-सी करती हैं, किस प्रकार? **वाजिनि इव** जैसे घोड़े पर **शुभः** शोभाकारक अलंकार मानो उसे शोभित करने की स्पर्धा करते हैं, अथवा **वाजिनि इव** जैसे बलवान् पुरुष में **शुभः** शोभाकारी गुण निवास करने की स्पर्धा करते हैं, और **सूरे न** जैसे सूर्य में **विशः** उसकी प्रजाभूत किरणें व्याप्त होने की स्पर्धा करती हैं, तब **कवीयान्** अतिशय मेधावी सोम परमेश्वर **अपः** उपासक के प्राणों को **वृणानः** वरण करता हुआ, उसके **मन्म** मन को **पवते** पवित्र करता है, **न** जैसे, गोपालक मनुष्य **पशुवर्धनाय** गाय आदि पशुओं के पोषण के लिए **व्रजम्** गोशाला को स्वच्छ-पवित्र करता है ।।७।।

इस मन्त्र में 'वाजिनीव शुभः', 'सूरे न विशः', 'व्रजं न पशुवर्धनाय' ये तीन उपमाएँ हैं। चेतन के धर्म स्पर्धा का अलंकार, शुभगुण और ध्यानवृत्ति रूप अचेतनों के साथ योग में "मानो स्पर्धा करते हैं" यह अर्थ द्योतित होने से व्यंग्योत्प्रेक्षा है ।।७।।

भावार्थ—जब साधक लोग परमात्मा में ध्यान केन्द्रित करते हैं, तब परमात्मा उनके हृदयों को पवित्र करके उनकी सब प्रकार से वृद्धि करता है ।।७।।

---

१. ऋ० ९।९४।१ 'सूरे', 'कवीयान्' इत्यत्र क्रमेण 'सूर्ये', 'कवीयन्' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के कर्मों का वर्णन है।

५४०. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥८॥[1]

पदार्थ—गोन्योघाः गो-रसों के समान मधुर आनन्दरसों के समूह का स्वामी, **वाजी** वेगवान् **इन्दुः** तेजस्वी और रस से आर्द्र करने वाला परमात्मा **पवते** उपासक के अन्तःकरण को पवित्र करता है। **सोमः** शान्तिदायक वह परमात्मा **मदाय** आनन्द देने के लिए **इन्द्रे** जीवात्मा में **सहः** बल को **इन्वन्** प्रेरित करता है। **वृजनस्य** बल का **राजा** राजा वह परमात्मा, अपने उपासकों को **वरिवः** शुभगुणों का अथवा योग-सिद्धियों का ऐश्वर्य **कृण्वन्** प्रदान करता हुआ **रक्षः** पापरूप राक्षस को **हन्ति** विनष्ट करता है, **अरातिम्** अदानभाव को **परि बाधते** सर्वथा दूर कर देता है ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर उपासकों को गाय के दूध के समान मधुर आनन्दरसों को, आत्मबल को, सद्गुणों को एवं अणिमा आदि योगसिद्धियों को प्रदान करता हुआ उनके हृदय से अदानवृत्ति को बाधित करता हुआ और उनके पापरूप शत्रु का संहार करता हुआ उन्हें विजयी बनाता है ॥८॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

५४१. अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥९॥[2]

पदार्थ—हे **इन्दो** रस से आर्द्र करने वाले परमात्मन्! आप **अया** इस **पवा** प्रवाहमयी धारा के साथ **एना** इन **वसूनि** सत्य, अहिंसा आदि ऐश्वर्यों को **पवस्व** क्षरित करो। **मांश्चत्वे** स्तुतिशब्दयुक्त **सरसि** मेरे हृदय-सरोवर में **प्र धन्व** भलीभाँति आओ, **यस्य** जिन आपका **ब्रध्नः चित्** महान् **वातः** वायु **न** जैसे **जूतिम्** वेग को **धात्** धारण करता है, वैसे ही **पुरुमेधाः चित्** बुद्धिमान् स्तोता **तकवे** कर्मयोग के लिए **नरम्** नेतृत्व के गुण को **धात्** धारण करता है ॥९॥

इस मन्त्र में 'वातो न जूतिम्' आदि में उपमालंकार है। 'पवा, पव' में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर से रचित महान् वायु तीव्र वेग को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर का स्तोता महान् नेतृत्व-गुण को धारण करता है ॥९॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का महान् कर्म वर्णित है।

५४२. महत् तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥[3]

पदार्थ—महिषः महान् **सोमः** सोम ओषधि के समान रस का भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लादक तथा प्रेरक परमेश्वर **तत्** उस प्रसिद्ध **महत्** महान् कर्म को **चकार** करता है **यत्** कि **अपां गर्भः** सबके प्राणों

१. ऋ० ९।९७।१० 'पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन्' इति पाठः।
२. ऋ० ९।९७।५२ 'ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधाश्चित् तकवे नरं दात्' इत्युत्तरार्धपाठः। साम० ११०४।
३. ऋ० ९।९७।४१, साम० १२५५।

में गर्भ के समान अन्तर्यामी वह **देवान्** मन सहित सब आँख, कान आदि इन्द्रियों को **अवृणीत** रक्ष्य रूप में वरण करता है। **पवमानः** पवित्र करने वाला वह **इन्द्रे** जीवात्मा तथा विद्युत् में **ओजः** पवित्रता को वा बल को **अदधात्** स्थापित करता है। **इन्दुः** प्रकाशमय वह **सूर्ये** सूर्य में **ज्योतिः** ज्योति को **अदधात्** स्थापित करता है, अथवा **सूर्ये** शरीरस्थ आँख में **ज्योतिः** दर्शनशक्ति को **अदधात्** स्थापित करता है ।।१०।।

इस मन्त्र में 'इन्दु' का प्रसिद्ध अर्थ चन्द्रमा लेने पर 'चन्द्रमा सूर्य में ज्योति उत्पन्न करता है' यह विरोध आभासित होता है, क्योंकि सूर्य चन्द्रमा को ज्योति देता है, न कि चन्द्रमा सूर्य को। 'इन्दु' का यौगिक अर्थ ग्रहण करने पर उस विरोध का समाधान हो जाता है। 'अपि' शब्द न होने से यहाँ विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है ।।१०।।

भावार्थ—शरीर के अन्दर मन, चक्षु, श्रोत्र आदि में और बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, बादल आदि में जो शक्ति या ज्योति है, वह सब परमात्मा की ही दी हुई है ।।१०।।

अगले मन्त्र में प्राण को प्रेरित करने और जीवात्मा को शुद्ध करने का विषय है।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५४३. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
२३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ ।।११।।[1]

पदार्थ—**यथा** जिस प्रकार **रथ्ये** रथों से युद्ध करने योग्य **आजौ** संग्राम में **वक्वा** शब्द करने वाला घोड़ा **असर्जि** प्रेरित किया जाता है, वैसे ही **मनोता** जिसमें ज्ञान ओत-प्रोत है ऐसी **प्रथमा** श्रेष्ठ **मनीषा** मन को गति देने वाली **धिया** बुद्धि से **वक्वा** शब्दकारी प्राण **असर्जि** प्रेरित किया जाता है। जैसे **दश** दस **स्वसारः** अंगुलियाँ **सदनेषु अच्छ** यज्ञ-सदनों में **अव्ये** भेड़ के बालों से निर्मित **सानौ अधि** ऊपर उठाये हुए दशापवित्र में **वह्निम्** यज्ञ के वाहक सोमरस को **मृजन्ति** छानकर शुद्ध करती हैं, वैसे ही **दश** दस **स्वसारः** बहिनों के समान परस्पर सम्बद्ध प्राणशक्तियाँ **सदनेषु** अच्छ शरीर रूप सदनों में **अव्ये** नाशरहित **सानौ अधि** सर्वोन्नत परमात्मा के सान्निध्य में **वह्निम्** शरीर के वाहक जीवात्मा को **मृजन्ति** शुद्ध करती हैं ।।११।।

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वाच्य उपमालंकार है। उत्तरार्द्ध में श्लेषमूलक व्यङ्ग्योपमा है। 'मनो, मनी' में छेकानुप्रास है। 'मनोता, प्रथमा, मनीषा' में मकार का और 'रथ्ये यथाजौ धिया' में यकार का अनुप्रास है ।।११।।

भावार्थ—परमात्मा के आश्रय को प्राप्त करके जीवात्मा वैसे ही शुद्ध हो जाता है, जैसे दशा-पवित्र रूप छन्नी को प्राप्त कर सोमरस शुद्ध होता है ।।११।।

अगले मन्त्र में स्तोता की बुद्धियाँ सोम परमात्मा के प्रति कैसे जाती हैं, इसका वर्णन है।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५४४. अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १ ३ २ ३ १ २
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चाच विशन्त्युशतीरुशन्तम् ।।१२।।[2]

पदार्थ—**अपाम्** जलों की **ऊर्मयः** **इव** लहरों के समान **इत्** निश्चय ही **तर्तुराणाः** अतिशय शीघ्रता

---

१. ऋ० ९।९६।१ 'प्रथमो मनीषी' इति 'अव्येऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ' इति च पाठः।
२. ऋ० ९।९५।३।

करती हुई **मनीषाः** मेरी बुद्धियाँ **सोमम् अच्छ** रस के भण्डार परमात्मा के प्रति **प्र ईरते** प्रकृष्ट रूप से जा रही हैं। **नमस्यन्तीः** परमात्मा को नमस्कार करती हुई **उपयन्ति च** परस्पर समीप आती हैं, **सं यन्ति च** परस्पर मिलती हैं, और **उशतीः** परमात्मा से प्रीति रखती हुई वे **उशन्तम्** प्रीति करने वाले परमात्मा में **आ विशन्ति च** प्रविष्ट हो जाती हैं ॥१२॥

इस मन्त्र में 'अपामिवेदूर्मयः' इत्यादि में पूर्णोपमालंकार है।

भावार्थ—जैसे नदियों की लहरें कहीं नीची होती हैं, कहीं परस्पर पास जाती हैं, कहीं परस्पर मिलती हैं और लम्बा मार्ग तय करके अन्ततः समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं, वैसे ही स्तोता की बुद्धियाँ भी परस्पर सान्निध्य करती हुई, परस्पर मिलती हुई परमात्मा की ओर चलती चली जाती हैं और परमात्मा में प्रविष्ट हो जाती हैं ॥१२॥

इस दशति में परमात्मा-रूप सोम का सेनापति-रूप में, आनन्दधाराओं को प्रवाहित करने वाले के रूप में, पापादि के नष्टकर्ता के रूप में और ज्योति को उत्पन्न करने वाले के रूप में वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ॥

—०—

द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ अथ 'पुरोजिती' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ आन्धीगुः श्यावाश्विः; २ नहुषो मानवः; ३ ययातिर्नाहुषः; ४ मनुः सांवरणः; ५, ८ ऋजिष्वाम्बरीषौ; ६, ७ रेभसूनू काश्यपौ; ९ प्रजापतिर्वाच्यो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—१-६, ८, ९ अनुष्टुप्; ७ बृहती ॥ स्वरः—१-६, ८, ९ गान्धारः; ७ मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में यह कथन है कि परमानन्द पाने के लिए क्या करना चाहिए।

५४९. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **सखायः** साथियो ! **वः** तुम **अन्धसः** ध्यान करने योग्य परमात्मा रूप सोम के **मादयित्नवे** हर्षित करने वाले **सुताय** आनन्द-रस को **पुरोजिती** आगे बढ़ कर प्राप्त करने के लिए **दीर्घजिह्व्यम्** लम्बी जीभ वाले अर्थात् निरन्तर बढ़ते रहने वाले **श्वानम्** श्वान के स्वभाव को अर्थात् सांसारिक विषय-भोगों के प्रति लोभ को **श्नथिष्टन** नष्ट कर दो। अभिप्राय यह है कि सांसारिक विषयों से मन को हटा कर परमात्मा में केन्द्रित करो ॥१॥

इस मन्त्र में लोभवृत्ति को कुत्तेवाची 'श्वन्' शब्द से कथित करने के कारण असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

१. ऋ० ९।१०१।१, साम० ६९७।

भावार्थ—लम्बी जीभ से विषयभोगों के रस को चाटने वाले लोभ रूप श्वान को विनष्ट करके ही मनुष्य परमात्मयोग-जन्य तीव्र आनन्द को पा सकते हैं ।।१।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा वर्णित की गयी है ।

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
५४६. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
२ ३ १ २ ३ १ २३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ।।२।।[1]

पदार्थ—**पूषा** पुष्टिकर्ता, **रयिः** ऐश्वर्यवान् और ऐश्वर्यप्रदाता, **भगः** भजनीय **अयं सोमः** यह रसागार प्रेरक परमेश्वर **पुनानः** रची हुई सब वस्तुओं को पवित्र करता हुआ **अर्षति** सक्रिय हो रहा है । **विश्वस्य** सकल **भूमनः** ब्रह्माण्ड का **पतिः** स्वामी वा रक्षक यह परमेश्वर **उभे** दोनों **रोदसी** भूगोल व खगोल को **व्यख्यत्** तेज से प्रकाशित करता है । इस वर्णन से परमेश्वर का जगत् का शिल्पी होना व्यंजित हो रहा है ।।२।।

भावार्थ—सब जगत् का रचयिता, धारक, प्रकाशक, ऐश्वर्यशाली तथा ऐश्वर्य का दाता जगदीश्वर सबके द्वारा भजन करने योग्य है ।।२।।

अगले मन्त्र में परमानन्दरूप सोमरस का विषय है ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५४७. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ।।३।।[2]

पदार्थ—**मधुमत्तमाः** सबसे अधिक मधुर, **मन्दिनः** हर्षजनक **सोमाः** परमानन्द-रस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **सुतासः** अभिषुत किये हुए, **पवित्रवन्तः** मन रूप दशापवित्र से युक्त होकर **अक्षरन्** आत्मा रूप कलश में क्षरित होते हैं । वे **मदाः** परमानन्दरस **वः** आप **देवान्** सब विद्वान् जनों को **गच्छन्तु** प्राप्त होवें ।।३।।

भावार्थ—ध्यान द्वारा परमात्मा के पास से प्रादुर्भूत अत्यन्त मधुर परमानन्दरस मन के माध्यम से जीवात्मा को प्राप्त होते हैं ।।३।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे परमानन्दरस हमें पवित्र करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४८. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ।।४।।[3]

पदार्थ—**इन्दवः** प्रकाशमय अथवा रस से आर्द्र करने वाले **सोमाः** परमानन्दरस **पवन्ते** हमें पवित्र करते हैं, जो **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **गातुवित्तमाः** अतिशय सन्मार्ग को प्राप्त कराने वाले, **मित्राः** मित्रभूत,

१. ९।१०१।७, साम० ८१८।
२. ऋ० ९।१०१।४, साम० ८७२, अथ० २०।१३७।४।
३. ऋ० ९।१०१।१० 'सुवाना' इति पाठः। साम० ११०१।

स्वानाः सद्गुणों की ओर प्रेरित करने वाले, **अरेपसः** निष्पाप, निष्कलंक, निर्दोष, **स्वाध्यः** उत्कृष्ट ध्यान में सहायक और **स्वर्विदः** मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं ॥४॥

इस मन्त्र में अनेक साभिप्राय विशेषणों का योग होने से परिकरालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जो ब्रह्मानन्दरस जीवन में सन्मार्ग दिखाने वाले, मित्र के सदृश परम उपकारक, शुभगुण-प्रेरक, ध्यान में सहायक और मोक्षप्रापक होते हैं, वे पवित्रता देने वाले क्यों न होंगे ॥४॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से धन की प्रार्थना है।

५४९. अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥५॥[1]

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस से आर्द्र करने वाले परमात्मन्! आप **वाजसातमम्** अतिशय बल के प्रदाता, **शतस्पृहम्** बहुतों से स्पृहणीय, **सहस्रभर्णसम्** सहस्र गुणों को धारण कराने वाले अथवा सहस्रों जनों का पोषण करने वाले, **तुविद्युम्नम्** बहुत यश को देने वाले, **विभासहम्** शत्रु के प्रताप को अभिभूत करने वाले **रयिम्** आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य को **नः** हमें **अभि अर्ष** प्राप्त कराइए ॥५॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से सब लोग सत्य, अहिंसा, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आध्यात्मिक तथा सोना, चाँदी, मणि, मोती आदि भौतिक धन प्राप्त कर सकते हैं, जिससे वे आत्मिक और शारीरिक बल, सहस्रों गुण, सहस्रों के पोषण का सामर्थ्य और कीर्ति प्राप्त करने में तथा शत्रु के तेज को परास्त करने में समर्थ हो जाते हैं ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि मनोवृत्तियाँ परमात्मा का कैसे स्वाद लेती हैं।

५५०. अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥६॥[2]

पदार्थ—**अद्रुहः** द्रोह न करने वाली, प्रत्युत स्नेह करने वाली, **मातरः** माताओं के समान पालन करने वाली मनोवृत्तियाँ **प्रियम्** प्रिय, **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **काम्यम्** चाहने योग्य परमात्मा की **अभि** ओर **नवन्ते** जाती हैं, और **जातम्** हृदय में प्रकट हुए उसे **रिहन्ति** चाटती हैं अर्थात् उससे सम्पर्क करती हैं, **जातम्** उत्पन्न हुए **वत्सम्** अपने बछड़े को **न** जैसे **पूर्वे आयुनि** प्रथम आयु में **मातरः** गौ-माताएँ **रिहन्ति** चाटती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। चाटना जिह्वा से होता है, वह मनोवृत्तियों के पक्ष में घटित नहीं होता। इसलिए यहाँ लक्षणा से संसर्ग अर्थ का बोध होता है, सामीप्य का अतिशय व्यङ्ग्य है। गाय के पक्ष में जिह्वा से चाटना सम्भव होने से लक्षणा नहीं है ॥६॥

भावार्थ—जैसे नवजात बछड़े को गौएँ प्रेम से चाटती हैं, वैसे ही हृदय में प्रादुर्भूत परमेश्वर का उसके प्रेम में भरकर मनोवृत्तियाँ रसास्वादन करती हैं ॥६॥

---

१. ऋ० ९।९८।१, 'अभी, शतस्पृहम्, विभासहम्' इत्यत्र क्रमेण 'अभि, पुरुस्पृहम्, विभ्वासहम्' इति पाठः। साम० १२३८।
२. ऋ० ९।१००।१।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोम परमेश्वर को पाने के लिए उपासक जन क्या करते हैं।

५५१. आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम्।
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥७॥[1]

पदार्थ—**हर्यताय** चाहने योग्य, **धृष्णवे** कामादि शत्रुओं का धर्षण करने वाले सोम परमात्मा को पाने के लिए, योगसाधक लोग **पौंस्यम्** पुरुषार्थ-रूप **धनुः** धनुष को **आ तन्वन्ति** तानते हैं अर्थात् पुरुषार्थरूप धनुष पर ध्यानरूप डोरी को चढ़ाते हैं। **शुक्राः** पवित्र अन्तःकरण वाले वे **महीयुवः** पूजा के इच्छुक साधक लोग **असुराय** प्राणप्रदायक जीवात्मा को **निर्णिजे** शुद्ध करने के लिए **विपाम्** मेधावी विद्वानों के **अग्रे** संमुख **वि यन्ति** विशेष शिष्यभाव से पहुँचते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में पौंस्य में धनुष का आरोप होने से रूपकालंकार है। योगसाधना में धनुष का रूपक मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार बाँधा गया है—"उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्यारूप धनुष को पकड़कर, उस पर उपासनारूप बाण चढ़ाये। तन्मय चित्त से धनुष को खींचकर अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य को बींधे। प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर ब्रह्म को बींधना चाहिए, उपासक उस समय बाण की भाँति तन्मय हो जाये" (मु० २।२।३, ४) ॥७॥

भावार्थ—योगसाधक लोग अपने पुरुषार्थ से, ध्यान से और गुरु की कृपा से अपने आत्मा को शुद्ध कर परमात्मा को पाने योग्य हो जाते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के शोधन का विषय वर्णित है।

५५२. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान् विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति ॥८॥[2]

पदार्थ—योगसाधना करने वाले लोग **त्यम्** उस **हर्यतम्** चाहने योग्य, **बभ्रुम्** शरीर के भरण-पोषणकर्ता **हरिम्** अपने आत्मा को **वारेण** दोष-निवारक यम, नियम आदि तथा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा **पुनन्ति** शुद्ध करते हैं, **यः** जो आत्मा योगसिद्ध होने पर **मदेन सह** आनन्द के साथ **विश्वान् इत्** सभी **देवान्** प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय आदियों को **परिगच्छति** व्याप्त कर लेता है॥

सोम ओषधि का रस भी हरि कहलाता है। श्लेष से उसके पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। उस पक्ष में 'बभ्रु' का अर्थ होता है भूरे रंग का और 'वार' का अर्थ भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्र, जिससे सोमरस को छानकर शुद्ध करते हैं। वह सोमरस आनन्द देता हुआ सब पानकर्ताओं को प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ—असत्य, हिंसा, छल, कपट, संशय, प्रमाद, आलस्य, भ्रान्ति आदि दोषों से दूषित अपने आत्मा को योग के उपायों से शुद्ध करके ही मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक उत्कर्ष पाने योग्य होता है ॥८॥

---

१. ऋ० ९।९९।१ 'धनुस्तन्वन्ति' इति 'शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजं' इति च पाठः।
२. ऋ० ९।९८।७।

अगले मन्त्र में कहा गया है कि कैसे मनुष्य को समाज से बहिष्कृत करना चाहिए।

१ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २३१र२र
५८३. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।
२३ १ २ ३१२ ३२ ३१र २र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥९॥[1]

पदार्थ—**अन्धसः** सोमरस के **सुन्वानाय** अभिषुत करने वाले अर्थात् सोमयाग, समाजसेवा और प्रभुभक्ति करने वाले जन के लिए, जो **मर्तः** मनुष्य **तत्** उस प्रशंसात्मक **वचः** वचन को **न प्र वष्ट** नहीं कहना चाहता, उस **अराधसम्** अयज्ञसेवी, असमाजसेवी और अप्रभुसेवी तथा **श्वानम्** श्वान के समान लोभी, अपना ही पेट भरने वाले मनुष्य को **अपहत** दूर कर दो, **न** जैसे **भृगवः** तपस्वी लोग **मखम्** चंचलता को दूर करते हैं, अथवा **न** जैसे **भृगवः** तेजस्वी राजपुरुष **मखम्** मखासुर को अर्थात् यज्ञ का ढोंग रचने वाले को दण्डित करते हैं ॥९॥

'श्वानम्' में साध्यवसानालक्षणामूलक अतिशयोक्ति अलंकार है। निरुक्त की पद्धति से 'श्वानम्' में लुप्तोपमा, अर्थोपमा या व्यंग्योपमा है, जैसा कि निरुक्त (३।१८) में लुप्तोपमा के प्रसंग में कहा है कि श्वा और काक निन्दा अर्थ में लुप्तोपमा के रूप में आते हैं। 'मखं न भृगवः' में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वरद्रोही, यज्ञद्रोही, समाजद्रोही और श्वान के समान विषयलोभी जन को समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए ॥९॥

इस दशति में परमात्मारूप सोम तथा परमात्मजन्य ब्रह्मानन्दरस की प्राप्ति का उपाय वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

पञ्चम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

॥७॥ अथ 'अभि प्रियाणि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-३, ५ कविर्भार्गवः; ४, ६ ऋषिगणः; ७ रेणुर्वैश्वामित्रः; ८ वेनो भार्गवः; ९ वसुर्भारद्वाजः; १० वत्सप्रीः; ११ अत्रिर्भौमः; १२ पवित्र आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
५८४. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते ।
१र २र ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः ॥१॥[2]

पदार्थ—**चनोहितः** आस्वाद में हितकर, **यह्वः** महान् परमात्मारूप सोम **प्रियाणि** प्रिय, **नामानि** नमनशील हृदयों की **अभि** ओर **पवते** प्रवाहित होता है, **येषु अधि** जिन हृदयों में, यह **वर्द्धते** बढ़ता है। **विचक्षणः** विशेष द्रष्टा, **बृहन्** बड़ी शक्ति वाला यही परमात्मा **बृहतः** विशाल **सूर्यस्य** सूर्य के **विष्वञ्चम्** विविध उत्कृष्ट गति वाले **रथम् अधि** रथ के ऊपर **आ अरुहत्** आरूढ़ है, अर्थात् आदित्यमण्डल की कार्य-

१. ऋ० ९।१०१।१३, एकः प्रजापतिरेव ऋषिः। 'प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः' इति पाठः। साम० ७७४, १३८६।

२. ऋ० ९।७५।१, साम० ७००।

विधि का संचालन भी वही कर रहा है, जैसा कि वेद में परमात्मा स्वयं कहता है—'जो आदित्य में पुरुष है, वह मैं ही हूँ' (य० ४०।१७) ।।१।।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि सकल सृष्टि का सञ्चालक परमेश्वर ध्यान करने पर उपासकों के हृदय में प्रकट हो जाता है ।।१।।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्दरस आदि की याचना है।

५५५. अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद् देवेषु हरयः ।
वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः ।।२।।[1]

पदार्थ—**अचोदसः** अन्य किसी से अप्रेरित अर्थात् स्वभाव से निकले हुए, **स्वानासः** शब्दकारी अर्थात् दिव्य सन्देश सुनाने वाले, **हरयः** पापहारी **इन्दवः** ब्रह्मानन्दरस **नः** हमारे **देवेषु** राष्ट्र के विद्वानों में और शरीर के मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि में **बृहत्** बहुत अधिक **प्र धन्वन्तु** भलीभाँति प्राप्त हों । **इषयः** केवल भोग की इच्छा करने वाले, **अश्नानाः** स्वयं खाते रहने वाले **अरातयः** अदानशील **नः अर्यः** हमारे आत्मिक और बाह्य शत्रु **वि चित् सन्तु** हमसे दूर ही हो जाएँ, और **धियः** सद्विचार **नः** हमें **सनिषन्तु** प्राप्त हों ।।२।।

इस मन्त्र में नकार आदि की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । 'नः सन्तु, निषन्तु' में छेकानुप्रास है ।।२।।

भावार्थ—हमें चाहिए कि दुर्विचार रूप, कामक्रोधादि रूप और चोर-ठग आदि रूप शत्रुओं को दूर करें, सद्विचारों को पल्लवित करें और ब्रह्मानन्दरसों को अपने आत्मा में प्रवाहित करें ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा रूप सोम की प्राप्ति का फल वर्णित किया गया है।

५५६. एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः ।
अभ्यृ३तस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ।।३।।[2]

पदार्थ—**एषः** यह **मधुमान्** मधुर परमात्मारूप सोम **कोशे** हमारे मनोमय कोश में **प्र अचिक्रदत्** दिव्य शब्द करा रहा है, जिससे **इन्द्रस्य** जीवात्मा का **वज्रः** काम, क्रोध आदि रिपुओं के वर्जन का सामर्थ्य **वपुषः वपुष्टमः** दीप्त से दीप्ततम अथवा विशाल से विशालतम हो गया है । **वाश्राः** शब्दायमान **धेनवः** वेदवाणी रूप गौएँ **ऋतस्य** सत्य की **सुदुघाः** उत्तम दोहन करने वाली और **घृतश्चुतः** तेजरूप घी को क्षरित करने वाली होती हुई **पयसा** वेदार्थरूप दूध के साथ **अभि अर्षन्ति** हमें प्राप्त हो रही हैं ।।३।।

इस मन्त्र में वेदवाणियों में धेनुओं का और वेदार्थ में दूध का आरोप होने से तथा उपमान द्वारा उपमेय का निगरण हो जाने से अतिशयोक्ति अलंकार है ।।३।।

भावार्थ—जब वेदवाणी-रूपिणी गौएँ अपना पवित्र और पवित्रताकारी वेदार्थरूप दूध पिलाती हैं, तब उस दूध से मनुष्य का आत्मा सत्यमय, तेजोमय, अतिशय बलवान्, पवित्र और परिपुष्ट हो जाता है ।।३।।

---

१. ऋ० ९।७९।१, 'प्र सुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः । वि च नशन् न इषो अरातयोऽर्यो नशन्त सनिषन्त नो धियः ।।' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।७७।१ 'वपुष्टरः', 'अभीमृतस्य', 'पयसेव धेनवः' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा का मैत्रीविषय वर्णित है।

५५७. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम्।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥४॥[1]

पदार्थ—**इन्दुः** तेज से दीप्त, श्रद्धारस से परिपूर्ण जीवात्मा **इन्द्रस्य** परमात्मा के **निष्कृतम्** शरण-रूप घर को **प्र उ अयासीत्** प्रयाण करता है। **सखा** मित्र परमेश्वर **सख्युः** अपने मित्र जीवात्मा की **संगिरम्** स्तुति और प्रार्थना को **न प्रमिनाति** विफल नहीं करता, प्रत्युत पूर्ण ही करता है। **मर्यः** मनुष्य **इव** जैसे **शतयामना पथा** बहुत पद्धतियों वाले व्यवहारमार्ग द्वारा **युवतिभिः** पत्नी, पुत्री, बहिन आदि युवतियों से **समर्षति** मिलता है, वैसे ही **सोमः** जीवात्मा **शतयामना पथा** अनेक साधनों वाले योगमार्ग द्वारा **कलशे** षोडशकल परमात्मा रूप द्रोणकलश **में युवतिभिः** तरुण शक्तियों से **समर्षति** मिलता है ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेष से सोमरस-परक अर्थ की भी योजना करनी चाहिए। सोमरस और जीवात्मा में उपमानोपमेयभाव व्यंजित होता है। सोमरस जैसे दशापवित्र के बहुच्छिद्र मार्ग से द्रोणकलश में पहुँच-कर 'आपः' रूप युवतियों से मिलता है, वैसे ही जीवात्मा बहुत साधनों वाले योगमार्ग से परमात्मा को प्राप्त कर शक्तियों से संगत होता है॥ 'मर्य इव युवतिभिः' इत्यादि में श्लिष्टोपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा के साथ मित्रता स्थापित करके मनुष्य का आत्मा कृतकृत्य हो जाता है ॥४॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के कर्मों का वर्णन है।

५५८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥५॥[2]

पदार्थ—**दिवः** द्युलोक अथवा सूर्य का **धर्ता** धारण करने वाला, **कृत्व्यः** कर्मकुशल, **रसः** आनन्द-रसमय, **देवानाम्** विद्वानों का **दक्षः** बलप्रदाता, **नृभिः** पुरुषार्थी मनुष्यों से **अनुमाद्यः** प्रसन्न किये जाने योग्य परमात्मा **पवते** सब जड़-चेतन जगत् को पवित्र करता है। आगे प्रत्यक्षकृत वर्णन है—**हरिः** आकर्षण के बल से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोकों के नियामक, **सृजानः** जगत् की रचना करने वाले आप **वृथा** अनायास ही **सत्वभिः** अपने बलों से **नदीषु** नदियों में **पाजांसि** बलों और वेगों को **आ कृणुषे** स्थापित करते हो, **अत्यः न** जैसे घोड़ा रथ आदि में वेगों को स्थापित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में लक्षणावृत्ति से रस का अर्थ रसवान् और दक्ष का अर्थ दक्षकारी है। 'अत्यो न' में उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सारे संसार को रचने वाला, धारण करने वाला और बल, वेग आदि देने वाला है, उसकी सब मनुष्य आराधना क्यों न करें? ॥५॥

---

१. ऋ० ९।८६।१६ ऋषिः सिकता निवावरी। 'शतयाम्ना' इति पाठः। अथ० १८।४।६० ऋषिः अथर्वा। 'प्र वा एतीन्दु-रिन्द्रस्य निष्कृतिं' इति 'मर्यं इव योषाः समर्षसे' इति च प्रथमतृतीयचरणयोर्भेदः। साम० ११५२।

२. ऋ० ९।७६।१, 'कृणुषे' इत्यत्र 'कृणुते' इति पाठः। साम० १२२८।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

५५९. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥६॥[1]

पदार्थ—विचक्षणः विशेष द्रष्टा और दृष्टिप्रदाता **सोमः** परमात्मा **मतीनाम्** प्रज्ञाओं का **वृषा** वर्षक होता हुआ **पवते** उपासकों को प्राप्त होता है। वही **अह्नाम्** दिनों का, **उषसाम्** उषाओं का, और **दिवः** सूर्य का **प्रतरीता** संतारक और संचालक होता है। **प्राणा** सबका प्राणभूत वह **सिन्धूनाम्** नदियों के **कलशान्** कल-कल निनाद करने वाले प्रवाहों को **अचिक्रदत्** शब्दयुक्त करता है। वही **मनीषिभिः** मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले स्तोत्रों से **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **हार्दि** हृत्प्रदेश में **आ विशन्** प्रविष्ट होता है ॥६॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि सर्वद्रष्टा, सबको विवेक प्रदान करने वाले, उषा-सूर्य-दिन आदि के व्यवस्थापक, नदियों को कल-कल निनाद कराने वाले परमात्मा को हृदय में धारण करें ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि स्तोता क्या फल प्राप्त करता है।

५६०. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥७॥[2]

पदार्थ—परमे उत्कृष्ट **व्योमनि** हृदयाकाश में **अस्मै** इस स्तोता के लिए **त्रिः सप्त** इक्कीस छन्दों वाली **धेनवः** वेदवाणी रूप गौएँ **सत्याम् आशिरम्** सत्य रूप दूध को **दुदुह्रिरे** देती हैं। **यत्** जब यह स्तोता **ऋतैः** सत्य ज्ञानों और सत्य कर्मों से **अवर्द्धत** वृद्धि को प्राप्त करता है, तब **निर्णिजे** अपने आत्मा के शोधन वा पोषण के लिए **चत्वारि** चार **अन्या** अन्य **चारूणि** सुरम्य **भुवनानि** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप भुवनों को **चक्रे** उत्पन्न कर लेता है ॥७॥

धेनु निघण्टु (१।११) में वाणीवाची नामों में पठित है। ताण्ड्य एवं गोपथ ब्राह्मण में भी कहा है कि 'वाणी ही धेनु है' (तां० ब्रा० १८।६।२१, गो० पू० २।२१)। अथवा वेदवाणी में धेनुत्व का आरोप होने से तथा उपमेय का उपमान द्वारा निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—सात गायत्र्यादि छन्द, सात अतिजगत्यादि छन्द और सात कृत्यादि छन्द मिलकर इक्कीस छन्द वेद में होते हैं। उन छन्दों वाली इक्कीस प्रकार की वेदवाणियाँ मानो साक्षात् गौएँ हैं, जो अपने सेवक को सत्यज्ञानरूप और सत्कर्तव्यबोध रूप दूध देती हैं, जिससे परिपुष्ट हुआ वह धर्मार्थकाम-मोक्षरूप भुवनों में निवास करता हुआ जीवन की सफलता को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस के प्रवाह की प्रार्थना है।

५६१. इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥[3]

---

१. ऋ० ९।८६।१९ ऋषिः सिकता निवावरी। 'प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचीक्रशदिन्द्रस्य' इति पाठः। अथ० १८।४।५८ ऋषिः अथर्वा। 'प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन् मनीषया' इत्युत्तरार्धपाठः। साम० ८२१।

२. ऋ० ९।७०।१ 'दुदुह्रिरे, परमे' इत्यत्र क्रमेण 'दुदुह्रे, पूर्व्ये' इति पाठः।

३. ऋ० ९।८५।१।

पदार्थ—हे **सोम** परब्रह्म परमात्मन् ! **सुषुतः** ध्यान द्वारा भलीभाँति निचोड़े हुए तुम **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परिस्रव** परिस्रुत होवो, आनन्दरस को प्रवाहित करो। तुम्हारी सहायता से **रक्षसा सह** कामक्रोधादि रूप राक्षस के सहित **अमीवा** मन का सन्ताप रूप रोग **अप भवतु** हमसे दूर हो जाए। **द्वयाविनः** मन में कुछ तथा वाणी में कुछ, इस प्रकार दोहरे आचरणवाले कपटी, धूर्त, ठग लोग **ते** तुम्हारे **रसस्य** आनन्दरस का **मा मत्सत** स्वाद न ले सकें। **इह** हम सरल स्वभाव वालों के अन्दर **इन्दवः** आर्द्र करने वाले ब्रह्मानन्दरस **द्रविणस्वन्तः** समृद्ध और सबल **सन्तु** होवें ।।८।।

इस मन्त्र में सकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।।८।।

भावार्थ—सरलवृत्ति वाले मनुष्य ही ब्रह्मानन्दरस के अधिकारी होते हैं, कुटिल वृत्ति वाले और दूसरों को ठगने वाले लोग नहीं ।।८।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्राप्त आनन्दरस के प्रवाह का वर्णन है।

८६२. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ।।९।।[1]

पदार्थ—**अरुषः** तेजस्वी, **वृषा** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **हरिः** पाप आदि को हरने वाले **सोमः** आनन्दरस के भण्डार परमात्मा को **असावि** मैंने अपने हृदय में अभिषुत किया है, अर्थात् उससे आनन्दरस को पाया है। **दस्मः** दर्शनीय अथवा दुर्गुणों का संहारक वह परमात्मा **राजा इव** जैसे राजा **गाः अभि** भूमियों अर्थात् भूमिवासियों को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** उपदेश करता है, राजनियमों को घोषित करता है, वैसे ही **गाः अभि** स्तोताओं को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** उपदेश कर रहा है। हे भगवन् ! **पुनानः** पवित्रता देते हुए आप **वारम्** निवारक या बाधक काम-क्रोधादि को **अति** अतिक्रमण करके **अव्ययम्** विनाशरहित जीवात्मा को **एषि** प्राप्त होते हो। **श्येनः न** जैसे वायु **घृतवन्तम्** जलयुक्त **योनिम्** अन्तरिक्ष में **आसदत्** आकर स्थित हुआ है, वैसे ही वह परमात्मा **घृतवन्तम्** घी, जल, दीप्ति आदि से युक्त **योनिम्** ब्रह्माण्ड रूप घर में **आसदत्** स्थित है ।।९।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ।।९।।

भावार्थ—पहले से ही सबके हृदय में बैठे हुए भी गुप्त रूप में स्थित परमेश्वर का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से साक्षात्कार करना चाहिए ।।९।।

अगले मन्त्र में विद्वानों का विषय है।

८६३. प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे ।।१०।।[2]

पदार्थ—**मधुमन्तः** मधुर व्यवहार वाले **इन्दवः** श्रद्धा-रस से भरपूर विद्वान् जन **देवम् अच्छ** दिव्यगुणों से युक्त परमात्मा को लक्ष्य करके **प्र असिष्यदन्त** श्रद्धारस को प्रवाहित करते हैं, **न** जैसे **धेनवः** तृप्ति प्रदान करने वाली **गावः** गौएँ **असिष्यदन्त** बछड़ों के प्रति अपने दूध को प्रवाहित करती हैं। **बर्हिषदः** यज्ञिय कुशासन पर स्थित, **वचनावन्तः** स्तुति के उद्गार प्रकटकरने वाले वे विद्वान् लोग **निर्णिजम्** शुद्ध

१. ऋ० ९।८२।१ 'पुनानो वारं पर्येत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदम्' इत्युत्तरार्द्धपाठः। साम० १३१६।
२. ऋ० ९।६८।१।

परिस्रुतम् उत्पन्न श्रद्धारस को **ऊधभिः** हृदयरूप ऊधसों में **धिरे** धारण करते हैं, जैसे **बर्हिषदः** यज्ञ में स्थित **वचनावत्यः** हम्भा शब्द करने वाली **उस्रियाः** गौएँ **निर्णिजम्** शुद्ध दूध को **ऊधभिः** ऊधसों में **धिरे** धारण करती हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में 'गाव आ न धेनवः' में उपमा और पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। उत्तरार्द्ध में 'उस्रियाः' में लुप्तोपमा है ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा के प्रति सब मनुष्यों को उसी प्रकार भक्तिरस क्षरित करना चाहिए, जैसे गौएँ बछड़ों के प्रति दूध क्षरित करती हैं ॥१०॥

अगले मन्त्र में विद्वानों का कर्म वर्णित है।

५६४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥११॥[1]

पदार्थ—उपासक लोग **क्रतुम्** कर्मवान् और प्रज्ञावान् परमात्मारूप सोम को **अञ्जते** अपने अन्दर व्यक्त करते हैं, **व्यञ्जते** विविध रूपों में व्यक्त करते हैं, **समञ्जते** उसके साथ संगम करते हैं, **रिहन्ति** उसका आस्वादन करते हैं, अर्थात् उससे प्राप्त आनन्दरस का पान करते हैं, **मध्वा** मधुर श्रद्धारस से **अभ्यञ्जते** उसे मानो लिप्त कर देते हैं। **सिन्धोः** आनन्दसागर के **उच्छ्वासे** तरंग-समूह में **पतयन्तम्** मानो झूला झूलते हुए, **उक्षणम्** अपने सखाओं को भी आनन्द की लहरों से सींचते हुए **पशुम्** सर्वद्रष्टा तथा सबको दृष्टि प्रदान करने वाले परमेश्वर को **हिरण्यपावाः** ज्योति, सत्य और आनन्दामृत से स्वयं को पवित्र करने वाले वे विद्वान् जन **अप्सु** अपने प्राणों में **गृभ्णते** ग्रहण कर लेते हैं ॥११॥

इस मन्त्र में 'ञ्जते' इस अर्थहीन शब्दांश की अनेक बार आवृत्ति होने से यमकालंकार है। अञ्जते, व्यञ्जते, समञ्जते, रिहन्ति, अभ्यञ्जते, गृभ्णते इन अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपक अलंकार है। 'समुद्र के उच्छ्वास में उड़ते हुए बैल को जलों में गोता लगवाते हैं, और चिकना करते हैं' इस वाच्यार्थ के भी प्रतीत होने से प्रहेलिकालंकार भी है। 'अभ्यञ्जते (मानो लिप्त करते हैं), पतयन्तम् (मानो झूला झूलते हुए) में गम्योत्प्रेक्षा है। समुद्र अचेतन होने से उच्छ्वास नहीं छोड़ता अतः उच्छ्वास की तरंगसमूह में लक्षणा है, तरंगों का ऊर्ध्वगमन व्यङ्ग्य है ॥११॥

भावार्थ—परमेश्वर के उपासक योगी जन उसे हृदय में अभिव्यक्त करके, भक्तिरस से मानो स्नान कराकर जब अपने प्राणों का अंग बना लेते हैं तभी उनकी उपासना सफल होती है ॥११॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की पावकता का वर्णन है।

५६५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तः सं तदाशत ॥१२॥[2]

पदार्थ—हे **ब्रह्मणः पते** ब्रह्माण्ड के अथवा ज्ञान के अधिपति सोम परमात्मन्! **ते** आपका **पवित्रम्** पवित्रता-सम्पादन का गुण **विततम्** सर्वत्र व्याप्त है। **प्रभुः** पवित्रता करने में समर्थ आप **विश्वतः** सब ओर से **गात्राणि** शरीरों अर्थात् शरीरधारियों के पास **पर्येषि** उन्हें पवित्र करने के लिए पहुँचते हो।

---

१. ऋ० ९।८६।४३ 'मधुनाभ्यञ्जते' इति 'पशुमासु' इति च पाठः। अथ० १८।३।१८, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, पाठः ऋग्वेदवत्। साम० १६१४।

२. ऋ० ९।८३।१ 'वहन्तस्तत् समाशत' इति पाठः। साम ८७५।

किन्तु **अतप्ततनूः** जिसने तपस्या से शरीर को तपाया नहीं है ऐसा **आमः** कच्चा मनुष्य **तत्** उस पवित्रता को **न अश्नुते** प्राप्त नहीं कर पाता। **शृतासः इत्** पके हुए लोग ही **वहन्तः** आपको हृदय में धारण करते हुए **तत्** आपसे होने वाली पवित्रता को **सम् आशत** भलीभाँति प्राप्त करते हैं।।१२।।

भावार्थ—जो लोग तपस्वी हैं उन्हीं के हृदय और आचरण पवित्र होते हैं।।१२।।

इस दशति में भी सोम परमात्मा तथा उसके आनन्दरस की प्राप्ति का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।

पञ्चम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त।।

।।८।। अथ 'इन्द्रमच्छ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७, ११ अग्निश्चाक्षुषः; २ चक्षुर्मानवः; ३, ४, ९, १० पर्वतनारदौ; ५ त्रित आप्त्यः; ६ मनुराप्सवः; ८, १२ द्वित आप्त्यः।। देवता—पवमानः सोमः[1]।। छन्दः—उष्णिक्।। स्वरः—ऋषभः।।

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्दरस का विषय है।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
६६६. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः।।१।।[2]

पदार्थ—**सुताः** प्रवाहित किये गये **इमे** ये **हरयः** दुःखहारी ब्रह्मानन्दरस **वृषणम्** बलवान् **इन्द्रम्** जीवात्मा की **अच्छ** ओर **यन्तु** जाएँ। **जातासः** उत्पन्न हुए वे **इन्दवः** उपासक को भिगो देने वाले ब्रह्मानन्दरस **श्रुष्टे** शीघ्र ही **स्वर्विदः** दिव्य प्रकाश को प्राप्त कराने वाले हों।।१।।

भावार्थ—वे जीवात्मा धन्य हैं जो परमात्मा की उपासना से ब्रह्मानन्दरस प्राप्त करते हैं।।१।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६६७. प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम्।।२।।[3]

पदार्थ—हे **सोम** रस के भण्डार परमात्मन्! **जागृविः** जागरूक आप **प्र धन्व** सक्रिय होवो। हे **इन्दो** भक्तों को आनन्दरस से भिगोने वाले! आप **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परिस्रव** परिस्रुत होवो। उसे **द्युमन्तम्** देदीप्यमान, **स्वर्विदम्** विवेकख्यातिरूप दिव्य प्रकाश को प्राप्त कराने वाला **शुष्मम्** बल **आ भर** प्रदान करो।।२।।

भावार्थ—मनोयोग से उपासना किया गया परमेश्वर उपासकों को ज्योति-प्रदायक अध्यात्मबल प्रदान करता है।।२।।

---

१. वैदिकयन्त्रालयमुद्रितायां सामसंहितायां तु इन्द्रो देवता निर्दिष्टः।
२. ऋ० ९।१०६।१ 'श्रुष्टे' इत्यत्र 'श्रुष्टी' इति पाठः। साम० ६६४।
३. ऋ० ९।१०६।४ 'भर' इत्यत्र 'भरा' इति पाठः।

उपासनायज्ञ में मित्रों को निमन्त्रित किया जा रहा है।

५६८. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! तुम **आ निषीदत** आकर उपासनायज्ञ में बैठो। **पुनानाय** हृदय को पवित्र करने वाले परमात्मारूप सोम के लिए **प्र गायत** भक्ति-भरे वेदमन्त्रों को गाओ। उस परमात्मा-रूप सोम को **श्रिये** शोभा के लिए **यज्ञैः** उपासनायज्ञों से **शिशुं न** शिशु के समान **परिभूषत** चारों ओर से अलंकृत करो अर्थात् जैसे शोभा के लिए शिशु को अलंकार-वस्त्र आदियों से अलंकृत करते हैं, वैसे ही शोभापूर्वक अपने आत्मा में प्रतिष्ठापित करने के लिए परमात्मा को उपासना-यज्ञों से अलंकृत करो ।।३।।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। निषीदत, प्रगायत, परिभूषत इन अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपकालंकार भी है ।।३।।

भावार्थ—उपासना-योग द्वारा रसागार परमात्मा को साक्षात् करके सबको आनन्दरस का उपभोग करना चाहिए ।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय को कहा गया है।

५६९. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत।
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ।।४।।[2]

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! **वः** तुम **पुनानम्** पवित्र करने वाले **तम्** उस प्रसिद्ध सोम नामक परमात्मा को **अभि** लक्ष्य करके **मदाय** आनन्दप्राप्ति के लिए **गायत** सामगान करो। उपासक जन उस परमात्मा को **हव्यैः** आत्मसमर्पणों द्वारा, और **गूर्तिभिः** स्तुतियों तथा उद्यमों द्वारा **स्वदयन्त** प्रसन्न करते हैं, **शिशुं न** जैसे किसी शिशु को **हव्यैः** खिलौने आदि देय पदार्थों द्वारा, और **गूर्तिभिः** गोद में उठाने के द्वारा माताएँ प्रसन्न करती हैं ।।४।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ।।४।।

भावार्थ—आराधना और पुरुषार्थ से प्रसन्न किया हुआ परमेश्वर पवित्रता आदि के सम्पादन द्वारा और आनन्द-प्रदान द्वारा आराधक का हित करता है ।।४।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा वर्णित है।

५७०. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ।।५।।[3]

पदार्थ—**प्राणा** उपासकों को प्राण के समान प्रिय, **महीनाम्** वेदवाणियों का **शिशुः** शिशु-तुल्य स्तवनीय, हृदय में **ऋतस्य** सत्य के **दीधितिम्** खजाने को या प्रकाश को **हिन्वन्** प्रेरित करता हुआ सोम परमात्मा **विश्वा** सब **प्रिया** प्रिय मन, बुद्धि आदि और अग्नि, जल, वायु आदियों को **परि भुवत्** व्याप्त

१. ऋ० ९।१०४।१, साम० ११५७।
२. ऋ० ९।१०५।१ 'हव्यैः' इत्यत्र 'यज्ञैः' इति पाठः। साम० १०६८।
३. ऋ० ९।१०२।१, साम० १०१३।

किये हुए है । **अध** इस कारण **द्विता** अन्दर और बाहर दो प्रकार से महिमा को प्राप्त है ।।५।।

इस मन्त्र में 'प्राणा' तथा 'शिशुः' में लुप्तोपमालंकार है ।।५।।

भावार्थ—शरीररूप पिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र जिसकी महिमा प्रकाशित है, वह जगदीश्वर किसका वन्दनीय नहीं है ।।५।।

अगले मन्त्र में आनन्द-रस के झरने की प्रार्थना है ।

५७१. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ।।६।।[1]

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस से भिगोने वाले रसागार परमात्मन् ! आप **देववीतये** दिव्यगुणों की उत्पत्ति के लिए **धाराभिः** धाराओं के साथ **ओजसा** वेग से **पवस्व** हमारे अन्तःकरण में झरो । हे **सोम** जगदीश्वर ! **मधुमान्** मधुर आनन्द से परिपूर्ण आप **नः** हमारे **कलशम्** कलाओं से पूर्ण आत्मा में **आ सदः** आकर स्थित होओ ।।६।।

इस मन्त्र में श्लेष से भौतिकसोम-परक अर्थ भी ग्राह्य होता है । उससे भौतिक सोम तथा परमात्मा का उपमानोपमेयभाव सूचित होता है । अतः उपमाध्वनि है ।।६।।

भावार्थ—जैसे सोम ओषधि का रस धाराओं के साथ द्रोणकलश में आता है, वैसे ही मधुर ब्रह्मानन्दरस आत्मा में आये ।।६।।

अगले मन्त्र में पुनः ब्रह्मानन्दरस का विषय है ।

५७२. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।[2]

पदार्थ—**सोमः** ब्रह्मानन्दरस **पुनानः** उपासक को पवित्र करता हुआ **ऊर्मिणा** लहर के साथ **अव्यं वारम्** भेड़ की ऊन से बने दशापवित्र के तुल्य दोषनिवारक अविनश्वर आत्मा के प्रति **वि धावति** वेग से दौड़ रहा है । **वाचः** प्रोच्चारित स्तुतिवाणी से **अग्रे** पहले ही **पवमानः** धारा रूप से बहता हुआ **कनिक्रदत्** कलकल ध्वनि कर रहा है ।।७।।

इस मन्त्र में ब्रह्मानन्द में कारणभूत स्तुति वाणी के उच्चारण से पूर्व ही ब्रह्मानन्द की उत्पत्ति का वर्णन होने से कारण के पूर्व कार्योदय वर्णित होना रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ।।७।।

भावार्थ—उपासकों से ध्यान किया गया परमेश्वर अपने पास से आनन्दरस की प्रचुर धाराओं को उपासकों के हृदय में प्रेरित करता है ।।७।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रति मनुष्य का कर्तव्य बताया गया है ।

५७३. प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ।।८।।[3]

---

१. ऋ० ९।१०६।७, साम० १३२६ ।

२. ऋ० ९।१०६।१० 'ऊर्मिणाव्यं' इत्यत्र 'ऊर्मिणाव्यो' इति पाठः । साम० ६४० ।

३. ऋ० ९।१०३।१ 'उच्यते' इत्यत्र 'उद्यतम्' इति पाठः ।

पदार्थ—**पुनानाय** उपासक के हृदय को पवित्र करने वाले, **वेधसे** आनन्द के विधायक **सोमाय** रसागार परमात्मा के लिए **वचः** धन्यवाद का वचन **प्र उच्यते** हमारे द्वारा कहा जा रहा है। हे मित्र ! तुम भी **मतिभिः** बुद्धियों से **जुजोषते** तुम्हें तृप्त करने वाले उस परमात्मा के लिए **भृतिं न** वेतन-रूप या उपहार-रूप धन्यवादादि वचन को **भर** प्रदान करो, अर्थात् कार्य करने वाले को जैसे कोई बदले में वेतन या उपहार देता है, वैसे ही बुद्धि देने वाले उसे तुम बदले में धन्यवाद दो ॥८॥

इस मन्त्र में 'भृतिं न भर' में उत्प्रेक्षालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सुमति-प्रदान आदि के द्वारा हमारा उपकार करता है, उसके प्रति हम कृतज्ञता क्यों न प्रकाशित करें ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

५७४. गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव।
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **सुदक्ष** अत्यन्त समृद्ध और **इन्दो** जैसे चन्द्रमा समुद्रों की वृद्धि करता है वैसे ही मनुष्यों की समृद्धि करने वाले परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! **सुतः** हृदय में प्रकट हुए, राष्ट्र में निर्वाचित हुए अथवा हम समित्पाणि शिष्यों से वरण किये गये आप **नः** हमारे लिए **गोमत्** गायों से अथवा भूमियों से अथवा वेदवाणियों से युक्त और **अश्ववत्** घोड़ों अथवा प्राणों से युक्त ऐश्वर्य को **धनिव** प्राप्त कराइये। और **गोषु अधि** राष्ट्र-भूमियों में **शुचिं वर्णं च** पवित्र हृदय वाले ब्राह्मणादि वर्ण को भी, अथवा **गोषु अधि** वाणियों में **शुचिं वर्णं च** पवित्र अक्षर 'ओम्' को भी **धारय** धारण कराइये ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर, राजा और आचार्य स्वयं धन, विद्या आदि से सुसमृद्ध होकर कृपापूर्वक हमें भी धन, विद्या आदि प्रदान करें। जिस राष्ट्र में पवित्र हृदय वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण होते हैं और जहाँ प्रजाओं की वाणियों में ओंकाररूप अक्षर जप आदि रूप में निरन्तर विराजमान रहता है, वह राष्ट्र धन्य कहाता है ॥९॥

अगले मन्त्र में सोमनामक परमात्मा वा वैद्य को कहा गया है।

५७५. अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे सोम परमात्मन् ! **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **वसुविदम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके **वाणीः** हमारी वाणियाँ **अनूषत** स्तुति कर रही हैं। हम **गोभिः** वेद-वाणियों द्वारा **ते** आपके **वर्णम्** स्वरूप को **अभिवासयामसि** अपने अन्दर बसाते हैं ॥

द्वितीय वैद्य के पक्ष में। हे चिकित्सा के लिए सोम आदि ओषधियों का रस अभिषुत करने वाले वैद्यराज ! **अस्मभ्यम्** हम रोगियों के लिए **वसुविदम्** स्वास्थ्य-सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके **वाणीः** हम कृतज्ञों की वाणियाँ **अनूषत** आपकी स्तुति कर रही हैं, अर्थात् आपके आयुर्वेद के

---

१. ऋ० ९।१०५।४ 'धनिव', 'शुचिं च'; 'धारय' इत्यत्र क्रमेण 'धन्व', शुचिं ते', 'दीधरम्' इति पाठः। साम० १६११।

२. ऋ० ९।१०४।४ ऋषी पर्वतनारदौ, द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्याप्सरसौ।

ज्ञान की प्रशंसा कर रही हैं—यह रोगियों की उक्ति है। आगे वैद्य कहता है—हे त्वचारोग से ग्रस्त रोगी! **गोभिः** गाय से प्राप्त होने वाले दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर रूप पंच गव्यों से हम **ते** तेरे, तेरी त्वचा के **वर्णम्** स्वाभाविक रंग को **अभिवासयामसि** पुनः तुझमें बसा देते हैं, अर्थात् कुष्ठ आदि रोग के कारण तेरी त्वचा के विकृत हुए रूप को दूर करके त्वचा का स्वाभाविक रंग ला देते हैं। इससे कुष्ठ आदि त्वचा-रोगों की पंचगव्य द्वारा चिकित्सा की जाने की सूचना मिलती है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सब ऐश्वर्य देने वाले परमात्मा के सत्य, शिव, सुन्दर, सच्चिदानन्दमय स्वरूप को हमें अपने हृदय में धारण करना चाहिए। इसी प्रकार श्रेष्ठ वैद्यों की बतायी रीति से पंचगव्यों द्वारा चिकित्सा से त्वचा आदि के रोग दूर करने चाहिएँ ॥१०॥

अगले मन्त्र में परमात्मा रूप सोम से प्रार्थना की गयी है।

१२ ३२उ ३२३ १२३ १२
८७६. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या।
३क२र ३१ २१२३१२
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥[1]

पदार्थ—हे सोम परमात्मन्! **हर्यतः** गतिमान्, कर्मण्य, पुरुषार्थी और तुम्हारी चाहवाला तुम्हारा प्रिय **हरिः** मनुष्य **रंह्या** वेग के साथ **ह्वरांसि** कुटिलता के मार्गों को **अति** अतिक्रमण करके **पवते** सन्मार्गों पर दौड़ रहा है। **त्वम्** तुम **स्तोतृभ्यः** तुम्हारे गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने वाले अपने उपासकों को **वीरवत्** वीरभावों अथवा वीर पुत्रों से युक्त **यशः** यश **अभ्यर्ष** प्राप्त कराओ ॥११॥

इस मन्त्र में र्, ह् आदि की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥११॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, कर्मण्य परमेश्वरोपासक मनुष्य अपने जीवन में कुटिलता छोड़कर और सरलता को स्वीकार करके वीरभावों और वीर सन्ततियों से युक्त होता हुआ परम उज्ज्वल यश से चमकता है ॥११॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से आने वाले आनन्दरस का वर्णन है।

२३ १२ ३ २३ १२ ३१२
८७७. परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति।
३२उ ३१२ ३१२
अभि वाणीर्ऋषीणां सप्ता नूषत ॥१२॥[2]

पदार्थ—**पुनानः** अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ परमेश्वर अथवा ब्रह्मानन्दरस **मधुश्चुतम्** मधुर श्रद्धारस को प्रस्रुत करने वाले **कोशम्** मनोमय कोश में **परि अर्षति** व्याप्त हो रहा है। उस परमेश्वर वा ब्रह्मानन्दरस की **ऋषीणां सप्त वाणीः** वेदों की आर्षेय गायत्री आदि सात छन्दों वाली ऋचाएँ **अभि नूषत** सोम नाम से स्तुति करती हैं॥

चौबीस अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि करके गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती नामक सात छन्द ऋषि-छन्द कहाते हैं। वे ही यहाँ 'ऋषीणां सप्त वाणीः' शब्दों से ग्राह्य हैं ॥१२॥

भावार्थ—परब्रह्म और ब्रह्मानन्द रस की महिमा को गाने वाली वेदवाणियों के साथ अपना मन

१. ऋ० ९।१०५।१३ 'अभ्यर्षन्त्स्तोतृभ्यो' इति पाठः।
२. ऋ० ९।१०३।३ 'मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति', 'सप्त नूषत' इति पाठः।

मिलाकर ब्रह्म के उपासक जन अपने हृदय में ब्रह्मानन्दरस के प्रवाह का अनुभव करें ॥१२॥

इस दशति में सोम परमात्मा के प्रति सामगान की प्रेरणा होने से तथा परमात्मा और उसके आनन्दरस की महिमा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय से संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक, द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।

पञ्चम अध्याय का दशम खण्ड समाप्त ॥

॥६॥ अथ 'पवस्व मधुमत्तम' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ गौरिवीतिः शाक्त्यः; २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः; ३, ८ ऋजिश्वा भारद्वाजः[1]; ४ कृतयशा आङ्गिरसः; ५ ऋणञ्चयः; ६ शक्तिर्वासिष्ठः; ७ उरुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—१-४, ६ ककुबुष्णिक्; ५ यवमध्या गायत्री; ७, ८ काकुभः प्रगाथः (७ ककुबुष्णिक्; ८ सतोबृहती) ॥ स्वरः—१-४, ६ ऋषभः; ५ षड्जः; ७, ८ मध्यमः ॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

५७८. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
महि द्युक्षतमो मदः ॥१॥[2]

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** सबसे अधिक मधुर, **क्रतुवित्तमः** सबसे अधिक प्रज्ञा और कर्म को प्राप्त कराने वाले, और **मदः** हर्षप्रदाता आप **इन्द्राय** मेरे आत्मा के लिए **पवस्व** आनन्द-रस को प्रवाहित कीजिए । **मदः** आपसे दिया हुआ आनन्द **महि** अत्यधिक **द्युक्षतमः** तेज का निवास कराने वाला होता है ॥१॥

इस मन्त्र में 'तमो मदः' की आवृत्ति में यमक अलंकार है। 'तम, तमो, तमो' में वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—अत्यन्त मधुर, ज्ञान तथा कर्म के उपदेशक, आनन्ददाता परमात्मा का ध्यान कर-करके योगीजन अपार आनन्दरस से परिपूर्ण हो जाते हैं ॥१॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

५७९. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम् ।
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥[3]

पदार्थ—हे **इषः पते** अन्न, रस, धन, बल, विज्ञान आदि के स्वामी सोम परमात्मन् ! आप **द्युम्नम्** तेज को, और **बृहद् यशः** महान् यश को **अभि** हमें प्राप्त कराइये । हे **देव** दान करने, चमकने, चमकाने आदि दिव्य कर्मों से युक्त भगवन् ! आप **देवयुम्** दिव्य गुणों के अभिलाषी मुझे **दिदीहि** दिव्य गुणों से प्रकाशित कर दीजिए । मेरे **मध्यमम्** मध्यम **कोशम्** कोश को, अर्थात् मध्यस्थ मनोमय कोश को **वि युव** खोल दीजिए, जिससे उपरले विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश में पहुँच सकूँ ॥२॥

---

१. वैदिकयन्त्रालयमुद्रितायां सामसंहितायां तु अष्टम्या उरुराङ्गिरसः ऋषिर्निर्दिष्टः ।
२. ऋ० ९।१०८।१, साम० ६६२ ।
३. ऋ० ९।१०८।९ 'देवयुम्' इत्यत्र 'देवयुः' इति पाठः । साम० १०११ ।

भावार्थ—जैसे मेघरूप मध्यम कोश के खुलने से ही ऊपर का सूर्यप्रकाश प्राप्त हो सकता है, वैसे ही कोशों में मध्यस्थ मनोमय कोश के खुलने से ही विज्ञानमय और आनन्दमय कोश की विपुल समृद्धि प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा योग का साधक मनोमय भूमिका में ही रमता रहता है ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमात्मा की आराधना के लिए प्रेरणा दी गयी है।

५८०. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥३॥[1]

पदार्थ—हे मित्रो! तुम **स्तोमम्** समूह रूप में विद्यमान, **अप्तुरम्** नदी-नद-समुद्र के जलों में वेग से यान चलाने के साधनभूत, **रजस्तुरम्** अन्तरिक्षलोक में यानों को तेजी से ले जाने में साधनभूत, **वनप्रक्षम्** वनों को जलाने वाले, **उदप्रुतम्** जलों को भाप बनाकर ऊपर ले जाने वाले **अश्वम्** आग, विद्युत् आदि रूप अग्नि को **न** जैसे, शिल्पी लोग **आ सुन्वन्ति** उत्पन्न करते हैं तथा **परि सिञ्चन्ति** जलादि से संयुक्त करते हैं, वैसे ही **स्तोमम्** स्तुति के पात्र, **अप्तुरम्** प्राणों को प्रेरित करने वाले, **रजस्तुरम्** पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि लोकों को वेग से चलाने वाले, **वनप्रक्षम्** सूर्यकिरणों अथवा मेघ-जलों को भूमण्डल पर सींचने वाले, **उदप्रुतम्** शरीरस्थ रक्त-जलों को अथवा नदियों के जलों को प्रवाहित करने वाले सोम परमात्मा को **आ सोत** हृदय में प्रकट करो, और **परि सिञ्चत** श्रद्धारसों से सींचो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। आपः, वनम्, उदकम् ये सब निघण्टु (१।१२) में जलवाची पठित होने से तथा निरुक्त (१२।७) में रजस् शब्द के भी जलवाची होने से 'अप्तुरम्, रजस्तुरम्, वनप्रक्षम्, उदप्रुतम्' ये सब समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रदर्शित व्याख्या के अनुसार वस्तुतः भिन्न अर्थ वाले हैं, अतः यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। त्, म् आदि की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'तुरम्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥३॥

भावार्थ—जैसे शिल्पी लोग विद्युत् आदि रूप अग्नि को यानों में संयुक्त करते तथा जल, वायु आदि से सिक्त करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि प्राणों के प्रेरक, द्यावापृथिवी आदि लोकों के धारक, सूर्यकिरणों और मेघजलों के वर्षक परमात्मा को हृदय में संयुक्त कर श्रद्धा-रसों से सींचें ॥३॥

अगले मन्त्र में बताया गया है कि कैसे परमात्मा को श्रद्धारसों से सींचो।

५८१. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्।
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥४॥[2]

पदार्थ—**एतम् उ** इस, सबके समीपस्थ, **त्यम्** प्रसिद्ध, **मदच्युतम्** आनन्दस्रावी, **सहस्रधारम्** सत्य, अहिंसा, न्याय, दया आदि गुणों की सहस्र धाराएँ बहाने वाले, **वृषभम्** महाबली, **दिवोदुहम्** आकाशरूपी गाय को दुहने वाले अर्थात् आकाश से सूर्य-किरणों, मेघजलों आदि की वर्षा करने वाले, **विश्वा** सब **वसूनि** ऐश्वर्यों को **बिभ्रतम्** धारण करने वाले सोम परमात्मा को **आ सोत** हृदय में प्रकट करो, तथा **परि षिञ्चत** श्रद्धारसों से सींचो ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि आनन्द की प्राप्ति के लिए रस के भण्डार और सहस्रों धाराओं से रस बरसाने वाले परमात्मा रूप सोम को अपने हृदय में श्रद्धाभाव से धारण करें ॥४॥

---

१. ऋ० ९।१०८।७ 'वनप्रक्ष' इत्यत्र 'वनक्रक्ष' इति पाठः। साम० १३६४।
२. ऋ० ९।१०८।११ 'दिवोदुहम्' इत्यत्र 'दिवो दुहः' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा कैसा है, इसका वर्णन है।

५८२. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥५॥[1]

पदार्थ—**सः** वह **सोमः** सर्वोत्पादक रसमय परमेश्वर, **सुन्वे** ध्यान द्वारा हृदय में अभिषुत किया जाता है, **यः** जो **वसूनाम्** किरणों का, **यः** जो **रायाम्** धनों का, **यः** जो **इडानाम्** भूमियों, वाणियों, अन्नों और गायों का, और **यः** जो **सुक्षितीनाम्** श्रेष्ठ मनुष्यों का **आनेता** प्राप्त कराने वाला है ॥५॥

इस मन्त्र में 'यः' की चार बार पुनरुक्ति यह द्योतित करने के लिए है कि वह परमेश्वर ही इन पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है, अन्य कोई नहीं। 'वसूनाम्, रायाम्' इन दोनों के धनवाची होने के कारण और 'इडानाम्, सुक्षितीनाम्' इनके भूमिवाची होने के कारण प्रथम दृष्टि में एकार्थता प्रतीत होती है, किन्तु व्याख्यात रूप में अर्थ-भेद है। अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमेश्वर जगत् में दिखायी देने वाले सभी पदार्थों का उत्पादक और प्राप्त कराने वाला है, उसकी उपासना से सबको आनन्दरस प्राप्त करना चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा क्या करता है, इसका वर्णन है।

५८३. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥६॥[2]

पदार्थ—**अङ्ग** हे प्रिय **पवमान** पवित्रताकारी सोम परमात्मन्! **त्वं हि** आप निश्चय ही **दैव्यम्** विद्वानों के हितकर कर्म को, धारण करते हो। **द्युमत्तमः** सबसे अधिक देदीप्यमान आप **जनिमानि** जन्मों अर्थात् जन्मधारी विद्वान् सदाचारी मनुष्यों को **अमृतत्वाय** सांसारिक दुःखों से मुक्ति के लिए **घोषयन्** अधिकारी घोषित करते हो ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर कर्मानुसार फल प्रदान करता हुआ देव पुरुषों का हित ही सिद्ध करता है। वही मोक्ष के अधिकारी जनों को मोक्ष देकर सत्कृत करता है ॥६॥

अगले मन्त्र में सोम का धाराप्रवाह वर्णित है।

५८४. एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥७॥[3]

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के रस के पक्ष में। **एषः** यह **स्यः** वह हमारे द्वारा पर्वत से लाया गया, **अव्याः वारेभिः** भेड़ के बालों से अर्थात् भेड़ की ऊन से निर्मित दशापवित्रों से **सुतः** अभिषुत किया गया, **मदिन्तमः** अतिशय आनन्द उत्पन्न करने वाला सोमरस **अपाम्** नदियों की **ऊर्मिः इव** लहर के समान **क्रीडन्** क्रीडा करता हुआ **धारया** धारा रूप से **पवते** द्रोणकलश में जा रहा है ॥

१. ऋ० ९।१०८।१३।
२. ऋ० ९।१०८।३ 'दैव्यं, घोषयन्' इत्यत्र क्रमेण 'दैव्या, घोषयः' इति पाठः। साम० ९३८।
३. ऋ० ९।१०८।५।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **एषः** यह अनुभव किया जाता हुआ **स्यः** वह **अव्याः वारेभिः** भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्रों के तुल्य पवित्रताकारक यम, नियम आदि योगाङ्गों से **सुतः** हृदय में प्रकट किया गया, **मदिन्तमः** अतिशय आनन्द-उत्पन्न करने वाला सोम परमात्मा **अपाम् ऊर्मिः इव** नदियों की लहर के समान **क्रीडन्** क्रीडा करता हुआ **धारया** आनन्द की धारा के साथ **पवते** मेरे आत्मा में पहुँच रहा है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार है। जलों की लहर के समान क्रीडा करता हुआ सोम ओषधि का रस जैसे दशापवित्रों से छाना हुआ द्रोणकलश में पहुँचता है, वैसे ही यम, नियम आदि योग-साधनों से हृदय में प्रकट किया गया परमात्मारूप सोम मानो क्रीडा करता हुआ आनन्दप्रवाह के साथ योगियों के आत्मा को प्राप्त होता है ॥७॥

भावार्थ—समाधिस्थ उपासक लोग परमात्मा के पास से अपने आत्मा में वेगपूर्वक आती हुई आनन्दधारा को साक्षात् अनुभव करते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम परमेश्वर का वर्णन किया गया है।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
५८५. य उस्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज ॥८॥[1]

पदार्थ—उस्रियाः अपि निकलने योग्य होती हुई भी **याः** जो **अश्मनि अन्तः** मेघ के अन्दर रुक जाती हैं, उन **गाः** सूर्य-किरणों को **यः** जो आप **ओजसा** अपने प्रताप से **निर् अकृन्तत्** मेघ के बाहर निकाल देते हो, वह आप **गव्यम्** भूमि-सम्बन्धी, और **अश्व्यम्** सूर्यसम्बन्धी **व्रजम्** मण्डल को **अभितत्निषे** चारों ओर विस्तीर्ण करते हो। हे **धृष्णो** विपत्तियों का धर्षण करने वाले परमात्मन्! आप **वर्मी इव** कवचधारी योद्धा के समान **आरुज** हमारी विपदाओं को और हमारे शत्रुओं को भग्न कर दो ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'उस्रियाः अपि याः अन्तरश्मनि' का यदि यह अर्थ करें कि 'जो बहती हुई भी पत्थर के अन्दर रुकी हुई हैं' तो विरोध प्रतीत होता है, 'बहने के योग्य होती हुई भी मेघ में निरुद्ध' इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है। अतः विरोधाभास अलंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर मध्य में स्थित मेघ की बाधा को विच्छिन्न करके सूर्यकिरणों को भूमि पर प्रसारित कर देता है, वैसे ही जीवात्मा योगमार्ग में आये सब विघ्नों का विदारण कर सफलता प्राप्त करे ॥८॥

इस दशति में भी सोम नाम से परमात्मा का और उसके आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।

पंचम अध्याय में एकादश खण्ड समाप्त।

पंचम अध्याय समाप्त॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्द-सरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये पावमानं काण्डं पर्व वा समाप्तिमगात् ॥

---

१. ऋ० ९।१०८।६। 'अपि या अन्तरश्मनि' इत्यत्र 'अप्या अन्तरश्मनो' इति पाठः।

अथ आरण्यं काण्डं पर्व वा

अब आरण्य काण्ड या पर्व की व्याख्या की जाती है, जिसमें केवल ५५ मन्त्र हैं। उनमें से १० इन्द्र के, ६ पवमान सोम के, ३ विश्वेदेवाः के, ५ अग्नि के, ५ पुरुष के, १३ सूर्य के और एक-एक वरुण, अन्न, वायु, प्रजापति, रात्रि, वैश्वानर, आत्मा, ऋतु, द्यावापृथिवी, गौ और पवमान अग्नि का है। १ में लिंगोक्त द्यावापृथिवी, इन्द्र, बृहस्पति और भग देवता हैं और १ में निज की आशीः है। इस प्रकार इस पर्व या काण्ड में देवों का वैविध्य दिखायी देता है। इसीलिए इसका 'आरण्यक' नाम है। पूर्व पर्व अथवा काण्ड प्रायः एक-एक देवता से सम्वद्ध होने के कारण सजातीय वृक्षों से उपशोभित उद्यानों के समान हैं और यह आरण्यक काण्ड नाना देवताओं से सम्वद्ध होने के कारण विविध वृक्ष-वनस्पतियों से आकीर्ण अरण्य के तुल्य है। अथवा, इसके सामों का अरण्य में गान किया जाता है इस कारण इसे 'आरण्य' कहते हैं।

अथ षष्ठोऽध्यायः

॥१॥ तत्र 'इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भरद्वाजः; २ वसिष्ठः; ३, ६ वामदेवः; ४ शुनःशेपः; ५ गृत्समदः; ७, ८ अमहीयुः; ९ आत्मा ॥ देवता—१-३ इन्द्रः; ४ वरुणः; ५, ७, ८ पवमानः सोमः; ६ विश्वे देवाः; ९ अन्नम् ॥ छन्दः—१ बृहती; २, ४, ५, ९ त्रिष्टुप्; ३, ७, ८ गायत्री; ६ एकपदा जगती ॥ स्वरः—१ मध्यमः; २, ४, ५, ९ धैवतः; ३, ७, ८ षड्जः; ६ निषादः ॥

आदि की तीन ऋचाओं का इन्द्र देवता है। प्रथम मन्त्र में परमात्मा से यश की प्रार्थना की गयी है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५८६. इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः।
१र २र ३ १ २ ३ १र २र
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥१॥[1]

पदार्थ—हे **इन्द्र** परम यशस्वी परमात्मन्! आप **नः** हमें **ज्येष्ठम्** अत्यधिक प्रशंसनीय, **ओजिष्ठम्** अत्यधिक ओजस्वी, **पुपुरि** पूर्णता देने वाला अथवा पालन करने वाला **श्रवः** यश **आ भर** प्रदान कीजिए, **यत्** जिस यश को, हम **दिधृक्षेम** धारण करना चाहें। हे **वज्रहस्त** वज्रहस्त के समान यशोबाधक पाप,

१. ऋ० ६।४६।५, अथ० २०।८०।१, उभयत्र ऋषिः शंयुः, 'पुपुरि' इत्यत्र 'पपुरि', उत्तरार्द्धे च 'येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र पप्राः' इति पाठः।

दुर्व्यसन आदि को चूर-चूर करने वाले ! हे **सुशिप्र** सर्वव्यापक ! आपने **उभे रोदसी** भूमि-आकाश दोनों को **पप्राः** यश से परिपूर्ण किया हुआ है ।।१।।

भावार्थ—जैसे परमात्मा से रचा हुआ सारा ब्रह्माण्ड यशोमय है, वैसे ही हम भी यशस्वी बनें ।।१।।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर का राजा रूप में वर्णन करते हुए राष्ट्र में कौन राजा हो सकता है यह बताया गया है ।

५८७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमा विश्वरूपं यदस्य ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक् ।।२।।[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान् परमात्मा **जगतः** जगत् के **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** राजा है । **अधिक्षमा** पृथिवी पर **यत्** जो **विश्वरूपम्** सभी रूपों वाला धन है, वह **अस्य** इसी का है । **ततः** उसी धन में से, वह **दाशुषे** दानी को **वसूनि** धन **ददाति** देता है । वह **अर्वाक्** हमारी ओर **उपस्तुतं चित्** प्रशंसित ही **राधः** भौतिक धन को एवं योगैश्वर्य को **चोदत्** प्रेरित करे ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **इन्द्रः** शत्रुओं का विदारणकर्ता, यज्ञशीलों का आदरकर्ता, समस्त सद्गुणों की सम्पत्ति से युक्त ही मनुष्य **जगतः** राष्ट्र के **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** राजा होने योग्य है । **अधिक्षमा** राष्ट्रभूमि पर **यत्** जो **विश्वरूपम्** सब रूपों वाला धन का भण्डार **अस्य** इसका है, **ततः** उसमें से, वह **दाशुषे** कर देने वाले प्रजाजन के लिए **वसूनि** धनों को **ददाति** देवे । वह **उपस्तुतम्** प्रशंसित **राधः** धन को **अर्वाक्** नीची स्थिति वाले निर्धनों की ओर **चोदत्** प्रेरित करे ।।२।।

भावार्थ—जैसे राजराजेश्वर परमेश्वर दानी को धन देता है, वैसे ही मानव-सम्राट् भी कर देने वाले प्रजावर्ग को सुसमृद्ध करे । इसके लिए भी प्रयत्न करे कि प्रजा में धन की दृष्टि से अधिक विषमता न हो ।।२।।

अगले मन्त्र में उस परमेश्वर के धन का वर्णन है ।

५८८. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ।।३।।[2]

पदार्थ—**आरजः** लोकलोकान्तर पर्यन्त **युजः** सब पदार्थों से योग करने वाले **यस्य** जिस परमेश्वर का **तुजे जने** शीघ्र कार्य करने वाले कर्मयोगी मनुष्य को **वनम्** सेवनीय **स्वः** धन प्राप्त होता है, उस **इन्द्रस्य** परमेश्वर का **रन्त्यम्** रमणीय ऐश्वर्य **बृहत्** बहुत बड़ा है ।।३।।

भावार्थ—संसार में जहाँ-तहाँ जो अनेक प्रकार का धन बिखरा पड़ा है, वह सब परमात्मा का ही है । पुरुषार्थी जन ही उसे प्राप्त करने के अधिकारी हैं ।।३।।

---

१. ऋ० ७।२७।३ 'क्षमा विश्वरूपं यदस्य' इत्यत्र 'क्षमि विषुरूपं यदस्ति' इति, 'उपस्तुतं चिदर्वाक्' इत्यत्र च 'उपस्तुतश्चिदर्वाक्' इति पाठः ।

२. ऋ० ६।३३।१, ऋषिः जातिकायनः ।

अगले मन्त्र का वरुण देवता है। परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

५८९. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम ॥४॥[1]

पदार्थ—हे **वरुण** मोक्षप्राप्ति के लिए सब मनुष्यों से वरे जानेवाले परमात्मन्! आप **उत्तमं पाशम्** उत्कृष्ट कर्मों के बन्धन रूप उत्तम पाश को **अस्मत्** हमसे **उत्** उत्कृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **अधमम्** निकृष्ट कर्मों के बन्धन रूप अधम पाश को **अव** निकृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **मध्यमम्** मध्यम कर्मों के बन्धन रूप मध्यम पाश को **वि श्रथाय** विविध फल देकर छुड़ा दीजिए। **अथ** उसके पश्चात्, हे **आदित्य** नित्यमुक्त, अविनाशी, आदित्य के समान प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! **तव** आपके **व्रते** निष्काम कर्म में चलते हुए **वयम्** हम **अनागसः** निष्पाप होते हुए **अदितये** मोक्ष के अधिकारी **स्याम** हो जाएँ।

अथवा उत्तम पाश है आत्मा के ज्ञान आदि के ग्रहण में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, मध्यम पाश है मन के श्रेष्ठ संकल्प आदि में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, अधम पाश है शरीर के व्यापार में जो बाधक रोग आदि होते हैं उनसे किया गया बन्धन। उन पाशों से छुड़ाकर परमेश्वर अथवा योगी गुरु हमें सुख का अधिकारी बना देवे ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य सभी सकाम कर्मों का फल अवश्य पाता है। जो लोग निष्काम होकर परमेश्वर के व्रत में रहते हुए निष्पाप जीवन व्यतीत करते हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं ॥४॥

अगली ऋचा का देवता पवमान सोम है। उससे प्रार्थना की गयी है।

५९०. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥५॥[2]

पदार्थ—हे **सोम** प्रेरक परमात्मन्! **पवमानेन** पवित्रकर्ता **त्वया** तुझ सहायक के द्वारा **वयम्** हम शूरवीर लोग **भरे** जीवन-संग्राम में **शश्वत्** निरन्तर **कृतम्** कर्म को **वि चिनुयाम** विशेषरूप से चुनें। **तत्** इस कारण **मित्रः** वायु, **वरुणः** अग्नि, **अदितिः** उषा, **सिन्धुः** अन्तरिक्ष-समुद्र अथवा पार्थिव समुद्र, **पृथिवी** भूमि **उत** और **द्यौः** द्युलोक अथवा सूर्य **नः** हमें **मामहन्ताम्** सत्कार से बढ़ाएँ। **अथवा**—**मित्रः** प्राण, **वरुणः** अपान, **अदितिः** वाणी, **सिन्धुः** हृदय-समुद्र, **पृथिवी** शरीर **उत** और **द्यौः** प्रकाशयुक्त बुद्धि वा आत्मा **नः मामहन्ताम्** हमें बढ़ाएँ। **अथवा**—**मित्रः** ब्राह्मणवर्ण, **वरुणः** क्षत्रियवर्ण, **अदितिः** न पीडित की जाने योग्य नारी जाति, **समुद्रः** समुद्र के तुल्य धन का संचय करने वाला वैश्यवर्ण, **पृथिवी** राष्ट्रभूमि **उत** और **द्यौः** यशोमयी राजसभा **नः मामहन्ताम्** हम प्रजाजनों को अतिशय समृद्ध करें ॥५॥

भावार्थ—'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, बाएँ हाथ में विजय रखी हुई है।' अथ० ७।५०।८, इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में जो कर्म को अपनाता है, वही विजय पाता है। इस कर्मयोग के मार्ग में परमेश्वर के अतिरिक्त अग्नि-वायु-सूर्य आदि बाह्य देव, प्राण-अपान-वाणी-मन आदि आन्तरिक देव और ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि राष्ट्र के देव हमारे सहायक और प्रेरक बन सकते हैं ॥५॥

---

१. ऋ० १।२४।१५, य० १२।१२ 'अथा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः। अथ० ७।८३।३, १८।४।६९ उभयत्र 'अधा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः, द्वितीये स्थले ऋषिः अथर्वा।

२. ऋ० ९।९७।५८ ऋषिः कुत्सः।

अगली ऋचा का देवता 'विश्वेदेवाः' है। उनसे प्रार्थना की गयी है।

५९१. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥६॥

पदार्थ—हे परमात्मा, जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि सब देवो, सब विद्वान् गुरुजनो तथा राज्याधिकारियो ! तुम **इमम्** इस **माम्** मुझको **एकम् इत्** अद्वितीय **वृषणम्** मेघ के समान धन, अन्न, सुख आदि की वर्षा करने वाला **कृणुत** कर दो ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा और शरीर में स्थित, समाज में स्थित तथा राष्ट्र में स्थित सब देव परोपकारी हैं, वैसे ही उनसे प्रेरणा लेकर मैं भी निर्धनों के ऊपर धन, अन्न आदि की वर्षा करने वाला, अनाथों का नाथ और दूसरों के दुःख को हरने वाला बनूँ ॥६॥

अगले दो मन्त्रों का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा और राजा को कहा जा रहा है।

५९२. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः।
वरिवोवित् परिस्रव ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे पवमान सोम अर्थात् सर्वोत्पादक, सकल ऐश्वर्य के अधिपति, रसमय, पवित्रतादायक परमात्मन् ! **सः** सुप्रसिद्ध आप **नः** हमारे **यज्यवे** देह-रूप यज्ञ के संचालक **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए, **वरुणाय** श्रेष्ठ संकल्पों का वरण करने वाले मन के लिए, और **मरुद्भ्यः** प्राणों के लिए **वरिवोवित्** उनके बलरूप ऐश्वर्य के प्राप्त कराने वाले होकर **परिस्रव** हृदय में संचार करो।

द्वितीय राष्ट्र-परक। हे पवमान सोम अर्थात् सब राज्याधिकारियों को अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में प्रेरित करने तथा उनके दोषों को दूर कर पवित्रता देने वाले राजन् ! **सः** वह प्रजाओं द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त किये हुए आप **नः** हमारे **यज्यवे** राष्ट्र-यज्ञ के कर्ता **इन्द्राय** सेनाध्यक्ष के लिए, **वरुणाय** असत्याचरण करने वालों को बन्धन में बाँधने वाले कारागार-अधिकारी के लिए और **मरुद्भ्यः** योद्धा सैनिकों के लिए **वरिवोवित्** देने योग्य उचित वेतनरूप धन के प्राप्त कराने वाले होकर **परिस्रव** राष्ट्र में संचार करो ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर कृपा करके हमारे आत्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय आदि को शरीर-राज्य चलाने का बलरूप धन और राजा नियुक्त राज्याधिकारियों को देय वेतनरूप धन सदा देता रहे। जो राजा अन्याय से सेवकों को वेतन से वंचित करता है, उसके प्रति वे पूर्णतः विद्रोह कर देते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मारूप सोम से धन की याचना की गयी है।

५९३. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्।
सिषासन्तो वनामहे ॥८॥[2]

पदार्थ—हे पवमान सोम अर्थात् सर्वोत्पादक पवित्रतादायक परमात्मन् ! **अर्यः** सबके स्वामी आप **एना** इन **सर्वाणि** सब **द्युम्नानि** धनों को **आ** प्राप्त कराओ। इन धनों को हम **मानुषाणाम्** सत्पात्र

१. ऋ० ९।६१।१२, य० २६।१७ ऋषिः महीयवः, साम० ६७३।
२. ऋ० ९।६१।११, य० २६।१८ ऋषिः महीयवः, साम० ६७४।

मनुष्यों को **सिषासन्तः** दान करने के अभिलाषी होते हुए **वनामहे** पाना चाहते हैं ॥८॥

भावार्थ—जिस धन से दूसरों का हित नहीं होता वह धन धन नहीं, किन्तु पुंजित अपयश ही है, क्योंकि वेद कहता है कि "अकेला खाने वाला पाप का भागी होता है (ऋ० १०।११७।६)" ॥८॥

अगले मन्त्र का अन्न देवता है। परमेश्वर अपना परिचय दे रहा है।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९४. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥९॥

पदार्थ—अहम् मैं परमेश्वर **ऋतस्य** जगत् में सर्वत्र दिखायी देने वाले सत्य नियम का **प्रथमजाः** प्रथम उत्पादक **अस्मि** हूँ। मैं **देवेभ्यः** सब चमकने वाले सूर्य, बिजली, अग्नि, तारामण्डल आदियों की उत्पत्ति से **पूर्वम्** पहले विद्यमान था। मैं **अमृतस्य** मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्दामृत का **नाम** केन्द्र या स्रोत हूँ। **यः** जो मनुष्य **मा** मुझे **ददाति** अपने आत्मा में समर्पित करता है **सः इत् एव** निश्चय से वही **मा** मुझे **अवत्** प्राप्त होता है। **अहम्** मैं **अन्नम्** अन्न हूँ, भक्तों का भोजन हूँ और मैं **अन्नम् अदन्तम्** भोग भोगने वाले प्रत्येक प्राणी को **अद्मि** खाता भी हूँ, अर्थात् प्रलयकाल में ग्रस भी लेता हूँ, इस कारण मैं अत्ता भी हूँ।

परमेश्वर के अन्न और अत्ता रूप को उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार कहा है—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ (तै० उप० ३।१०।६)। 'परमेश्वर अत्ता इस कारण है, क्योंकि चर-अचर को ग्रसता है' (ब्र० सू० १।२।९)।

निरुक्त में जो परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार की ऋचाएँ कही गयी हैं, उनमें यह ऋचा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक ऋचाएँ वे होती हैं जिनमें उत्तम पुरुष की क्रिया तथा 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग हो अर्थात् जिसमें देवता अपना परिचय स्वयं दे रहा हो ॥९॥

इस मन्त्र में 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न खाने वाले को खाता हूँ' में विरोध प्रतीत होने से विरोधालंकार व्यंग्य है ॥९॥

भावार्थ—जैसे प्राणी भोजन के बिना, वैसे ही भक्तजन परमेश्वर के बिना नहीं जी सकते। जैसे प्राणी अन्न का ग्रास लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर चराचर जगत् को ग्रसता है ॥९॥

पूर्व दशति में सोम नाम से परमात्मा का वर्णन होने से तथा इस दशति में भी इन्द्र, वरुण, सोम आदि नामों से परमात्मा का ही वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
षष्ठ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त॥

॥२॥ अथ 'त्वमेतदधारयः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्रुतकक्षः; २ पवित्रः; ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः; ५ प्रथः; ६ गृत्समदः; ७ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—१, ३, ४, ७ इन्द्रः; २ पवमानः; ५ विश्वेदेवाः; ६ वायुः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री; २ जगती; ५ त्रिष्टुप्; ७ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ४, ६ षड्जः; २ निषादः; ५ धैवतः; ७ गान्धारः ॥

प्रथम मन्त्र का इन्द्र देवता है। इसमें इन्द्र परमात्मा के कौशल का वर्णन है।

५९५. त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।
परुष्णीषु रुशत् पयः ॥१॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** गौओं के पक्ष में। हे इन्द्र जगदीश्वर! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् आपने **कृष्णासु** काले रंग की, **रोहिणीषु च** और लाल रंग की **परुष्णीषु** बहुत स्नेहशील मातृभूत गौओं में **एतत्** इस, हमसे प्रतिदिन पान किये जाने वाले **रुशत्** उज्ज्वल **पयः** दूध को **अधारयः** निहित किया है ॥

द्वितीय नदियों के पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन्! **त्वम्** जगत् की व्यवस्था करने वाले आपने **कृष्णासु** कृषिकर्म को सिद्ध करने वाली, **रोहिणीषु च** और वृक्ष-वनस्पति आदियों को उगाने वाली **परुष्णीषु** पर्वों वाली अर्थात् टेढ़ा चलने वाली नदियों में **एतत्** इस **रुशत्** उज्ज्वल **पयः** जल को **अधारयः** निहित किया है।

तृतीय नाड़ियों के पक्ष में। हे इन्द्र जगत्पति परमात्मन्! **त्वम्** प्राणियों के देहों के संचालक आपने **कृष्णासु** नीले रंग वाली शिरारूप **रोहिणीषु च** और लाल रंग वाली धमनिरूप **परुष्णीषु** अंग-अंग में जाने वाली अथवा रक्त को ले जाने वाली रक्तनाड़ियों में **एतत्** इस **रुशत्** चमकीले नीले रंग के और चमकीले लाल रंग के **पयः** रक्तरूप जल को **अधारयः** निहित किया है।

चतुर्थ रात्रियों के पक्ष में। हे इन्द्र राजाधिराज परमेश्वर! **त्वम्** दिन-रात्रि के चक्र के प्रवर्तक आपने **कृष्णासु** आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से काले रंग वाली **रोहिणीषु च** और प्रकाश से उज्ज्वल **परुष्णीषु** कृष्ण और शुक्ल पक्षों से युक्त रात्रियों में **एतत्** सबको दीखने वाले इस **रुशत्** चमकीले **पयः** ओस-कण रूप जल को **अधारयः** निहित किया है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा का ही यह कौशल है कि वह विविध रंगों वाली गौओं में श्वेत दूध को, नदियों में उज्ज्वल जल को, शरीरस्थ नाड़ियों में नीले और लाल रुधिर को तथा कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष की रात्रियों में ओसरूप जल को उत्पन्न करता है ॥१॥

अगले मन्त्र का पवमान देवता है। परमात्मा के ही कौशल से सूर्य आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, इसका वर्णन है।

५९६. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥२॥[2]

---

१. ऋ० ८।९३।१३ ऋषिः सुकक्षः।
२. ऋ० ९।८३।३ 'मिमेति भुवनेषु' इत्यत्र 'बिभर्ति भुवनानि' इति पाठः। साम० ८७७।

पदार्थ—**अस्य** इस पवमान सोम के अर्थात् सर्वव्यापक प्रेरक परमात्मा के **मायया** बुद्धि और कर्म के कौशल से **अग्रियः** आगे रहने वाला **पृश्निः** सूर्य **उषसः** उषाओं को **अरूरुचत्** चमकाता है, और **उक्षा** वर्षक बादल **भुवनेषु** भूतलों पर **वाजयुः** मानो अन्न उत्पन्न करना चाहता हुआ **मिमेति** गर्जता है, **मायाविनः** मेधावियों के तुल्य विद्यमान पवन **ममिरे** अपनी गति से सुदीर्घ प्रदेशों को मापते हैं और **नृचक्षसः** मनुष्यों को प्रकाश देने वाली **पितरः** पालक सूर्य-किरणें **गर्भम् आदधुः** ओषधियों में गर्भ धारण कराती हैं अथवा पानी को भाप बनाकर गर्भरूप में ग्रहण करती हैं ।।२।।

भावार्थ—परमात्मा ने ही अपने कौशलों से उषा, सूर्य, बादल, पवन एवं किरणों जैसे यन्त्र रचे हैं, जो हमारा बड़ा उपकार करते हैं ।।२।।

अगले दो मन्त्रों में इन्द्र देवता है। यहाँ परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ।।३।।[1]

पदार्थ—**इन्द्रः इत्** जगदीश्वर ही **वचोयुजा** आदेशवचन होते ही नियुक्त हो जाने वाले **हर्योः** भूमि-आकाश, दिन-रात, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, प्राण-अपान, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, ऋक्-साम रूप घोड़ों का **सचा** एक साथ **सम्मिश्लः** संयुक्त करने वाला है। **इन्द्रः** वह जगदीश्वर **वज्री** वज्रधारी के समान निरंकुशों को नियम में रखने वाला और **हिरण्ययः** प्रतापी है ।।३।।

भावार्थ—महाप्रतापी परमेश्वर ने ही सौरमण्डल में द्यावापृथिवी आदि रूप, शरीर में प्राण-अपान आदि रूप तथा मनोभूमि में ऋक्-साम आदि रूप अश्वों को सामञ्जस्यपूर्वक नियुक्त किया है ।।३।।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

२ ३ १ २ ३ १ २
५९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
३२ ३ १ २ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतिभिः ।।४।।[2]

पदार्थ—हे **उग्र** शत्रुओं पर प्रचण्ड **इन्द्र** शत्रुविदारक जगदीश्वर अथवा राजन् ! आप **वाजेषु** संकटों में **सहस्रप्रधनेषु च** और सहस्रों का संहार करने वाले घोर देवासुर-संग्रामों में **उग्राभिः** उत्कट **ऊतिभिः** रक्षा-शक्तियों से **नः** हम धार्मिकों की **अव** रक्षा कीजिए ।।४।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है। 'उग्र, उग्रा' में छेकानुप्रास है ।।४।।

भावार्थ—जीवन में पग-पग पर आये हुए संकटों में, बाह्य तथा आभ्यन्तर भीषण संग्रामों में, योगमार्ग में उपस्थित व्याधि, स्त्यान, संशय आदि विघ्नों में और राज्य में उत्पन्न राज्यविप्लव, शत्रु द्वारा चढ़ाई आदि में वीर परमेश्वर और राजा हमारी निरन्तर रक्षा करते रहें ।।४।।

---

१. ऋ० १।७।२, साम० ७६७, अथ० २०।३८।५, ४७।५, ७०।८।
२. ऋ० १।७।४, साम० ७६८, अथ० २०।७०।१०।

अगले मन्त्र के 'विश्वेदेवाः' देवता हैं। परमेश्वर को धाता, सविता और विष्णु नामों से स्मरण किया गया है।

५९९. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः ।।५।।[1]

पदार्थ—**यस्य** जिस परमेश्वर के **प्रथः च सप्रथः च** सर्वत्र प्रख्यात होने से 'प्रथ' और सर्वत्र विस्तीर्ण या व्यापक होने से 'सप्रथ' **नाम** नाम हैं, **यत्** जो **आनुष्टुभस्य** अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों के पाठ-पूर्वक दी गयी **हविषः** उपासकों की आत्मसमर्पणरूप हवि का **हविः** केन्द्र है, उसी **द्युतानात्** द्योतमान **धातुः** सम्पूर्ण जगत् के धारक, **सवितुः च** और सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक **विष्णोः** सर्वव्यापक परमेश्वर से **वसिष्ठः** अतिशय वसुयुक्त अर्थात् विद्या, विनय आदि धन से सम्पन्न विद्वान् मनुष्य **रथन्तरम्** आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि से अधिष्ठित शरीर-रथ द्वारा भवसागर को पार कराने वाले ब्रह्मवर्चस को **आ जभार** प्राप्त कर लेता है।

रथन्तर साम का भी नाम है जो वसिष्ठ ऋषि से दृष्ट 'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः' (साम० २३३) आदि ऋचा पर गाया जाता है ।।५।।

इस मन्त्र में 'प्रथश्च' और 'हवि' की आवृत्ति में यमकालङ्कार तथा उत्तरार्ध में तकार और रेफ की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।।५।।

भावार्थ—ध्यान किया हुआ परमेश्वर साधक योगी को वह ब्रह्मवर्चस प्रदान करता है, जिससे वह विषयभोगों की कीचड़ में लिप्त न होता हुआ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों और शरीर से मोक्ष-साधक कर्मों को करता हुआ भव-सागर पार करके परम ब्रह्म को पा लेता है ।।५।।

अगले मन्त्र का वायुदेवता है। वायु नाम से परमात्मा का आह्वान किया गया है।

६००. नियुत्वान् वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते।
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ।।६।।[2]

पदार्थ—हे **वायो** वायु के सदृश अनन्त बल वाले, सबको शुद्ध करने वाले, सबके जीवनाधार, प्राणप्रिय परमात्मन् ! **नियुत्वान्** नियन्त्रण और नियोजन के सामर्थ्य वाले आप **आ गहि** मुझे नियन्त्रण में रखने तथा सत्कर्मों में नियुक्त करने के लिए आइए। **अयम्** यह **शुक्रः** पवित्र तथा प्रदीप्त ज्ञान, कर्म और भक्ति का सोमरस **ते** आपके लिए **अयामि** मेरे द्वारा अर्पित है। आप **सुन्वतः** ज्ञान, कर्म और भक्ति का यज्ञ करने वाले यजमान के **गृहम्** हृदय-रूप गृह में **गन्ता** पहुँचने वाले **असि** हो ।।६।।

भावार्थ—ज्ञानयज्ञ, कर्मयज्ञ और भक्तियज्ञ सम्मिलित होकर ही परमात्मा की कृपा प्राप्त कराते हैं ।।६।।

---

१. ऋ० १०।१८१।१।
२. ऋ० २।४१।२, य० २७।२६।

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। इसमें यह वर्णन है कि इन्द्र परमात्मा ने ही भूमि और सूर्य को विस्तीर्ण किया है।

६०१. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥७॥[1]

पदार्थ—हे **अपूर्व्य** अद्वितीय **मघवन्** ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यत्** जब, आप **वृत्रहत्याय** सृष्टि के उत्पत्तिकाल में द्यावापृथिवी को फैलाने तथा आकाश में टिकाने में विघ्नभूत मेघों के वध के लिए **जायथाः** तत्पर हुए **तत्** तभी, आपने **पृथिवीम्** भूमि को **अप्रथयः** विस्तीर्ण किया, **उत उ** और **तत्** तभी **दिवम्** सूर्य को **उत् अस्तभ्नाः** आकाश में धारण किया ॥७॥

भावार्थ—हमारे सौरमण्डल के जन्म से पूर्व आकाश में जलती हुई गैसों का समूह रूप प्रकाश-पुंजमयी एक नीहारिका थी। हमारी भूमि और अन्य ग्रह उसी से अलग हुए। नीहारिका का बचा हुआ अंश सूर्य कहलाया। नीहारिका से अलग हुई हमारी भूमि भी पहले जलती हुई गैसों का पिण्ड ही थी। शनैः-शनैः ठण्डी होती हुई वह द्रव रूप को प्राप्त हुई। तब बहुत-सी जलराशि सूर्य के तीव्र ताप से भाप बनकर बादल का रूप धारण कर सूर्य और भूमि के बीच में स्थित हो गयी। तब बादल से किये हुए गाढ़ अन्धकार के कारण भूमि पर सर्वत्र चिरस्थायिनी रात्रि व्याप गयी। सूर्य के ताप का स्पर्श न होने से द्रवरूप भूमि ठण्ड पाकर स्थल रूप को प्राप्त हो गयी। तब ईश्वरीय नियमों से वह विकराल मेघ-राशि बरसकर फिर भूमि पर ही आकर समुद्ररूप में स्थित हो गयी। मेघरूप वृत्र के संहार के पश्चात् स्थलरूप पृथिवी ग्रीष्म, वर्षा आदि विविध ऋतुओं के प्रादुर्भाव से नदी, पर्वत, वनस्पति आदि से युक्त होकर बहुत विस्तीर्ण हो गयी। सूर्य भी अपने आकर्षण के बल से उसे अपने चारों ओर घुमाता हुआ ऊपर आकाश में परमेश्वर की महिमा से बिना ही आधार से स्थित रहा। यही बात इस मन्त्र के शब्दों द्वारा संक्षेप में कही गयी है।

इस दशति में इन्द्र, पवमान, धाता, सविता, विष्णु, वायु नामों से परमेश्वर का स्मरण होने से इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
षष्ठ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० ८।८९।५ 'उतो दिवम्' इत्यत्र 'उत द्याम्' इति पाठः। साम० १४२९।

पदार्थ—हे अग्रनायक परमात्मन् ! **ते** प्रसिद्ध विद्वान् जन **नाम** आपके नाम को **प्रथमम्** श्रेष्ठ **अमन्वत** मानते हैं। **गोनां त्रिःसप्त** इक्कीस वेदवाणियाँ, अर्थात् गायत्री आदि इक्कीस छन्दों वाली ऋचाएँ भी **नाम** आपके नाम को **परमम्** श्रेष्ठ **जानन्** जनाती हैं। **जानतीः** आपके नाम को सर्वश्रेष्ठ जनाती हुई **ताः** वे अर्थगर्भित वेदवाणियाँ **यशसा** आपके महिमागान-जनित यश से **अरुणीः** आरोचमान होती हुई **आविर्भुवन्** अध्येताओं के हृदय में प्रकट हो जाती हैं, अपने रहस्यार्थ को खोल देती हैं ॥५॥

भावार्थ—वेदवाणियाँ मिलकर जिस परब्रह्म की महिमा को गाते-गाते नहीं थकतीं और जिस यशस्वी परब्रह्म के माहात्म्य-कीर्तन से वे स्वयं भी यशोमयी हो गयी हैं, उसकी महिमा को हम भी क्यों न गायें ? ॥५॥

अगले मन्त्र में नदियों के दृष्टान्त से परमात्मा की महिमा वर्णित है।

६०७. समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति ।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुप यन्त्यापः ॥६॥[1]

पदार्थ—**अन्याः** कुछ नदियाँ **सं यन्ति** एक-दूसरी से मिलकर समुद्र को प्राप्त होती हैं, **अन्याः** और दूसरी कुछ नदियाँ **उपयन्ति** स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् समुद्र में पहुँचती हैं। **नद्यः** वे सभी नदियाँ **समानम्** एक ही **ऊर्वम्** समुद्र की अग्नि को **पृणन्ति** तृप्त करती हैं। इसी प्रकार **तम् उ** उसी **शुचिम्** पवित्र **दीदिवांसम्** देदीप्यमान, **अपाम्** आप्त प्रजाओं को **नपातम्** पतित न करने वाले, प्रत्युत उन्नत करने वाले परमात्मारूप अग्नि को **आपः** आप्त प्रजाएँ **उपयन्ति** प्राप्त होती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में व्यङ्ग्य-साम्य वाले दो वाक्यों में एक ही सामान्य धर्म 'पृणन्ति' और 'उपयन्ति' इन पृथक्-पृथक् शब्दों से वर्णित होने के कारण प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। 'सम, समा', 'न्या, न्या', 'यन्त्यु, यन्त्य', 'पयन्त्य, पयन्त्या' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—जैसे व्याप्त नदियाँ एक ही समुद्र को भरती हैं, वैसे ही आप्त प्रजाएँ एक ही परमात्मा को प्राप्त होती हैं ॥६॥

अगले मन्त्र का रात्रि देवता है। रात्रिरूप युवति का वर्णन है।

६०८. आ प्रागाद् भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति ।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥७॥

पदार्थ—**प्रथम** रात्रि के पक्ष में। **भद्रा** सुखदायिनी **युवतिः** रात्रिरूप युवति **आ प्रागात्** भले प्रकार आयी है, **अह्नः** दिन की **केतून्** किरणों को **समीर्त्सति** समेट रही है। यह **रात्री** रात्रिरूप युवति **विश्वस्य** सम्पूर्ण **जगतः** संसार की **निवेशनी** विश्रामदायिनी और **भद्रा** कल्याणकारिणी **अभूत्** हुई है।

द्वितीय योगनिद्रा के पक्ष में। **भद्रा** सुखदायिनी **युवतिः** योगनिद्रारूप युवति **आ प्रागात्** शीघ्र ही योगमार्ग में आयी है, **अह्नः** सांसारिक विषयभोग रूप दिन के **केतून्** प्रभावों को **समीर्त्सति** संकुचित कर रही है। यह **रात्री** समाधिदशा रूप योगनिद्रा **विश्वस्य** सम्पूर्ण **जगतः** क्रियामय मनोव्यापार को **निवेशनी** सुलाने वाली और इसीलिए **भद्रा** आनन्दजनक **अभूत्** हुई है ॥७॥

---

१. ऋ० २।३५।३, 'नद्यः पृणन्ति', 'परितस्थुरापः' इति पाठः।

इस मन्त्र में रात्रि में युवतित्व के आरोप के कारण रूपकालंकार है। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई युवति घर में इधर-उधर बिखरी हुई वस्तुओं को समेटती है और पति के लिए सुखदायिनी और विश्रामदायिनी होती है, वैसे ही यह रात्रि दिन में बिखरी किरणों को समेटती है और सबके लिए विश्रामदायिनी होती है ।।७।।

भावार्थ—रात्रि के समान योगसमाधिरूप निद्रा योगियों के लिए भद्र, आह्लाददायक और विश्रामदायिनी होती है ।।७।।

देवता वैश्वानर अग्नि है। परमेश्वर के प्रति स्तुतिवचनों को प्रवृत्त करने का वर्णन है।

६०९. प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ।।८।।[1]

पदार्थ—**प्रक्षस्य** सब पदार्थों से संपृक्त अर्थात् सर्वव्यापक, **वृष्णः** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **अरुषस्य** दीप्तिमान् परमात्मा का **नु** निश्चय ही **महः** अत्यन्त महत्त्व व पूज्यत्व है। **विदथा** ज्ञानयज्ञ में **जातवेदसे** सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता वैश्वानर परमात्मा के लिए **नः वचः** हमारा स्तुति-वचन **प्र** भलीभाँति प्रवृत्त होता है। और, **नव्यसे** अतिशय नवीन **वैश्वानराय** सब जनों का हित करने वाले **अग्नये** उस अग्रनायक परमात्मा के लिए, हमारी **शुचिः** पवित्र **चारुः** रमणीय **मतिः** बुद्धि, विचारधारा **पवते** प्रवृत्त हो रही है, **इव** जैसे **शुचिः** पवित्र **चारुः** मनोहर **सोमः** सोम ओषधि का रस **पवते** द्रोणकलश में जाने के लिए प्रवाहित होता है, अथवा जैसे **शुचिः** चमकीला, **चारुः** आह्लादकारी **सोमः** चन्द्रमा **वैश्वानराय** सूर्य की परिक्रमा करने के लिए **पवते** अन्तरिक्ष में गति करता है ।।८।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।८।।

भावार्थ—सर्वान्तिर्यामी, सुखवर्षक, तेजस्वी, सर्वज्ञ, सब जनों के हितकर्ता, मार्गदर्शक परमेश्वर के प्रति उत्तम स्तोत्र सबको प्रवृत्त करने चाहिएँ ।।८।।

अगले मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः हैं। उनके प्रति कहा जा रहा है।

६१०. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ।।९।।[2]

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। **विश्वे देवाः** ज्ञानप्रकाशक शरीरस्थ सब मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप देव, **उभे रोदसी** प्राण-अपान दोनों, **अपां नपात् च** और प्राणों को पतित न होने देने वाला जीवात्मा तथा परमेश्वर **मम** मेरे **यज्ञम्** विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से प्राप्त होने वाले **मन्म** विज्ञान को **शृण्वन्तु** पूर्ण करें। हे शरीरस्थ देवो ! **वः** तुम्हारे लिए, मैं **परिचक्ष्याणि** निन्दनीय **वचांसि** वचनों को **मा वोचम्** न बोलूँ—'अहो, मेरा मन कुण्ठित हो गया है, बुद्धि कुण्ठित हो गयी है, इन्द्रियाँ अशक्त हो गयी हैं' इत्यादि प्रकार से निराशाभरे वचन न कहूँ, प्रत्युत तुम्हारी शक्ति का गुणगान करते हुए तुम्हारे पास से अधिका-

---

१. ऋ० ६।८।१, 'प्रक्षस्य', 'महः प्र नो वचो', 'जातवेदसे', 'नव्यसे' इत्यत्र क्रमेण 'पृक्षस्य', 'सहः प्र नु वोचं', 'जातवेदसः', 'नव्यसी' इति पाठः।

२. ऋ० ६।५२।१४, ऋषिः ऋजिश्वा, 'यज्ञमुभे' इत्यत्र 'यज्ञिया उभे' इति पाठः।

॥३॥ अथ 'मयि वर्चो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ५, ७, १० वामदेवः; २, ३ गौतम; ४ मधुच्छन्दाः; ६ गृत्समदः; ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः; ११ हिरण्यस्तूपः; १२, १३ विश्वामित्रः ॥ देवता—१ प्रजापतिः; २, ३ पवमानः सोमः; ४-६, १३ अग्निः। ७ रात्रिः; ८ वैश्वानरः; ९ विश्वेदेवाः; १० लिङ्गोक्ताः; ११ इन्द्रः; १२ आत्मा ॥ छन्दः—१, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ त्रिष्टुप्; ४ गायत्री; ८ जगती; १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ७ गान्धारः; २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ धैवतः; ४ षड्जः; ८ निषादः; १० पञ्चमः ॥

प्रथम मन्त्र का प्रजापति देवता है। प्रजापति परमात्मा, जीवात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

६०२. **मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।**
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥[1]

पदार्थ—**परमेष्ठी** सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित **प्रजापतिः** ब्रह्माण्ड की सब प्रजाओं का अधिपति परमात्मा, शरीर की मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि प्रजाओं का पति जीवात्मा और राष्ट्र की प्रजाओं का पति राजा **मयि** मुझ प्रार्थी में **वर्चः** ब्रह्मवर्चस, **अथ उ** और **यशः** कीर्ति, **अथ उ** और **यज्ञस्य** उपासना-यज्ञ का अथवा राष्ट्र-यज्ञ का **यत् पयः** आनन्दरूप वा समृद्धिरूप जो फल है, उसे **दृंहतु** वैसे ही स्थिर करे, **इव** जिस प्रकार **दिवि द्याम्** प्रजापति परमेश्वर आकाश में सूर्य को, प्रजापति जीवात्मा मस्तिष्क में उज्ज्वल विज्ञान को और प्रजापति राजा राष्ट्र में विद्याप्रकाश को स्थिर करता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से, आत्मा के पुरुषार्थ से और राजा के राजधर्मपालन से मनुष्य ब्रह्मवर्चस, यश और यज्ञानुष्ठान के फल को शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं ॥१॥

अगले दो मन्त्रों का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

६०३. **सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।**
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥२॥[2]

पदार्थ—हे **सोम** पवित्रतादायक, करुणारसागार परमात्मन्! **अभिमातिषाहः** कामादि शत्रुओं का पराजय करने वाले **ते** आपके **पयांसि** प्रेमरस और आनन्दरस **संयन्तु** हमें प्राप्त हों, **उ** और **वाजाः** बल **सम्** हमें प्राप्त हों, **वृष्ण्यानि** पुरुषार्थयुक्त कर्म **सम्** हमें प्राप्त हों। **आप्यायमानः** हृदय में बढ़ते हुए आप **अमृताय** अमरत्व-प्रदान के लिए **दिवि** हमारे आत्मा में **उत्तमानि** उत्कृष्टतम **श्रवांसि** यशों को **धिष्व** निहित कीजिए ॥२॥

यहाँ बढ़ते हुए चन्द्रमा का आकाश में उत्तम चाँदनी को फैलाने का अर्थ ध्वनित हो रहा है। उससे परमात्मा चन्द्रमा के समान है, यह उपमाध्वनि निकलती है ॥२॥

---

१. अथ० ६।६९।३, ऋषिः अथर्वा। देवता बृहस्पतिः। 'परमेष्ठी प्रजापतिः' इत्यत्र 'तन्मयि प्रजापतिः' इति पाठः।

२. ऋ० १।९१।१८, य० १२।११३।

भावार्थ—जैसे-जैसे परमात्मा में हमारा ध्यान बढ़ता है, वैसे-वैसे हमारे अन्तःकरण में परमात्मा मानो बढ़ता हुआ हमें आत्मबल, कर्मनिष्ठता और उत्तम यश प्रदान करता है ।।२।।

अगले मन्त्र में सोम परमेश्वर की महिमा वर्णित की गयी है ।

२ ३१९ २१ ३ २ ३ २३१ २ ३ २
६०४. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
१९ २१ ३२ १२ ३ १९ २१ ३ १९ २१
त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ।।३।।[1]

पदार्थ—हे **सोम** सर्वोत्पादक परमात्मन् ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् आपने **इमाः** इन दृश्यमान **विश्वाः** सब **ओषधीः** रोगनिवारक सोमलता आदि ओषधियों को, **त्वम्** सर्वोपकारी आपने **अपः** जलों को, **त्वम्** सब प्राणियों के पालनकर्ता आपने **गाः** गौओं को **अजनयः** उत्पन्न किया है । **त्वम्** सबके विस्तारक आपने **उरु** विशाल **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष को **आतनोः** विस्तीर्ण किया है । **त्वम्** सर्वप्रकाशक आप **ज्योतिषा** सूर्य की ज्योति से **तमः** रात्रि के अन्धकार को **वि ववर्थ** निवारण करते हो ।।३।।

भावार्थ—परमात्मा द्वारा ही यह चराचररूप सब जगत् उत्पन्न, पालित, पोषित और व्यवस्थित किया जाकर सबको सुख दे रहा है ।।३।।

अगले तीन मन्त्रों का अग्नि देवता है । इस मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६०५. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
१२ ३ १ २
होतारं रत्नधातमम् ।।४।।[2]

पदार्थ—मैं **पुरोहितम्** जो ध्यानावस्था में सामने स्थित रहता है ऐसे, **यज्ञस्य** देवपूजा, संगतिकरण और दानरूप यज्ञ के **देवम्** प्रकाशक, **ऋत्विजम्** ग्रीष्म, वर्षा आदि सब ऋतुओं को संगत करने वाले, अथवा प्रत्येक ऋतु में पूजा करने योग्य, **होतारम्** सुख आदि के देने वाले, **रत्नधातमम्** सद्गुणरूप तथा सोना, चाँदी, हीरे आदि रूप रत्नों के अतिशय दानी **अग्निम्** अग्नि के समान प्रकाशमान, प्रकाशक, मलिनता के दाहक, अग्रनायक परमात्मा की **ईडे** पूजा करता हूँ ।।४।।

भावार्थ—परमेश्वर की पूजा के लिए कोई एक ही ऋतु नहीं है, प्रत्युत उसकी सदा सर्वत्र सबको पूजा करनी चाहिए और उससे प्रेरणा तथा बल प्राप्त कर यज्ञ आदि में प्रवृत्त होना चाहिए ।।४।।

वेदवाणियाँ परमात्मा का ही यश गाती हैं, यह कहते हैं ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २३१९ २१
६०६. ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिः सप्त परमं नाम जानन् ।
१ २३२३क२१ ३ २ ३ १ २ ३१९ २९ ३ १ २
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ।।५।।[3]

---

१. ऋ० १।९१।२२, य० ३४।२२ 'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं' इति पाठः ।

२. ऋ० १।१।१ ।

३. ऋ० ४।१।१६, 'ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिःसप्त मातुः परमाणि विन्दन् । तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः' ।। इति पाठः ।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। शरीरधारी जीवात्मा कह रहा है—मैं **अग्निः अस्मि** आग हूँ, आग के समान प्रकाशक तथा दुर्गुणों और दुर्जनों को भस्म करने वाला हूँ, **जन्मना** आचार्य के गर्भ से द्वितीय जन्म पाने के आरम्भ से ही **जातवेदाः** वेदविद्या का विद्वान् हूँ। **मे चक्षुः** मेरी आँख में **घृतम्** स्नेह है, अर्थात् मैं सबको स्नेहयुक्त आँख से देखता हूँ। **मे आसन्** मेरे मुख में **अमृतम्** अमृत अर्थात् वाणी का माधुर्य है। मैं **त्रिधातुः** सत्त्व-रजस्-तमस्, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान, ऋग्-यजुः-साम आदि त्रिगणों से युक्त हूँ। मैं **अर्कः** परमेश्वर की अर्चना करने वाला, सदाचारी तथा विद्यावृद्धों एवं वयोवृद्धों का सत्कार करने वाला और सूर्य के समान तेजस्वी हूँ। मैं **रजसः** ग्रह-उपग्रह, सूर्य आदि लोकों को **विमानः** खगोल-गणित द्वारा मापने आदि में समर्थ, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षय ज्योति वाला, और **सर्वं हविः** श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने वाला **अस्मि** हूँ ॥१२॥

इस मन्त्र में 'अग्निः अस्मि, अर्कः अस्मि', 'मैं आग हूँ, मैं सूर्य हूँ' इस अर्थ में रूपकालंकार है। 'अजस्रं ज्योतिः' की 'अजस्र ज्योति वाले' में और 'सर्वं हविः' की 'सर्वस्व हवि देने वाले' में लक्षणा है। निरुक्तप्रोक्त त्रिविध ऋचाओं परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक में से यह ऋचा आध्यात्मिक है ॥१२॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान मनुष्य का आत्मा भी बहुत-से विशिष्ट गुणों वाला तथा महाशक्तिसम्पन्न है। अतः उसे चाहिए कि महत्त्वाकांक्षी होकर महान् कर्मों में कदम रखे ॥१२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन है।

२ ३ २ ३१र २र३१र २र ३१र २र३ १ २
६१४. पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्य्यस्य ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥१३॥[1]

पदार्थ—**विपः** मेधावी **अग्निः** अग्रनायक जगदीश्वर **वेः** पक्षी की अथवा वेगवान् पवन की **अग्रम्** अग्रगामी **पदम्** उड़ान की **पाति** रक्षा करता है। **यह्वः** वही महान् जगदीश्वर **सूर्यस्य** सूर्य के **चरणम्** संवत्सरचक्रप्रवर्तन आदि व्यापार की **पाति** रक्षा करता है। **अग्निः** वही अग्रगन्ता जगदीश्वर **नाभा** केन्द्रभूत हृदय अथवा मस्तिष्क में **सप्तशीर्षाणम्** मन, बुद्धि तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप सात शीर्षस्थ प्राणों के स्वामी जीवात्मा की **पाति** रक्षा करता है। **ऋष्वः** वही दर्शनीय जगदीश्वर **देवानाम्** विद्वानों के **उपमादम्** यज्ञ की **पाति** रक्षा करता है ॥१३॥

इस मन्त्र में 'पाति' की अनेक बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है। पुनः पुनः 'पाति' कहने से यह सूचित होता है कि इसी प्रकार अन्यों के भी कर्मों की जगदीश्वर रक्षा करता है। पूर्वार्ध में पठित भी 'अग्निः' पद को उत्तरार्ध में पुनः पठित करने से यह सूचित होता है कि उत्तरार्ध की अर्थयोजना पृथक् करनी है ॥१३॥

भावार्थ—जगदीश्वर ही सूर्य, वायु, पृथिवी, चन्द्र आदि के, जीवात्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि के और सब विद्वान् लोगों के यज्ञमय व्यापार का रक्षक होता है ॥१३॥

इस दशति में प्रजापति, सोम, अग्नि, अपांनपात् एवं इन्द्र नामों से जगदीश्वर की महिमा का वर्णन होने से, तेज और यश की प्रार्थना होने से तथा दिव्य रात्रि का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में तृतीयार्ध की तृतीय दशति समाप्त।

षष्ठ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० ३।५।५, 'पात्यग्निर्विपो' इत्यत्र 'पाति प्रियं रिपो' इति पाठः।

॥४॥ अथ 'भ्राजन्त्यग्ने' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ८-१२ वामदेवः; ३-७ नारायणः ॥
देवता—१ अग्निः; २ ऋतुः; ३-७ पुरुषः; ८ द्यावापृथिवी; ६, ११ इन्द्रः;
१० आत्मन आशीः; १२ गौः । छन्दः—१, २ पङ्क्तिः;
३-७, ६, १० अनुष्टुप्; ८, ११, १२ त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—१, २ पञ्चमः, ३-७, ६, १० गान्धारः;
८, ११, १२ धैवतः ॥

प्रथम ऋचा का अग्नि देवता है। अग्नि नाम से परमेश्वर, आचार्य और राजा को सम्बोधित किया गया है।

६१८. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि ।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः ॥१॥

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **समिधान** अतिशय प्रकाशयुक्त, **दीदिवः** सबको प्रकाशित करने वाले **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन्! आपकी कृपा से **आसनि अन्तः** हमारे मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** शोभित होती हुई **जिह्वा** जीभ **चरति** रसों का स्वाद लेती और शब्दों का उच्चारण करती है। **सः** वह **वसुवित्** ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** परमात्मन्! **नः** हमें **पयसा** जल, दूध, घी आदि रस के साथ **रयिम्** धन को, और **दृशे** कर्तव्याकर्तव्य के दर्शन के लिए **वर्चः** ज्ञान रूप तेज **दाः** प्रदान किये हुए हो ॥

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। आचार्य रूप अग्नि में स्वयं को आहुत करने के लिए गुरुकुल में आये हुए समित्पाणि शिष्य कह रहे हैं—हे **समिधान** स्वयं ज्ञान से प्रदीप्त तथा **दीदिवः** शिष्यों को ज्ञान से प्रदीप्त करने वाले **अग्ने** विद्वान् आचार्यप्रवर! आपके **आसनि अन्तः** मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** शास्त्रों का उपदेश देने के कारण यश से जगमगाती हुई **जिह्वा** जीभ **चरति** शब्दों के उच्चारण के लिए तालु, दन्त आदि स्थानों में विचरती है। **सः** वह महिमाशाली, **वसुवित्** विविध विद्याधनों को प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** आचार्यवर! **नः** हमारे **दृशे** कर्तव्य-दर्शन के लिए **पयसा** वेदज्ञान रूप दूध के साथ **रयिम्** सदाचार की सम्पदा को, और **वर्चः** ब्रह्मवर्चस को **दाः** हमें प्रदान कीजिए ॥

तृतीय राजा के पक्ष में। सिंहासन पर चढ़े हुए राजा के प्रति प्रजाजन कह रहे हैं—हे **समिधान** राजोचित प्रताप से देदीप्यमान, **दीदिवः** प्रजाओं को यश से प्रदीप्त करने वाले **अग्ने** अग्रनायक राजन्! **आसनि अन्तः** आपके धनुष पर **भ्राजन्ती** दमकती हुई **जिह्वा** डोरी **चरति** चलती है अर्थात् खिंचती, छूटती और बाणों को फेंकती है। **सः** वह **वसुवित्** प्रजाओं को निवास प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** अग्नि के समान जाज्वल्यमान राष्ट्राधिपति! **दृशे** राष्ट्र की ख्याति के लिए, प्रजा को **पयसा** दूध आदि रसों के साथ **रयिम्** धन, धान्य आदि सम्पदा और **वर्चः** ब्राह्म तेज **दाः** प्रदान कीजिए ॥

चतुर्थ यज्ञाग्नि के पक्ष में। यजमान कह रहे हैं—हे **समिधान** प्रज्वलित, **दीदिवः** याज्ञिक को तेज से प्रज्वलित करने वाले **अग्ने** यज्ञाग्नि! **आसनि अन्तः** यज्ञकुण्ड रूप मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** जगमगाती हुई **जिह्वा** तेरी ज्वाला रूप जीभ **चरति** लपलपाती है। **सः** वह **वसुवित्** हविरूप धन को प्राप्त करने वाला **त्वम्** तू हे **अग्ने** यज्ञाग्नि! **पयसा** वर्षाजल के साथ **रयिम्** सस्य-सम्पदा रूप तथा बल, बुद्धि, दीर्घायु आदि रूप धन को तथा **दृशे** देखने के लिए **वर्चः** प्रकाश को **दाः** प्रदान कर ॥

मुण्डक उपनिषद् के ऋषि ने अग्नि की जिह्वाएँ इस प्रकार वर्णित की हैं—काली, कराली, मन

धिक लाभ प्राप्त करूँ। हम सभी **वः** तुम्हारे **अन्तमाः** निकटतम होकर **सुम्नेषु** तुम्हारे दिये हुए सुखों में **मदेम** तृप्त होवें।

द्वितीय राष्ट्र-पक्ष में। **विश्वे देवाः** सब विद्वान् लोग, **उभे रोदसी** दोनों राज-परिषदें अर्थात् सभा और समिति **अपां नपात् च** और प्रजाओं का पतन न होने देने वाला राजा **मम** मेरे **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञ-विषयक **मन्म** विचार को **शृण्वन्तु** सुनें। हे उक्त देवो ! **वः** तुम्हारे लिए, मैं **परिचक्ष्याणि** निन्दायोग्य **वचांसि** वचन **मा वोचम्** न बोलूँ। हम **वः** तुम्हारे **अन्तमाः** निकटतम रहते हुए **सुम्नेषु** तुम्हारे दिये हुए सुखों में **मदेम** आनन्दित रहें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि शरीरस्थ देव आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों की और राष्ट्रस्थ देव विद्वज्जन, राजमन्त्री, न्यायाधीश, राजा आदि की सहायता से सब प्रकार के उत्कर्ष को प्राप्त करें ॥९॥

अगले मन्त्र में मन्त्रोक्त द्यावापृथिवी आदि देवता हैं। इसमें यश की प्रार्थना की गयी है।

६११. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति मुच्यताम्।
यशस्व्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ॥१०॥[1]

पदार्थ—**द्यावापृथिवी** सूर्य-भूमि, प्राण-अपान, पिता-माता, सभा-समिति **मा** मुझे **यशः** कीर्ति प्राप्त करायें। **इन्द्रबृहस्पती** विद्युत्-वायु, परमात्मा-जीवात्मा, क्षत्रिय-ब्राह्मण **मा** मुझे **यशः** कीर्ति प्राप्त करायें। **भगस्य** चाँदी-सोना-मणि-मोती आदि रूप, सत्य-अहिंसा-अस्तेय-ज्ञान-वैराग्य आदि रूप, सुराज्य-चक्रवर्ती-राज्य आदि रूप धन की **यशः** कीर्ति **विन्दतु** मुझे प्राप्त हो। **यशः** सब प्रकार की कीर्ति **मा** मुझे **प्रतिमुच्यताम्** धारण करे। **अहम्** मैं **अस्याः** इस **संसदः** संसत् का **यशस्वी** यशस्वी **प्रवदिता** वक्ता **स्याम्** होऊँ ॥१०॥

इस मन्त्र ने 'यशः' शब्द की पुनः-पुनः आवृत्ति से यश की अत्यन्त स्पृहणीयता सूचित होती है। 'यशो' की चार बार तथा 'यशो मा' की दो बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य-भूमि, शरीर में प्राण-अपान, समाज में माता-पिता और राष्ट्र में सभा-समिति अपने-अपने यश से भासित हैं और जैसे परमात्मा-जीवात्मा, बिजली-वायु और ब्राह्मण-क्षत्रिय का यश सर्वत्र फैला हुआ है, वैसे ही हम भी धन, धान्य, ज्ञान, स्वास्थ्य, दीर्घायु, चक्रवर्ती राज्य, अध्यात्म-योग आदि की सम्पदाओं से परम कीर्तिमान् और विविध सभाओं के यशस्वी वक्ता होवें ॥१०॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा आदि के पराक्रमों का वर्णन है।

६१२. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥११॥[2]

---

१. 'यशसा३स्याः' इति पाठभेदः।

२. ऋ० १।३२।१, अथ० २।५।५ ऋषिः भृगुराथर्वणः।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा, सूर्य और विद्युत् के पक्ष में। मैं **इन्द्रस्य** वीर परमात्मा, पदार्थों को अवयव रूप में विच्छिन्न करने वाले सूर्य और परमैश्वर्य की साधनभूत विद्युत् के **नु** शीघ्र **वीर्याणि** क्रमशः सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-संहाररूप, आकर्षण-प्रकाशन आदि रूप और भूयान, जलयान, अन्तरिक्षयान तथा विविध यन्त्रों के चलाने रूप वीरता के कर्मों का **प्र वोचम्** वर्णन करता हूँ, **यानि प्रथमानि** जिन उत्कृष्ट कर्मों को, वह **वज्री** शक्तिधारी **चकार** करता है। उन्हीं वीरता के कर्मों में से एक का कथन करते हैं—वह परमात्मा, वह सूर्य और वह विद्युत् **अहिम्** अन्तरिक्ष में स्थित बादल का **अहन्** संहार करता है, **अपः** बादल में स्थित जलों को **अनु ततर्द** तोड़-तोड़कर नीचे गिराता है, **पर्वतानाम्** पहाड़ों की **वक्षणाः** नदियों को **प्र अभिनत्** बर्फ तोड़-तोड़ कर प्रवाहित करता है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। मैं **इन्द्रस्य** शत्रुविदारक राजा के **नु** शीघ्र ही **वीर्याणि** शत्रुविजय, राष्ट्रनिर्माण आदि वीरतापूर्ण कर्मों को **प्र वोचम्** भली-भाँति वर्णित करता हूँ, **यानि प्रथमानि** जिन श्रेष्ठ कर्मों को **वज्री** तलवार, बन्दूक, तोप, गोले आदि शस्त्रास्त्रों से युक्त वह **चकार** करता है। वह **अहिम्** साँप के समान टेढ़ी चाल वाले, विषधर, राष्ट्र की उन्नति में बाधक शत्रु का **अहन्** संहार करता है, **अपः** जलों के समान उमड़ने वाले शत्रु-दलों को **ततर्द** छीलता है, **पर्वतानाम्** किलों की **वक्षणाः** सेनाओं को **अभिनत्** छिन्न-भिन्न करता है ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। अहन्, अनुततर्द, प्राभिनत् इन अनेक क्रियाओं में एक कारक का योग होने से दीपकालंकार भी है ॥११॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सूर्य द्वारा अथवा आकाशीय बिजली द्वारा मेघ का संहार कर रुके हुए जलों को नीचे बरसाता और नदियों को बहाता है, वैसे ही राष्ट्र का राजा विघ्नकारी शत्रुओं को मार कर, किलों में भी स्थित सेनाओं को हरा कर राष्ट्र में सब ऐश्वर्यों को प्रवाहित करे ॥११॥

अगले दो मन्त्रों का अग्नि देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा अपना परिचय दे रहे हैं।

६१३. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं परमात्मा **अग्निः अस्मि** सबका अग्रनायक और अग्नि के समान प्रकाशक होने से अग्नि नाम वाला हूँ, **जन्मना** स्वरूप से ही **जातवेदाः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, वेदों का प्रकाशक तथा सब धनों का उत्पादक हूँ। **मे** मेरी **चक्षुः** आँख अर्थात् देखने की शक्ति **घृतम्** अत्यन्त तीव्र है। **मे** मेरे **आसन्** मुख में **अमृतम्** अमृत है, मैं सदा अमृतत्व का आस्वादन करता रहता हूँ अर्थात् अमर हूँ। मैं **त्रिधातुः** जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप तीनों क्रियाओं को करने वाला हूँ, मैं **अर्कः** अर्चनीय हूँ। मैं **रजसः** सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि लोकों का **विमानः** निर्माता अथवा अधिष्ठाता, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षय तेज वाला, **हविः** सबका आह्वानयोग्य, और **सर्वम्** सर्वशक्तिमान् **अस्मि** हूँ।

यहाँ 'मैं अमर हूँ' इस व्यङ्ग्यार्थ को ही 'मेरे मुख में अमृत है' इस रूप में अभिहित करने से पर्यायोक्त अलंकार है।

---

१. ऋ० ३।२६।७, य० १८।६६, उभयत्र 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम' इति पाठः। यजुषि देवश्रवोदेववातौ ऋषी।

जैसे वेग वाली, अत्यन्त लाल, धुमैले रंग की, चिनगारियाँ छोड़ने वाली और सब रंगों वाली ज्वालाएँ ये अग्नि की सात लपलपाती जिह्वाएँ हैं (मु० २।४)। अग्नि के मुख और जिह्वाओं का वर्णन करने के कारण यज्ञाग्निपरक अर्थ में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर मनुष्यों को जल, दूध, घी, ज्ञान आदि और यज्ञाग्नि वृष्टि, जल, बल, बुद्धि, दीर्घायुष्य आदि देता है, वैसे ही आचार्य को शिष्यों के लिए वेदविद्या, सदाचार, ब्रह्मतेज आदि प्रदान करना चाहिए और राजा को राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की उन्नति द्वारा प्रजाओं को सुखी करना चाहिए ॥१॥

अगले मन्त्र का ऋतु देवता है। ऋतुओं की रमणीयता प्रतिपादित की गयी है।

६१६. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥२॥

पदार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में **वसन्तः** वसन्त ऋतु **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है, **ग्रीष्मः** ग्रीष्म ऋतु **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है। **वर्षाणि अनु** वर्षा-दिनों के अनन्तर **शरदः** शरद् ऋतु के दिवस, और **हेमन्तः** हेमन्त ऋतु भी, रमणीय हैं। **शिशिरः** शिशिर ऋतु भी **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है ॥२॥

इस मन्त्र में 'इन्नु रन्त्यः' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—जो लोग परमेश्वर-विश्वासी होते हैं वे प्रत्येक ऋतु को रमणीय और आह्लाददायक मानते हुए उससे उत्पादित आनन्द को अनुभव करते हैं। किन्तु जो लोग 'अहह, ग्रीष्मऋतु बड़ी संतापक है, वर्षा ऋतु में कीचड़ ही कीचड़ हो जाती है, हेमन्त का शीत बड़ा कष्टदायक होता है' इत्यादि प्रकार से दोष खोजते हुए सभी ऋतुओं को धिक्कारते हैं, वे निश्चय ही अभागे हैं ॥२॥

अगली पाँच ऋचाओं का पुरुष देवता है। परम पुरुष परमात्मा का वर्णन करते हैं।

६१७. सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥[1]

पदार्थ—**पुरुषः** सबका अग्रनेता, सब जगत् में परिपूर्ण और सबका पालनकर्ता परमेश्वर **सहस्रशीर्षाः** सहस्रों सिरों वाला अर्थात् अनन्तज्ञानी, **सहस्राक्षः** सहस्रों आँखों वाला अर्थात् सर्वद्रष्टा, और **सहस्रपात्** सहस्रों पैरों वाला अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। **सः** वह **भूमिम्** पृथिवी को **सर्वतः** सब ओर से **वृत्वा** घेरकर **दशाङ्गुलम्** दसों इन्द्रियों को **अति** अतिक्रान्त करके **अतिष्ठत्** स्थित है, अर्थात् दसों इन्द्रियों की पहुँच से परे है। कहा भी है—न वहाँ आँख की पहुँच है, न वाणी की, न मन की (केन उप० १।३) ॥३॥

यास्काचार्य पुरुष शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—पुरी में बैठने से या पुरी में शयन करने से पुरुष कहाता है (पुरिसद् या पुरिश = पुरुष) अथवा यह वृद्ध्यर्थक पूरी धातु से निष्पन्न हुआ है (पूरी आप्यायने)। अन्तःपुरुष परमात्मा को पुरुष इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह सारे ब्रह्माण्ड को अपनी

१. ऋ० १०।९०।१, 'सहस्रशीर्षा', इति 'सर्वतो' इत्यत्र च 'विश्वतो' इति पाठः। य० ३१।१, 'सहस्रशीर्षा' इति, 'सर्वतो वृत्वा' इत्यत्र च 'सर्वतः स्पृत्वा' इति पाठः। अथ० १९।६।१, 'सहस्रशीर्षाः', 'सर्वतो' इत्यत्र 'सहस्रबाहुः', 'विश्वतो' इति च पाठः।

सत्ता से पूर्ण किये हुए है। कहा भी है, "जिससे अधिक पर या अपर कोई वस्तु नहीं है, जिससे अधिक अणु या महान् कोई वस्तु नहीं है। वह एक पुरुष परमेश्वर वृक्ष के समान निश्चल होकर अपने तेज:स्वरूप में स्थित है, उस पुरुष से यह सकल ब्रह्माण्ड परिपूर्ण है" (निरु० २।३)।

इस मन्त्र में सहस्र सिर वाला होने आदि रूप तथा भूमि में सर्वत्र व्यापक होने रूप कारण के विद्यमान होते हुए भी इन्द्रियगोचर होने रूप कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलंकार है ।।३।।

भावार्थ—सबको उचित है कि सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वत्र भूगोल को व्याप्त करके स्थित, तथापि वाणी, आँख, कान, हाथ, पैर आदि की पहुँच से परे विद्यमान परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करके अनन्त सुख का भोग करें।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष का वर्णन है।

६१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ।।४।।[1]

पदार्थ—**त्रिपात्** तीन-चौथाई अंशवाला **पुरुषः** पूर्वोक्त परमेश्वर **ऊर्ध्वः उत् ऐत्** इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है। **इह पुनः** इस जगत् में तो **अस्य** इस पूर्ण परमेश्वर का **पादः** एक-चतुर्थांश ही **अभवत्** विद्यमान है। **तथा** उसी प्रकार से अर्थात् एक-चतुर्थांश की ही व्याप्ति से **वि-स्वङ्** विविध पदार्थों में सम्यक् प्राप्त हुआ वह **अशनानशने अभि** चेतन-अचेतन को लक्ष्य करके **व्यक्रामत्** विविध रूप से चेष्टा कर रहा है, अर्थात् मनुष्य आदि प्राणियों तथा अग्नि, सूर्य, पवन, पर्वत, नदी आदि चेतन-अचेतन के यथायोग्य प्राणन आदि व्यापार को तथा स्थिति आदि व्यापार को कर रहा है ।।४।।

भावार्थ—इस चेतन-अचेतन-रूप जगत् में जो महान् कर्तृत्व दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें परमेश्वर के सामर्थ्य का थोड़ा-सा अंश ही क्रियाशील है, परमेश्वर का वास्तविक सामर्थ्य और स्वरूप तो लोकातिक्रान्त है ।।४।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी परम पुरुष का वर्णन है।

६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।५।।[2]

पदार्थ—**पुरुषः एव** सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही **इदम्** इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष-रूप **सर्वम्** सब **यद् भूतम्** जो उत्पन्न हो चुका है, **यत् च भाव्यम्** और जो भविष्य में उत्पन्न होने वाला है, उस सबका अधिष्ठाता है। **सर्वा** सब **भूतानि** उत्पन्न सूर्य, पृथिवी आदि **अस्य** इस पुरुष परमेश्वर की महिमा के **पादः** चतुर्थांश-मात्र हैं, **अस्य** इस जगत्स्रष्टा की महिमा का **त्रिपात्** तीन-चौथाई रूप **अमृतम्** विनाशरहित है, जो **दिवि** प्रकाशमान मोक्षलोक में मुक्तात्माओं से अनुभव किया जाता है ।।५।।

---

१. ऋ० १०।९०।४, य० ३१।४ उभयत्र 'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इति पाठः। अथ० १९।६।२ 'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः। तथा व्यक्रामद् विष्वङशनानशने अनु' ।। इति पाठः।

२. ऋ० १०।९०।२ 'भाव्यम्' इत्यत्र 'भव्यम्' इति, उत्तरार्द्धे च 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' इति पाठः। य० ३१।२ उत्तरार्द्धपाठः ऋग्वेदवत्। अथ० १९।६।४ उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह' इत्युत्तरार्द्धपाठः।

भावार्थ—भूत, वर्तमान और भावी सब पदार्थों को परमात्मा ही रचता है, और उनकी व्यवस्था करता है। परमात्मा का भौतिक लोकों से अतिक्रान्त तात्त्विक स्वरूप चर्म-चक्षु से नहीं, प्रत्युत आन्तरिक चक्षु से ही देखा जा सकता है ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष की महिमा का वर्णन है।

६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥६॥[1]

पदार्थ—**तावान्** उतनी पूर्वोक्त **अस्य** इस परमेश्वर की **महिमा** महिमा है, वस्तुतः तो **पुरुषः** वह पूर्ण परमेश्वर **ततः** उससे भी **ज्यायान्** अधिक बड़ा है। **उत** और **सः** वह **अमृतत्वस्य** मोक्ष का तथा **यत्** जो **अन्नेन** अन्न के खाने से **अतिरोहति** बढ़ता है उस सांसारिक प्राणी-समुदाय का भी **ईशानः** अधिष्ठाता है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा अवर्णनीय है, जो संसार-चक्रप्रवर्तन और मोक्ष दोनों का अधिष्ठाता है ॥६॥

अगले मन्त्र में परमपुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति वर्णित है।

६२१. ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥७॥[2]

पदार्थ—**ततः** उसी निमित्तकारणभूत परम पुरुष परमेश्वर से **विराट्** विशेषरूप से देदीप्यमान पिण्ड **अजायत** उत्पन्न हुआ। **पूरुषः** वह सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर ही **विराजः अधि** उस विशेषरूप से देदीप्यमान पिण्ड का अधिष्ठाता था। **जातः सः** उत्पन्न हुआ वह विराट् पिण्ड **अत्यरिच्यत** भूमि आदि खण्डों में बँट गया। वह परमेश्वर **भूमिम्** भूमि आदि लोकों की उत्पत्ति के **पश्चात्** पश्चात् **अथ उ** और **पुरः** पूर्व भी विद्यमान था ॥७॥

भावार्थ—हमारे सौरमण्डल का जन्म कैसे हुआ यह इस मन्त्र में वर्णित किया गया है। प्रारम्भ में विशाल नीहारिका-रूप देदीप्यमान एक पिण्ड उत्पन्न हुआ। आकाश में वेग के साथ घूमते हुए उसमें से कुछ टुकड़े अलग हो गये। बचा भाग सूर्य हुआ और टूटकर अलग हुए खण्ड भूमि, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि हो गये। इसी प्रकार अन्य सौरमण्डलों की भी उत्पत्ति हुई, यह जानना चाहिए। यह सब परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में ही सम्पन्न हुआ ॥७॥

अगली ऋचा का द्यावापृथिवी देवता है। माता-पिता से प्रार्थना की गयी है।

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥८॥[3]

---

१. ऋ० १०।९०।३, य० ३१।३, उभयत्र 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पाठः।

२. ऋ० १०।९०।५, 'ततो' इत्यत्र 'तस्माद्' इति पाठः। य० ३१।५। अथ० १९।६।९, 'ततो विराडजायत' इत्यत्र 'विराडग्रे समभवत्' इति पाठः।

३. अथ० ४।२६।१, ऋषिः मृगारः। 'मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि। प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ इति पाठः।

पदार्थ—हे **द्यावापृथिवी** भूमि-आकाश के सदृश माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ ! मैं **वाम्** तुम दोनों को **सुभोजसौ** शुभ पालनकर्ता **मन्ये** जानता हूँ, **ये** जो तुम दोनों **अमितं योजनम् अभि** अपरिमित योजन पर्यन्त **अप्रथेथाम्** यश से प्रख्यात हो । हे **द्यावापृथिवी** पृथिवी और सूर्य के तुल्य माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ ! तुम हमारे लिए **स्योने** सुखदायक **भवतम्** होवो । **ते** वे तुम दोनों **नः** हमें **अंहसः** पाप से **मुञ्चतम्** छुड़ाओ ।।८।।

भावार्थ—माता-पिताओं और अध्यापिका-उपदेशिकाओं के पास से उत्तम विद्या और उत्तम उपदेश प्राप्त कर सन्तान श्रेष्ठ ज्ञानी, शुभ कर्म करने वाले और निष्पाप होवें ।।८।।

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। इन्द्र नाम से परमात्मा का वर्णन है।

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी ।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः परुषासो वनर्गवः ।।९।।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **ते** तेरी रचित **श्मश्रूणि** मूँछों के समान प्रतीत होने वाली सूर्यकिरणें **हरी** मलिनताओं को हरने वाली हैं, **उत** और **ते** तेरी रचित **हरितौ** पूर्व-पश्चिमरूप, उत्तर-दक्षिणरूप अथवा ध्रुवा-ऊर्ध्वारूप दिशाएँ **हरी** मलिनता को हरने वाली हैं। **तं त्वा** उस तेरी **वनर्गवः** वनगामी वानप्रस्थ **कवयः परुषासः** मेधावी पुरुष **स्तुवन्ति** स्तुति करते हैं ।।९।।

इस मन्त्र में 'हरी' की आवृत्ति में यमक तथा 'हरी, हरि, हरी' में वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। सूर्यकिरणों को श्मश्रु कहने में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।।९।।

भावार्थ—परमात्मा द्वारा रचित सूर्य, चन्द्र, तारे, दिशाएँ, विदिशाएँ आदि सभी पदार्थ विलक्षण और उसकी महिमा के प्रकाशक हैं ।।९।।

अगले मन्त्र में वर्चस् की आकांक्षा की गयी है।

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ।।१०।।

पदार्थ—**यत्** जो अनुपम **वर्चः** तेज **हिरण्यस्य** सुवर्ण का होता है, **उत** और **यद् वा** जो अद्भुत **वर्चः** तेज **गवाम्** गौओं का अथवा सूर्य-किरणों का होता है, और जो **सत्यस्य ब्रह्मणः** सत्य ज्ञान का **वर्चः** तेज होता है, **तेन** उस तेज से, हम **मा** अपने-आपको **संसृजामसि** संयुक्त करते हैं ।।१०।।

भावार्थ—जो सुवर्ण में रमणीयता और बहुमूल्यता का, गायों में परोपकारिता का, सूर्यकिरणों में प्राणप्रदानता का, सत्य वेदज्ञान में शुद्धता का तेज होता है, वह तेज मनुष्यों को भी प्राप्त करना चाहिए ।।१०।।

अगले मन्त्र का इन्द्र देवता है। परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन् ।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ।।११।।

पदार्थ—हे **इन्द्र** महावीर परमात्मन् अथवा राजन् ! आप **नः** हमें **तत्** वह सबके चाहने योग्य **सहः** शत्रुपराजयकारी **ओजः** आत्मिक और शारीरिक बल **दद्धि** प्रदान करो, **हि** क्योंकि, हे **विरप्शिन्** महामहिम ! **अस्य** इस **महतः** महान् बल के आप **ईशे** अधीश्वर हो। आप हमें **क्रतुं न नृम्णम्** प्रज्ञा को और बल को **स्थविरं च वाजम्** और प्रचुर ऐश्वर्य को **दद्धि** प्रदान करो। और **वृत्रेषु** दुष्ट शत्रुओं के प्रति

नः हमें **सहना** प्रहारों को सह सकने वाला **शत्रून्** वधकर्ता **कृधि** बनाओ ॥११॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥११॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से, राजा की सहायता से और अपने पुरुषार्थ से हम बलवान्, धनवान् और शत्रु-विजयी होवें ॥११॥

अगले मन्त्र का गौ देवता है। गौओं के साम्य से इन्द्रियों को कहा जा रहा है।

६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२॥

पदार्थ—हे इन्द्रिय रूप गौओ! **सहर्षभाः** जीवात्मारूप वृषभ से युक्त, **सहवत्साः** मन रूप बछड़े से युक्त, **विश्वा रूपाणि** आँख, कान, त्वचा आदि विभिन्न नामों को **बिभ्रतीः** धारण करती हुई, **द्व्यूध्नीः** ज्ञान-कर्म रूप दो ऊधसों से युक्त होती हुई तुम **उदेत** उद्यम करो। **उरुः** बहुत लम्बा, **पृथुः** बहुत चौड़ा **अयम्** यह **लोकः** लोक **वः** तुम्हारे उपयोग के लिए **अस्तु** हो। **इमाः** ये **सुप्रपाणाः** सुख से आस्वादन किये जाने योग्य **आपः** जलों के समान प्राप्तव्य रूप, रस, गन्ध आदि विषय हैं, **इह** इनमें **स्त** रहो, अर्थात् इनका यथायोग्य आस्वादन करो ॥१२॥

भावार्थ—गायों के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। जैसे गायें वृषभ और बछड़ों के साथ विचरती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ आत्मा और मन के साथ। जैसे गायें सफेद, काले आदि रूपों को धारण करती हैं, वैसे इन्द्रियाँ आँख, कान आदि रूपों को। जैसे गायें प्रातः-सायं दोनों कालों में भरे हुए ऊधस् वाली होने से 'द्व्यूध्नी' कहलाती हैं, वैसे इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म रूप ऊधस् वाली होने से 'द्व्यूध्नी' होती हैं। जैसे गायें विस्तीर्ण चरागाहों में विचरती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विस्तीर्ण विषयों में। जैसे गायें सुपेय जलों को पीती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विषयरसों को। इन इन्द्रिय रूप गायों के श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म रूप दूध का सेवन कर निरन्तर शारीरिक और आत्मिक उन्नति सबको प्राप्त करनी चाहिए ॥१२॥

इस दशति में अग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा, सब ऋतुओं की रमणीयता, परम पुरुष परमेश्वर की महिमा, माता-पिता के कर्तव्य, ब्रह्मवर्चस एवं बल की प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है॥

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त॥

षष्ठ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त॥

॥५॥ अथ 'अग्न आयूंषि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ शतं वैखानसाः; २ विभ्राट् सौर्यः; ३ कुत्सः; ४-६ सार्पराज्ञी; ७-१४ प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—१ अग्निः पवमानः; २-१४ सूर्यः॥ छन्दः—१, ४-१४ गायत्रीः; २ जगती; ३ त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१, ४-१४ षड्जः; २ निषादः; ३ धैवतः॥

प्रथम ऋचा का अग्नि पवमान देवता है। अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान् और राजा से प्रार्थना की गयी है।

६२७. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥[1]

१. ऋ० ९।६६।१९, य० १९।३८ ऋषिः वैखानसः। य० ३५।१६ ऋषयः आदित्या देवाः। साम० १४६४, १५१८।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, विद्वन् अथवा राजन् ! आप **आयूंषि** हमारे जीवनों को **पवसे** पवित्र करो । **नः** हमारे लिए **ऊर्जम्** बल एवं प्राण को **इषं च** और विज्ञान को **आसुव** चारों ओर से प्रेरित करो, लाओ । **दुच्छुनाम्** दुर्गति को **आरे** दूर **बाधस्व** धकेल दो ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की उपासना कर, विद्वान् स्त्री-पुरुषों की और राजा की संगति कर, जीवनों में पवित्रता लाकर, बल, प्राणशक्ति, विज्ञान आदि का संचय कर दुःख, दुर्गति आदि को विनष्ट करें ॥१॥

आगे इस दशति में सब ऋचाओं का सूर्य देवता है । इस ऋचा में सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन किया गया है ।

६२८. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥२॥[1]

पदार्थ—**विभ्राट्** सूर्य के समान तेजस्वी परमात्मा **बृहत्** महान्, **सोम्यम्** ज्ञान एवं कर्म रूप सोम से युक्त **मधु** मधुर भक्तिरस को **पिबतु** पान करे । और वह **यज्ञपतौ** यजमान को **अविह्रुतम्** अकुटिल **आयुः** जीवन **दधत्** प्रदान करे, **वातजूतः** प्राणायाम से प्रेरित **यः** जो परमात्मा **त्मना** स्वयम् **प्रजाः** प्रजाओं की **अभिरक्षति** रक्षा करता है तथा **पिपर्ति** उन्हें शक्ति से पूर्ण करता है, और **बहुधा** सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् आदि अनेक रूपों में **विराजति** विशेष रूप से शोभित होता है । यहाँ श्लेष से सूर्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे तेजस्वी सूर्य समुद्र आदि के जल का पान करता है, वैसे तेजस्वी परमेश्वर भक्तजनों के भक्तिरस का पान करता है । जैसे सूर्य दीर्घायुष्य प्रदान करता है, वैसे परमेश्वर अकुटिल जीवन प्रदान करता है । जैसे अपने अन्दर विद्यमान घनीभूत हवाओं से गतिमान् हुआ सूर्य मनुष्यों की रक्षा करता है, वैसे योगियों के प्राणायाम के अभ्यासों द्वारा हृदय में प्रेरित परमेश्वर उन योगीजनों की रक्षा करता है । जैसे सूर्य प्रजाओं का पालन करता है और प्रतिमास विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, वैसे परमेश्वर प्रजाजनों का पालन करता तथा उन्हें पूर्ण बनाता है और अनेक रूपों में उपासकों के हृदय में प्रकाशित होता है ॥२॥

अगले मन्त्र में सूर्योदय के समान परमात्मा के उदय का वर्णन है।

६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥[2]

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में । **देवानाम्** प्रकाशक सूर्य-किरणों की **चित्रम्** अद्भुत अथवा रंग-बिरंगी **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** उदय को प्राप्त हुई है, जो **मित्रस्य** शरीर में प्राण की तथा बाहर दिन

१. ऋ० १०।१७०।१, य० ३३।३०, उभयत्र 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति पाठः । साम० १४५३ ।

२. ऋ० १।११५।१, य० ७।४२ अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्, य० १३ । ४६ ऋषिः विरूपः । अथ० १३।२।३५ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'आप्रा' इत्यत्र 'आप्राद्' इति पाठः । अथ० २०।१०७।१४ अत्रापि 'आप्राद्' इत्येव पाठः, ऋषि-देवते सामवत् ।

की, **वरुणस्य** शरीर में अपान की तथा बाहर रात्रि की और **अग्नेः** शरीर में वाणी की तथा बाहर पार्थिव अग्नि की **चक्षुः** प्रकाशक है। **सूर्यः** सूर्य ने **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूमिलोक को तथा **अन्तरिक्षम्** मध्यवर्ती अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** प्रकाश से परिपूर्ण कर दिया है। वह सूर्य **जगतः** जंगम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का तथा **तस्थुषः** स्थावर वृक्ष, पर्वत आदि का **आत्मा** जीवनाधार है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **देवानाम्** सत्य, अहिंसा आदि दिव्यगुणों की **चित्रम्** चाहने योग्य **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** मेरे हृदय में उदित हुई है, जो **मित्रस्य** मैत्री के गुण की, **वरुणस्य** पापनिवारण के गुण की, और **अग्नेः** अध्यात्म-ज्योति की **चक्षुः** प्रकाशक है। हे परमात्मसूर्य! आपने **द्यावापृथिवी** आनन्दमयकोश तथा अन्नमयकोश को और **अन्तरिक्षम्** मध्य के प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश को **आ अप्राः** अपने तेज से भर दिया है, अथवा **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूलोक को, तथा **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** अपनी कीर्ति से भर दिया है। **सूर्यः** वह सूर्यवत् प्रकाशक आप **जगतः** जंगम के और **तस्थुषः** स्थावर के **आत्मा** अन्तर्यामी हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष और स्वभावोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे सूर्य किरणों को बखेर कर स्थावर-जंगम का उपकार करता है, वैसे ही परमेश्वर हृदय में दिव्यगुणों को विकीर्ण कर मनुष्यों का हित सिद्ध करता है ॥३॥

अगले मन्त्र में सूर्य, पृथिवीलोक, परमात्मा, जीवात्मा और स्तोता का वर्णन है।

६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः गौः** रंग-विरंगा सूर्य **आ अक्रमीत्** चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है। **पुरः** सामने स्थित हुआ **मातरम्** हमारी मातृभूमि को **असदत्** किरणों द्वारा प्राप्त होता है, **च** और **पितरम्** हमारे पितृतुल्य **स्वः** अन्तरिक्ष को भी **प्रयन्** किरणों द्वारा प्राप्त होता हुआ स्थित है॥

द्वितीय भूमण्डल के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** रंग-बिरंगा **गौः** भूमण्डल **आ अक्रमीत्** अपने चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है, और **पुरः** पश्चिम से पूर्व-पूर्व की ओर **पितरम्** अपने पिता **स्वः** सूर्य के चारों ओर भी **प्रयन्** गति करता हुआ **मातरम्** अन्तरिक्ष रूप माता की गोद में **असदत्** स्थित है। पृथिवी का भ्रमण भी सूर्य के ही महत्त्व को प्रकट करता है, अतः इस पक्ष में भी मन्त्र का देवता सूर्य होने में कोई दोष नहीं आता॥

तृतीय परमेश्वर के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** ज्योतिर्मय **गौः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमेश्वर **आ अक्रमीत्** शरीर में और ब्रह्माण्ड में चारों ओर गया हुआ है, अर्थात् अन्तर्यामी है, **मातरम्** निश्चयात्मक ज्ञान की जननी बुद्धि के **पुरः** आगे **असदत्** स्थित होता है, **च** और **पितरम्** पालनकर्ता **स्वः** सुख के भोक्ता जीवात्मा को **प्रयन्** प्राप्त होता है॥

चतुर्थ जीवात्मा के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** चित्र-विचित्र कर्मसंस्कारों से युक्त **गौः** प्रयत्नशील, विज्ञाता जीवात्मा **आ अक्रमीत्** कर्मों के अनुसार मनुष्य-शरीर को प्राप्त होता है। **पुरः** पहले **मातरम्** माता को अर्थात् माता के गर्भाशय को **असदत्** प्राप्त होता है, **च** और जन्म के अनन्तर **स्वः**

१. ऋ० १०।१८९।१ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा। य० ३।६ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता अग्निः। साम० १३७६। अथ० ६।३१।१ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः। अथ० २०।४८।४ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः।

विज्ञानप्रकाश से युक्त **पितरम्** पिता को **प्रयन्** प्राप्त होता है ।।

पंचम स्तोता के पक्ष में । **अयम्** यह **पृश्निः** आश्चर्यमय गुणों वाला **गौः** ज्ञानज्योति से सूर्यवत् भासमान स्तोता **आ अक्रमीत्** चारों ओर पुरुषार्थ करता है, **पुरः** आगे होकर **मातरम्** वेदवाणी रूप माता को **असदत्** प्राप्त करता है, **च** और **स्वः** प्रकाशमान **पितरम्** परमात्मा रूप पिता को **प्रयन्** प्राप्त करने का यत्न करता है ।। निघण्टु ३।१६ के अनुसार गौ स्तोता का वाचक होता है ।।४।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।४।।

भावार्थ—सूर्य की स्थानान्तर गति नहीं है, वह अपनी धुरी पर ही घूमता है और पृथिवी तथा अन्य ग्रहों-उपग्रहों सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदियों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है । पृथिवी की दो प्रकार की गति है, पहली उसकी अपनी धुरी पर, जिसके द्वारा अहोरात्र बनते हैं, दूसरी अपनी नियत कक्षा में सूर्य के चारों ओर, जिससे संवत्सरचक्र चलता है । परमेश्वर सर्वव्यापक होता हुआ शरीर में स्थित आत्मा, मन और बुद्धि आदियों का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथिवी आदियों का संचालन करता है । जीवात्मा शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार माता के गर्भ को प्राप्त करके जन्म ग्रहण करता है, और परमात्मा का स्तोता पुरुषार्थी होकर वेदवाणीरूप माता को तथा पिता परमात्मा को प्राप्त करता है ।।४।।

अगले मन्त्र में सूर्य और परमात्मा के तेज का वर्णन है ।

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
२र ३ १र २र
व्यख्यन्महिषो दिवम् ।।५।।[1]

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य वा परमात्मा की **रोचना** दीप्ति **प्राणात्** प्राण-व्यापार के पश्चात् **अपानती** अपान व्यापार कराती हुई **अन्तः** भूमि पर वा हृदय के अन्दर **चरति** विचरती है । यह **महिषः** महान् सूर्य वा परमात्मा **दिवम्** आकाश को वा जीवात्मा को **व्यख्यत्** प्रकाशित करता है ।।५।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ।।५।।

भावार्थ—जो यह प्राण प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप से शरीर में स्थित हुआ प्राणन, अपानन आदि व्यापार करता है, वह परमेश्वर की ही महिमा से करता है, जैसाकि उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—'परमेश्वर प्राण का भी प्राण है (केन० १।२)' । परमेश्वर से रचित सूर्य भी अपनी किरणों से प्राणियों को प्राण प्रदान करता हुआ प्राणापान आदि क्रियाओं में सहायक होता है, जैसाकि प्रश्न उपनिषद् में कहा है—'यह सूर्य प्रजाओं का प्राण होकर उदित हो रहा है (प्रश्न० १।८)' । परमेश्वर ही सूर्य के द्वारा आकाशस्थ पिण्डों को भी प्रकाशित करता है ।।५।।

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभिः ।।६।।[2]

---

१. ऋ० १०।१८९।२, देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।७ ऋषिः सार्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः । साम० १३७७ । अथ० ६।३१।२ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।५ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

२. ऋ० १०।१८९।३ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।८ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः । साम० १३७८ । अथ० ६।३१।३ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।६ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

पदार्थ—यह सूर्य वा परमात्मा **त्रिंशद् धाम** मास के तीसों दिन-रातों में **वि राजति** विशेष रूप से भासित होता है। उस **पतङ्गाय** अक्ष-परिभ्रमण करने वाले सूर्य के लिए वा कर्मण्य परमात्मा के लिए अर्थात् उनका गुण-कर्म-स्वरूप वर्णन करने के लिए **वाक्** वाणी **धीयते** प्रयुक्त की जाती है। वह सूर्य और परमात्मा **प्रतिवस्तोः** प्रतिदिन अह ही **द्युभिः** किरणों वा तेजों से, सबको प्रकाशित करता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रतिदिन द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक में प्रकाशित होता है, वैसे ही परमात्मा भी अपनी कृतियों से सर्वत्र यश से भासमान है। उस सूर्य और परमात्मा के गुण-कर्म आदि वर्णन करके लाभ सबको प्राप्त करने उचित हैं ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥[1]

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** सूर्य के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **अक्तुभिः** रात्रियों सहित **नक्षत्रा** तारावलियाँ **अप यन्ति** अदृश्य हो जाती हैं, **यथा** जैसे **त्ये** वे, दूसरों के घर में सेंध लगाने वाले **तायवः** चोर, सूर्य के आने पर कहीं छिप जाते हैं।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। जब हृदयाकाश में परमात्मारूप सूर्य उदयोन्मुख होता है तब **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** उस प्रेरक परमात्मा के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **त्ये तायवः यथा** वे उन परपीडक प्रसिद्ध चोरों की भाँति **नक्षत्रा** सक्रिय काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि **अक्तुभिः** तमोगुण की व्याप्ति रूप रात्रियों सहित **अपयन्ति** हट जाते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥७॥

भावार्थ—जैसे आकाश में सूर्य को उदयोन्मुख देखकर मानो उसकी तीव्र प्रभा से भयभीत हुए तारागण चोरों के समान छिप जाते हैं, वैसे ही तेज के निधि परमेश्वर को हृदयाकाश में उदित होता हुआ देख, उसके दुर्धर्ष प्रताप से त्रस्त हुए काम-क्रोध आदि भाग खड़े होते हैं ॥७॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

६३४. अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥[2]

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य के अथवा सूर्य के समान भासमान परमात्मा के **केतवः** प्रज्ञापक **रश्मयः** किरणों वा प्रकाश **जनान् अनु** उत्पन्न पदार्थों को वा उपासक मनुष्यों को प्राप्त होकर **भ्राजमानाः** चमकती हुई **अग्नयः यथा** अग्नियों के समान **वि अदृश्रन्** दिखायी देते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं, उत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि काव्यसम्प्रदाय में यथा शब्द उत्प्रेक्षावाचक नहीं माना गया है ॥८॥

---

१. ऋ० १।५०।२, अथ० १३।२।१७ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१४।
२. ऋ० १।५०।३, अथ० १३।२।१८ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१५।

भावार्थ—सूर्य की किरणें जब स्वच्छ सोने, चाँदी, तांबे, पीतल, काँच आदि पर पड़ती हैं तब उन पर चमकती हुई वे जलती हुई अग्नि के तुल्य प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार मनोभूमि पर पड़ते हुए परमेश्वर के तेज को भी योगी लोग प्रज्वलित अग्नि के तुल्य अनुभव करते हैं ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६३५. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
२ ३ १ २ ३ २
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥[1]

पदार्थ—हे **सूर्य** सूर्य के समान तेजस्वी सर्वप्रेरक परमात्मन् ! आप **तरणिः** भवसागर से तराने वाले, **विश्वदर्शतः** सब मुमुक्षुओं से दर्शन किये जाने योग्य और सर्वद्रष्टा, तथा **ज्योतिष्कृत्** विवेकख्याति-रूप अन्तर्ज्योति को उत्पन्न करने वाले **असि** हो। और **विश्वम्** समस्त **रोचनम्** चमकीले ब्रह्माण्ड को **आभासि** चारों ओर से प्रकाशित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **तरणिः** रोगों से तराने वाला, **विश्वदर्शतः** अपने प्रकाश से सब पदार्थों को दिखाने वाला और **ज्योतिष्कृत्** पृथिवी आदि लोकों में प्रकाश देने वाला है, और **विश्वम्** सब **रोचनम्** प्रदीप्त मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—सूर्य तथा परमात्मा के मन्त्रोक्त गुण-धर्मों को जानकर सूर्य के सेवन द्वारा रोगादि का निवारण करना चाहिए तथा परमात्मा के ध्यान द्वारा दुःखों को दूर कर मोक्ष का आनन्द प्राप्त करना चाहिए ॥९॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१३ १ २
६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।
३ २उ ३क २र३ २
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥[2]

पदार्थ—हे परमात्मारूप सूर्य ! आप **देवानाम्** विद्या के प्रकाशक आचार्यों की **विशः** प्रजाओं अर्थात् विद्या पढ़े हुए स्नातकों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए और **मानुषान्** अन्य मननशील मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए **उदेषि** उनके अन्तःकरणों में प्रकट होते हो। और **विश्वम्** सभी वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने वाले जनों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए आप **दृशे** कर्तव्याकर्तव्य को देखने के लिए **स्वः** ज्ञानरूप ज्योति प्रदान करते हो।

भौतिक सूर्य भी **देवानां विशः** पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश रूप देवों की प्रजाओं मिट्टी, पत्थर, पर्वत, नदी, वृक्ष, वनस्पति आदियों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ, और **मानुषान्** मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ उदय को प्राप्त होता है। और **विश्वम्** समस्त सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रहोपग्रहों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ **दृशे** हमारे देखने के लिए **स्वः** ज्योति प्रदान करता है ॥१०॥

---

१. ऋ० १।५०।४, य० ३३।३६, अथ० १३।२।१९ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१६। अथर्ववेदे उभयत्र 'रोचनम्' इत्यत्र 'रोचन' इति पाठः।

२. ऋ० १।५०।५, अथ० १३।२।२० ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१७। अथर्ववेदे उभयत्र 'मानुषान्' इत्यत्र 'मानुषीः' इति पाठः।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'प्रत्यङ्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है, वैसे ही जगदीश्वर समस्त चेतन-अचेतनों को प्रकाशित करता है और सबके हृदय में ज्ञान-प्रकाश को संचारित करता है ॥१०॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

६३७. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥[1]

पदार्थ—हे **पावक** हृदयों को पवित्र करने वाले **वरुण** पापनिवारक, मुमुक्षुओं से वरणीय, सर्वश्रेष्ठ सूर्यसदृश परमात्मन्! आप **भुरण्यन्तम्** शीघ्र पुरुषार्थ करने वाले जीवात्मा को तथा **जनान्** उपासक जनों को **येन** जिस अद्भुत **चक्षसा** ज्ञान से **अनु** अनुगृहीत करते हो, उस ज्ञान से **त्वम्** आप **पश्यसि** स्वयं भी सब कुछ प्राणियों के शुभाशुभ कर्म आदि को जानते हो।

भौतिक सूर्य भी **पावकः** शोधक और **वरुणः** रोगादि का निवारक होता है, तथा वह **जनान्** उत्पन्न प्राणियों को **भुरण्यन्तम्** धारण करने वाले भूमण्डल को **येन** जिस **चक्षसा** प्रकाश से **अनु** अनुगृहीत करता है, उससे वह **पश्यति** स्वयं भी प्रकाशमान है ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥११॥

भावार्थ—जैसे प्रकाशमान सूर्य अन्यों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञानवान् परमेश्वर अन्यों को ज्ञान देता है ॥११॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

६३८. उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥[2]

पदार्थ—हे **सूर्य** चराचर में अन्तर्यामी जगदीश्वर! आप **अक्तुभिः** प्रलय-रात्रियों के साथ **अहा** सृष्टिरूप दिनों को **मिमानः** रचते हुए तथा **जन्मानि** प्राणियों के पूर्वापर जन्मों को **पश्यन्** जानते हुए **पृथु** यशोमय **रजः** लोक **द्याम्** प्रकाशपूर्ण ब्रह्माण्ड को **उद् एषि** संचालित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **अक्तुभिः** रात्रियों के साथ **अहा** दिनों को **मिमानः** रचता हुआ और **जन्मानि** उत्पन्न पदार्थों को **पश्यन्** प्रकाशित करता हुआ **पृथु** विस्तीर्ण **रजः** लोक **द्याम्** द्यौ में **उदेति** उदित है ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१२॥

भावार्थ—सौर लोक में परमात्मा से संचालित सूर्य ही दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि के चक्र का प्रवर्तन करता है और सबको प्रकाशित करता है। परमात्मा भी प्रलयरात्रि के अनन्तर सृष्टिरूप ब्राह्म दिन को रचता है और मनुष्यों के जन्म-जन्म में किये हुए शुभाशुभ फल प्रदान करता है ॥१२॥

---

१. ऋ० १।५०।६, य० ३३।३२, अथ० १३।२।२१ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१८।

२. ऋ० १।५०।७ 'वि द्यामेषि राजस्पृथ्वहा' इति पाठः। अथ० १३।२।२२ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो' इति पाठः। अथ० २०।४७।१९ 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो', 'पश्यं जन्मानि' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

६३९. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्र्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥१३॥[1]

पदार्थ—प्रथम सूर्य के पक्ष में । **सूरः** सूर्य **रथस्य** सौरमण्डलरूप रथ को **नप्त्र्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शोधक किरणों को **अयुक्त** पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रहों के साथ युक्त करता है । **स्वयुक्तिभिः** स्वयं युक्त की गयी **ताभिः** उन किरणों से, वह **याति** भूमण्डल आदि के उपकार के लिए चेष्टा करता है ।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **सूरः** प्रेरक जीवात्मा **रथस्य** शरीर-रूप रथ को **नप्त्र्यः** न गिरने देने वाली **शुन्ध्युवः** ज्ञान-शोधक ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि **सप्त** इन सात को **अयुक्त** शरीर-रथ में जोड़ता है, और **स्वयुक्तिभिः** स्वयं जोड़ी हुई **ताभिः** उनके द्वारा **याति** जीवन-यात्रा को करता है ।

तृतीय परमात्मा के पक्ष में । **सूरः** सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को चलाने वाले परमात्मा ने **रथस्य** ब्रह्माण्डरूप रथ को **नप्त्र्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शुद्ध भूमियों को अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इन क्रमशः ऊपर-ऊपर विद्यमान सात लोकों को **अयुक्त** कार्य में नियुक्त किया है, **स्वयुक्तिभिः** स्वयं नियुक्त की हुई उन सात भूमियों अर्थात् लोकों से, वह **याति** ब्रह्माण्ड-संचालन के व्यापार को कर रहा है ॥१३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१३॥

भावार्थ—सूर्य सात रंग की किरणों से सौरमण्डल का, जीवात्मा मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियरूप सात तत्त्वों से शरीर का और परमेश्वर स्वरचित सात लोकों से ब्रह्माण्ड का संचालन करता है ॥१३॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

६४०. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥१४॥[2]

पदार्थ—प्रथम जीवात्मा के पक्ष में । हे **देव** दिव्यशक्तिसम्पन्न, **विचक्षण** विविध ज्ञानों से युक्त **सूर्य** शरीररथ को भलीभाँति चलाने वाले जीवात्मन् ! **शोचिष्केशम्** तेजरूप केशों वाले **त्वा** तुझे **सप्त हरितः** मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप सात घोड़े **रथे** शरीररूप रथ में **वहन्ति** वहन करते हैं ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । हे **देव** दानादिगुणयुक्त, दिव्यगुणकर्मस्वभाव, **विचक्षण** सर्वद्रष्टा, **सूर्य** शुभ मार्ग में भलीभाँति प्रेरित करने वाले परमात्मन् ! **शोचिष्केशम्** ज्ञानरश्मिरूप केशों वाले **त्वा** तुझ परम पुरुष को **सप्त हरितः** गायत्री आदि सात छन्दों से युक्त सात प्रकार की वेदवाणियाँ **रथे** उपासक के रमणीय हृदय में **वहन्ति** पहुँचाती हैं ।

---

१. ऋ० १।५०।९, अथ० १३।२।२४ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, २०।४७।२१ । सर्वत्र 'नप्त्र्यः' इत्यस्य स्थाने 'नप्त्यः' इति पाठः ।

२. ऋ० १।५०।८, अथ० १३।२।२३ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, अथ० २०।४७।२० । अथर्ववेदे उभयत्र 'विचक्षणम्' इति पाठः ।

भौतिक सूर्य भी **देवः** प्रकाशमान तथा प्रकाशक, **विचक्षणः** विविध पदार्थों का दर्शन कराने वाला और **शोचिष्केशः** किरणरूप केशों वाला है। उसे **सप्त** सात **हरितः** दिशाएँ **रथे** आकाशरूप रथ में बैठाकर **वहन्ति** यात्रा कराती हैं।

यहाँ सूर्य का शिशु होना तथा दिशाओं का माता होना ध्वनित हो रहा है। जैसे माताएँ शिशु को बच्चागाड़ी में बैठाकर सैर कराती हैं, वैसे ही दिशाएँ सूर्य को आकाश-रथ में बैठाकर घुमाती हैं।

दिशाएँ चार, पाँच, छः, सात, आठ, दस आदि विभिन्न संख्या वाली सुनी जाती हैं। 'सात दिशाएँ हैं, नाना सूर्य हैं' (ऋ० ९।११४।३) इस श्रुति के अनुसार दिशाओं की सात संख्या भी प्रमाणित होती है। चार पूर्व आदि हैं, अधः, ऊर्ध्वा मिलकर छह होती हैं और सातवीं मध्य दिशा है। इस प्रकार सात संख्या पूरी होती है ॥१४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। शोचियों में केशों का आरोप शाब्द तथा सूर्य में पुरुष का आरोप आर्थ होने से एकदेशविवर्ती रूपक भी है ॥१४॥

भावार्थ—जैसे किसी प्रतापी पुरुष को सात घोड़े रथ में वहन करें, वैसे ही किरण-रूप केशों वाले सूर्य-रूप पुरुष को दिशाएँ आकाश-रथ में तथा तेज-रूप केशों वाले जीवात्मा-रूप पुरुष को इन्द्रिय-रूप घोड़े शरीर-रथ में और ज्ञान-रूप केशों वाले परमात्मा-रूप पुरुष को वेदों के सात छन्द उपासक के हृदय-रथ में वहन करते हैं ॥१४॥

इस दशति में अग्नि नामक परमेश्वर से पवित्रता, दुःख-विनाश आदि की प्रार्थना होने से और सूर्य नाम से भौतिक सूर्य, जीवात्मा एवं परमात्मा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की पंचम दशति समाप्त।
षष्ठ अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त।
यह षष्ठ प्रपाठक और षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये आरण्यकं काण्डं पर्व वा पूर्वार्चिकश्च समाप्तिमगात् ॥

अथ महानाम्नी आर्चिकः

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक के मध्य में दस मन्त्रों का एक महानाम्नी आर्चिक है। कुछ लोग इसे पूर्वार्चिक के ही अन्तर्गत मानते हैं। उनके मत में छन्द आर्चिक और महानाम्नी आर्चिक मिलकर पूर्वार्चिक होता है।

इस महानाम्नी आर्चिक के अन्दर आयी सब ऋचाओं का इन्द्र ही देवता है। इनके महानाम्नी संज्ञा होने का कारण यह प्रतीत होता है कि ये ऋचाएँ इन्द्र के महान् नामों का वर्णन करती हैं, यथा मघवान्, शचीपति, अंशु, प्रचेतन, शक्र, वज्रिवान्, वज्री, शविष्ठ, मंहिष्ठ, वाजपति, चिकित्वान्, जेता, अपराजित, अद्रिवान्, वसु, वशी, प्रभु, वृत्रहा, शूर, सखा, सुशेव, अद्वयु ये बहुत से महत्त्वपूर्ण नाम इस आर्चिक में परिगणित हैं। इन महान् नामों से क्योंकि इन्द्र महान् बना है, इसलिए इस आर्चिक का नाम महानाम्नी पड़ गया। ब्राह्मणग्रन्थ में भी कहा है—"इन्द्र ने इन ऋचाओं के द्वारा स्वयं को महान् निर्मित किया, अतः ये महानाम्नी कहलायीं (ऐ० ब्रा० ५।२।२)"।

ब्राह्मणग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि इन ऋचाओं से इन्द्र वृत्र का वध करता है और वृत्रवध के समय महान् घोष होता है, इस कारण इनका नाम महानाम्नी पड़ा है। ताण्डच महाब्राह्मण में लिखा है कि "क्योंकि (वृत्रवध के समय) महान् घोष हुआ, अतः ये महानाम्नी कहलायीं (तां० १३।४।१)।" कहीं-कहीं इन्हें महानाम्नी इस हेतु से कहा है कि इन्द्र द्वारा महान् वृत्र के वध किये जाने के कारण ये महानाम्नी हैं, जैसे कि जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है कि "उन सब छन्दों को मिलाकर उनसे इन्द्र ने वृत्र का संहार किया। क्योंकि महान् वृत्र का संहार किया, इससे ये महानाम्नी हुईं (जै० ब्रा० ३।१११)। अन्यत्र महामानी होने के कारण इन्हें महानाम्नी कहा गया है, जैसाकि जैमिनीय ब्राह्मण में ही लिखा है कि "क्योंकि प्रजापति ने यह कहा कि इनका परिमाण तो बहुत बड़ा हो गया, इससे ये महानाम्नी कहलायीं। असल में इनका नाम महामानी था, परोक्षवृत्ति का आश्रय लेकर महामानियों को हो महानाम्नी कह दिया गया (जै० ३।१०४)।

इस महानाम्नी आर्चिक में दस ऋचाएँ हैं। प्रथम ऋचा में ९+७+७+७=३० इस प्रकार चार पाद हैं, अतः इसमें विराट् अनुष्टुप् छन्द है। द्वितीय ऋचा में ७+३+८+७=२५ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा भुरिग् गायत्री है। तृतीय ऋचा में ५+८+८+८+७=३६ इस प्रकार पांच पाद हैं, अतः पञ्चपदा बृहती है। चतुर्थ ऋचा में ७+११+८+७=३३ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः भुरिग् अनुष्टुप् है। पाँचवीं ऋचा में ७+५+८+७=२७ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा निचृद् उष्णिक् है। छटी ऋचा में ५+८+८+८+८=३७ इस क्रम से पाँच पाद हैं, अतः पञ्चपदा भुरिग् बृहती है। सातवीं ऋचा में १२+८+८+८=३६ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः पुरस्ताद् बृहती है। आठवीं ऋचा में ८+४+८+८+५+८=४१ इस क्रम से छह पाद हैं, अतः भुरिक् पंक्ति है। नौवीं ऋचा में ८+८+८+८=३२ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः अनुष्टुप् है। दसवीं ऋचा में

४+४+५+५=१८ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा आर्ची गायत्री है।

इन महानाम्नियों को शक्वरी भी कहते हैं। इसकी दस ऋचाओं में तीन त्रिक हैं और अन्त में एक ऋचा पुरीषपदों वाली है। परम्परानुसार प्रत्येक त्रिक में उपसर्गों को हटा देने पर एक-एक शक्वरी हो जाती है। इस प्रकार दस ऋचाओं में तीन शक्वरी हैं और शक्वरी छन्द में ५६ अक्षर होते हैं। उपसर्ग पदों को हटा देने पर तीन शक्वरियाँ इस प्रकार बनती हैं—

प्रथम त्रिक में स्थित शक्वरी

शिक्षा शचीनाम्पते (१) पूर्वीणां पुरूवसो (२) आभिष्ट्वमभिष्टिभिः (३) इन्द्र द्युम्नाय न इषे (४) राये वाजाय वज्रिवः (५) शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (६) मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (७)॥

इसमें ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षरों की शक्वरी हो जाती है। यद्यपि प्रथम तीन पादों में प्रत्यक्षतः ७-७ अक्षर ही हैं, तो भी व्यूह से उन्हें ८-८ अक्षर का बना लिया जाता है।

प्रथम त्रिक के उपसर्ग

विदा मघवन् विदा गातुम्, अनुशंसिषो दिशः (१)। स्व ३ र्णाशुः (२)। प्रचेतन प्रचेतये (३)। एवा हि शक्रः (४)। आ याहि पिब मत्स्व (५)॥

द्वितीय त्रिक में स्थित शक्वरी

मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (१) यः शविष्ठः शूराणाम् (२) यो मंहिष्ठो मघोनाम् (३) इन्द्रो विदे तमु स्तुहि (४) तमूतये हवामहे (५) जेतारमपराजितम् (६) स नः स्वर्षदति द्विषः (७)॥

इसमें भी ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षरों की शक्वरी हो जाती है। यद्यपि द्वितीय और तृतीय पादों में प्रत्यक्षतः ७-७ अक्षर हैं, तो भी पूर्ववत् व्यूह से उन्हें ८-८ अक्षर का कर लिया जाता है।

द्वितीय त्रिक के उपसर्ग

विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु (१)। अंशुर्न शोचिः (२)। चिकित्वो अभि नो नय (३)। ईशे हि शक्रः (४)। ऋतुश्छन्द ऋतं बृहत् (५)॥

तृतीय त्रिक में स्थित शक्वरी

स नः स्वर्षदति द्विषः (१) स नः स्वर्षदति द्विषः (२) पूर्वस्य यत्ते अद्रिवः (३) पूर्तिः शविष्ठ शस्यते (४) नूनं तन्नव्यं संन्यसे (५) प्रभो जनस्य वृत्रहन् (६) समर्येषु ब्रवावहै (७)॥

इसमें भी ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षर की शक्वरी बनती है।

तृतीय त्रिक के उपसर्ग

इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे, जेतारमपराजितम् (१)। अंशुर्मदाय (२)। सुम्न आ धेहि नो वसो (३)। वशी हि शक्रः (४)। शूरो यो गोषु गच्छति (५)। सखा सुशेवो अद्वयुः (६)॥

इस प्रकार प्रथम त्रिक में सात शाक्वर पाद और पाँच उपसर्ग हैं। द्वितीय त्रिक में उसी प्रकार सात शाक्वर पाद और पाँच उपसर्ग हैं। तृतीय त्रिक में सात शाक्वर पाद और छह उपसर्ग हैं। इन्हें उपसर्ग इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये पूर्ति के लिए अन्य छन्दों के साथ जोड़े जाते हैं, उपसर्ग में उपपूर्वक सृज धातु है, जो जोड़ने अर्थ में होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के षोडशी प्रकरण में कहा भी है कि "महानाम्नियों के उपसर्गों को छन्दों के साथ जोड़े (ऐ० ब्रा० ४।१।४)।"

प्रत्येक त्रिक में शक्वरी बनाने के लिए उपसर्ग-पदों को पृथक् करने का क्रम सुगमता के लिए निदानकल्प में पूर्व आचार्यों ने दो श्लोकों से प्रदर्शित किया था, जिसे सायणाचार्य ने अपने सामसंहिता के भाष्य में उद्धृत किया है। श्लोक ऊपर संस्कृत-भाग में दर्शाये जा चुके हैं। उनका भाव यह है कि प्रथम और द्वितीय त्रिक में आदि में पठित द्विपदा एक उपसर्ग है, तत्पश्चात् तीन पाद शाक्वर हैं, तदनन्तर एक उपसर्ग और पुनः तीन पाद शाक्वर हैं, फिर अन्तिम उपसर्ग-पद हैं। तीसरे त्रिक में भी ऐसा ही क्रम है, केवल इतना अन्तर है कि अन्त के दो पाद उपसर्ग हैं।

महानाम्नियों में नौ ऋचाओं अथवा तीन शक्वरियों के अनन्तर पञ्च पुरीष-पदों वाली दसवीं ऋचा है। इन्हें पुरीष-पद इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनमें यह वर्णित है कि इन्द्र ही वेद में अग्नि, पूषन् आदि नामों से भी स्मरण किया गया है, इस प्रकार ये इन्द्र की पूर्णता के प्रतिपादक हैं।

महानाम्नियों या शक्वरियों के विषय में ताण्ड्यमहाब्राह्मण में यह गाथा उपलब्ध होती है—

"इन्द्र प्रजापति के पास दौड़कर पहुँचा और कहा कि ऐसा उपाय कीजिए जिससे मैं वृत्र का वध कर सकूँ। प्रजापति ने छन्दों से इन्द्र के लिए एक सबल वस्तु निर्मित करके दी और कहा कि इससे तू वृत्र का वध करने में शक्त हो। वह वस्तु 'शक्वरी' थी; क्योंकि उससे इन्द्र वृत्र के वध में शक्त हुआ, इसी कारण उसका नाम 'शक्वरी' पड़ा। उससे इन्द्र ने वृत्र की सीमा (शिरःसन्धि) का विदारण किया, अतः उस शक्वरी को 'सिमा' भी कहा गया। क्योंकि इन्द्र ने वृत्र का वध करते समय श्रमजन्य, मुख और नासिका से उत्पन्न 'मह्न्य' शब्द किया, इस कारण 'शक्वरी' का नाम 'मह्न्या' भी पड़ गया। क्योंकि वृत्र-वध के समय महान् विजय-घोष (नाम) उठा, इस कारण उन शक्वरियों को ही 'महानाम्नी' भी कहा गया (तां० ब्रा० १३।४।१)।"

इस काल्पनिक कथा का इतना ही तात्पर्य समझना चाहिए कि इन शक्वरियों में अधिरूढ शाक्वर साम के गान से और इनमें वर्णित इन्द्र परमात्मा के महान् नामों के अर्थ-चिन्तन से पाप-रूप वृत्र समूल नष्ट किये जा सकते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में ही अन्यत्र कहा भी है—"इन शक्वरियों या महानाम्नियों के द्वारा इन्द्र ने वृत्र का जैसे संहार किया, वैसे ही इनके द्वारा मनुष्य शीघ्र ही पाप का संहार कर सकता है और शीघ्र ही निवासयुक्त हो जाता है (तां० ब्रा० १२।१३।२३)।"

महानाम्नीनां सर्वासाम्—ऋषिः प्रजापतिर्वा विष्णुर्वा विश्वामित्रो वा, देवता इन्द्रः, यथोक्तम् आर्षेयब्राह्मणे—"ऐन्द्र्यो महानाम्न्यः, प्रजापतेर्वा विष्णोर्वा विश्वामित्रस्य वा, सिमा वा मह्न्या वा शक्वर्यो वा" (३।२६) इति।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा से मार्गनिर्देशन की प्रार्थना की गयी है।

६४१. विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो ॥१॥

पदार्थ—हे **मघवन्** ज्ञानरूप ऐश्वर्य के धनी परमात्मन् ! आप **विदाः** हमें जानिए, **गातुम्** हमारे आचरण को **विदाः** जानिए, **दिशः** गन्तव्य दिशाओं का **अनुशंसिषः** उपदेश कीजिए। हे **शचीनां पते** ज्ञानों और कर्मों के अधिपति ! आप हमें भी **शिक्ष** ज्ञान और कर्म प्रदान कीजिए। हे **पुरुवसो** प्रचुर धन वाले ! आप **पूर्वीणाम्** श्रेष्ठ दानों के स्वामी हैं, हमें भी उन दानों का पात्र बनाइए ॥१॥

इस मन्त्र में अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपक अलंकार है। 'विदा' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है। 'पूर्वी, पुरुव' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा से सब मनुष्यों को कर्तव्यज्ञान और कर्मसम्पत्ति प्राप्त करके, पुरुषार्थ से धन कमा कर सदाचारपूर्वक समृद्ध जीवन बिताना चाहिए ॥१॥

परमात्मा की स्तुति से हम क्या-क्या प्राप्त करें यह कहते हैं।

६४२. आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वा३ऽर्नांशुः ।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥२॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! आप **आभिः** इन हमसे माँगी गयी **अभिष्टिभिः** अभीष्टसिद्धियों से, हमें कृतार्थ कीजिए। आप **स्वः न** सूर्य के समान **अंशुः** अंशुमाली हैं। हे **प्रचेतन** प्रकृष्ट चेतना वाले जागरूक परमेश्वर ! आप हमें **प्रचेतय** प्रकृष्ट चेतना वाला जागरूक बनाइए। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् ! आप **नः** हमें **द्युम्नाय** धन, यश और तेज के लिए, तथा **इषे** अन्न, रस और विज्ञान के लिए, पुरुषार्थी कीजिए ॥२॥

इस मन्त्र में 'प्रचेत' की आवृत्ति में यमक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा की संगति से हम अध्यात्म-ज्योति से प्रकाशमान, जागरूक, धनवान्, अन्नवान्, तेजस्वी, यशस्वी और विज्ञानवान् होवें ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

६४३. एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः ।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस आ याहि पि मत्स्व ॥३॥

पदार्थ—हे परमैश्वर्यशालिन् इन्द्र परमात्मन् ! आप **एव हि** सचमुच ही **शक्रः** शक्तिशाली हैं। हे **वज्रिवः** वज्रधर के समान शत्रुविदारक ! हमें **राये** अध्यात्म-सम्पदा और **वाजाय** शारीरिक एवं आत्मिक बल का पात्र बनाओ। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ ! हे **वज्रिन्** पापों पर वज्र-प्रहार करने वाले ! आप **ऋञ्जसे** हमें सद्गुणों के अलंकारों से अलंकृत कीजिए। हे **मंहिष्ठ** अतिशय दानशील ! हे **वज्रिन्** ओजस्वी ! आप, हमें **ऋञ्जसे** परिपक्व करके ओजस्वी बना दीजिए। हे भगवन् ! **आ याहि** आइए, **पिब** हमारे श्रद्धारस का पान कीजिए, **मत्स्व** हमें कर्तव्यपरायण देखकर प्रसन्न होइए ॥३॥

इस मन्त्र में 'ष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे' की आवृत्ति में यमकालंकार है। 'वज्रि' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'आयाहि, पिब, मत्स्व' इन अनेक क्रियाओं का एक कारक के साथ योग होने के कारण दीपक है ॥३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब कर्मों में समर्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी, सबसे बड़ा दानी, पापादि का विनाशक और गुणों से अलंकृत करने वाला है, उसमें सबको श्रद्धा करनी चाहिए ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

६४४. विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु ।
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥

पदार्थ—हे जगदीश्वर ! आप **राये** विद्या, आरोग्य, धन, स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य के लिए तथा मोक्ष-रूप ऐश्वर्य के लिए हमें **सुवीर्यम्** उत्कृष्ट शारीरिक तथा आत्मिक बल **विदाः** प्राप्त कराइए । आप **वाजानाम्** बलों के **पतिः** अधीश्वर **भवः** हैं । **वशान्** आपकी कामना करने वाले, आपकी प्रीति के अधीन हमें **अनु** अनुगृहीत कीजिए । हे **मंहिष्ठ** सबसे बड़े दानी, हे **वज्रिन्** ओजस्वी परमेश्वर ! आप **ऋञ्जसे** हमें ओज आदि गुणों से अलंकृत कीजिए, **यः** जो आप **शूराणाम्** शूरवीरों में **शविष्ठः** सबसे अधिक बली हैं ॥४॥

भावार्थ—जो शरीर और आत्मा से बलवान् है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करता है । अतः बलिष्ठ परमेश्वर के समान हम भी बलवान् बनें ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करके उसकी स्तुति के लिए मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है ।

६४५. यो मंहिष्ठो मघोनाम् अंशुर्न शोचिः ।
चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि ॥५॥

पदार्थ—**यः** जो आप **मघोनाम्** धनियों में **मंहिष्ठः** सबसे अधिक दानी हैं, और **अंशुः न** सूर्यकिरण के समान **शोचिः** तेजस्वी हैं, वह, हे **चिकित्वन्** ज्ञानी, जागरूक परमात्मन् ! आप **नः अभि** हमारी ओर भी **नय** इन दान, तेज, ज्ञान, जागरूकता आदि को लाइए । हे मनुष्य ! **इन्द्रः** परमेश्वर **विदे** उपकार करना जानता है, **तम् उ** उसी को **स्तुहि** स्तुति से सम्मानित कर ॥५॥

इस मन्त्र में 'अंशुः न शोचिः' में उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर परम दानी, परम तेजस्वी, परम विद्वान्, परम जागरूक और परम परोपकारी है, उसकी उपासना करके सबको दानी, तेजस्वी, विद्वान्, जागरूक और परोपकारी बनना चाहिए ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का आह्वान किया गया है ।

६४६. ईशे हि शक्रस् तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥६॥

पदार्थ—**शक्रः** शक्तिशाली इन्द्र परमेश्वर **हि** निश्चय ही **ईशे** सकल जगत् का अधीश्वर है । **तम्** उसे, हम **ऊतये** रक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं । कैसे परमेश्वर को ? **जेतारम्** जो सब वस्तुओं को जीत लेने वाला है, तथा **अपराजितम्** जो स्वयं किसी से पराजित नहीं होता । **सः** वह परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** आन्तरिक तथा बाह्य शत्रु से **अति स्वर्षत्** पार करे । **क्रतुः** ज्ञान, कर्म, शिव संकल्प और यज्ञ, **छन्दः** गायत्री आदि छन्द, **ऋतम्** सत्य, और **बृहत्** बृहत् नामक साम, हमारे उपकारक हों ।

'त्वामिद्धि हवामहे (साम २३४) इस ऋचा पर गाया जाने वाला साम बृहत् साम कहलाता है ॥६॥

भावार्थ—विजेता, अपराजित परमात्मा का आश्रय लेकर उसके उपासक भी विजयी तथा अपराजित हो जाते हैं ।।६।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का आह्वान किया गया है ।

६४७. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ।।७।।

पदार्थ—**इन्द्रम्** शूरवीर परमैश्वर्यशाली परमेश्वर को हम योगाभ्यासी **जन धनस्य** विवेकख्याति-रूप ऐश्वर्य की **सातये** प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारते हैं । कैसे परमेश्वर को ? **जेतारम्** जो शत्रुओं और विघ्नों का विजेता, तथा **अपराजितम्** करोड़ों भी शत्रुओं एवं विघ्नों से न हारने वाला है । **सः** वह विजेता परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों से **अति स्वर्षत्** पार कर दे, **सः** वह अपराजित परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व इन चित्तविक्षेपरूप योगमार्ग के विघ्नों से **अति स्वर्षत्** पार कर दे ।।७।।

भावार्थ—परमेश्वर की ही कृपा से योगाभ्यासी जन योग के विघ्नों को जीतकर विवेकख्याति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने योग्य होते हैं ।।७।।

संन्यासाश्रम में प्रवेश का अभिलाषी कह रहा है ।

६४८. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोऽशुर्मदाय ।
सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते ।
वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ।।८।।

पदार्थ—हे **अद्रिवः** मेघों के स्वामिन् अथवा धर्ममेघ समाधि में सहायक परमेश्वर ! **यत्** क्योंकि **पूर्वस्य** श्रेष्ठ **ते** आपकी **अंशुः** तेज की किरण **मदाय** आनन्द के लिए होती है, इस कारण, हे **वसो** निवासक ! **नः** हमें **सुम्ने** मोक्ष के आनन्द में **आ धेहि** स्थित करो । हे **शविष्ठ** बलिष्ठ परमात्मन् ! **पूर्तिः** आपसे उत्पन्न की हुई पूर्णता **शस्यते** सबसे प्रशंसा की जाती है । **शक्रः** सर्वशक्तिमान् आप **नूनम्** आज **वशी हि** मेरे वश-कर्ता हो गये हो, **तत्** इसलिए, आपके वशवर्ती हुआ मैं **नव्यम्** नवीन प्रतीत होने वाली पुत्रैषणा, वित्तै-षणा, लोकैषणा रूप लौकिक चमक-दमक का **संन्यसे** परित्याग करता हूँ, परित्याग करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करता हूँ और उस आश्रम में रहता हुआ **नव्यम्** स्तुति करने योग्य इन्द्र परमेश्वर को **संन्यसे** भली-भाँति हृदय में धारण करता हूँ, श्लेष से यह दूसरा अर्थ भी जानना चाहिए ।।८।।

भावार्थ—भोग-विलास देखने में ही रमणीय प्रतीत होते हैं । वे लोग धन्य हैं जो उनका परि-त्याग करके, संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर, निष्काम लोकसेवा के व्रत को स्वीकार कर ब्रह्म में लीन रहते हैं ।।८।।

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा से संवाद कर रहा है ।

६४९. प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै ।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ।।९।।

पदार्थ—हे **प्रभो** जगदीश्वर ! हे **जनस्य** मुझ उपासक के **वृत्रहन्** पापहर्ता ! आओ, मैं और तुम **अर्येषु** प्राप्तव्य आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के विषय में **सं ब्रवावहै** संवाद करें कि कौन-कौन-से ऐश्वर्य मुझे प्राप्त करने तथा तुम्हें देने हैं, **शूरः** विघ्नों के वध में शूर **यः** जो तुम **गोषु** स्तोताओं के हृदयों में **गच्छति** पहुँचते हो और जो तुम **सखा** स्तोताओं के सखा, **सुशेवः** उत्कृष्ट सुख के दाता तथा **अद्वयुः** सामने कुछ और पीछे कुछ इस प्रकार के दोहरे आचरण से रहित अर्थात् सदा हितकर ही, होते हो ।।९।।

भावार्थ—उपासकों का हार्दिक प्रेम देखकर उनके साथ मानो संवाद करता हुआ परमेश्वर उनका सखा, विघ्नों को हरने वाला तथा मोक्ष के आनन्द को देने वाला हो जाता है ।।९।।

अगले मन्त्र में पुरीष-पदों से परमात्मा का स्वरूप वर्णित किया गया है। मन्त्रोक्त पाँच खण्ड पाँच पुरीष-पद कहलाते हैं इनका देवता इन्द्र ही है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'पुरीष इन्द्र देवता वाले हैं। श० ८।७।३।७' ये पद इन्द्र के पूर्णता-द्योतक होने से पुरीष संज्ञा वाले हैं। निरुक्त (२।२२) में 'पुरीष' की निष्पत्ति पूरणार्थक पॄ अथवा पूर धातु से की गयी है।

६५०. एवाह्येऽ३ऽ३ऽ३व । एवां ह्यग्ने । एवाहीन्द्र ।
एवा हि पूष । एवा हि देवाः ।।१०।।

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर ! **एव हि एव** सचमुच आप ऐसे ही पूर्वोक्त गुणों वाले हो ।। हे **अग्ने** अग्रनायक इन्द्र परमात्मन् ! **एव हि** सचमुच आप ऐसे ही हो ।। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन्, शत्रुविदारक, विद्या-विवेक आदि के प्रकाशक जगदीश्वर ! **एव हि** सचमुच आप पूर्वोक्त गुणों से विशिष्ट हो ।। हे **पूषन्** पुष्टि-प्रदाता जगत्पते ! **एव हि** सचमुच आप पूर्वोक्त गुणों से युक्त हो ।। हे **देवाः** इन्द्र परमेश्वर की अधीनता में रहने वाले दिव्यगुणविशिष्ट विद्वानो ! **एव हि** सचमुच तुम इन्द्र परमेश्वर की प्रजा हो ।।

अन्तिम 'पुरीष पद' भी इन्द्र-विषयक ही है, जैसा कि शतपथकार कहते हैं—'क्योंकि इन्द्र में ही सब देवता स्थित हैं, अतः इन्द्र को सर्वदेवतात्मक कहा गया है (श० १।६।३।२२) ।।१०।।

भावार्थ—इन्द्र परमात्मा में सचमुच मघवत्व, शचीपतित्व, प्रचेतनत्व, शक्रत्व, मंहिष्ठत्व, शविष्ठत्व, वज्रित्व, जेतृत्व आदि वेदोक्त गुण विद्यमान हैं, जिनका सबको अनुकरण करना चाहिए ।।१०।।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथ वेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये
महानाम्न्यार्चिकः समाप्तिमगात् ।

वेदवेदखनेत्रेऽब्दे पौषे मासि सिते दले ।
द्वादश्यां गुरुवारे च व्याख्येयं पूर्तिमागता ।

●●

ऋष्यनुक्रमणिका

[सामने दी हुई संख्याएँ मन्त्रक्रमाङ्क हैं।]

अंहोमुग् (वामदेव्यः)—४२६।
अग्निः (चाक्षुषः)—५६६, ५७२, ५७६।
अग्निः (तापसः)—९१।
अग्नयः (धिष्ण्याः ऐश्वरयः)—४२७, ४२९-४३१, ४३६।
अत्रिः (भौमः)—३४५, ३६६, ५६४।
अनानतः (पारुच्छेपिः)—४६३।
अन्धीगुः (श्यावाश्विः)—५४५।
अमहीयुः (आङ्गिरसः)—४६७, ४७०, ४७९, ४८४, ४८७, ४९४, ४९५, ५१०, ५९२, ५९३।
अयास्यः (आङ्गिरसः)—५०९।
अरिष्टनेमिः (तार्क्ष्यः)—३३२।
अवत्सारः (काश्यपः)—५००।
[1]अवस्युः (आत्रेयः)—४१८, ४३९, ४४०।
[2]असितः (काश्यपः)—४७५, ४७६, ४८५, ४८६, ५०२, ५०६।
आत्मा—५९४।
आयुङ्क्ष्वाहिः—११।
इन्द्रप्रमतिः (वासिष्ठः)—५३५।
इन्द्रमातरः (देवजामयः)—१२०, १७५।
इरिम्बिठिः (काण्वः)—१०२, १४४, १५९, १९१, २७५, ३९५, ३९७।
उचथ्यः (आङ्गिरसः)—४९६, ४९९।
उत्कीलः (कात्यः)—६०।
उपस्तुतः (वार्ष्टिहव्यः)—६४।
उरुः (आङ्गिरसः)—५८४।
उलः (वातायनः)—१८४।
उशनाः (काव्यः)—५२३, ५३१।
ऊर्ध्वसद्मा (आङ्गिरसः)—५७९।
ऋजिश्वा (भारद्वाजः)—१०५, ५८०, ५८५।

१. ४३९, ४४० त्रसदस्युः इति केचित्।
२. असितः काश्यपः देवलो वा इति केचित्।

ऋजिष्वाम्बरीषौ—(ऋजिष्वा भारद्वाजः, अम्बरीषो वार्षागिरः)—५४६, ५५२।
ऋणञ्चयः (राजर्षिः)—५८२।
[1]ऋषिगणः—५५७, ५५९।
एवयामरुत् (आत्रेयः)—४६२।
कण्वः (घौरः)—५४, ५६, ५७, ५९, १३५, १८५, ५३९।
कलिः (प्रागाथः)—२३७, २७२।
कविः (भार्गवः)—५०७, ५५४-५५६, ५५८।
कश्यपः (मारीचः)—४७२, ४८१, ४८२, ५०४, ५०५, ५४३।
काण्वः (नीपातिथिः)—३४८।
कुत्सः (आङ्गिरसः)—६६, ३८०, ५४१, ६२९।
कुसीदी (काण्वः)—१३८, १६२, १६७।
कृतयशाः (आङ्गिरसः)—५८१।
कृष्णः (आङ्गिरसः)—३७५।
गयः (आत्रेयः)—८१।
गातुः (आत्रेयः)—३१५।
[2]गृत्समदः (शौनकः)—२००, ४५७, ४६६, ५९०, ६००, ६०७।
गोतमः (राहूगणः)—९९, १४७, १७९, २१८, २४७, ३४१, ३४४, ३४७, ३८९, ४०९-४१६, ४२३, ४२४, ६०३, ६०४।
गोधा—१७६।
गोपवनः (आत्रेयः) २९, ८७, ८९।
गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ (काण्वायनौ)—१२१, १२२, २११, ३८२, ३८३।
गौरिवीतिः (शाक्त्यः)—३१९, ३३१, ५७८।
[3]घोरः (आङ्गिरसः)—४५८।
चक्षुः (मानवः)—५६७।
जमदग्निः (भार्गवः)—२५५, २७६, ४७३, ४८९, ५०८।
जेता (माधुच्छन्दसः)—३४३, ३५९।
[4]तिरश्चीः (आङ्गिरसः)—३४६, ३४९, ३५०।
तृणपाणिः—४१।
त्रितः (आप्त्यः)—१०१, ३६८, ४१७, ४७१, ४७८, ५७०।
त्रिशिराः (त्वाष्ट्रः)—७१।
त्रिशोकः (काण्वः)—१३१, १३३, १३४, १३६, १६१, २०४, २०७।
त्र्यरुण-त्रसदस्यू (त्रैवृष्ण-पौरुकुत्सौ)—४२८, ४३२।
दध्यङ् (आथर्वणः)—१७७।

१. सिकता निवावरी इति केचित्।
२. गृत्समदः आङ्गिरसः शौनहोत्रः इत्यन्ये।
३. गौराङ्गिरसः, गोर आङ्गिरसो वा इत्यन्ये।
४. ३५० विश्वामित्रो गाथिनः इति केचित्।

दुर्मित्रः सुमित्रो वा (कौत्सः)—२२८ ।
दृढच्युतः (आगस्त्यः)—४७४ ।
देवातिथिः (काण्वः)—२७७, २७९, ३०८ ।
द्युतानः (मारुतः)—३२३, ३२४, ३२६ ।
द्वितः (आप्त्यः)—५७३, ५७७ ।
नकुलः—४६४ ।
नहुषः (मानवः)—५४६ ।
नारदः (काण्वः)—३८१ ।
नारायणः—६१७-६२१ ।
निध्रुविः (काश्यपः)—४८३, ४९२, ४९३, ५०१ ।
नृमेधः (आङ्गिरसः)—२६७, २८३, ३११, ३८८, ३९३, ४०५, ४०६ ।
नृमेधपुरुमेधौ (आङ्गिरसौ)—२४८, २५७, २५८, २६९, ६०१ ।
नोधाः (गौतमः)—२३६, २९६, ३१२, ५३८ ।
पराशरः (शाक्त्यः)—५२५, ५२९, ५३४, ५४२ ।
परुच्छेपः (दैवोदासिः)—२८७, ४५९, ४६१, ४६५ ।
पर्वतः (काण्वः)—३८४, ३९४ ।
पर्वतनारदौ (काण्वौ)—५६८, ५६९, ५७४, ५७५ ।
पवित्रः (आङ्गिरसः)—५६५, ५९६ ।
पायुः (भारद्वाजः)—८०, ९५ ।
पुरुहन्मा (आङ्गिरसः)—२४३, २६८, २७३, २७८ ।
पूरुः (आत्रेयः)—८८ ।
पृथुः (वैन्यः)—३१६ ।
[1]पौरः (आत्रेयः)—३०५ ।
प्रगाथः (काण्वः)—१४२, २४२, ३५५, ३९१ ।
प्रजापतिः (वैश्वामित्रः) वाच्यो वा—५५३ ।
प्रतर्दनः (दैवोदासिः)—५२७, ५३२, ५३३ ।
प्रथः (वासिष्ठः)—५९९ ।
प्रभूवसुः (आङ्गिरसः)—४९० ।
प्रयोगः (भार्गवः)—१३, १८, १९, २१, १०७ ।
प्रयोगः (भार्गवः), सौभरिः (काण्वो) वा—११० ।
प्रस्कण्वः (काण्वः)—३१, ४०, ५०, ९६, १७८, २२१, ३०६, ३६७, ५३०, ५४४, ६३३-६४० ।
प्रियमेधः (आङ्गिरसः)—१६८, ३५४, ३६०, ३६२, ३६४ ।
[2]बन्धुः (गौपायनः लौपायनो वा)—४४८ ।
[3]बालखिल्याः—२३५, २८२, ३०० ।

१. अश्विनौ वैवस्वतौ इति केचित् ।
२. बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा इति केचित् ।
३. २८२ मेध्यः काण्वः, ३०० श्रुष्टिगुः काण्वः इति केचित् ।

बिन्दुः पूतदक्षो वा (आङ्गिरसः)—१४६, १७४ ।
बुधगविष्ठिरौ (आत्रेयौ)—७३ ।
बृहदुक्थः (वामदेव्यः)—६५, ३२५ ।
बृहन्मतिः (आङ्गिरसः)—४८८ ।
बृहस्पतिर्नकुलो वा—३२१ ।
ब्रह्मातिथिः (काण्वः)—२१६ ।
[1]भरद्वाजः (बार्हस्पत्यः)—१, २, ४, ७, ६, २२, २५, ३६, ६७, ६८. ७५, ८३, ८४, १२७, १४८, २०१, २०२, २३४, २६२, २६६, २८१, २८६, ३३३, ३५२, ३६५, ३७८, ३६२, ४५४, ५८६, ६०६, ६१० ।
[2]भुवनः (आप्त्यः)—४५२ ।
भर्गः (प्रागाथः)—३६, ४६, २४०, २५३, २७४, २६० ।
[3]भृगुः (वारुणिः)—४६६, ४८०, ४६८, ५०३ ।
मधुच्छन्दाः (वैश्वामित्रः)—१४, १२६, १३०, १६०, १६४, १६६, १८६, १६८, २०५, ३४२, ३६३, ४६८, ५६७, ५६८, ६०५ ।
मनुः (आप्सवः)—५७१ ।
मनुः (वैवस्वतः)—४८ ।
मनुः (सांवरणः)—५४८ ।
मन्युः (वासिष्ठः)—५४० ।
मृक्तवाहा द्वितः (आत्रेयः)—८५ ।
[4]मृडीकः (वासिष्ठः)—५३७ ।
मेधातिथिः (काण्वः)—३, १६, ३२, १३६, १४६, १७१, २२२, २२३, २२६, २३०, २३६, २५६, २६१, २६७, ४६७ ।
मेधातिथिः (काण्वः) प्रियमेधश्च (आङ्गिरसः)—१२३, १२४, १५७, २२५, २२७ ।
[5]मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च (काण्वौ)—५२, २४४, २४५, २७१, २६१, २६२, २६५, ३०७ ।
[6]मेध्यातिथिः (काण्वः)—२४६, २५०, २५१, २६३, २८६, ३७६, ४६१ ।
ययातिः (नाहुषः)—५४७ ।
रेणुः (वैश्वामित्रः)—३३६, ५६० ।
रेभः (काश्यपः)—२५४, २६०, २६४, ३७०, ४६० ।
रेभसुनू (काश्यपौ)—५५०, ५५१ ।
वत्सः (काण्वः)—८, २०, १३७, १४३, १५२, १८२, १८६, १८७, १६३, २०६, २६५ ।
वत्सप्रिः (भालन्दनः)—७४, ७७, ५६३ ।

१. ३६ भर्गः प्रागाथः इति केचित् ।
२. साधनो वा भौवनः इति केचित् ।
३. जमदग्निर्भार्गवो वा इति केचित् ।
४. कर्णश्रुद् वासिष्ठः इति केचित् ।
५. २६५, ३०७ विश्वामित्र इत्येके ।
६. २४६ मेधातिथिर्मेध्यातिथिर्वा काण्वः इति केचित् ।

वसिष्ठः (मैत्रावरुणिः)—२४, २६, ३८, ४५, ५५, ६१, ७०, ७२, ७८, १३२, १५६, २३३, २३८, २४१, २५९, २७०, २८०, २८४, २८५, २९३, ३०३, ३०४, ३०९, ३१०, ३१३, ३१४, ३१८, ३२८, ३३०, ३९८, ४३३, ५२६, ५२८, ५३६, ५८७।

वसुः (भारद्वाजः)—५६२।

वसुकृद् (वासुक्रः) विमदो वा (ऐन्द्रः)—३३४।

वसुश्रुतः (आत्रेयः)—४१९, ४२५।

वसूयवः (आत्रेयाः)—८६।

वातायनः (उलः)—१३।

[1]वामदेवः (गौतमः)—१०, १२, २३, ३०, ६९, ८२, ९२, १६९, १७२, १८१, १९०, १९६, २०३, २०९, २१२, २२४, २८८, २९४, २९८, २९९, ३२७, ३३५-३३७, ३४०, ३५८, ३६१, ३६९, ३७२, ४३४, ४३५, ४३७, ४३८, ४४१, ४४२, ४४४-४४७, ४४९, ४५०, ४५३, ४५५, ४५६, ५९१, ६०२, ६०६, ६०८, ६११, ६१५, ६१६, ६२२-६२६।

वामदेवः (गौतमः), कश्यपो वा (मारीचः), मनुर्वा (वैवस्वतः), उभौ वा—९०।

वामदेवः (गौतमः), कश्यपो वा (मारीचः), असितो देवलो वा—९३।

वामदेवः (गौतमः) शाकपूतो वा—३५३।

विभ्राट् (सौर्यः)—६२८।

विमदः (ऐन्द्रः)—४२०, ४२२।

[2]विरुपः (आङ्गिरसः)—२७, ४२।

विश्वमनाः (वैयश्वः)—१०३, १०४, १०६, ११४, ३८५-३८७, ३९०, ३९६।

विश्वामित्रः (गाथिनः)—५३, ६२, ७६, ७९, ९८, १००, १६५, १९५, २१०, २२६, २४६, ३२९, ३३८, ३७४, ६१३, ६१४।

विश्वामित्रः (गाथिनः), जमदग्निः (भारद्वाजः) वा—२२०।

वृषगणः (वासिष्ठः)—५२४।

वेनः (भार्गवः)—३२०, ५६१।

[3]शंयुः (बार्हस्पत्यः)—३५, ३७, ११५, ३५१, ३५७।

शक्तिः (वासिष्ठः)—५८३।

शतं वैखानसाः—६२७।

[4]शुनःशेपः (आजीगर्तिः)—१५, १७, २८, ४३, १५३, १६३, १८३, २१४, ५८९।

शुनःशेपो वामदेवो वा—१५४।

श्यावाश्वः (आत्रेयः)—१४१, ३५६, ४७७।

---

१. वामदेवः कश्यपोऽसितो देवलो वा इति केचित्। ४४७ पृषध्रः काण्वः, ४४९, ४५० बन्धुःसुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा, ४५३, कवष ऐलूषः, ४५५ आत्रेयः, ४५६ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः—इति केचित्।

२. ४२ भर्गः प्रागाथः इति केचित्।

३. ३५१ तिरश्चीराङ्गिरसः शंयुर्बार्हस्पत्यो वा—इति केचित्।

४. ४३ भर्गः प्रागाथः इति केचित्।

श्यावाश्ववामदेवौ—६३।
श्रुतकक्षः सुकक्षो वा (आङ्गिरसः)—११६, ११८, ११९, १२८, १४०, १४५, १५०, १५१, १५५, १५८, १७०, १७३, १८८, १९७, १९९, २१३, २१५, २३२, ५९५।
संवर्तः (आङ्गिरसः)—४४३, ४५१।
सत्यधृतिः (वारुणिः)—१९२।
सत्यश्रवाः (आत्रेयः)—४२१।
सप्तगुः (आङ्गिरसः)—३१७।
सप्त ऋषयः (भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, कश्यपो मारीचः, गोतमो राहूगणः, अत्रिर्भौमः, विश्वामित्रो गाथिनः, जमदग्निर्भार्गवः, वसिष्ठो मैत्रावरुणिः)—५११-५२२,।
सव्यः (आङ्गिरसः)—३७३, ३७६, ३७७।
सार्पराज्ञी—६३०-६३२।
सिन्धुद्वीपः (आम्बरीषः), त्रितः (आप्त्यः) वा—३३।
सुकक्षः (आङ्गिरसः)—२०८।
सुकक्षश्रुतकक्षौ (आङ्गिरसौ)—१२५, १२६।
सुदीतिपुरुमीढौ (आङ्गिरसौ) तयोर्वान्यतरः—६, ४९।
सुवेदाः (शैलूषिः)—३७१।
सुहोत्रः (भारद्वाजः)—३२२।
सोमाहुतिः (भार्गवः)—९४।
सौभरिः (काण्वः)—४४, ४७, ५१, ५८, १०८, १०९, १११-११३, ३९९-४०४, ४०७, ४०८।
हर्यतः (प्रागाथः)—११७।
हिरण्यस्तूपः (आङ्गिरसः)—६१२।

देवतानुक्रमणिका

[सामने दी हुई संख्याएँ मन्त्रक्रमाङ्क हैं।]

अग्निः—१-५१, ५३, ५४, ५५, ५८-७४, ७६-९०, ९३-१००, १०३-११४, ४१९, ४२०, ४२५, ४३४, ४४७, ४४९, ४६५, ६०५-६०७, ६१४, ६१५।

अग्निः दधिक्रावा—३५८।

अग्निः पवमानः—६२७।

अङ्गिराः—९२।

अदितिः—१०२।

अन्नम्—५९४।

अश्विनौ—२८७, ३०४, ३०५, ४१८।

आत्मा—६१३, ६२४।

आदित्याः—२५५, ३९५, ३९७।

इन्द्रः—५२, ११५-२४०, २४२-२५४, २५६-२७५, २७७-२८०, २८२-२८६, २८९-२९८, ३००-३०२, ३०६-३३१, ३३३-३३७, ३३९-३५५, ३५७, ३५९-३६६, ३७०-३७७, ३७९-३९४, ३९६, ३९८-४००, ४०२, ४०३, ४०५-४१६, ४२३, ४२४, ४३७-४४१, ४४४-४४६, ४५०, ४५४, ४५६, ४५७, ४५९, ४६०, ४६६, ५८६-५८८, ५९५, ५९७,५९८, ६०१, ६१२, ६२३, ६२५, (६४१-६५० महानाम्नी आर्चिक)।

इन्द्राग्नी—२८१।

इन्द्रापर्वतौ—३३८।

उषाः—३०३, ३६७, ४२१, ४४३, ४५१।

ऋक्सामौ—३६९।

ऋतुः—६१६।

गौः—६२६।

तार्क्ष्यः—३३२।

द्यावापृथिवी—३७८, ६२२।

पवमानः सोमः—१०१, ४२७-४३२, ४३६, ४६३, ४६७-५८५, ५९०, ५९२, ५९३, ५९६, ६०३, ६०४।

पुरुषः—६१७-६२१।

पूषा—७५।

प्रजापतिः—६०२।

बहवः—२९९।
ब्रह्मणस्पतिः—५६।
मरुतः—२४१, ३५६, ४०१, ४०४, ४३३, ४६२।
यूपः—५७।
रात्रिः—६०८।
लिङ्गोक्ताः—६११।
वरुणः—२८८, ५८९।
वाजिनः—४३५।
वायुः—६००।
विश्वेदेवाः—९१, ३६८, ४१७, ४२६, ४४२, ४५२, ४५३, ४५५, ४६१, ५९१, ५९९, ६१०।
वैश्वानरः—६०९।
सविता—४६४।
सूर्यः—२७६, ४५८, ६२८-६४०।
सोमः—४२२।

मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्रः	मन्त्रक्रमाङ्कः
अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे	५२९
अक्षन्नमीमदन्त	४१५
अगन्म वृत्रहन्तमं	८९
अग्न आयाहि वीतये	१
अग्न आयूंषि पवस	६२७
अग्न ओजिष्ठमा भर	८१
अग्निं तं मन्ये	४२५
अग्निं दूतं वृणीमहे	३
अग्निं नरो दीधितिभि	७२
अग्निं वो वृधन्त	२१
अग्निं होतारं मन्ये	४६५
अग्निमिन्धानो मनसा	१९
अग्निमीडिष्वावसे	४९
अग्निमीडे पुरोहितम्	६०५
अग्निरस्मि जन्मना	६१३
अग्निरुक्थे पुरोहितो	४८
अग्निर्मूधा दिवः ककुत्	२७
अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्	४
अग्निस्तिग्मेन शोचिषा	२२
अग्ने जरितर्विश्पति	३९
अग्ने तमद्याश्वं	४३४
अग्ने त्वं नो अन्तम	४४८
अग्ने मृड महाँ	२३
अग्ने यजिष्ठो अध्वरे	१००
अग्ने युंक्ष्वा हि	२५
अग्ने रक्षा णो अंहसः	२४
अग्ने वाजस्य गोमत	९९
अग्ने विवस्वदा भरा	१०
अग्ने विवस्वदुषसश्	४०
अचिक्रदद् वृषा हरिर्	४९७
अचेत्यग्निश्चिकितिर्	४४७
अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः	५५५
अच्छा व इन्द्रं मतयः	३७५
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते	५६४

मन्त्रः	मन्त्रक्रमाङ्कः
अतश्चिदिन्द्र न उपा	२१५
अतीहि मन्युषाविणं	२२३
अत्राह गोरमन्वत	१४७
अदर्दरुत्समसृजो	३१५
अदर्शि गातुवित्तमो	४७
अदृश्रन्नस्य केतवो	६३४
अद्या नो देव सवितः	१४१
अध ज्मो अध वा दिवो	५२
अधा हीन्द्र गिर्वण	४०६
अधि यदस्मिन् वाजिनीव	५३९
अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं	४९९
अध्वर्यो द्रावया त्वं	३०८
अनवस्ते रथमश्वाय	४४०
अनु प्रत्नास आयवः	५०२
अनु हि त्वा सुतं	४३२
अन्तश्चरति रोचना	६३१
अपघ्नन् पवते मृधो	५१०
अपघ्नन् पवसे मृधः	४९२
अप त्यं वृजिनं रिपुं	१०५
अप त्ये तायवो यथा	६३३
अपां फेनेन नमुचेः	२११
अपादु शिप्रयन्धसः	१४५
अपामिवेदूर्मयस्	५४४
अपामीवामप स्रिध	३९७
अपिबत्कद्रुवः सुत	१३१
अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै	३२२
अबोध्यग्निः समिधा	७३
अभि त्यं देवं सवितार	४६४
अभि त्यं मेषं	३७६
अभि त्रिपृष्ठं वृषणं	५२८
अभि त्वा पूर्वपीतये	२५६
अभि त्वा वृषभा सुते	१६१
अभि त्वा शूर नोनुमो	२३३
अभि द्युम्नं बृहद्यशः	५७९

अभि प्र गोपतिं १६८
अभि प्र वः सुराधस २३५
अभि प्रियाणि पवते ५५४
अभि वो वीरमन्धसो २६५
अभि सोमास आयवः ५१८
अभी नवन्ते अद्रुहः ५५०
अभी नो वाजसातमं ५४६
अभीषतस्तदा भर ३०६
अभ्रातृव्यो अना त्व ३६६
अमी ये देवा स्थन ३६८
अयं त इन्द्र सोमो १५६
अयं पूषा रयिर्भगः ५४६
अयं वां मधुमत्तमः ३०६
अयं विचर्षणिर्हितः ५०८
अयं सहस्रमानवो ४५८
अयमग्निः सुवीर्यस्येशे ६०
अयमु ते समतसि १८३
अया धिया च गव्यया १८८
अया पवस्व धारया ४६३
अया पवा पवस्वैना ५४१
अया रुचा हरिण्या ४६३
अया वाजं देवहितं ४५४
अया वीती परिस्रव ४६५
अया सोम सुकृत्यया ५०७
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः ६३६
अरं त इन्द्र श्रवसे २०६
अरण्योर्निहितो जातवेदा ७६
अरमश्वाय गायत ११८
अरूरुचदुषसः ५६६
अर्चत प्रार्चता नरः ३६२
अर्चन्त्यर्कं मरुतः ४४५
अर्षा सोम द्युमत्तमो ५०३
अव द्रप्सो अंशुमती ३२३
अश्वं न त्वा वारवन्तं १७
अश्वी रथी सुरूप इद् २७७
असर्जि रथ्यो यथा ४६०
असर्जि वक्वा रथ्ये ५४३
असावि देवं गोऋजीक ३१३
असावि सोम इन्द्र ते ३४७
असावि सोमो अरुषो ५६२
असाव्यंशुर्मदायाप्सु ४७३
असृक्षत प्र वाजिनो ४८२
असृग्रमिन्द्र ते गिरः २०५
अस्ति सोमो अयं सुतः १७४
अस्तु श्रौषट् पुरो ४६१
अस्मभ्यं त्वा वसुविद ५७५
अस्य प्रेषा हेमना ५२६
अहमस्मि प्रथमजा ५६४
अहमिद्धि पितुष्परि १५२
आ गन्ता मा रिषण्यत ४०१
आग्नि न स्ववृक्तिभिर् ४२०
आ घा ये अग्निमिन्धते १३३
आ जुहोता हविषा ६३
आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं १६७
आ तू न इन्द्र वृत्रहन् १८१
आ ते अग्न इधीमहि ४१६
आ ते दक्षं मयोभुवं ४६८
आ ते वत्सो मनो ८
आ त्वा गिरो ३४६
आ त्वा३द्य सबर्दुघां २६५
आ त्वा रथं यथोतये ३५४
आ त्वा विशन्त्विन्दवः १६७
आ त्वा सखायः ३४०
आ त्वा सहस्रमा २४५
आ त्वा सोमस्य ३०७
आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि १६४
आदित् प्रत्नस्य रेतसो २०
आ नो अग्ने वयोवृधं ४३
आ नो मित्रावरुणा २२०
आ नो वयो वयःशयं ३५३
आ नो विश्वासु हव्य २६६
आ पवस्व सहस्रिणं ५०१
आ प्रागाद् भद्रा ६०८
आ बुन्दं वृत्रहा ददे २१६
आभिष्ट्वमभिष्टिभिः ६४२
आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर् २४६
आयं गौः पृश्निरक्रमी ६३०
आ याहि वनसा सह ४४३
आ याहि सुषुमा हि त १६१
आ याह्ययमिन्दवे ४०२

आ याह्यु प नः सुतं	२२७	इन्द्राय गिरो अनिशित	३३९
आ व इन्द्रं कृविं यथा	२१४	इन्द्राय पवते मदः	५२०
आविर्मर्या आ वाजं	४३५	इन्द्राय मद्वने सुतं	१५८
आविशन्कलशं सुतो	४८९	इन्द्राय साम गायत	३८८
आ वो राजानमध्वरस्य	६९	इन्द्राय सोम सुषुतः	५६१
आ सोता परि षिञ्चता	५८०	इन्द्रायेन्दो मरुत्वते	४७२
आ सोम स्वानो अद्रिभिस्	५१३	इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो	१८०
आ हर्यताय धृष्णवे	५५१	इन्द्रो अङ्ग महद् भय	२००
इडामग्ने पुरुदंसं	७६	इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्	१७९
इत ऊती वो अजरं	२८३	इन्द्रो मदाय वावृधे	४११
इत एत उदारुहन्	९२	इन्द्रो राजा जगतश्	५८७
इत्था हि सोम इन्मदो	४१०	इन्द्रो विश्वस्य राजति	४५६
इदं त एकं पर ऊ त	६५	इन्धे राजा समर्यो	७०
इदं वसो सुतमन्धः	१२४	इम इन्द्र मदाय ते	२९४
इदं विष्णुर्विचक्रमे	२२२	इम इन्द्राय सुन्विरे	२९३
इदं ह्यन्वोजसा सुतं	१६५	इम उ त्वा पुरूवसो	१४६
इन्दुः पविष्ट चारुर्	४३१	इम उ त्वा विचक्षते	१३६
इन्दुः पविष्ट चेतनः	४८१	इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम्	५९१
इन्दुर्वाजी पवते	५४०	इमं स्तोममर्हते	६६
इन्द्र इद्धर्योः सचा	५९७	इममिन्द्र सुतं पिब	३४४
इन्द्र इषे ददातु न	१९९	इममू षु त्वमस्माकं	२८
इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो	२२६	इमा उ त्वा पुरूवसो	२५०
इन्द्रं धनस्य सातये	६४७	इमा उ त्वा सुते सुते	२०१
इन्द्रं नरो नेमधिता	३१८	इमा उ वां दिविष्टय	३०४
इन्द्रं वयं महाधन	१३०	इमा नु कं भुवना	४५२
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्	३४३	इमास्त इन्द्र पृश्नयो	१८७
इन्द्र क्रतुं न आ भर	२५९	इमे त इन्द्र ते वयं	३७३
इन्द्र ज्येष्ठं न आभर	५८६	इमे त इन्द्र सोमाः	२१२
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो	४१२	इषे पवस्व धारया	५०५
इन्द्र त्रिधातु शरणं	२९६	इष्टा होत्रा असृक्षत	१५१
इन्द्र नेदीय एदिहि	२८२	इहेव शृण्व एषां	१३५
इन्द्रमच्छ सुता इमे	५६६	ईङ्खयन्तीरपस्युव	१७५
इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्र	१९८	ईडिष्वा हि प्रतीव्यां	१०३
इन्द्रमिद्देवतातय	२४९	ईशे हि शक्रस्	६४६
इन्द्र वाजेषु नोऽव	५९८	उक्थं च न शस्यमानं	२२५
इन्द्र सुतेषु सोमेषु	३८१	उक्थमिन्द्राय शंस्यं	३९३
इन्द्रस्य नु वीर्याणि	६१२	उच्चा ते जातमन्धसो	४६७
इन्द्राग्नी अपादियं	२८१	उत स्या नो दिवा	१०२
इन्द्रा नु पूषणा वयं	२०२	उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः	१९४
इन्द्रापर्वता बृहता	३३८	उदुत्तमं वरुण पाश	५८९

उदु त्यं जातवेदसं ३१
उदु त्ये मधुमत्तमा २५१
उदु त्ये सूनवो गिरः २२१
उदु ब्रह्माण्यैरत ३३०
उद् घेदभि श्रुतामघं १२५
उद् द्यामेषि रजस् ६३८
उप त्वाग्ने दिवे दिवे १४
उप त्वा जामयो गिरो १३
उप नो हरिभिः १५०
उप प्रक्षे मधुमति ४४४
उपह्वरे गिरीणां १४३
उपो षु जातमप्तुरं ४८७
उपो षु शृणुही गिरो ४१६
उभयं शृणवच्च न २९०
उभे यदिन्द्र रोदसी ३७९
उषा अप स्वसुष्टमः ४५१
ऊर्जा मित्रो वरुणः ४५५
ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये ५७
ऋचं साम यजामहे ३६९
ऋजुनीती नो वरुणो २१८
एतमु त्यं मदच्युतं ५८१
एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं ३५०
एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः ३८७
एदु मधोर्मदिन्तरं ३८५
एना विश्वान्यर्य आ ५९३
एना वो अग्निं नमसो ४५
एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत ३८६
एन्द्र नो गधि प्रिय ३९३
एन्द्र पृक्षु कासुचित् २३१
एन्द्र याहि हरिभिः ३४८
एन्द्र याह्यु प नः ४५९
एन्द्र सानसिं रयिं १२९
एवा हि शक्रो ६४३
एवा ह्यसि वीरयुर् २३२
एवाह्योऽ३ऽ३ऽ३व ६५०
एष प्र कोशे मधुमाँ ५५६
एष ब्रह्मा य ऋत्विय ४३८
एष स्य ते मधुमाँ ५३१
एष स्य धारया ५८४
एषो उषा अपूर्व्या १७८
एह्यू षु ब्रवाणि ते ७
ओजस्तदस्य तित्विष १८२
और्वभृगुवच्छुचि १८
क इमं नाहुषीष्वा १९०
क ईं वेद सुते सचा २९७
क ईं व्यक्ता नरः ४३३
कदा चन स्तरीरसि ३००
कदा वसो स्तोत्रं हर्यत २२८
कदु प्रचेतसे महे २२४
कनिक्रन्ति हरिरा ५३०
कया नश्चित्र आ १६९
कविमग्निमुप स्तुहि ३२
कश्यपस्य स्वर्विदो ३६१
कस्तमिन्द्र त्वा वसवा २८०
कस्य नूनं परीणसि ३४
कायमानो वना त्वं ५३
कुष्ठः को वामश्विना ३०५
को अद्य युङ्क्ते धुरि ३४१
क्रत्वा महाँ अनुष्वधं ४२३
क्वा३स्य वृषभो युवा १४२
क्वेयथ क्वेदसि २७१
गव्यो षु णो यथा पुरा १८६
गायन्ति त्वा गायत्रिणो ३४२
गाव उप वदावटे ११७
गावश्चिद् घा समन्यवः ४०४
गिर्वणः पाहि नः सुतं १९५
गृणे तदिन्द्र ते शव ३९१
गोमन्न इन्दो अश्ववत् ५७४
गोर्धयति मरुतां १४९
घृतवती भुवनाना ३७८
चक्रं यदस्याप्स्वा ३३१
चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा ४१७
चर्षणीधृतं मघवान ३७४
चित्रं देवानामुदगादनीकं ६२९
चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य ६४
जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र ३१७
जज्ञानः सप्त मातृभिर् १०१
जराबोध तद्विविड्ढि १५
जातः परेण धर्मणा ९०
तं गूर्धया स्वर्णरं १०९

तं ते मदं गृणीमसि ३८३
तं त्वा गोपवनो गिरा २९
तं वः सखायो मदाय ५६९
तं वो दस्ममृतीषहं २३६
तक्षद्यदी मनसो ५३७
ततो विराडजायत ६२१
तदग्ने द्युम्नमाभर ११३
तद् वो गाय सुते सचा ११५
तमिन्द्रं जोहवीमि ४६०
तमिन्द्रं वाजयामसि ११९
तमु अभि प्र गायत ३८२
तरणिं वो जनानां २०४
तरणिरित्सिषासति २३८
तरणिर्विश्वदर्शतो ६३५
तरत्स मन्दी धावति ५००
तरोभिर्वो विदद्वसु २३७
तव त्यन्नर्यं नृतोऽप ४६६
तवाहं सोम रारण ५१६
तवेदिन्द्रावमं वसु २७०
तावानस्य महिमा ६२०
तिस्रो वाच ईरयति ५२५
तिस्रो वाच उदीरते ४७१
तुचे तुनाय तत्सु नो ३६५
तुभ्यं सुतासः सोमाः २१३
ते मन्वत प्रथमं ६०६
त्यं सु मेषं महया ३७७
त्यमु वः सत्रासाहं १७०
त्यमु वो अप्रहणं ३५७
त्यमू षु वाजिनं ३३२
त्रातारमिन्द्रमवितार ३३३
त्रिंशद्धाम विराजति ६३२
त्रिकद्रुकेषु महिषो ४५७
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः ६१८
त्रिरस्मै सप्त धेनवो ५६०
त्वं न इन्द्रा भर ४०५
त्वं नश्चित्र ऊत्या ४१
त्वं नो अग्ने महोभिः ६
त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो ३२६
त्वं हि क्षैतवद् यशो ८४
त्वं ह्या३ङ्ग दैव्यं ५८३
त्वं ह्येहि चेरवे २४०
त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं ६१
त्वमग्ने यज्ञानां होता २
त्वमग्ने वसूंरिह ६६
त्वमङ्ग प्र शंसिषो २४७
त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने ४२
त्वमिन्द्र प्रतूर्त्तिष्वभि ३११
त्वमिन्द्र बलादधि १२०
त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी २४८
त्वमिमा ओषधीः सोम ६०४
त्वमेतदधारयः कृष्णासु ५६५
त्वया वयं पवमानेन ५९०
त्वया ह स्विद् युजा ४०३
त्वष्टा नो दैव्यं वचः २६९
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा ९
त्वामिदा ह्यो नरो ३०२
त्वामिद्धि हवामहे २३४
त्वावतः पुरूवसो १६३
त्वे अग्ने स्वाहुत ३८
त्वेषस्ते धूम ऋण्वति ८३
दधन्वे वा यदीमनु ९४
दधिक्राव्णो अकारिषं ३५८
दूतं वो विश्ववेदसं १२
दूरादिहेव यत्सतो २१९
देवानामिदवो महत् १३८
देवो वो द्रविणोदाः ५५
दोषो आगाद् बृहद् गाय १७७
धर्त्ता दिवः पवते ५५८
धानावन्तं करम्भिणं० २१०
न कि इन्द्र त्वदुत्तरं २०३
न कि देवा इनीमसि १७६
न किष्टं कर्मणा नशद् २४३
न तमंहो न दुरितं ४२६
न तस्य मायया च न १०४
न त्वा बृहन्तो अद्रयो २६६
नमस्ते अग्न ओजसे ११
न सीमदेव आप २६८
न हि वश्चरमं च न २४१
नाके सुपर्णमुप ३२०
नि त्वा नक्ष्य विश्पते २६

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ५४
नियुत्वान् वायवा गह्ययं ६००
पन्यं पन्यमित्सोतार १२३
परि कोशं मधुश्चुतं ५७७
परि त्यं हर्यतं ५५२
परि द्युक्षं सनद्रयिं ४९६
परि प्र धन्वेन्द्राय ४२७
परि प्रासिष्यदत् कविः ४८६
परि प्रिया दिवः कविर् ४७६
परि वाजपतिः कविर् ३०
परि स्वानास इन्दवो ४८५
परि स्वानो गिरिष्ठाः ४७५
परीतो षिञ्चता सुतं ५१२
पर्यू षु प्र धन्व ४२८
पवते हर्यतो हरिरति ५७६
पवमाना असृक्षत ५२२
पवमानो अजीजनद् ४८४
पवस्व दक्षसाधनो ४७४
पवस्व देव आयुषगिन्द्रं ४८३
पवस्व देववीतय ५७१
पवस्व मधुमत्तम ५७८
पवस्व वाजसातमो ५२१
पवस्व सोम द्युम्नी ४३६
पवस्व सोम मधुमाँ ५३२
पवस्व सोम महान् ४२९
पवस्व सोम महे ४३०
पवस्वेन्दो वृषा सुतः ४७९
पवित्रं ते विततं ५६५
पान्तमा वो अन्धस १५५
पात्यग्निर्विपो अग्रं ६१४
पावका नः सरस्वती १८९
पाहि गा अन्धसो मद २८९
पाहि नो अग्न एकया ३६
पिबा सुतस्य रसिनो २३९
पिबा सोममिन्द्र ३९८
पुनानः सोम जागृवि ५१९
पुनानः सोम धारया ५११
पुनानो अक्रमीदभि ४८८
पुरां भिन्दुर्युवा कवि ३५९
पुरु त्वा दाशिवाँ वोचे ९७
पुरुष एवेदं सर्वं ६१९
पुरोजिती वो अन्धसः ५४५
पूर्वस्य यत्ते अद्रिवो ६४८
प्र काव्यमुशनेव ५२४
प्र केतुना बृहता ७१
प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य ६०९
प्र गायताभ्यर्चाम ५३५
प्रति त्यं चारुमध्वरं १६
प्रति प्रियतमं रथं ४१८
प्र तु द्रव परि कोशं ५२३
प्र ते धारा मधुमती ५३४
प्रत्यग्ने हरसा हरः ९५
प्रत्यङ् देवानां विशः ६३६
प्रत्यस्मै पिपीषते ३५२
प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती ३०३
प्रथश्च यस्य सप्रथश्च ५९९
प्र देवमच्छा मधुमन्त ५६३
प्र दैवोदासो अग्निर् ५१
प्र धन्वा सोम जागृवि ५६७
प्र न इन्दो महे तु न ५०९
प्र पुनानाय वेधसे ५७३
प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषं ३६०
प्र भूर्जयन्तं महां ७४
प्रभो जनस्य वृत्रहन् ६४९
प्र मंहिष्ठाय गायत १०७
प्र मन्दिने पितुमदर्चता ३८०
प्र मित्राय प्रार्यम्णे २५५
प्र यद् गावो न भूर्णयस् ४९१
प्र यो राये निनीषति ५८
प्र यो रिरिक्ष ओजसा ३१२
प्र व इन्द्राय बृहते २५७
प्र व इन्द्राय मादनं १५६
प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय ४४६
प्र वो महे मतयो ४६२
प्र वो महे महेवृधे ३२८
प्र वो यह्वं पुरूणां ५९
प्र सम्राजं चर्षणीनां १४४
प्र सम्राजमसुरस्य ७८
प्र सुन्वानायान्धसो ५५३
प्र सेनानीः शूरो अग्रे ५३३

प्र सो अग्ने तवोतिभिः १०८
प्र सोम देववीतये ५१४
प्र सोमासो मदच्युतः ४७७
प्र सोमासो विपश्चितो ४७८
प्र हिन्वानो जनिता ५३६
प्र होता जातो महान् ७७
प्र होत्रे पूर्व्यं वचो ९८
प्राणा शिशुर्महीनां ५७०
प्रातरग्निः पुरुप्रियो ८५
प्रेष्ठं वो अतिथिं ५
प्रेह्यभीहि धृष्णुहि ४१३
प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः ५६
प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य ५५७
बण्महाँ असि सूर्य २७६
बृबदुक्थं हवामहे २१७
बृहदिन्द्राय गायत २५८
बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः ३७
बृहद् वयो हि भानवे ८८
बोधन्मना इदस्तु नो १४०
ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं ३२१
ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो ४३९
ब्राह्मणादिन्द्र राधसः २२९
भगो न चित्रो अग्निर् ४४९
भद्रं नो अपि वातय ४२२
भद्रं भद्रं न आ भरे १७३
भद्रो नो अग्निराहुतो १११
भिन्धि विश्वा अप द्विषः १३४
भ्राजन्त्यग्ने समिधान ६१५
मन्द्रया सोम धारया ५०६
मन्ये वां द्यावापृथिवी ६२२
मयि वर्चो अथो यशो ६०२
महत्तत्सोमो महिषश् ५४२
महाँ इन्द्रः पुरश्च नो १६६
महि त्रीणामवरस्तु १९२
महे च न त्वाद्रिवः २९१
महे नो अद्य बोधयोषो ४२१
मा चिदन्यद् वि शंसत २४२
मा न इन्द्र परा वृणग् २६०
मा न इन्द्राभ्या३ दिशः १२८
मा नो हृणीथा अतिथिं ११०
मूर्धानं दिवो अरतिं ६७
मृज्यमानः सुहस्त्या ५१७
मेंडिं न त्वा वज्रिणं ३२७
मो षु त्वा वाघतश्च २८४
य आनयत्परावतः १२७
य इन्द्र चमसेष्वा १६२
य इन्द्र सोमपातमो ३९४
य उस्रिया अपि या ५८५
य ऋते चिदभिश्रिषः २४४
य एक इद् विदयते ३८९
यः सत्राहा विचर्षणि २८६
यं रक्षन्ति प्रचेतसो १८५
यं वृत्रेषु क्षितयः ३३७
यच्छक्रासि परावति २६४
यजामह इन्द्रं वज्र ३३४
यजिष्ठं त्वा ववृमहे ११२
यज्जायथा अपूर्व्य ६०१
यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् १२१
यज्ञा यज्ञा वो अग्नये ३५
यत इन्द्र भयामहे २७४
यत्सोममिन्द्र विष्णवि ३८४
यथा गौरो अपा कृतं २५२
यदद्य कच्च वृत्रहन् १२६
यदा कदा च मीढुषे २८८
यदिन्द्र चित्र म इह ३४५
यदिन्द्र नाहुषीष्वा २६२
यदिन्द्र प्रागपागुदङ् २७९
यदिन्द्र यावतस्त्व ३१०
यदिन्द्र शासो उव्रतं २९८
यदिन्द्राहं यथा त्वं १२२
यदिन्द्रो अनयद्रितो १४८
यदि वीरो अनु ष्याद् ८२
यदी वहन्त्याशवो ३५६
यदुदीरत आजयो ४१४
यद् द्याव इन्द्र ते शतं २७८
यद् वर्चो हिरण्यस्य ६२४
यद् वा उ विश्पतिः ११४
यद् वाहिष्ठं तदग्नये ८६
यद् वीडाविन्द्र यत्स्थिरे २०७
यशो मा द्यावापृथिवी ६११
यस्ते नूनं शतक्रत ११६
यस्ते मदो वरेण्यः ४७०
यस्य त्यच्छम्बरं ३९२
यस्येदमा रजोयुजस् ५८८
या इन्द्र भुज आभरः २५४
युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम ३०१
ये ते पन्था अधोदिवो १७२
येना पावक चक्षसा ६३७
योगे योगे तवस्तरं १६३
यो न इदमिदं पुरा ४००
योनिष्ट इन्द्र सदने ३१४
यो नो वनुष्यन् ३३६
यो मंहिष्ठो मघोनाम् ६४५
यो रयिं वो रयिन्तमो ३५१

यो राजा चर्षणीनां	२७३
यो विश्वा दयते वसु	४४
राये अग्ने महे त्वा	६३
रेवतीर्नः सधमाद	१५३
वयः सुपर्णा उप सेदु	३१९
वयं घ त्वा सुतावन्त	२६१
वयं घा ते अपि स्मसि	२३०
वयमिन्द्र त्वायवो	१३२
वयमु त्वामपूर्व्य	४०८
वयमु त्वा तदिदर्था	१५७
वयमेनमिदा ह्यो	२७२
वयश्चित्ते पतत्रिणो	३६७
वसन्त इन्नु रन्त्यो	६१६
वस्यां इन्द्रासि मे पितु	२९२
वात आवातु भेषजं	१८४
वास्तोष्पते ध्रुवा	२७५
वि त्वदापो न पर्वतस्य	६८
विदा मघवन् विदा	६४१
विदा राये सुवीर्यं	६४४
विधुं दद्राणं समने	३२५
विभोष्ट इन्द्र राधसो	३६६
विभ्राड् बृहत्पिबतु	६२८
विशोविशो वो अतिथिं	८७
विश्वतोदावन्विश्वतो	४३७
विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो	४५०
विश्वाः पृतना अभिभूतरं	३७०
विश्वानरस्य वस्पति	३६४
विश्वे देवा मम श्रृण्वन्तु	६१०
वि स्रुतयो यथा पथो	४५३
वृत्रस्य त्वा श्वसथा	३२४
वृषा पवस्व धारया	४६९
वृषा मतीनां पवते	५५९
वृषा सोम द्युमाँ असि	५०४
वृषा ह्यसि भानुना	४८०
वेत्था हि निर्ऋतीनां	३९६
शं नो देवीरभिष्टये	३३
शं पदं मघं रयीषिणे	४४१
शग्ध्यू३ षु शचीपत	२५३
शचीभिर्नः शचीवसू	२८७
शुक्रं ते अन्यद् यजतं	७५
शुनं हुवेम मघवान	३२९
शेषे वनेषु मातृषु	४६
श्रत्ते दधामि प्रथमाय	३७१
श्रायन्त इव सूर्यं	२६७

श्रुतं वो वृत्रहन्तमं	२०८
श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्	५०
श्रुधी हवं तिरश्च्या	३४६
श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे	१०६
सं ते पयांसि समु यन्तु	६०३
सखाय आ नि षीदत	५६८
सखाय आ शिषामहे	३६०
सखायस्त्वा ववृमहे	६२
स घा तं वृषणं	४२४
स घा यस्ते दिवो	३६५
सत्यमित्था वृषेदसि	२६३
सत्राहणं दाधृषिं	३३५
सदसस्पतिमद्भुतं	१७१
सदा गावः शुचयो	४४२
सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा	१९६
स न इन्द्राय यज्यवे	५९२
सनादग्ने मृणसि	८०
स पवस्व य आविथेन्द्रं	४९४
स पूर्व्यो महोनां	३५५
सप्त त्वा हरितो रथे	६४०
समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः	६०७
समस्य मन्यवे विशो	१३७
समेत विश्वा ओजसा	३७२
स सुन्वे यो वसूनां	५८२
सहर्षभाः सहवत्सा	६२६
सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज	६२५
सहस्रशीर्षाः पुरुषः	६१७
साकमुक्षो मर्जयन्त	५३८
सीदन्तस्ते वयो यथा	४०७
सुतासो मधुमत्तमाः	५४७
सुनीथो घा स मर्त्यो	२०६
सुनोता सोमपाव्ने	२८५
सुरूपकृत्नुमूतये	१६०
सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि	३१६
सोम उ ष्वाणः सोतृभिः	५१५
सोमः पवते जनिता	५२७
सोमः पुनान ऊर्मिणा	५७२
सोमः पूषा च चेततुर्	१५४
सोमं राजानं वरुणं	९१
सोमाः पवन्त इन्दवो	५४८
सोमानां स्वरणं कृणुहि	१३९
स्वादिष्ठया मदिष्ठया	४६८
स्वादोरित्था विषूवतो	४०९
हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो	६२३

●●●